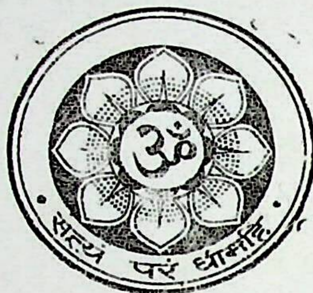
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
विमर्शिनी

आचार्य कृष्णानन्द सागर

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

ISHWARAPRATYABHIJNA

Shri Shivoham Sagar Granthamala's First Pushpa—



Shri Mahamahesvaracharya

Shri Utpaladevacharya's

ISHWARAPRATYABHIJNA

With the

VIMARSHINI

Commentary of

Shri Abhinavaguptacharya

Published by

Sarvadarshanacharya Shri Krishnanand Sagar

With his own Hindi Commentary

SHIVARANJANI

Under direction from

1008 Mahamandaleshwar

Shri Swami Akhandanand Sagar Maharaj

श्रीशिवोऽहंसागरग्रन्थमालायाः प्रथमं पुष्पम्—



श्रीमहामाहेश्वराचार्य-
श्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचिता

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

श्रीमहामाहेश्वराचार्य-
श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविरचित-

विमर्शिनी-

व्याख्यासमलङ्कृता

अनन्तश्रीविभूषित१००८महामण्डलेश्वर-
श्रीस्वरूपानन्दसागरमहाराजानां
निदेशेन

सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरेण

स्वकृतया

शिवरञ्जनी-

हिन्दीव्याख्यया सह प्रकाशिता

Published by

Aacharya Krishnanand Sagar

Shri Madhawanand Ashram

P. O.-Dharmaja, Dist-Kheda

GUJARAT

And

Shri Totakacharyashram, Utterkashi. U. P.

श्रीमाधवानन्दनिर्वाणशताब्दी

वि. २०३७

Shri Madhawanand Absolution Century

1979

First Edition 1981

Price Rs.

Copies Can be had from

Shri Om Prakash Saraf

D. 38/135 Bans Phatak

VARANASI-221001

Motilal Banarasi Dass
VARANASI-221001

Chaukhambha Vidyabhawan
VARANASI-221001

Printed by

ANAND KANAN PRESS

C. K. 36/20 DHUNDHIRAJ

VARANASI



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य

श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठसच्चिदानन्दस्वरूप

श्री १०८ श्रीमत्सद्गुरु स्वामी माधवानन्द जी महाराज

FOREWORD

Isvarapratyabhijna of Utpaladeva is an authoritative exposition of the principles of the pratyabhijna school—a system of philosophy that dominated people's thinking in Kashmir buring the 8th & 9th centuries A.D. Somananda laid the foundation of this school through his great and thought provoking work entitled Sivadras i. Utpaladeva has religiously followed Somananda and presented the Siva Darsana in a succinct aphoristic style in the present work which comprises of 190 Karikas which are known as sutras because of their brevity and terseness. Utpaladeva himself has written a brief commentary (Virtti) as well as a Tika or Vivrti (not extant) on the Karika. The fact that so learned a man as Abhinavagupta chose to comment on the work bears testimoney to its authenticity.

Pratyabhijna System was a prograssive branch of monistic Saivism, which was then prevalent in Kashmir. It is based on monistic Saiva Tantras. The main characteristic of this non-sectarian system is realization of the highest reality, i.e. recognition (pratyabhijna) or a self-realization.

Abhinavagupta who has commented on this work is a prolific writer who wrote on a number of subjectes with equal felicity and competence. His works on philosophy outnumber those on poetics. Amongst the writers on Indian dramaturgy, he shines as one of the brightest stars. His learned commentaries on Natyashastra of Bharata and Dhvanyaloka of Anandavardhana speak volumes for his learning, erudition and critical insight into the subject of poetics. He is also the greatest authority on

'Realistic Idealism', technically known as 'Trike'. His present commentary entitled Vimarsini eloquently reveals his matchless scholarship.

The original book written in Sanskrit aimed at showing the way to reach the essence of God or the essence of God Shiva. By translating in Hindi a book of this kind of great value to all devotees of Dharma, Acharya Shri Krishnanand Sagar has performed real public service. Quite obviously this valuable and rich volume will now become available to far more people, as so many more people know Hindi than Sanskrit. The work of translating Utpaladeva's original book together with the commentary written by Acharya Abhinavagupta was not easy and Acharya Shri Krishnanand Sagar is to be congratulated for having accomplished the task so well. For him it has been a labour of love and duty.

I am confident that it will inspire all who read it to think more deeply and sustainedly and thus come closer to God.

H. M. Patel
Ex—Finance Minister
Govt. of India

प्रशस्तिः

स्वयंप्रकाशस्य चिदात्मनो मे स्वातन्त्र्यमेतन्नहि किञ्चिदन्यत् ।
शिवादिभूम्यन्तसमस्तविश्वरूपेण चैकोऽपि विभामि योऽहम् ॥

जगदिदं सच्चिदानन्दरूपम् । परमेश्वरोऽन्तर्बहिः पारिपूर्ण्येन समुच्छलत्तदनन्तविश्वलहरीनिर्भरः पूर्णोऽहं विमर्शमयचिच्चमत्कारशालिनि स्वमहिम्नि एव अवस्थितः न तु मनागपि संकोचकलनाभिन्नवेद्यवेदकाद्यात्मा त्रैकालिकी बाह्यत्वेन समुदेतीति । अथ च स एवानन्तघनतया समुच्छलत्स्वभावः स्वेच्छयैव स्वस्मादेव निरुपादान-सहकारिकारणादिसम्भारं विश्वक्रीडामुद्भिभासयिष्यन् स्व-स्वातन्त्र्येण शुद्धाशुद्धविमिश्ररूपाणि परस्परापोहनेन अवभासमानानि मातृ-मेयादीनि तत्सम्बन्धांश्च कार्यकारणभाववैचित्र्यादीन् दर्पणप्रतिबिम्बवदनतिरिक्तानपि अति-रिक्तवद्वभासयति स्वात्मनि एव देशकालाद्युपहितान् । निर्भासितां च तेषां कालाद्यकलितः स एव पारमार्थिक-स्वभाव इति वस्तुतो हि सृज्यते स्थाप्यते संह्रियते चेति । आनन्दघनश्चिदाकाश एव पूर्णतापूर्णतरस्तथा तथा पूर्णमानश्चकास्तीति षडर्धशास्त्रापराख्यप्रत्यभिज्ञाशास्त्रसम्प्रदायः —

श्रीसोमानन्ददेवैः परमशिवमतं ग्रन्थितं यत्पुराऽभूत्
तत्र व्याख्योत्पलाचार्यैरपि पृथुरुदिता प्रत्यभिज्ञेश्वरस्य ।
तस्यां वैमर्शनाम्नाऽभिनवमृदुपदा सर्वगम्यैव हिन्दी
श्रीकृष्णानन्दवर्यैः सुरगुरुमतिभिः सागरैरभ्यधायि ॥

इति शम् ।

पण्डितराजः
राष्ट्रपतिसन्मानितः
म. म. श्रीगोपालशास्त्रिदर्शन-
केशरी

शुभाशंसन

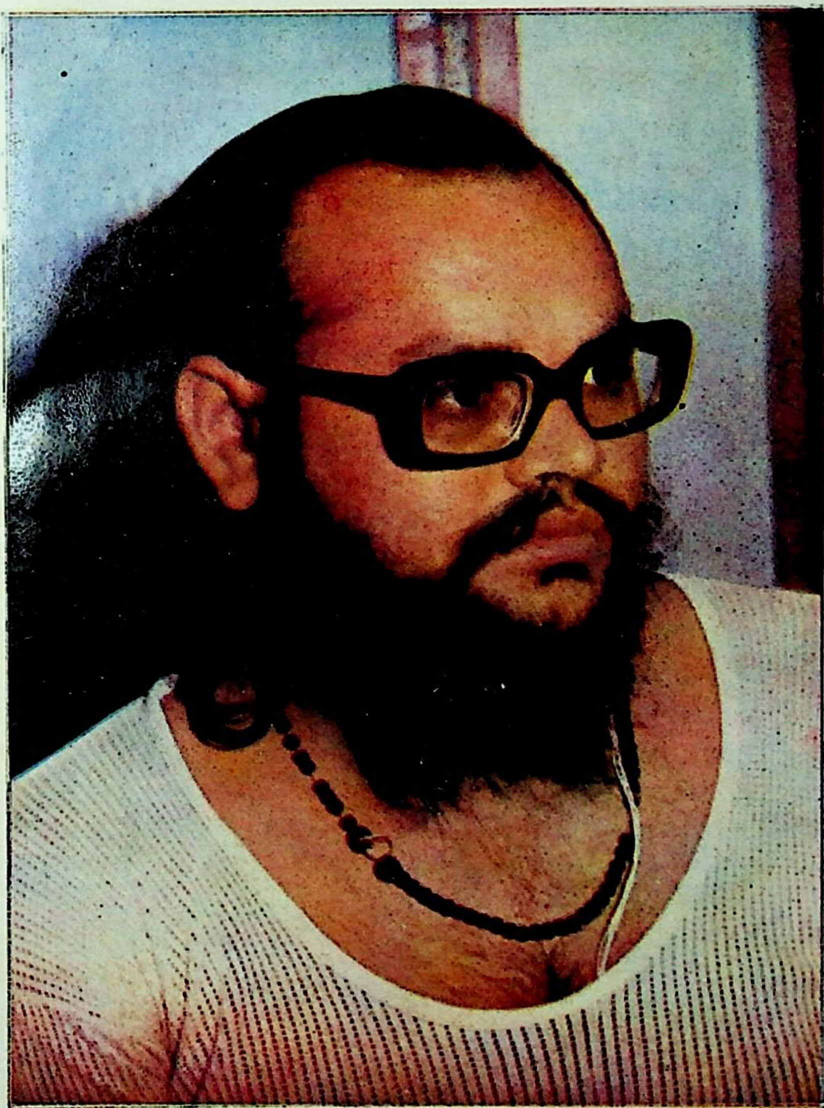
महामाहेश्वर आचार्यप्रवर श्रीमदुत्पलदेवाचार्य द्वारा विरचित 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' ग्रन्थ का काश्मीरी, 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' या 'शैवाद्वैतदर्शन' में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ को उक्त दर्शन का प्रस्थान भी कह सकते हैं। श्रीमदुत्पलदेवाचार्य के प्रशिष्य 'तन्त्रालोककार', महामाहेश्वर श्रीमद्-अभिनवगुप्ताचार्य थे। 'तन्त्रालोक' प्रत्यभिज्ञादर्शन का सर्वाधिक महनीय, प्रामाणिक एवं विशाल ग्रन्थ है। श्रीमद्-अभिनवगुप्त-पादाचार्य के गुरु के गुरु श्रीमदुत्पलादेवाचार्य ने जिन मान्यताओं को अपने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' ग्रन्थ में प्रतिष्ठापित किया वे मान्यतायें उक्त दर्शन में आगे चलकर पल्लवित और पुष्पित हुई। उनके सब से बड़े व्याख्याकार श्रीमद्-अभिनवगुप्तपादाचार्य थे जिन्होंने भरत के 'नाट्यशास्त्र' की भी 'अभिनवभारती' टीका लिखी थी। उन्होंने ही अत्यन्त विशालकाय शैवदर्शन के सब से विशिष्ट ग्रन्थ 'तन्त्रालोक' की रचना द्वारा उक्त दर्शन को अमर बना दिया।

महाराजा कश्मीर के राज्यद्वारा संचालित शैवदर्शन की ग्रन्थमाला में शैवदर्शन के पचासों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे। 'तन्त्रालोक' भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित होकर प्रकाश में आया था। श्रीमद्-अभिनवगुप्तपादाचार्य की 'विमर्शिनी' व्याख्या सहित, 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' भी वहीं प्रकाशित थी। परन्तु अत्यन्त स्वल्प मूल्यवाले उक्त माला के ग्रन्थ आज दुर्लभ हो रहे हैं। अभिनवगुप्तपादाचार्य को प्रामाणिक, 'विमर्शिनी' व्याख्या युक्त 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' ग्रन्थ का सर्वदर्शनाचार्य श्रीकृष्णानन्द सागर की 'शिवरञ्जनी' टीका के साथ प्रकाशन स्तुत्य प्रयास है। यद्यपि 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा', पर लिखित अभिनवगुप्तपादाचार्य की 'विमर्शिनी', नामक टीका अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है तथा 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' की सूत्रात्मक कारिकाओं को समझने के लिए कुंजिका है तथापि संस्कृत न जाननेवालों के लिए वह अर्थहीन हो जाती है।

आचार्य श्रीकृष्णानन्द सागर का हिन्दी व्याख्या के साथ प्रकाशन का यह कार्य निश्चय ही प्रशंसनीय और संस्कृत न जाननेवाले शैवाद्वैतदर्शन के समुत्सुक जिज्ञासुओं के लिए बड़ा सहायक सिद्ध होगा।

हिन्दी टीकाकार को एतदर्थ में हार्दिक बधाई देता हूँ और विश्वास करता हूँ कि यह ग्रन्थ जिज्ञासु सुधीजनों में लोकप्रिय होगा।

पं० करुणापति त्रिपाठी
भूतपूर्व कुलपति—सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय
एवं
वर्तमान अध्यक्ष—उत्तर-प्रदेश-संस्कृत-अकादमी



सर्वदर्शनाचार्य श्रीकृष्णानन्द सागर जी महाराज

प्रस्तावना

प्रत्यभिज्ञादर्शन की प्राचीनता एवं गुरुपर्वक्रम

प्रत्यभिज्ञादर्शन एक अत्यन्त प्राचीन दर्शन है, जितना कि सच्चिदानन्द स्वरूप परम शिव। इस दर्शन का आदि और अन्त पाना कठिन है; क्योंकि शिव से इस प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का गहन सम्बन्ध है जिसके स्वरूप का आदि और अन्त ब्रह्मा आदि देव भी नहीं पा सके हैं। इसलिए हम लोगों के मन एवं वाणी का अविषय ही है। यह संविद्रूप परम शिव सृष्टि से पूर्व 'अहम्' इस रूप में अव्यक्तरूप से रहा। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किंचन मिषत् ईषत लोकान्नु सृजा इति ॥१॥ स इमाँल्लोकानसृजत' (ऐत० १।२) इस श्रुति वाक्य से सिद्ध होता है कि यह एक मात्र परमात्मतत्त्व ही सृष्टि से पूर्व था, अतः परमात्मा ने ईक्षणरूप संकल्प किया कि मैं सम्पूर्ण लोकों की रचना करूँ। इस प्रकार वही परम शिव 'इदम्' इस नाम-रुपात्मक जगद्रूप से व्यक्त हो गया। इस दर्शन का तादात्म्य अद्वैत परक उपनिषदों से मिलता है। जिस अद्वैततत्त्व का प्रतिपादन उपनिषदों ने किया है, ठीक उसी तत्त्व का प्रतिपादन शैवाद्वैत वेदान्तदर्शन में हुआ है, केवल नाम-रूप की भिन्नता है, वस्तु सारुप्यत्व तो एक ही है जैसा कि पुष्पदन्ताचार्य ने महिम्नः स्तोत्र में उल्लेख किया है—'रुचीनां वैचित्र्यादृजु-कुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।' अर्थात् परमार्थ पथ के पथिकों का प्रस्थान भिन्न-भिन्न होने पर भी रुचि के वैचित्र्य से टेढी-मेढी व सरल गतिपूर्वक गमन करनेवाली सरिताओं के लिए सागर के समान एक मात्र परमात्मा ही लक्ष्य रहता है। इस दर्शन में गुरु परम्परा के क्रम से भी अद्वैत-वेदान्त की भाँति अतिप्राचीनता झलकती है। अद्वैत-वेदान्त में गुरु परम्परा का वर्णन भी ठीक इस शैवाद्वैत की प्राचीनता से मिलता है इससे सिद्ध होता है कि यह प्रत्यभिज्ञादर्शन भी प्राचीन ही है। अद्वैतवेदान्त की गुरु परम्परा में 'नारायणं पद्मभवं वशिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्यशिष्यम्। श्रीशंकराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यं तं तोटकं वार्तिक कारमन्यानस्मद्‌गुरून्सन्ततमानतोऽस्मि।' इस प्रकार से भगवान् नारायण से लेकर आचार्य भगवत्पाद शङ्कर के शिष्य सुरेश्वराचार्य तक एवं आगे विद्यारण्यमुनि इत्यादि शुद्धरूप से वेदान्तदर्शन के आचार्य माने जाते हैं।

आज से सहस्रों वर्ष पूर्व, जबकि राम, परशुराम, कृष्ण इत्यादि अवतरित नहीं हुए थे, इन सबों से पूर्व इस सप्तद्वीपा वसुन्धरा पर शैवाद्वैतवेदान्त का ही अत्यधिक प्रचार-प्रसार था, चौबीस या जितने भी अवतार हुए हो, इन अवतारों के अनन्तर ही छोटे-मोटे सम्प्रदायों का उदय हुआ है और भिन्न-भिन्न दर्शनों का निर्माण हुआ है। 'कालक्रमेण जगतः परिवर्तमानाः' इस न्याय से संसार परिवर्तनशील है और ऐसा होना स्वाभाविक भी है, धीरे-धीरे इस दर्शन का लोप होने लगा। जैसा कि भगवान् ने गीता में कहा है 'एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप ॥४-२॥ हे अर्जुन! मैंने इस अविनाशी आत्मविश्रान्तिरूप योग को कल्प के आदि में सूर्य के प्रति कहा था और सूर्य ने मनु के प्रति कहा और मनु ने इक्ष्वाकु को दिया। इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए आत्मविश्रान्तिरूप योग को राजर्षियों ने प्राप्त किया किन्तु इस योग का धरातल पर प्रायः लोप हो गया था। इसे पुनः तुम्हारे लिए मैं कहता हूँ।

भगवान् परमशिव ने निम्न प्रकार से आदेश दिया है—मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया चोदयामास मुनिं दुर्वाससं नाम । ततः स भगवान् देवादेशं प्राप्य यत्नवान् । ससर्ज मानसं पुत्रं त्र्यम्बकादित्यनामकम् । यावत्पञ्चदशः पुत्रः । स कदाचिद्रागवशात् । ब्राह्मणीमानयामास ततो जातस्तथा विधः । तनयः स च कालेन कश्मीरेष्वागतो भ्रमन् । नाम्ना स संगमादित्यो वर्षादित्यस्तु तत्सुतः । तस्याप्यभूत्स भगवानरुणादित्यसंज्ञकः । आनन्द संज्ञकस्तस्मात् । तस्मादस्मि समुद्भूतः सोमानन्दाख्य ईदृशः ॥ इस प्रकार भगवान् श्रीकण्ठ मूर्त्ति से लेकर श्री सोमानन्दपाद पर्यन्त एवं आगे भी इस दर्शन की परम्परा अनवच्छिन्न धारावत् चली । इन्होंने सर्व-प्रथम शैवाद्वैतधारा को ग्रन्थ का प्रारूप दिया, इस प्रकार श्री सोमानन्दपाद ने 'शिवदृष्टिशास्त्र' की रचना करके मुमुक्षुजन के मानसपटल को अमृतधारा से सींच दिया । इस प्रत्यभिज्ञादर्शन की प्रखरता का सूर्य धरातल पर प्राणियों को प्रकाशित करता हुआ चला आ रहा है । आचार्य उत्पलदेव ने 'शिवदृष्टिशास्त्र' जो कि आगमशास्त्ररूप है इसके अनुसार ईश्वरप्रत्यभिज्ञा का निर्माण किया है । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा का उपसंहार करते हुए आचार्य ने अपना जीवन क्रम का परिचय दिया है । जैसा कि—'जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकर सूनुना । ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता ॥ श्री उदयाकर इनके पिता थे । इस ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के ऊपर आचार्य अभिनवगुप्त ने विमर्शिनी टीका की है । इस प्रकार अभिनवगुप्त ने गुरुपरम्परा क्रम के अनुसार विद्याध्ययन करके अनेकानेक ग्रन्थों का निर्माण किया । इन्हों ने उल्लेख किया है कि 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञोक्त विस्तरे गुरुनिर्मिते । शिवदृष्टिप्रकरणे करोमि पदसंगतिम् । श्रीसोमानन्दनाथस्य विज्ञानप्रतिविम्बकम् । बुद्ध्वाभिनवगुप्तोऽहं श्रीमल्लक्ष्मणगुप्ततः । श्री लक्ष्मणगुप्त से विद्याध्ययन करके ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के ऊपर विमर्शिनी एवं बृहत्प्रत्यभिज्ञाविवृत्ति-विमर्शिनी का निर्माण आचार्य अभिनवगुप्त ने किया है । इन टीकाओं का निर्माण करके आचार्य अभिनवगुप्त ने इस दर्शन की कहीं अधिक शोभा बढायी है और इसके उत्थान में विमर्शिनीकार का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है ।

प्रत्यभिज्ञादर्शन का नामान्तर

इस दर्शन को शैवाद्वैत वेदान्तदर्शन; स्वातन्त्र्यदर्शन, प्रत्यभिज्ञादर्शन और षडर्ध अर्थात् त्रिकदर्शन भी कहते हैं । शैवाद्वैत इसलिए कहते हैं कि इस दर्शन में जीव एवं शिव की अद्वैतरूपता का प्रतिपादन है । स्वतन्त्ररूप से विचार-विमर्श इस दर्शन में किया गया है अतः यह स्वातन्त्र्य दर्शन है । प्रत्यग् अभिन्न अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा होती है कि मैं वही सच्चिदानन्द परम शिव हूँ इस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् की अभिन्नता से भगवान् परम शिव ही पशु, पशुपति और पाश है अत एव इस शास्त्र को त्रिक शास्त्र नाम से कहा है । इसी त्रिक शास्त्र को सामान्यजन ईश्वर, जीव और प्रकृति कहते हैं और अद्वैत-वेदान्ती ब्रह्म, जीव और माया कहते हैं ।

इस दर्शन की दृढ-प्रतिज्ञा

यह प्रत्यभिज्ञा शास्त्र आत्मरूप वैभव देनेवाला है; क्योंकि 'कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य···समस्त संपत्समवाप्तिहेतु···।' महेश्वर की दासता सम्पूर्ण आत्म-विश्रान्तिरूप ऐश्वर्य देने में कारण है । भौतिक स्वार्थ में संलग्न व्यक्ति परमार्थ पथ का पथिक हो एवं हृदयकमल में विद्या ज्ञान का प्रदीपप्रकाशपुञ्ज प्रकट करें अपनी संकीर्ण अकिंचन भावना का त्याग करते हुए मैं स्वयं परमेश्वर स्वरूप हूँ, यह समझे । किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते । शक्त्याविष्करणे नेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ।' अर्थात् मोह माया के आवरण से घेरा हुआ प्राणी अपने स्वरूप को देखता हुआ भी स्व-स्वरूप की उपेक्षा कर देता है । ज्ञान-शक्ति का हृदय

पर प्रकाश करने के लिए इस प्रत्यभिज्ञा का स्मरण कराया जाता है कि मैं महेश्वर हूँ मैं जडभूत नहीं हूँ; क्योंकि जड का स्वभाव परिच्छिन्न है। संविद्रूप ज्ञान जड से विलक्षण है 'जडाद्विलक्षणो बोधः।' इसलिए संविद्रूप का परिच्छेद नहीं होता है तथा इच्छा और क्रिया ज्ञानपूर्वक ही हुआ करती है, सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम समुदाय महेश्वर का ही वैभव है।

ज्ञान-शक्ति का स्वरूप

परमेश्वर अपनी हृदयरूपी गुहा के भीतर स्थावर-जङ्गमरूप सम्पूर्ण पदार्थराशि को ज्ञान-शक्तिरूप प्रदीप से आभासित करते हैं, इस प्रकार ज्ञान-शक्ति से ही स्मृति-शक्ति का जीवन रहता है, विशिष्ट देश एवं काल के आभास से युक्त होकर वर्तमान काल में भिन्न-भिन्न रूपों में आभासित होना ही ज्ञान-शक्ति का स्वरूप माना जाता है आन्तर अवस्थित पदार्थों का बाह्यरूप से भासित होना ही घटता है किन्तु वे पदार्थ माया प्रमाता में भेदपूर्वक भासते हैं और शुद्ध चिद्रूप में 'अन्तःस्थिताम्' अर्थात् अन्तर से सम्बन्ध रखते हुए उसके साथ एकताभाव को प्राप्त कर प्रकाशता की स्थिति सदैव बनाये रखते हैं इसलिए चिद्रूप की भिन्नता को न छोड़नेवाले पदार्थों के आरोपित प्रमाता की अपेक्षा भेद से अवभासित होना ही तो महेश्वर देव की ज्ञान-शक्ति है।

पदार्थों की प्रकाशात्मता

इस प्रकार प्रकाश ही तो अर्थों का स्वरूप है, अपने स्वरूप की प्रकाशता प्रकाश से अभिन्न रहती है; क्योंकि अर्थ ही नीलादि पदार्थ है और वही नीलादि रूपता को प्रकाशता है माहेश्वर प्रकाश से भी प्रकाश भिन्न है इससे तो फिर अनुसन्धान का योग ही नहीं बैठ सकता है इसलिए अर्थ का स्वरूप प्रकाशमानत्व प्रकाश से अभिन्न है। इस प्रकार चिद्रूप आत्मा में असद्रूप के समान रहते हुए की जड समुदाय प्रकाश का ही स्वरूप है; क्योंकि प्रकाश न तो प्रकाश से भिन्न है और न अर्थ से ही भिन्न है स्वयं प्रकाशरूप ज्ञान से अर्थ अभिन्न ही रहता है इसलिए बोधरूप प्रकाश से अभेदपूर्वक ही अर्थ अवस्थित रहता है।

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्वहिः।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्॥

सच्चिदानन्द देव ही अपने आन्तर स्थित तत्त्व-समुदाय को इच्छा-शक्तिवशात् बाहर की ओर आभासित करते हैं। जैसे योगी उपादानकारण आदि के बिना भी पदार्थराशि को अभिव्यक्त करते हैं अर्थात् स्वप्न, संकल्प, मनोराज्य आदि में बाह्य उपकरणों के बिना भी यदार्थ विचित्र रूपों में प्रकाशित हो जाते हैं उसी प्रकार प्रमाताओं में भी आभासविचित्रता यद्यपि स्थिर नहीं है तो भी पूर्वकालीन संस्कार समूह को लेकर उनमें यथाकाल उत्पन्न हो जाती है; क्योंकि योगी अपने योग-शक्ति से समस्त पदार्थों का निर्माण क्षणमात्र में उपादानकारण के विना भी पुर, सेना, किला आदि के रूप में सृजन कर देते हैं। इस विषय में भट्ट दिवाकरवत्स का कथन है कि 'न दृश्यते त्वत्प्रतिभासशक्तेः स्वप्नेऽर्थवैचित्र्यनिमित्तमन्यत्। तद्दृष्टसामर्थ्यतया सदैषा विश्वप्रपञ्चप्रथनैकहेतुः॥ अर्थात् हे महेश्वर! तुम्हारी ज्ञान-शक्ति से अतिरिक्त कोई पदार्थों को विचित्र-चित्र रूपों में आभासित करने के लिए स्वप्न में भी दूसरा कारण दिखायी नहीं देता है। इस नाम-रूपात्मक विश्व का विस्तार करने में एकमात्र हेतु संविद्रूप की सामर्थ्य-शक्ति ही है।

श्रुतिगतप्रामाण्य

इस विषय में उपनिषद् वाक्य का भी प्रमाण मिलता है—'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं कृत्स्नमिदं जगत् ।।' इस नाम-रूपात्मक विश्व का सृष्टा महेश्वर हैं माया को प्रकृति और मायाधीश को महेश्वर समझो, उस परमात्मा के अवयवरूप से ही यह सारा का सारा विश्व व्याप्त है। 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः' इत्यादि अर्थात् उस सच्चिदानन्द पूर्ण परमात्मा से ही आकाश, वायु आदि तत्त्वों की उत्पत्ति श्रुतियों से सुनी जाती है। इससे सिद्ध होता है कि उस संविद्रूप सच्चिदानन्द देव के भीतर ही यह सारा का सारा तत्त्व समूह आकर के रूप में रहता है और अपनी इच्छा-शक्ति से बाहर की ओर प्रकाशित होता है; क्योंकि परमात्मा ने इच्छा कि 'एकोऽहं वहुस्याम्' मैं अकेला हूँ अनेकों रूपों में विभक्त हो जाऊँ; महेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति से ही तत्त्व-समूह बाहर भासित होते हैं। परमेश्वर को सृष्टि रचना में बाह्य उपकरणों की अपेक्षा नहीं होती है जैसे कि कुंभकार को बाह्य उपकरणों की अपेक्षा होती है। उन्हीं से कुंभकार घट का निर्माण कर सकता है। किन्तु परमेश्वर में यह बात नहीं है वह तो स्वतः इस विश्व प्रपञ्च का निर्माण करते हैं किसी अन्य की अपेक्षा रखनेवाले नहीं हैं। अतः महेश्वर को अभिन्ननिमित्तोपादान कारण कहा जाता है। इसमें श्रुति वाक्य प्रमाण है—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम् ।। (मु० १-७) जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर से ही तन्तुओं को बाहर की ओर निकालती है उसे किसी अन्य की इसमें अपेक्षा नहीं होती है और प्रसारित तन्तुओं को पुनः अपने में समेट लेती है। जैसे भूमि से व्रीहि, यव, ओषधि, अन्न आदि उत्पन्न होते हैं जीवित प्राणी से केश-आदि उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अक्षर ब्रह्म से यह अखिल संसार उत्पन्न होता है और पुनः प्रलय काल में उसी में समाहित हो जाता है। इसीलिए बाह्य-पदार्थों की प्रकाशता में चिदात्मा देव की ही ज्ञान-शक्ति कारण है।

परम शिव का स्वातन्त्र्य

आन्तर स्थित अर्थ समूह का ही बाहर की ओर प्रकाश होता है यदि ऐसी बात है तो फिर वह क्यों स्वतः प्रकाशित नहीं होता है? इसका समाधान यह है कि संविद्रूप सच्चिदानन्द देव में रहनेवाली पदार्थराशि निरन्तर आभासित होती रहती है किन्तु 'अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते।' परमेश्वर की इच्छा के विना प्रत्यवमर्श नहीं होता है। चिदात्मा में संपूर्ण पदार्थ समूह निरन्तर भासित होते रहना यह उसका स्वरूप नहीं है किन्तु अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से, स्वामीपन से एवं ऐश्वर्य से, चित्र-विचित्र प्रकार से, कार्य-कारणभाव के क्रम व अक्रम से संविद्रूप ज्ञान ही इस पदार्थराशि को बाहर की ओर आभासित करते हैं प्रमाताओं के भेद से विस्तारपूर्वक उसमें भी आभास को कहीं पर एकत्रित कर देते हैं। जैसा कि नृत्याङ्गना अपने स्वाङ्ग से विविध प्रकार की भावभङ्गी दिखा करके प्रेक्षक वर्ग की दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित करती हुई एकत्रित कर लेती है, उतने अंश में ही आभासों की एकरूपता बनी रहती है; क्योंकि परमेश्वर का विभाग अवस्था में भी वैसा स्वरूप रहता है। शरीर, प्राण आदिकों का आभासों के अंशों में 'चितिशक्तिरपरिणा-मिनी।' अर्थात् चिति-शक्ति परिणामशील नहीं होती है।

यद्यपि प्रकाश एवं अप्रकाश दोनों ही आत्मा में रहते हैं तो भी प्रकाश की कुछ तो विलक्षणता नहीं दिखायी देती है वैसे ही विमर्श एवं अविमर्श भी तो आत्मा में रहते हैं इससे जड एवं अजड की प्रतीति कैसे होगी?

'अहम्' प्रत्यवमर्श ही इसका वास्तविक स्वरूप है वह अपने ही रस से परावाणी के रूप में उदित रहता है, यही परमात्मा का मुख्य स्वातन्त्र्य है। चिति-शक्ति का परामर्श स्मरण करना ही स्वभाव है; क्योंकि जड वस्तु स्वयं अपने आप से प्रकाशित नहीं होती है और न तो किसी अन्य को प्रकाशित कर सकती है। चैत्र आदि व्यक्ति तो स्वयं अपना परामर्श करते हैं और स्वयं अपने से प्रकाशित भी रहते हैं। इसलिए यह परावाणी आद्य-शक्ति अभिन्न स्वभाववाली है, निरन्तर संविद्रूप से स्फुरित रहने के कारण उत्पत्ति-विनाश से रहित रहती है, अन्य की अपेक्षा न रखनेवाली होने से इसे स्वातन्त्र्य-शक्ति भी कही जाती है। वह सम्पूर्ण परामर्शों का आश्रयरूप होने से एवं अपने में पूर्ण होने से परावाणी परामर्श द्वारा सारे विश्व को अपने स्वरूप में देखती है और 'अहं' इस परामर्शरूप से निरन्तर स्फुरित रहती है यही सच्चिदानन्द परमात्मा का परम स्वातन्त्र्य है। 'सा स्फुरता महासत्ता देशकालाविशेषिणी। सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥ वह भवन कर्तृता महासत्ता निरन्तर विस्फुरित रहती है इसे देश एवं काल स्पर्श नहीं करता इसलिए सच्चिदानन्द देव प्रतिक्षण सृष्टि, स्थिति एवं प्रलयादि के द्वारा प्रमातृ-वर्ग के संयोजन-वियोजन की विचित्रता से सम्पूर्ण विश्व को प्रपञ्चित किया करते हैं। इस प्रकार आचार्यपाद का कथन है 'सदा सृष्टि विनोदाय सदा स्थितिसुखासिने सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय भवते नमः।' श्रीभट्टनारायण ने भी कहा है—मुहुर्मुहुरविश्रान्तस्त्रैलोक्यं कल्पनाशतैः। कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः॥ अर्थात् अनेक प्रकार से तीनों लोकों की निरन्तर कल्पना करते हुए स्व-स्वरूप में विश्रान्त रहनेवाले निर्विकल्प अजन्मा की जय हो। इससे सिद्ध होता है कि संविद्रूप भगवान् सच्चिदानन्द देव में पदार्थतत्त्व रहते हैं किन्तु उनकी इच्छा-शक्ति के बिना बाहर में प्रकाशित नहीं होते हैं। परामर्श का नाम ही विकल्प है और वह भगवान् सच्चिदानन्द देव में कैसे सम्भव हो सकता है? आभास का स्वभाव ही प्रत्यवमर्श है, इसे स्वरूप का प्रत्यवमर्श कर्ता ही भली-भाँति जानता है इसका दूसरा नाम अहम्, स्वातन्त्र्य स्वभाववाला एवं असांकेतिक है, नहीं तो अर्थ से उपरक्त होने पर भी प्रत्यवमर्श से रहित होकर प्रकाश स्फटिकादि के समान जड ही हो जाता है। संविद्रूप तत्त्व को विमर्शयुक्त अन्य आगमशास्त्रों ने भी अङ्गीकार किया है। इस विषय में कहते हैं कि 'आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रिया चितिकर्तृता। जडात्स हि विलक्षणः॥' अर्थात् आत्मतत्त्व सच्चिद्रूप है चिद्रूप क्रिया भी चेतन कर्ता से युक्त रहती है। इसलिए आत्म-तत्त्व जड वस्तु से विलक्षण है। चिति-क्रिया है वही विश्वरूप परमेश्वर का स्वात्म प्रतिष्ठारूप हृदय है। देश एवं कालादि के भाव से तो उसकी व्यापकता समाप्त होती है। किन्तु व्यापक तो वही है जो सम्पूर्ण दिशाओं में व्यापकभाव रखता हो अर्थात् देश एवं कालादि से अनवच्छिन्न स्वरूपवाला ही व्यापक कहलाता है।

विभु परमेश्वर की माया-शक्ति के द्वारा विमर्शात्मिका चिति-शक्ति ही भिन्न-भिन्न संवेद्य विषयों में विभक्त होकर ज्ञान, संकल्प एवं अध्यवसाय आदि संज्ञाओं से पुकारी जाती है। परमेश्वर ही पशु प्रमाता अपनी माया-शक्ति से बन जाते हैं इस प्रकार विमर्शात्मिका शक्ति भी माया-शक्ति के द्वारा विषयों के उपराग से संकुचित् होकर ज्ञान-स्मरण आदि रूपों में परिणत हो जाती है। परमार्थतः विमर्शात्मिका-शक्ति से अतिरिक्त कुछ भी तो नहीं।

इस प्रकार अतिसूक्ष्मरूप से विमर्श प्रकाशवपु में आविष्ट होकर भासता है जिसमें स्थूलरूप से विकल्पता प्रस्फुट होती है उसमें तो नीलादि-पदार्थ के समान भिन्नरूप में प्रतिभासित होने लगता है। जैसा कि यह नील है, वह प्रकाश स्वरूप से अभिन्न होकर कैसे भासित होगा? वह मायामय संसार में तो प्रकाश से अभेद रखता हुआ भासता है वही यह घट है जो कि अध्यवसाय ज्ञान नामरूपात्मक प्रपञ्च से भिन्न है,

परमेश्वर की चिति-शक्ति आत्मा के समान 'अहम्' इस अनवच्छिन्नरूप में निरन्तर भासती है। इदन्तया अर्थात् परिच्छिन्नभाव से नहीं भासती है।

संवितत्त्व का कोई क्रम नहीं है, किन्तु परमेश्वर की माया-शक्ति से भिन्न-भिन्न रूपों में जितने भी आभासित होनेवाले पदार्थ हैं उन सबों को मूर्त्ति भेदकृत दूर-समीप एवं संकुचित-विशाल आदि देश भेद और क्रिया भेद से शीघ्र-विलम्ब इत्यादि को कालकृत भेद से आभासित करते हैं उन सबों के अनुरोध से ज्ञान, स्मृति और अध्यवसाय आदि क्रम से प्रकाशित होते हैं। इसलिए कहा है कि 'ज्ञानादयोऽस्य भगवतः शक्तयः' अर्थात् ज्ञान, स्मृति एवं अध्यवसाय आदि भगवान् परम शिव की ही शक्तियाँ है।

अपोहनशक्ति का स्वरूप

जो सच्चिदानन्दघन परम शिव अपने स्वरूप में अवस्थित पदार्थराशि को प्रस्फुरित होने से रोकते हुए अपनी स्वातन्त्र्यरूप इच्छा-शक्ति के द्वारा वैचित्र्यभाव प्रकट करते हैं ज्ञान-शक्ति और स्मृति-शक्ति इन दोनों पर अनुग्रह करनेवाली परमेश्वर को ही अपोहन-शक्ति है; क्योंकि गीता में भगवान् ने भी कहा है कि 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।' अर्थात् मुझ से ही स्मृति, ज्ञान एवं अपोहन होता है ऊह का अर्थ तर्क, संशय-विपर्यय होता है जो उससे रहित हो वही अपोहन है। स्व-स्वरूप में निरन्तर प्रस्फुरित रहना ही अपोहन है और वहो परमात्मा की शक्ति है। इसलिए अपोहन-शक्ति का शुद्ध अहं प्रत्यवमर्श प्रकाश स्वरूप है उसका परावाग्रूपता ही वपु है उसमें विकल्पता नहीं रहतो है, वह तो द्वित्व की अपेक्षा रखनेवाला चिद्रूपसार तत्त्व है। किसी अन्य की अपेक्षा न रखनेवाला, स्व-स्वरूप में स्थिर रहनेवाला अहं प्रत्यवमर्श है। वह विकल्पित नहीं होता है।

शुद्ध अहं परामर्श में जो घटादि प्रतियोगिरूप अपोहनीय है। इसमें तो अवश्य विकल्पता रहती है परमेश्वर भी माया-शक्ति के चित्तत्व को प्रच्छन्न कर जो कि भिन्न-भिन्न रूपों से देह, बुद्धि एवं प्राण आदि में गगन के सदृश आरोपित हो जाते हैं। इस प्रकार प्रमातृरूप से अहं अन्य प्रतियोगी के अवभास से उत्पन्न हुआ विकल्प ही माना जायेगा। अहं विमर्श शुद्ध एवं अशुद्ध के भेद से दो प्रकार के होते हैं शुद्ध सच्चिदानन्द परम शिव में यह सारा का सारा विश्व अभिन्नरूप से प्रतिविम्बित होकर झलकता है और उसमें तो कुछ भी दूर करने योग्य होता ही नहीं है। इस प्रकार घटादि का कोई प्रतियोगी न होने से कोई अपोह्य का विषय भी नहीं बनता है। किन्तु अशुद्ध प्रमाताओं में ऐसी वात नहीं है अपने स्वरूप को अप्रधान बना करके अपने से भिन्न देह-गेहादि में मिथ्या अभिमान कर लेता है इसलिए विकल्पकरूपता बन जाती है और इसी का नाम विकल्प है।

परमार्थतः देह, बुद्धि, प्राण आदिकों की अभिमानदशा में भी प्रकाश स्वरूप परमेश्वर ही प्रमाता है और वही परमेश्वर ही सब का जीवन तत्त्व है। स्मृति, अपोहन प्रधान विकल्प, अनुभव और आन्तर पदार्थों का ही आभास प्रकाशरूप से रहता है, परमात्मा तो सब कुछ सहनेवाला होता है इसलिए उसमें विश्व की अन्तर्लीनता सदैव बनी रहती है। 'निष्प्रपञ्चो निराभासः शुद्धः स्वात्मान्यवस्थितः। सर्वातीतः शिवो ज्ञेयो यं विदित्वा विमुच्यते॥' अर्थात् अपने आप में परिपूर्ण रहनेवाला शुद्ध, निराभास, निष्प्रपञ्च सब से अतीत शिव स्वरूप को जान करके साधक मुक्त हो जाता है। इस प्रकार व्यवहार दशा में भी परमेश्वर देहादि में प्रवेश कर अन्तःस्थित पदार्थ समूह को अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से बाहर की ओर अभिव्यक्त करते हैं। कीट-पतङ्ग आदि सम्पूर्ण प्रमाताओं में अवभासनरूप ज्ञान-शक्ति और उल्लेखनरूप क्रिया-शक्ति नैसर्गिक रहती है।

एकाश्रय एवं माहेश्वर्य का निरूपण

समस्त शक्तिरूपी पदार्थ-रत्नों का एकमात्र आश्रय महेश्वर ही है। इस नाम-रूपात्मक विश्व महेश्वर की शक्ति से ही अवस्थित है शक्तिमान् से शक्ति किसी अन्य जगह नहीं रहती परन्तु उसी में तद्रूप होकर रहती है जैसा कि हिम से भिन्न शीतलता नहीं रहती एवं वह्नि से भिन्न ऊष्णता नहीं रहती है। 'शिवः शक्तस्तथा भावनिच्छया कर्तुमीहते। शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नम्।' शक्ति शक्तिमान् से भिन्न नहीं होती है। 'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता। अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः॥' तत्-तत् वस्तु-पदार्थों में क्रमशः यह जो घटादि की प्रतिभा अनुरञ्जित हो रही है। अनन्त-शक्ति सम्पन्न, अक्रमरूप, सच्चिदानन्द महेश्वर ही प्रमातृरूप से उन सभी में रहते हैं।

इस विषय में कठश्रुति का भी कथन है कि—'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥' अर्थात् उस परम ब्रह्म परमात्मा को सूर्य, चन्द्र एवं नक्षत्रगण भी प्रकाशित नहीं कर सकते हैं तो फिर यह अग्नि कैसे उसे प्रकाशित कर सकेगी? उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित है।

जीव एवं शिव की एकरूपता के बिना संविद्रूप ज्ञानों का लोकोत्तर व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकेगा; क्योंकि संविद्रूप प्रकाश की एकरूपता से ही ज्ञानों में एकरूपता बन सकती है और वह एकमात्र परमार्थ-स्वरूप प्रमाता से ही संभव है।

क्रिया-शक्ति का प्राधान्य

सच्चिदानन्द स्वरूप परम शिव को क्रिया-शक्ति अत्यन्त प्रिय है अपनी ज्ञान-शक्ति के द्वारा यह क्रीडा-क्षेत्ररूप जगत् विविध भावभङ्गी से युक्त होकर क्रिया-शक्ति से देशरूप एवं कालरूप से बाहर की ओर फैलता है। संविद्रूप परम शिव में क्रिया-शक्ति अक्रमपूर्वक रहती है और जीवों में क्रिया-शक्ति क्रम से युक्त होकर रहती है। क्रम से युक्त होकर भासित होने का नाम ही क्रिया है वह काल आदि परिच्छेद से रहित परमेश्वर में कैसे क्रम से युक्त होकर रहेगी? अक्रम स्वभाववाले परमेश्वर में क्रमशील क्रिया का होना घटना नहीं है। यह बात नहीं है, काल-शक्ति से लौकिक क्रिया में क्रमरूपता तो संभव है। निरन्तर निर्बाध्य-रूप से होनेवाले परमेश्वर की क्रिया में क्रमरूपता नहीं होती है। जैसा कि परमेश्वर में क्रमरूपता अभाव मिलता है अर्थात् लौकिक क्रिया की सक्रमरूपता काल-शक्ति के आभास विच्छेदन सामर्थ्य का प्रदर्शन ही प्रभु की शक्ति से होता है। किन्तु परमेश्वर से तादात्म्य रखनेवाली अभेदात्मिका क्रिया-शक्ति को काल का स्पर्श भी नहीं होता है जिस प्रकार परमेश्वर में क्रमरूपता नहीं बन सकती है। उसी प्रकार परमेश्वर की क्रिया में भी क्रमरूपता नहीं होती है; क्योंकि वह तो उन्हीं की जैसी शाश्वत् रहती है।

कालक्रम एवं देशक्रम का विवेचन

तब फिर काल किस को कहा जाय? जगत् के पदार्थों की उत्पत्ति, आमञ्जरी को होना एवं क्रमशः षड् ऋतुओं का आगमन तथा मयूर एवं कोकिलों के मद-विलासादि होने से जो ज्ञान होता है वही काल है अर्थात् सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादिकों का क्रमशः गतिशील रहना ही काल कहलाता है।

'काल एव क्रमः, क्रम एव कालः।' अर्थात् काल ही क्रम है एवं क्रम ही काल है। नैयायिकों का काल पदार्थ यह है कि 'जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः' सम्पूर्ण उत्पत्ति-शील पदार्थों का जनक काल है

और जगत् के पदार्थों का आश्रय माना गया है। इस प्रकार पामर प्राणियों का काल मृत्यु है और ज्ञानियों का काल उससे एक विलक्षण ही है। इस प्रकार आभास-पदार्थों को स्व-स्वरूप से बाहर की ओर फैलनेवाली जो परमेश्वर की शक्ति है वही काल-शक्ति है। परमेश्वर मूर्ति के रूप से देशक्रम को एवं क्रिया की विचित्र-रूपता के आभास से कालक्रम को प्रकाशित करते हैं।

जो आभास का विषय देश एवं काल का क्रम है वह किसी अन्य से भासित होनेवाला प्रमाता नहीं है; क्योंकि इसी से सब कुछ वस्तुएँ आभासित होती हैं इस प्रकार देशक्रम और कालक्रम प्रमाता में कैसे रहेंगे ? अभी मैं इस स्थान विशेष में हूँ यह देशक्रम है और भूत-भविष्यादि को लेकर कालक्रम प्रमाता में दीख पड़ता है, परमेश्वर तो स्वयं देश एवं काल क्रम से शून्य है, आभासों के भेद से कालक्रम भासता है और जो विच्छिन्नाभास है वह स्वयं शून्यादि प्रमाता के बिना आभासित नहीं हो सकता है, परिमित प्रमाताओं के द्वारा ही पदार्थों का भासन होता है, संविद्रूप आत्मस्वभाव से स्वयं अपने में परिपूर्ण है विद्वान् परमेश्वर की निर्माण-शक्ति से ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रकाशित होता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन का तत्त्वक्रम

सच्चिदानन्द परम शिव के गर्भ में 'मयूराण्डवत्' सदाशिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त पदार्थतत्त्व झलकते हैं। प्रत्यभिज्ञादर्शन में छत्तीस तत्त्व संग्रहीत है इनके नाम निम्न प्रकार से हैं—

१. शिव, २. शक्ति, ३. सदाशिव, ४. ईश्वर, ५. शुद्धविद्या. ६. माया, ७. कला, ८. विद्या, ९. राग, १०. नियति, ११. काल, १२. पुरुष, १३. प्रकृति, १४. बुद्धि, १५. अहङ्कार, १६. मन, १७. श्रोत्र, १८. त्वक्, १९. चक्षु, २०. रसना, २१. घ्राण, २२. वाक्, २३. पाणि, २४. पाद, २५. पायु, २६. उपस्थ, २७. शब्द, २८. स्पर्श, २९. रूप, ३०. रस, ३१. गन्ध, ३२. आकाश, ३३. वायु, ३४. तेज, ३५. जल, ३६. पृथिवी।

'ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः'। परम शिव तत्त्व एक होता हुआ भी भिन्न-भिन्न विशेषताओं के लिए हुए अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से अनेक रूपों में विभक्त हो जाता है विश्व को बाहर की ओर स्फुटरूप से अभिव्यक्त करना ही उन्मेष है जिसमें इदमंश अर्थात् ईश्वरतत्त्व की प्रधानता रहती है। अस्फुटरूप से अन्तःकरण में समेट लेने का नाम निमेष है और निमेष ही सदाशिवतत्त्व है जिससे जगत् का प्रलय भी होता है और अहम् अंश की प्रधानता रहती है। अहम् एवं इदम् इन दोनों बुद्धियों का सामानाधिकरण्य विद्यातत्त्व में रहता है। किसी अन्य की ओर उन्मुखता न रखनेवाला 'अहम्' विमर्श है और इदम् अंश को परप्रकाश की अपेक्षा रहती है। इदम् अंश के विमर्श से उपपन्न वेद्य अवस्था को अङ्गीकार किये हुए परापृश्यमान पदार्थों को ठीक-ठीक समझ लेना ही शुद्ध विद्या है। परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से उपजीवित होनेवाली विद्येश्वर-शक्ति शुद्धविद्या है। जिसमें 'अहम्' और 'इदम्' इन दोनों अंशों का ज्ञान पृथक्-पृथक्, रहता है। जबकि भेद का प्रारम्भ तो यहाँ से हो होता है फिर भी भेद के भीतर अभेद बना रहता है इसमें क्रिया की प्रधानता रहती है 'मन्त्र' इस तत्त्व का प्रमाता माना जाता है इसका विमर्श 'इदं च अहम् च' इस रूप से होता है विश्व भिन्न रूप से भासता है परन्तु सर्वांश नहीं, इसलिए यह शुद्धविद्या है विद्यातत्त्व में अवस्थित रहने के कारण विद्येश्वरों को ईश्वर, सर्वज्ञ भी कहा जाता है।

त्रिविधमल का विवेचन और उपसंहार

माया से विमोहित होकर जीव कर्मबन्धन में बद्ध हो जाता है और विद्या से विमुक्त हो जाता है; क्योंकि जीव कालादि पञ्चकञ्चुकों से आवेष्टित होकर शून्य, प्राणादि संकुचितरूप में संसरण करता है इसलिए संसारी

पशु हो जाता है। यही पशु जीव आणव, कार्म और मायीय इन मलों से युक्त रहता है। ज्ञान स्वरूप को छिपानेवाला आणवमल है जिस में जीव अणुमात्र अर्थात् संकुचितरूप को प्राप्त हो जाता है। जन्म और भोग को देनेवाला मायीयमल है और माया-शक्ति द्वारा कर्ता की अज्ञानता में कार्यमल रहता है। शून्यादि प्रमाताओं को प्रलयाकल से पुकारा है इनमें कार्यमल तो रहता ही है किन्तु मायीय विकल्प से रहता है।

विद्येश्वर लोग वेद्य को भिन्न रूप से देखते है जैसे तन्तुवाय वस्त्र की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न ही उसे देखना है इसलिए विद्येश्वरों में मायामल का सम्बन्ध माना जाता है। इस प्रकार पशु जीव और देव त्रिविधमल से युक्त होते हैं। संसार के लिए एक मात्र कारण कार्यमल को माना गया है। इस प्रकार यह छत्तीस तत्त्व से युक्त विश्व भगवान् सच्चिदानन्द देव की प्राणादि शक्तियों के रूप में स्थित है। भगवान् परम शिव प्राण-अपान, समान, उदान और व्यानरूप से सम्पूर्ण पशु जीवों में उल्लासपूर्वक प्रवेश करने के कारण प्रलयाकल, विज्ञानाकल आदि विविध रूपों में विभक्त हो जाते हैं।

'स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः।' सम्पूर्ण जड-जङ्गम प्राणियों का आत्मा महेश्वर ही है और वह गगनवत् व्याप्त है। यह सारा का सारा वैभव मेरा ही है इस प्रकार जाननेवाले का विमर्श दृढ हो जाने पर जीवन्मुक्त हो जाता है।

अर्वाचीन युग के महर्षि श्री गोपालशास्त्री दर्शनकेशरी के आशीर्वाद से इस ग्रन्थ को नया रूप प्राप्त हुआ है एवं यह कार्य पूर्ण हुआ है। साहित्यवेदान्ताचार्य श्रीवंशपति द्विवेदी एम. ए., एवं डॉ० श्री चन्द्रकान्त द्विवेदी के हार्दिक प्रोत्साहन से मेरा मनोबल सदैव बढा है। भारतीय संस्कृत-संस्कृति में उत्कृष्ट श्रद्धा-भावना रखनेवाले मफतलालग्रूप एवं हमारे सेवक-मण्डल ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन के लिए धनराशि व्यय की है। स्वच्छ मुद्रणकार्य के लिए प्रेस के अध्यक्ष श्री पं० विश्वम्भरनाथ द्विवेदी को धन्यवाद। भगवान् परम शिव इन लोगों का कल्याण करें।

कृष्णानन्दसागरः

वह ही जाता है। वहाँ तक और [illegible] जहाँ आप [illegible] के [illegible] है। [illegible]
[illegible] है जिस के और [illegible] की तरह ही [illegible] है। [illegible]
[illegible] है और [illegible] की [illegible] है। [illegible]
[illegible]

[illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] है और है। [illegible] के लिए [illegible] है। [illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible]
[illegible] के [illegible] है।

[illegible]
और [illegible] है। [illegible]
है [illegible] है।

[illegible]
[illegible]
[illegible] है। [illegible]
[illegible] के [illegible]
[illegible] के लिए [illegible] है। [illegible]
[illegible] है।

ॐ नमः सच्चिदानन्दाय

अथ

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा

महामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीमदुत्पलदेवाचार्यविरचिता

श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यवर्यविरचित-

विमर्शिनी-

व्याख्यासंवलिता

अथ प्रथमः ज्ञानाधिकारः

अथ प्रथमे ज्ञानाधिकारे उपोद्घाताख्यं

प्रथममाह्निकम्

निराशंसात्पूर्णादहमिति पुरा भासयति यद्-
द्विशाखामाशास्ते तदनु च विभङ्क्तुं निजकलाम् ।
स्वरूपादुन्मेषप्रसरणनिमेषस्थितिजुषस्-
तदद्वैतं वन्दे परमशिवशक्त्यात्मनिखिलम् ॥ १ ॥

सर्वदर्शनाचार्य-श्रीकृष्णानन्दसागर-विरचिता हिन्दी-व्याख्या

शिवरञ्जनी

सृष्टि के पूर्व 'अहम्' परमशिव परिपूर्णरूप होने के कारण किसी भी प्रकार की आकांक्षा से रहित होकर भासता रहा है; और उसके बाद में अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति को विभक्त करने के लिए दो शाखाओं ['अहमिदम्' सदाशिव-ईश्वर] को जो अव्यक्तरूप में रही उसे व्यक्त करने की इच्छा की। अपने चिन्मय स्वरूप से उन्मेष-फैलाव और निमेष-स्थिति से युक्त; उस परमशिवशक्तिरूप अखिल अद्वैत की हमलोग वन्दना करते हैं ॥ १ ॥

---

१. शुद्ध चिन्मय स्वभाव वाले परमशिव ही परिपूर्ण अपने स्वरूप में रहे; इसीलिए किसी भी तरह की इच्छा न रखते हुए अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति की महिमा से एवं परमानन्द चमत्कार के तारतम्य से बाहर की ओर उल्लसित होने की इच्छा की; जो कि सृष्टि के आदि में 'अहम्' इस परामर्शरूप से विस्फुरित

श्रीत्रैयम्बकसद्वंशमध्यमुक्तामयस्थितेः ।
श्रीसोमानन्दनाथस्य विज्ञानप्रतिबिम्बकम् ॥ २ ॥
अनुत्तरानन्यसाक्षिपुमर्थोपायमभ्यधात् ।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाख्यं यः शास्त्रं यत्सुनिर्मलम् ॥ ३ ॥

श्री त्र्यम्बक के विशिष्टगुणों वाले वंश के मध्य में रखे गये मुक्तामणि के सदृश श्रीसोमानन्दपाद विराजमान रहें ॥ २ ॥

अनुत्तर, स्वसंवित्, अनन्यसाक्षी एवं मोक्ष का उपाय दिखाने वाला जो अत्यन्त निर्मल शैव आगम रहस्य 'शिवदृष्टिशास्त्र' है उसे आचार्य उत्पलदेव ने 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञा' के रूप में विरचित किया है ॥ ३ ॥

होते रहे और उसके बाद 'अहम्' और 'इदम्' परामर्शरूप इन दो शाखाओं को भासित किया। एवं शुद्ध चिन्मय के अधिकरण 'अहम्' अंश में ही जब परमेश्वर 'इदम्' अंश को उल्लसित करते हैं, तब तो उसका पदार्थों में खींचे गये चित्र के तुल्य ही मात्र अस्फुट स्वरूप रहता है इसी कारण सदाशिव तत्त्व कहलाता है। जो कि उसमें इच्छा विशेष रखते हैं, 'अहमिदम्' सदाशिव ईश्वर के पदार्थवर्ग में स्फुटित होने पर उसी के ही अधिकरण 'इदम्' भाग में 'अहम्' भाग को सींचता है, तब फिर उसमें उस समय ज्ञानशक्ति की प्रधानता रहती है इसी को 'इदमहम्' ईश्वर तत्त्व कहा जाता है, इसीलिए अहं विमर्श की विशेषता न रहने पर भी 'इदमहम्' में 'इदम्' भाग की स्फुट और अस्फुट रूप से भी प्रधानता रहती है। जब फिर पदार्थों में बढ़े हुए भेद-भाव वाले 'इदम्' अंश की स्फुरण अवस्था में शुद्धचिन्मात्र का उसमें चले जाने पर 'अहम्' अंश उल्लासित होता है, तब तो फिर द्वैतवादियों के ईश्वर के समान 'समधृत तुला' न्याय से शुद्ध विद्या तत्त्व में 'अहम्' और 'इदम्' ये दोनों परामर्श समान होते हैं, जैसे तुला के दोनों पलड़े। जिस अभेद ज्ञान की भूमिका में समान स्फुट रूप से 'अहम् और इदम्' रूप प्रकाश में अंशों का जो प्रत्यवमर्श होता है उसका नाम ही शुद्ध विद्या है। इस दशा में क्रिया-शक्ति की प्रधानता रहती है। मंत्र और विद्येश्वर इसके प्रमाता है। 'अहम्' ऐसा ही परामर्श होगा; जिसमें क्रिया शक्ति की प्रधानता रहती है—इसलिए इसे विद्या तत्त्व कहा जाता है। यद्यपि परमशिव का ही यह सारा ऐश्वर्य है तो भी उसका ही यह सारा का सारा स्वरूप बाहर की ओर जिस तरह से दिखायी देता है वही शक्तितत्त्व का व्यापार है। उसी प्रकार सदाशिव और ईश्वर में भी विद्यातत्त्व रहता है। इस प्रकार किसी भी प्रकार की आकांक्षा न रखते हुए अहन्ता-इदन्ता के प्रतिभास न रहने पर भी बाहर की ओर सृष्टि शक्ति के उन्मेष और निमेष रूप अवस्था के तारतम्य से उद्भासनरूप चमत्कार करने वाले और वहाँ पर अपने अन्तर्गत जो शक्तिभाग है उसका शिवभाग से पृथक् भासन करना ही प्रसरण कहलाता है जिसका शिव आदि से लेकर पृथिवी तत्त्व तक संचार होता रहता है और अपने अन्तर भाग में मिला देने से निमेष स्थिति कहलाती है।

एवं चिदानन्दमय अपने स्वरूप से अभिन्नरूप होने के कारण पूर्ण अहन्ता के उद्भासन करने में स्वातन्त्र्य शक्ति रूप अपनी कला को भासित करने के लिए सदाशिव और ईश्वर इन दोनों स्वरूपों की इच्छा प्रकट की। अर्थात् अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति से ही यह सारा-का-सारा विश्व बिना किसी सामग्री

तत्प्रशिष्यः करोम्येतां तत्सूत्रविवृतिं लघुम् ।
बुद्ध्वाभिनवगुप्तोऽहं श्रीमल्लक्ष्मणगुप्ततः ॥ ४ ॥

वृत्त्या तात्पर्यं टीकया तद्विचारः सूत्रेष्वेतेषु ग्रन्थकारेण दृब्धम् ।
तस्मात्सूत्रार्थं मन्दबुद्धीन्प्रतीत्थं सम्यग्व्याख्यास्ये प्रत्यभिज्ञाविविक्त्यै ॥ ५ ॥

सर्वत्राल्पमतौ यद्वा कुत्रापि सुमहाधियि ।
न वान्यत्रापि तु स्वात्मन्येषा स्यादुपकारिणी ॥ ६ ॥

ग्रन्थकारः अपरोक्षात्मनि दृष्टशक्तिकां परमेश्वरतन्मयतां परत्र संचिक्रमयिषुः, स्वतादात्म्यसमर्पणपूर्वम् अविघ्नेन तत्सम्पत्तिं मन्यमानः, परमेश्वरोत्कर्षप्रह्वतापरामर्शशेषतया परमेश्वरतादात्म्ययोग्यतापादनबुद्ध्या प्रयोजनम् आसूत्रयति—

श्री उत्पलदेव के शिष्य श्री लक्ष्मणगुप्त से उक्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञा दर्शनशास्त्र का अध्ययन कर, मैं श्री आचार्य उत्पलदेव का प्रशिष्य अभिनवगुप्त ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की, सूत्ररूप कारिकाओं की विवृत्ति (टाका) का निर्माण करता हूँ ॥ ४ ॥

यहाँ पर वृत्ति शब्द से तात्पर्य लेना है एवं टीका से उसका विचार ग्रहण करना होगा। ग्रन्थकार ने स्वयं इसे सूत्ररूपी कारिकाओं में गूँथ दिया है। मतिमन्द लोगों को इस शास्त्र का ठीक-ठीक बोध हो जाये इसीलिए हम इसका विवेचन प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या करते समय करेंगे ॥ ५ ॥

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा को लेकर विमर्शिनी नामक व्याख्या की जा रही है; इससे सर्वसामान्य मन्दमति को या कहीं, किसी भी प्रतिभाशाली को या अन्यत्र दूसरों को लाभ न भी हो; किन्तु 'स्वान्तःसुखाय' अपने आपके लिए उपकार करनेवाली तो अवश्य होगी ॥ ६ ॥

जिसकी अपरोक्षरूप में शक्ति दृढ़तया देखी हुई है उस परमेश्वर की तन्मयता का दूसरे लोगों में भी संक्रमण हो जाय, अपने आप में परमेश्वर की तादात्म्यस्थिति समर्पित कर निर्विघ्नरूप से प्राप्त होनेवाली परमेश्वर की सम्पत्ति का अनुभव करते हुए, परमेश्वर सम्बन्धी प्रकर्षगुणों का श्रद्धा भावपूर्वक परामर्श करते हुए, उसके साथ तादात्म्यभाव प्राप्त करना ही एकमात्र प्रयोजन है इसको ग्रन्थकर्ता सूत्ररूप में कहते हैं—

की अपेक्षा रखते हुए स्व-स्वरूप से अभिन्न होने पर भी भिन्न दर्पण में दिखायी पड़ने वाली नगरी के समान .चत्र-विचित्र रंग-ढंग से मिला हुआ भासता है। भिन्न-भिन्न रूपों वाले पदार्थों में व्यक्त हो जाना ही द्वैत कहलाता है और जिसमें द्वैत भाव का अभाव हो वही अद्वैत है, वस्तुतः अहन्ता और इदन्ता से रहित जो ज्ञान है वही अद्वैत ज्ञान है। अथवा दो प्रकार से प्राप्त होता हो, उसमें होने वाले को द्वैत कहते हैं; संशय-विपर्ययादि ज्ञान से वर्जित अद्वैत ज्ञान है, संपूर्ण विश्व पर निर्भर होकर देहादि परिमित प्रमातृभावरूप कलंक को दबाकर, मैं उस परमशिव तत्त्व में प्रवेश करता हूँ—ऐसा कहना ही अद्वैत है।

कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं[1] जनस्याप्युपकारमिच्छन् ।
समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि[2] ।। १ ।।

इह परमेश्वरं प्रति या इयं कायवाङ्मनसां तदेकविषयतानियोजनालक्षणा प्रह्वता सा नमस्कारस्य अर्थः । सा च तथा कर्तुम् उचिता प्रामाणिकस्य भवति, यदि सर्वतो नमस्करणीयस्य उत्कर्षं पश्येत् । अन्यथा युक्तिम् अपरामृशतः अपरमार्थरूपेऽपि नमस्कारोद्यतस्य सांसारिक-पशुजनमध्यपातित्वमेव । यथोक्तम् 'न विन्दन्ति परं देवं विद्यारागेण रञ्जिताः ।' इति ।

किसी प्रकार अनायासरूप से महेश्वर की दासता प्राप्त होकर दूसरे लोगों को भी प्राप्त हो जाये—ऐसे उपकार की भावना रखते हुए, जो समस्त सम्पत्ति की प्राप्ति में कारण है, मैं उस ईश्वरप्रत्यभिज्ञा का कारिका के रूप में विस्तार करता हूँ ।। १ ।।

इस प्रत्यभिज्ञाशास्त्र में परमेश्वर के प्रति मन, वाणी और शरीर की एक-विषयाकाररूप से वृत्ति का होना ही उसमें नम्रीभाव है । नमस्कार करने का अर्थ भी वही है, प्रामाणिक-जनों के लिए ऐसी श्रद्धा भक्ति का रखना ही समुचित माना जाता है । सब जगह यदि नमस्कार करने के अर्थ को ही उत्कर्षरूप में देखेगें तभी ठीक होता है अन्यथा ठीक नहीं होता, क्योंकि जो उचित ढंग से विचार विमर्श करनेवाले नहीं हैं, अर्थात् परमार्थरूप नहीं है उस में भी उनका नमस्कार होने लगेगा । जैसा कि सांसारिक पशुजनों का नमस्कार होता है । कहा भी

---

१. जिसको स्वामी के द्वारा यथेष्ट-अभीष्ट पदार्थ प्राप्त हो जाता है वही दास है [दीयते स्वामिना यदभिलषितमिति दासः] अपने इष्टदेव की सेवा-शुश्रूषा में विभोर हो जाना ही दास्यभाव है इसकी व्युत्पत्ति है 'दास + ष्यञ्, दास्य = दासता । किन्तु इस प्रसङ्ग में महाफल का आस्वादन कर लेना ही दासता है । यह लौकिक दासता नहीं है । जिसमें दासता को हीन-दीन समझा जाता है । इसमें तो ईश्वर तदात्मता प्राप्त करना ही दासता कही गयी है और ईश्वर सम्बन्धी उत्कर्ष भी इसी का नाम है । दासता के कारण ही ईश्वर तत्त्व की उपलब्धि होती है और उसी ईश्वरपद माहेश्वर्य में विश्रान्ति भी प्राप्त कर लेते हैं ।

२. प्रत्यभिज्ञा शब्द का अर्थ अपने स्वरूप की पहचान करना होता है ।

इस अपार संसार में आकर जीवात्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है । देह, इन्द्रिय, आदि को अज्ञान के कारण अपना स्वरूप मान बैठता है कि मैं देहरूप हूँ । स्थूल, कृश, युवा, सुन्दर इत्यादि अनित्य धर्मों को नित्य मान लेता है । यह शास्त्र स्व-स्वरूप की पहचान कराता है इसलिए इसका नाम प्रत्यभिज्ञा शास्त्र [दर्शन] पड़ा है ।

इसकी व्युत्पत्ति ऐसी है कि प्रत्यभिज्ञायते उपायभावेन प्रत्यभिज्ञापदं प्राप्यते, अनया इति, अनेन शास्त्रेण इति । प्रति + अभि + ज्ञा + अङ् + टाप् = प्रत्यभिज्ञा जानना इस अर्थ में निष्पन्न है । प्रति शब्द का अर्थ होता है प्रतीप [विपरीत-उलटा-प्रतिकूल] जो वस्तु जैसी है उससे भिन्न समझना-देखना । अभि का अर्थ यह है—अभिमुख-सम्मुख रूप से अर्थात् सुस्पष्ट रूप से । "ज्ञा" का अर्थ है ज्ञान-प्रकाश । हृदय पट में भलीभाँति बोध हो जाना ही प्रत्यभिज्ञा कहलाती है यानी ईश्वर तत्त्व का विस्तृत भाव से अभिमुख प्रकाश हो जाना ही ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है ।

तावति हि मायीयाशुद्धविद्याराग-कलासंचार्यमाणस्य पशुत्वमेव। इतरापेक्षया तु कतिपयाध्वोत्तीर्णतया समुत्कर्षोऽपि स्यात्। तदुक्तम्—

'कस्य नाम करणैरकृत्रिमैः पश्यतस्तव विभूतिमक्षताम्।
विभ्रमादवरतोऽपि जायते त्वां व्युदस्य वरद स्तुतिस्पृहा॥'

इति श्रीमद्विद्यापतिना। एतच्च आगमकाण्डे निरूपयिष्यामः। तस्मात् निखिलोत्कर्षपरामर्शनमपि तत्र स्वीकार्यम्। यद्यपि आयातदृढेश्वरशक्तिपातस्य स्वयमेवेयमियती परमशिवभूमिरभ्येति हृदयगोचरम्, न तु अत्र स्वात्मीयः पुरुषकारः कोऽपि निर्वहति, सर्वस्य तस्य मायामयत्वेनान्धतमसप्रख्यस्यामायीयं शुद्धप्रकाशं स्वप्रतिद्वन्द्विनं प्रति उपायतानुपपत्तेः तथापि तदेव तथाविधं रूपं प्रख्योपाख्याक्रमेण स्वात्मपरावभासविषयभावजिगमिषया निःशेषोत्कर्षविशेषाभिधायि-जयत्यादिशब्दानुवेधेन परामर्शनीयम्, इति नमस्कारे जयत्यर्थ आक्षेप्यः।

गया है—"विद्या के राग से रंगे हुए होने के कारण परमदेव का वास्तविकरूप नहीं जान पाते हैं।"

क्योंकि तब तक मायीय—अशुद्ध विद्या, राग, कला आदि में भ्रमण करने वाले पशुजीव ही कहलाते हैं और इसी में रहना ही एक प्रकार की पशुता मानी जाती है। बौद्धादि की अपेक्षा से तो जरूर कुछ-न-कुछ सांख्यादि लोग मार्ग उत्तीर्ण कर समुत्कर्ष प्राप्त किये हुए हैं। श्री विद्यापति ने इस विषय में ठीक ही कहा है—

"हे श्रेष्ठ वस्तु को देनेवाले वरद! अकृत्रिम इन्द्रियों से किस देखने वाले की तुझे छोड़कर अन्य में स्तुति करने की इच्छा भ्रम से भी हो सकती है? अर्थात् व्यापक पूर्णदेव को छोड़कर किसी अन्य परिच्छिन्न देवी-देवता में कभी भी भ्रम से भी इच्छा नहीं हो सकती।"

इस बात का हम आगम काण्ड में अच्छी तरह निरूपण करेंगे। इसलिए वहाँ पर सम्पूर्ण उत्कर्ष के परामर्श को भी माना हुआ है। ईश्वरसम्बन्धी शक्तिपात दृढरूप से हृदय में हो जाने पर तो अपने आप ही परमशिवभूमि प्राप्त हो जाती है, फिर उसे प्राप्त करने के लिए अन्य कोई भी यत्न करने की आवश्यकता नहीं दीखती, प्रयत्न तो अप्राप्त वस्तु के लिए किया जाता है किन्तु यह तो प्राप्त ही है फिर प्रयत्न क्यों किया जाये?

यहाँ कोई अपना पुरुषार्थ काम नहीं करता है, वह सब मायीय होने के कारण घनीभूत अन्धकार के समान होता है, वह मायीय शुद्ध प्रकाश का प्रतिद्वन्द्वी है वह उसका उपाय कैसे हो सकेगा, तो भी उसी प्रकार से उसीरूप में अपने आपको समझना और दूसरे लोगों को समझाने आदि क्रम से अपने को प्रकाशित करना और दूसरे को प्रकाशित कराना इत्यादि भाव को जनाने की इच्छा से सम्पूर्ण उत्कष विशेष को कहने वाला है, इस विषय को 'जयति' इत्यादि शब्दों से परामर्श करते हैं, इसलिए यहाँ पर नमस्कार अर्थ में 'जयति' शब्द का आक्षेप किया हुआ है।

---

१. अपने स्वरूप का ज्ञान करना प्रख्या कहा जाता है दूसरों को विदित करा देना उपाख्या है। प्रख्या से तो अपने आत्मा के अवभास का विषय बोध हो जाता है, क्योंकि अपने आप से ही अन्तर में प्रस्फुट हुए का विषय ज्ञान कर सकता है। उपाख्या से दूसरों में आभास का विषय बोध होता है। स्पष्ट रूप से उच्चारण किये गये शब्द का अर्थ दूसरों के द्वारा भी ज्ञान का विषय हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः समस्त उत्कर्ष परमशिव रूप यह आभास के बिना भी स्वातन्त्र्य (१-५-६) में आगे कहा गया

जयपदोदीरणेऽपि तादृशसमुत्कर्षातिशयशालिनि स्वात्मानमप्रह्वीकुर्वाणस्य तटस्थस्य परमनात्मोपकारित्वम्–इति समुत्कर्षविशेषाक्षिप्त एव नमस्कारोऽवश्यमभ्यन्तरीकार्यः, इत्यनया युक्त्या जय-नमस्कारैकतरप्रक्रमे अन्यतरस्य अर्थाक्षिप्तता अवश्यमङ्गीकर्तव्या। वन्दन-नमन-स्मरण-प्रध्यानप्रभृतीनामपि नमस्कार-जयत्यर्थमात्रपरमार्थत्वात् इयमेव वर्तनी। अत्रायं पुनर्ग्रन्थकृता तादृक् प्रक्रम आश्रितः, यत्र द्वयमपि इदं स्वशब्दपरामृष्टमेव। एतच्च पदार्थव्याख्यानावसर एव प्रकटीभविष्यति। स्वशब्दपरामर्शश्च सर्वजनहितत्वाद्युक्तियुक्तः, स हि सर्वस्यैव झटिति हृदयंगमः, अर्थाक्षिप्तस्तु कतिचिदेव प्रति स्वप्रतिभोदितवाक्तत्त्वावमर्शासंभवात्, वाक्तत्त्वावमर्शशून्यस्य च प्रकाशस्याप्रकाशकल्पत्वात्। एतच्च अग्रे स्फुटीभविष्यति। तदनेन अभिप्रायेण प्रसिद्धजय-नमः-प्रभृतिशब्दशय्यानाश्लेषेण इमां सरणिम् अनुसरति स्म ग्रन्थकारः।

इह यद्यत्किञ्चित् स्फुरति तत्तद्वक्ष्यमाणेश्वररूपस्वात्मप्रथामात्रं, तत्र तु उपायोपेयभाव-प्रभृतिः कार्यकारणभावोऽपि यथाप्रकाशं परमार्थभूत एव, प्रकाशस्य अनपह्नवनीयत्वात्। यदाह

जयपद के उच्चारण करने से वैसे उत्कर्ष वाले परमेश्वर में अपने आपको नम्र विनयशील बनाकर, तटस्थ जो परमात्मा है उसका उपकार करना इसी उत्कर्ष विशेष का आक्षेप ही नमस्कार है। उसको इसके गर्भ में रखना है, इस युक्ति से जय या नमस्कार किसी एक के कहने से भी दूसरे का आक्षेप अर्थात् अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए। वन्दन, नमन, स्मरण और ध्यान आदि सभी का नमस्कार पर्यन्त, अर्थ मात्र में ही तात्पर्य है यही इसका मार्ग भी है। ग्रन्थकार पुनः यहाँ पर उसी क्रम का आश्रय लेते हैं, जहाँ पर नमन और उत्कर्ष अपने ही शब्दों से परामृष्ट होते हैं और यह पदार्थों के व्याख्यान करने के अवसर पर प्रकट होंगें। अपने शब्द से परामर्श करना ही सभी लोगों के लिए हितकारी होगा, क्योंकि वह सभी को शीघ्र ही हृदयङ्गम हो जाता है, जिसका अर्थ से आक्षेप किया जाता है वह तो किसी-किसी को ही हो सकता है, अपनी प्रतिभा से वाक्तत्व का अवमर्श सम्भव न होने के कारण सबको प्रायः सम्भव नहीं होता जो कि वाक्तत्व का परामर्श कर सके, और जो वाक्तत्व के अवमर्श से शून्य है उसका प्रकाश तो अन्धकार तुल्य ही है। इस बात को आगे "स्वभावमवभासस्य" (१-५-११) इस स्थल पर स्पष्ट करेंगे। इसी अभिप्राय से प्रसिद्ध, 'जय, नमः', प्रभृति शब्दों की भूमिका से इस बात का अनुसरण ग्रन्थकार ने किया है। [यहाँ पर सूत्र के थोड़े अंश को लेकर परामर्श करते हुए उसके अर्थ का समर्थन करने के लिए दो प्रकार का कार्यकारणभाव दिखाते हैं]

इस सूत्र में जो कुछ कार्य कारणभाव विवरण के रूप में झलकाया गया है वह वर्तमान और आगे आनेवाले ईश्वर के स्वरूप का फैलावमात्र है, वहाँ उपाय और उपेयभाव आदि कार्य

है इस नीति से अपने और दूसरे की प्रकाश्यता की प्राप्ति के लिए समावेश (समाधि) अवस्था के उपदेशादि में परामर्श करना होगा।

१. परामर्श के स्वभाव को जानने वाले अवभास को जानते हैं। विमर्श का अर्थ है कि 'अहम्' ऐसा जो असांकेतिक, स्वातन्त्र्य रूप एवं आत्मविश्रान्ति स्वभाव वाला होता है। तत्त्वज्ञ लोग इसे मन्त्र शरीर श्री मातृका, श्री मालिनी—इत्यादि रूपों में मानते हैं। प्रकाश का मुख्य रूप प्रत्यवमर्श होता है, उसके बिना अर्थ के द्वारा भेद किये गये आकारका मात्र स्वच्छ ही रूप रहता है किन्तु चेतनता नहीं रहती क्योंकि चमत्कार का उसमें अभाव है।

भट्टदिवाकरवत्सो विवेकाञ्जने 'प्रकाशश्चैष भावानाम्.....।' इत्यादि '.....न शापोक्त्या विलीयते ।' इत्यन्तम् । तत्र तु कार्यकारणभावेऽपि क्वचित् परिपूर्णस्वातन्त्र्यलक्षणमाहेश्वर्यनान्तरीयकताक्रोडीकृतानन्तशक्तिचक्रचुम्बितभावभावितप्रथान्तरव्यवधानं चकास्ति; स तु मायीयत्वेन व्यवस्थापयिष्यते, जडचेतनाद्यवान्तरभेदशतसम्भिन्नश्च असौ तत्कृतश्च सर्वोऽयं निष्पाद्य-निष्पादकभाव-ज्ञाप्य-ज्ञापकभावावभासो लोकव्यवहाररूपः । यत्र तु शुद्धप्रथात्मकानुत्तरशक्तिशालिनिरर्गल-स्वात्मप्रकाश एव मायीयप्रथान्तरव्यवधानवन्ध्यो निबन्धनं, तत्र तस्यैव भगवतः कारणत्वम् । एष च अनुग्रहलक्षणोऽन्त्यः पञ्चमः पारमेश्वरः कृत्यविशेषः परपुरुषार्थप्रापकः, तन्निबन्धनत्वात् परमार्थमोक्षस्य । अन्यत्रत्यो हि अपवर्गः कुतश्चित् मुक्तिः, न सर्वत इति निःश्रेयसाभास इति वक्ष्यामः ।

कारणभाव भी ठीक ही प्रकाशित होता है, क्योंकि प्रकाश छिपाया नहीं जा सकता है। जिसे भट्टदिवाकरवत्स ने विवेकांजन में कहा है—"प्रकाशश्चैष भावानाम्...।" इत्यादि से लेकर"...न शापोक्त्या विलीयते।" यहाँ तक। यह पदार्थों का ही प्रकाश है:उसे गाली देकर लुप्त नहीं कर सकते।

किन्तु वहाँ पर कार्यकारणभाव में भी कहीं परिपूर्ण स्वतन्त्ररूप महेश्वरता को अपने में अन्तर्भाव करने पर अनन्तशक्ति से युक्त तरह-तरह का प्रकाश दिखायी देने लगता है; परन्तु वह मायिक ही प्रकाश कहलाता है, और यह जड और चेतनादि अनन्त भेद से युक्त रहता है, और उसी के द्वारा ही इस जगत् का सारा ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव एवं निष्पाद्य-निष्पादकभाव सम्बन्ध होता है इसी से लोकव्यवहार भी चलता है। जहाँ पर शुद्धप्रथारूप अनुत्तरशक्तिशाली निरन्तर अपना प्रकाश ही मायीय अन्यप्रथाओं के व्यवधान से शून्य कारण रहता है, वहाँ पर भी उस भगवान् की ही कारणता रहती है और यही भगवान् का सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह नामक पञ्चकृत्य विशेष है। पिधान उसे कहते हैं जो संस्काररूप से स्थिर पदार्थ वस्तु है उसका भी विलीनीकरण कर देना, एवं अपने स्वस्वरूप में तादात्म्यरूप से अवस्थापन करना ही अनुग्रह है जो कि ये पाँचों परमपुरुषार्थ देनेवाले हैं, और वे परमार्थ मोक्ष में भी कारण हैं। क्योंकि अन्यदर्शनों में तो कहीं अपवर्ग शब्द से तो कहीं मुक्तिशब्द से कहा जाता है। किसी एक अंश में ही मुक्ति होती है सब तरह से नहीं होती; इसलिए वह निःश्रेयसाभास मात्र है यह हम आगे बतायेंगे।

[बुद्धितत्त्वे स्थिता बौद्धा गुणेष्वार्हताः स्थिताः ।
स्थिताः वेदविदः पुंसि, ह्यव्यक्ते पांचरात्रकाः ॥

बुद्धितत्त्व में बौद्धलोग, गुणों में जैनजन, पुरुष के विषय में वेदान्ती, और अव्यक्तरूप के विषय में पञ्चरात्रमत वालों की स्थिति रहती है, जो भिन्न-भिन्न भूमिकाओं में शिवतत्त्व का रहना होता है उसी भूमिकाओं में ही सभी दर्शनों की अवस्थिति रहती है 'तद् भूमिकाः सर्वदर्शन-स्थितयः'।] ये सभी भूमिकायें नट की स्वेच्छा से गृहीत भूमिका के समान ही हैं जो कि कृत्रिम ही होती है। 'चैतन्यविशिष्टशरीरमात्मा' चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है—ऐसा मत नास्तिक चार्वाकों का है। ज्ञानादि गुणसमुदाय का आश्रय बुद्धितत्त्व ही आत्मा है—ऐसा न्यायदर्शन के निपुण नैयायिक आदि लोग मानते हैं! एवं अपवर्ग में उसका उच्छेद होने से शून्यप्राय बताते हैं 'अहम्' प्रतीति से जानने के योग्य, सुख दुःखादि उपाधि से रहित आत्मा है—ऐसा मीमांसकों का सिद्धान्त है। जिसका समावेश बुद्धि में ही होता है। ज्ञान का क्षणिक

स चायं द्वितीयः कार्यकारणभावो लौकिकान्वयव्यतिरेकसिद्धप्रसिद्धकार्यकारणभाव-विलक्षणत्वात् स्फुटेन रूपेणासंचेत्यमानः कादाचित्कवस्तुसद्भावावभासोन्नीयमानपरमार्थः अतिदुर्घटकारित्वलक्षणैश्वर्यविजृम्भाभाविताद्भुतभावः प्रथमकोटिसम्भावनाशून्यः कालिकाकारस्व-प्रकाशावरणनिराकरणमनोरथशतदुष्प्राप इत्येवं प्रकारः थमा द्योतकनिपातसहितेन निरूपितः 'कथंचिदिति' केनचिच्च प्रकारेण परमेश्वराभिन्नगुरुचरणसमाराधनेन परमेश्वरघटितेनैव। यथोक्तम् 'सम्बन्धोऽतीव दुर्घटः·····।' इति। 'आसाद्येति'आ समन्तात् परिपूर्णरूपतया सादयित्वा,

सन्तानरूप प्रवाह ही तत्त्वसार है—ऐसा बौद्धों का मत है और जिसका बुद्धितत्त्व में ही पर्यव-सान होता है। कोई-कोई वेदान्ती प्राण को ही आत्मा मानते हैं। अभाव ब्रह्मवादी असद्-रूप से उसे कहते हैं। माध्यमिक शून्यवादी बौद्ध भी तो इसी को शून्य मानते हैं। पञ्चरात्रमत में 'परा' प्रकृति भगवान् वासुदेव है। अग्नि से निकली हुई चिनगारी की तरह भगवान् वासुदेव से जीव निकलते हैं। 'परा' प्रकृति में परिणाम स्वीकार करने से अव्यक्त में इनका समावेश है। सांख्यादि मतवाले 'विज्ञानाकल [जो मायातत्त्व से ऊपर शुद्ध विद्यातत्त्व के नीचे रहने वाला प्रमाता वर्ग] की भूमिका स्वीकार करते हैं 'सदेव सोम्य इदमग्र आसीत्' एक सद्रूप अद्वैत तत्त्व ही सृष्टि के पूर्व में था; इसे वेदान्ती मानते हैं। इनका समावेश ईश्वरतत्त्व [जिसमें एकाधिकरणरूप से विश्व की प्रतीति की व्यवस्था हो] में होता है, शब्द तत्त्वमय पश्यन्तीरूप आत्मतत्त्व को वैयाकरण लोग मानते हैं इनका समावेश सदाशिवतत्त्व [शिवशक्ति के योग से स्फुरित अहन्ता प्रधान कारणतत्त्व] में हो जाता है।]

वह दूसरा कार्य-कारणभाव लौकिक अन्वयव्यतिरेक से सिद्ध है जो प्रसिद्ध कार्य-कारणभाव से विलक्षण स्पष्ट रूप से नहीं मालूम पड़ने वाला कभी भासित होने तथा कभी न होने के कारण इसकी परमार्थता का अनुमान करना पड़ता है इसलिए यह अति दुर्घटकारी ऐश्वर्य से युक्त होकर अद्भुत भाव वाला होता है, प्रथम कोटि सम्भावना से शून्यकालिक आकर के स्वभाव आवरण का निराकरण सैकड़ों मनोरथों से भी करना कठिन है। इस प्रकार असमर्थता का सूचक 'थमा' में थम यह द्योतक निपात सहित निरूपण किया हुआ है, 'कथञ्चित्' इसका यही अर्थ होता है कि परमेश्वर से अभिन्न गुरु–[सद्गुरु की प्राप्ति होना अत्यन्त कठिन है] चरण की सेवा से ही परमेश्वर की तन्मयता को प्राप्त कर सकते हैं। जैसा कि इस विषय में कहा भी है। 'सम्बन्धोऽतीव दुर्घटः·······।'

[अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न रूपों में विश्व का अवभासन करना ही अत्यन्त दुर्घट है और

१. इसी द्वितीय कार्य कारण भाव में 'कथञ्चित्' शब्द से कहे शब्द प्रवृत्तिनिमित्तत्व का परामर्शन करते हैं—'स च अयमिति' इस प्रतीक से। क्योंकि मायीय कार्य-कारण भाव स्वप्न काल में होने वाले कुम्भ-कार के घट बनाने की तरह [स्वप्नगत-कुलालघट-न्यायेन] स्वातन्त्र्य सार रूप से भासन रूप संविद्रूप में रहने वाला पारमार्थिक कर्तृत्वात्मक कार्य-कारण भाव की भित्ति पर विश्रान्त होकर मायामय संसार में हृदयंगम होने के कारण प्रसिद्ध है किन्तु जहाँ पर वह दिखायी नहीं देता है। वहाँ पर वह पारमार्थिक ही है।

स्वात्मोपभोगयोग्यतां निरर्गलां गमयित्वा; इयता विदितवेद्यत्वेन परार्थे शास्त्रकरणे अधिकारो दर्शितः; अन्यथा प्रतारकतामात्रमेव स्यात् । पौर्वकाल्येन सामनन्तर्यम् अत्र विवक्षितम् । अन्यथा तु आसादनतारतम्यप्राप्तौ मायीयमलकलापसंस्कारप्रक्षये कथं परोपदेशः शक्यक्रियः । सम्भवन्ति हि मायागर्भाधिकारिणो विष्णुविरिञ्च्याद्याः तदुत्तीर्णा अपि महामायाधिकृताः शुद्धाशुद्धा मन्त्र-तदीश-तन्महेशात्मानः; शुद्धा अपि श्रीसदाशिवप्रभृतयः । ते तु यदीयैश्वर्यविप्रुड्भिरीश्वरीभूताः स भगवान् अनवच्छिन्नप्रकाशानन्दस्वातन्त्र्यपरमार्थो महेश्वरः, तस्य 'दास्यम्' इत्यनेन तत्प्रत्यभिज्ञोपपादनस्य महाफलत्वम् आसूत्रयति । दीयते अस्मै स्वामिना सर्वं यथाभिलषितम् इति दासः, तस्य भाव इत्यनेन परमेश्वररूपस्वातन्त्र्यपात्रता उक्ता । 'जनस्येति' यः कश्चित् जायमानः तस्य, इत्यनेन अधिकारिविषयो नात्र कश्चिन्नियम इति दर्शयति, यस्य यस्य हि इदं स्वरूपप्रथनं तस्य तस्य महाफलं, प्रथनस्यैव परमार्थफलत्वात्, तस्य च प्रतिबन्धकसंमतैरप्रतिबन्धनीयत्वात्, नहि प्रथितमप्रथितमिति न्यायात् । तदुक्तम्, 'नेहा[1]तिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य

भासित हुए का पुनः स्वरूप के साथ ऐक्यभाव कर देना विमर्शन कहलाता है] 'आसाद्येति' चारों ओर से परिपूर्णरूप की प्राप्ति कर अपने उपभोग के योग्य बनाकर; सारे वेद्यभावों को जानकर दूसरे के लिए शास्त्रोपदेश करने में अधिकार प्राप्त करना दिखाया गया है; अन्यथा जगत् को ठगना मात्र ही होता है । पूर्व काल के साथ मेल कराने के लिए उसके बाद यह है—ऐसा समझना चाहिए । यदि ऐसी बात नहीं है तो आसादन की तारतम्यता [तारतम्य शब्द क्रम के अतिशय अर्थ में रूढ है] एक के बाद एक का होना मायीयमल समूह के संस्कार क्षय हो जाने पर फिर दूसरे के लिए उपदेश करना कैसे शक्य हो सकेगा । क्योंकि माया गर्भ के अधिकारी होने से ब्रह्मा, विष्णु आदि देव तो जरूर उपदेश दे सकते हैं । शुद्ध विद्या के नीचे एवं माया के ऊपर महामाया में वे रहते हैं । जिसमें आणवमल सुप्त रहता है जो कि महामाया के अधिकारी शुद्धा-शुद्ध, मंत्र, मंत्रेश्वर, मंत्र-महेश्वर रूप में रहते हैं उनके ऊपर केवल श्री सदाशिव प्रभृति होते हैं, वे जिनके ऐश्वर्य बिन्दु-मात्र से ईश्वर बन जाते हैं वे भगवान् अनवच्छिन्न प्रकाश-आनन्दघन-परमार्थ महेश्वर हैं, उसकी 'दास्य'—दासता बतायी गयी है इससे प्रत्यभिज्ञा का उपपादन करना महाफल सूचित किया गया है । जिनको स्वामी प्रभु ने सब अभीष्ट दे दिये हैं वे ही दास कहलाते हैं, उन्हीं का भाव दास्य है इसीलिए वे परमेश्वर के साथ स्वातन्त्र्य के पात्र बन जाते हैं—ऐसा कहा गया है । 'जनस्येति' जो कोई पैदा होता है उसका इससे अधिकारी सूचित होता है इसमें कोई नियम जाति-वर्ग का नहीं उठता है कि व्यक्ति विशेष को ही इसका लाभ हो और अन्य किसी को न हो; किन्तु सभी को समानरूप से इसका लाभ मिलता है—ऐसा दिखाया गया है । जिस-जिस को इसके स्वरूप का विस्तार प्राप्त हो जाता है—उस-उस को महाफल का आस्वादन मिलता है, और प्रतिबन्धक की सम्मति से नहीं लिखा गया है क्योंकि जो नहीं लिखा जाता है वह

१. इस आत्मज्ञान की साधना में क्रम-व्यतिक्रम कुछ भी नहीं होता क्योंकि प्रमाद का अभाव होने के कारण जैसे अति-उष्ण तैल की कड़ाई में पड़ा हुआ चन्दन का एक बूंद भी शीघ्र ही तैल को शीतल कर देता है इस प्रकार थोड़ी-सी भी योग-बुद्धि से की हुई साधना महाभयंकर संसार को विनष्ट कर देती है ।

धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥' इति। परमगुरुपादैरपि शिवदृष्टौ—

एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः। ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ॥
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा। सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावनाकरणादिना ॥
सर्वदा पितृमात्रादितुल्यदार्ढ्येन सत्यता।

इति। 'जनस्य' अनवरतजननमरणपीडितस्य इत्यनेन कृपास्पदतया उपकरणीयत्वमाह। अपिशब्दः स्वात्मनः तदभिन्नताम् आविष्कुर्वन् पूर्णत्वेन स्वात्मनि परार्थसम्पत्त्यतिरिक्तप्रयोजनान्तरावकाशं पराकरोति। परार्थश्च प्रयोजनं भवत्येव तल्लक्षणयोगात्, नहि अयं दैवशापः स्वार्थ एव प्रयोजनं, न परार्थ इति; तस्यापि अतल्लक्षणयोगित्वे सति अप्रयोजनत्वात्; सम्पाद्यत्वेन अभिसंहितं यत् मुख्यतया, तत एव क्रियासु प्रयोजकं तत्प्रयोजनम्। अत एव भेदवादेऽपि ईश्वरस्य सृष्ट्यादिकरणे परार्थ एव प्रयोजनम् इति दर्शयितुं न्यायनिर्माणवेधसा निरूपितम्।

अपने आप प्रसिद्ध हो जाता है—इस न्याय से। इस विषयमें 'श्रीमद्भगवद्गीता' में कहा गया है—

'नेहातिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥'

निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का नाश नहीं होता है एवं उल्टा फलरूप दोष भी नहीं लगता, इसलिए इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्म का थोड़ा भी साधन भजन, संसार सागर के महान् भय से जीवात्मा को पार कर देता है। प्रमाण से, शास्त्र से या गुरुवाक्य से एक बार भी दृढ़प्रतिपत्ति पूर्वक ज्ञान हो जाने पर कि यह सारा का सारा शिवमय है—ऐसा दृढ ज्ञान हो जाने से इन्द्रियों के द्वारा कोई कृत्य ही नहीं रह जाता और न भावना से भी कोई प्रयोजन रह जाता है जैसे स्वर्ण की परीक्षा हो जाने के बाद भावनाकरण [घिसना-आग में तपाना] आदि करना नहीं रह जाता है। माता-पिता की जानकारी करने के लिए क्या कोई दूसरा उपाय किया जाता है ? यह तो जन्म से ही ज्ञात है कि ये हमारे माता-पिता आदि स्वजन हैं।

'जनस्य' जो निरन्तर जन्म-मरण के दुःखों से पीडित रहता है इससे कृपा का पात्र और उपकार करने योग्य है यह सब सूचित होता है। 'अपि' शब्द से अपने में अभिन्नता को प्रकट करते हुए अपने आप में पूर्णता की प्राप्ति हो जाने के कारण परार्थ सम्पत्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा प्रयोजन नहीं रह जाता है—यह सूचित करता है। और उस ज्ञानी का एक मात्र यही प्रयोजन रह जाता है कि दूसरे का यथाशक्ति परोपकारादि कार्य करते रहें, अपना ही मात्र प्रयोजन हो—ऐसा कोई नियम नहीं होता कि दूसरे का कार्य सम्पन्न न हो अपने से, यह कोई कसम नहीं खायी है कि अपने ही स्वार्थ सिद्ध हों, और दूसरे के न हों, यदि उसमें प्रयोजन का लक्षण न घटता हो तो क्या उसे प्रयोजन नहीं कहा जायेगा; मुख्य रूप से जिसका सम्पादन किया जाय वही प्रयोजन कहलाता है वही क्रिया में प्रयोजक होता है इसी से इसी का नाम प्रयोजन है। इसीलिए भेदवाद में भी ईश्वर को सृष्टि करने में किसी अन्य का मतलब सिद्ध करना ही तो प्रयोजन है; इसीको न्यायशास्त्र के निर्माता गौतममुनि ने भी अपने न्यायदर्शन में दिखाया है—

---

१. अपने विषय में किसी प्रकार की आकांक्षा-इच्छा न रह जाने पर तो दूसरों की उपकार करने की भावना ही मात्र शेष रूप से रह जाती है। क्योंकि परमेश्वर की दासता जिसने हृदयंगम कर ली है वे तो अपने आप में परिपूर्ण हो चुके हैं तब फिर उनके लिए कोई वस्तु प्राप्त करने की रह नहीं जाती, दूसरों का उपकार करने की भावना से ही कार्य वर्ग में प्रवृत्ति मात्र होती है, अपने स्वार्थ में डूबा हुआ व्यक्ति

'यमर्थमधिकृत्य पुरुषः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्'

इति। 'इच्छन्' इति इच्छाविषयीकृतस्य फलस्य प्रवृत्तौ हेतुत्वं शत्रा दर्शयति। इच्छाशक्तिश्च उत्तरोत्तरम् उच्छूनस्वभावतया क्रियाशक्तिपर्यन्तीभवति—इति दर्शयिष्यामः। उपशब्दः समीपार्थः, तेन जनस्य परमेश्वरधर्मसमीपताकरणम् अत्र फलम्। तत एव आह—'समस्त' इति परमेश्वरतालाभे हि समस्ताः संपदः तन्निःष्यन्दमय्यः संपन्ना एव, रोहणलाभे रत्नसंपद इव। प्रमुषितस्वात्मपरमार्थस्य हि किम् अन्येन लब्धेन, लब्धतत्परमार्थस्यापि तदन्यत् नास्ति यद् वाञ्छनीयम्। यदुक्तं ग्रन्थकृतैव 'भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्। एनया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्॥' इति। एवं षष्ठीसमासेन प्रयोजनमुक्तम्, बहुव्रीहिणा तु उपायः सूच्यते। 'समस्तस्य' भावाभावरूपस्य बाह्याभ्यन्तरस्य नीलसुखादेः या 'संपत्' संपत्तिः सिद्धिः तथात्व-

'यमर्थमधिकृत्य पुरुषः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्' जिस अर्थ = विषय को लेकर प्राणियों की प्रवृत्ति होती हो उसे प्रयोजन कहते हैं।

'इच्छन्' इच्छा के विषय हुए फल की सिद्धि में हेतु 'शतृप्रत्यय' से दिखाया गया है ['लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (३-२-१२६) इस पाणिनीय सूत्र से क्रिया के हेतु अर्थ में शतृप्रत्यय हुआ] और इच्छाशक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई क्रियाशक्ति में परिणत हो जाती है—यह हम क्रियाधिकार में दिखायेगें। 'उप' शब्द का समीप अर्थ है, इसलिए यह सिद्ध होता है कि मनुष्य को ईश्वर धर्म के समीप पहुँचा देना ही यहाँ पर फल है। इसी से कहा है कि 'समस्त' सम्पूर्ण रूप से ईश्वरता के लाभ हो जाने पर सारी सम्पत्तियाँ उसका स्रोत हो जाती है।

जिसका स्वार्थरूप परमार्थ है उसका मायाशक्ति से यदि नाश हो जाता है तब फिर अणिमा, लघिमा आदि अष्टसिद्धि नवनिधिरूप सिद्धि मिल भी जाय, तो भी उससे कौन सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है, और जिसको पूर्ण परमार्थ प्राप्त हो चुका है उसके लिए अन्य कोई आकांक्षा-वाञ्छा नहीं रह जाती है। जो कि ग्रन्थकार ने स्वयं ही कहा है कि जिस व्यक्ति को भक्तिरूपी लक्ष्मी मिल गयी है उसके लिए दूसरा फिर माँगना क्या रह जाता है या जो दरिद्र है उसके लिए फिर माँगना भी व्यर्थ है।'

इस प्रकार षष्ठी समास से प्रयोजन कह दिया गया और बहुव्रीहि समास से उपाय सूचित होता है। 'समस्तस्य' समस्त शब्द से यह द्योतित होता है कि बाह्य आभ्यन्तररूप नीलसुखादि

दूसरों का उपकार करने की इच्छा कैसे रख सकता है ? अपने स्वार्थ भाव के रहने पर ही तो दूसरों का उपकार हो पाता है।

स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्नात्।
नो पारार्थ्यं प्रति घटयते कांचन स्वात्मवृत्तिम्॥
यस्तु त्यक्ताखिलभवमलः प्राप्तसंपूर्णबोधः।
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम्॥

सांसारिक जीव बड़े यत्नपूर्वक अपने कार्य में लगा हुआ होने के कारण दूसरों के लिए कुछ भी तो नहीं करता है क्योंकि अपने स्वार्थ में डूबा हुआ है समस्त गुणदोषों से दूर हटकर, सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर लेता है उसका कर्तव्य मात्र दूसरों का उपकार करना ही शेष रह जाता है।

प्रकाशः, तस्याः सम्यक् 'अवाप्तिः' विमर्शरूढिः, सैव 'हेतुः' यस्यां तत्प्रत्यभिज्ञायाम्, तथाहि—स्फुटतरभासमाननीलसुखादिप्रमान्वेषणद्वारेणैव पारमार्थिकप्रमातृलाभ इह उपदिश्यते। यदाह अन्यत्र–'इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता। या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम्॥' इति। तथा तत्रैव—'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तितः। उक्ता च सैव विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः॥ स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च।' इति। इयता च उपाये अतिदुर्घटत्वाशङ्का पराकृता। यदन्ते निरूपयिष्यति 'सुघट एष मार्गो नवः' (४ अ० ३ आ० १६ श्लो०) इति। 'तस्य' महेश्वरस्य 'प्रत्यभिज्ञा' प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। प्रतीपम् इति—स्वात्मावभासो हि न अननुभूतपूर्वोऽविच्छिन्नप्रकाशत्वात् तस्य, स तु तच्छक्त्यैव विच्छिन्न

पदार्थ भाव और अभाव वाले हैं जो कि 'संपत्' सम्पत्ति सिद्धि होती है उसकी अच्छी तरह से प्राप्ति कर लेना, वही कारण जिस प्रत्यभिज्ञा में है, इससे प्रत्यभिज्ञा की विशेषणता इस पद से परामृष्ट होती है स्पष्टरूप से भासित होनेवाले नीलसुखादि पदार्थों के प्रमा अन्वेषण द्वारा पारमार्थिकता का प्रमाता को लाभ हो जाता है—ऐसा यहाँ पर उपदेश दिया जाता है। इसे अन्यत्र भी बताया गया है—

यह जो 'इदम्' विच्छिन्न विमर्श है उसकी कृतार्थता तभी होती है जब कि अपने में स्वरूप का ज्ञान न होकर विश्राम ले लेता है 'सोऽहम्' वही मैं हूँ इस स्थिति तक पहुँच जाना है।

क्योंकि प्रकाश का अपने स्वरूप में विश्राम हो जाना ही अहंभाव कहलाता है और सभी अपेक्षाओं को रोक देनेवाली वही विश्रान्ति कही भी गयी है। इसको स्वातन्त्र्य, मुख्यकर्तृत्व और ईश्वरता इत्यादि नामों से कहते हैं। इतने ग्रन्थ से उपाय में जो अतिदुर्घटकारिता की आशङ्का थी उसे दूर कर दिया गया है। परिच्छिन्नता को छोड़कर नित्य, शुद्ध, व्यापक भाव को जान लेना ही प्रत्यभिज्ञा है। इसके विषय में कहा भी है—

स्मरणानुभवारूढा सामानाधिकरण्यधीः।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्तिता॥

'स्मरण और अनुभव में आरूढ हुई सामानाधिकरण्य बुद्धि और संस्कार इन्द्रिय से जन्य प्रत्यभिज्ञा कहलाती है।'

'प्रतीपमिति'—ज्ञात स्वात्मस्वरूप का अवभास होने का नाम ही प्रतीप है क्योंकि जिसका पूर्व में अनुभव नहीं हुआ था उसका अविच्छिन्न प्रकाश होने के कारण मायाशक्ति से वह तो

१. प्रकाश का जीवितभूत स्वरूप विमर्श ही अहं भाव नाम वाला है, जब कि यह अपना और दूसरे के प्रकाश करने में अपने से भिन्न किसी की अपेक्षा नहीं रखता है। इदन्ता तो अपने आप को प्रकाशित करने में असमर्थ है तब फिर दूसरे की तो बात करनी ही दूर रही। अहं भाव का मुख्य धर्म व्यापकत्व, नित्यत्वादि है और यह दूसरे धर्म समूह का भी आक्षेप कर लेगा, विमर्शक होने से ही स्व-पर-प्रकाश रूप में रहना ही अनन्य उन्मुख तृप्ति से किये गये अपेक्षा न रहने के कारण विश्रान्ति रूप स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। इसी स्वातन्त्र्यरूपता से उस-उस देश कालादि के अवभास में सहस्र उल्लास का सामर्थ्यबल आ जाता है जब कि उस समय ईषणादि उपाधिवशात् अनेक शक्ति-योग के द्वारा कर्तृतादि शब्दों से व्यवहार होता हुआ देखा जाता है। इसी को अहं प्रकाश वाला कहा जाता है जिसे प्रकाश करने के लिए अन्य की अपेक्षा नहीं पड़ती है।

इव विकल्पित इव लक्ष्यते—इति वक्ष्यते। प्रत्यभिज्ञा च—भातभासमानरूपानुसंधानात्मिका, स एवायं चैत्र—इति प्रतिसंधानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम्; लोकेऽपि एतत्पुत्र एवंगुण एवंरूपक इत्येवं वा, अन्ततोऽपि सामान्यात्मना वा ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे प्रतिसंधित-प्राणितमेव ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा—इति व्यवह्रियते; नृपतिं प्रति प्रत्यभिज्ञापितोऽयम्—इत्यादौ। इहापि प्रसिद्धपुराणसिद्धान्तागमानुमानादिविदितपूर्णशक्तिस्वभावे ईश्वरे सति स्वात्मन्यभि-मुखीभूते तत्प्रतिसंधानेन ज्ञानम् उदेति, नूनं स एव ईश्वरोऽहम्—इति, तामेनाम् 'उपपादयामि'

विच्छिन्न सा, विकल्पित सा दिखायी दे रहा है इस विषय में आगे और भी विचार करेंगे।

प्रत्यभिज्ञा उसी का नाम है जो पूर्व में आभासित होता रहा एवं इस समय में भी भासित हो रहा है; पूर्वकाल एवं इस वर्तमान समयके काल का सम्प्रति वर्तमान में एकरूप से मिलकर भासित होने का नाम ही प्रत्यभिज्ञा है, जैसे यह वही चैत्र है; ऐसा पूर्वकाल के ज्ञान को वर्तमानकाल में ऐक्य कर सामने स्थित वस्तु पदार्थ में ज्ञान कराती है वही प्रत्यभिज्ञा है; यह लोक व्यवहार में भी देखा जाता है कि इसका पुत्र इन गुणगरिमाओं से सम्पन्न है एवं रूप यौवन से युक्त है; जब कालान्तर में सामान्यरूप से अथवा ज्ञात पदार्थ के अपने सामने आ जाने पर पूर्व में जैसा ज्ञान हुआ था वैसा वर्तमानकाल का ज्ञान सम्मुखस्थ वस्तु पदार्थ में मिला देने से यही भान होता है कि यह वही वस्तु पदार्थ है जो मैंने पूर्व में देखा था, जैसा कि राजा से इनकी पहचान करा दी है।

जिसका आगमाधिकार में निरूपण किया जायेगा।

इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो
महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।
तदत्र निदधत्पदं भुवनकर्तृतामात्मनो
विभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन् सिद्धयति॥ १॥
(४ अ० ३ आ० १६ श्लोक)

'तस्य' उस महेश्वर की 'प्रत्यभिज्ञा' पहचान होना; जो कि अपने स्वरूप के ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहा जाता है; मैं वही महेश्वर हूँ—ऐसी प्रत्यभिज्ञा–पहचान करना कि मैं उस महेश्वर से अभिन्न हूँ। जीवात्मा ज्ञात पदार्थ को जानता हुआ भी मोहवशात् फसकर नहीं जानता हुआ सा होकर जब फिर से अपनी ओर हृदयंगमीभाव से ज्ञान करने का नाम ही प्रत्यभिज्ञा है। अथवा ज्ञात वस्तुपदार्थ को भी विस्मृत करने के जैसा और उस भूले हुए को पुनः प्राप्तकर लेना, केवल स्मर्य-माणरूप से नहीं, अपितु प्रत्यक्ष स्पष्टरूप से जानकारी प्राप्तकर लेना ही प्रत्यभिज्ञा कहलाती है। यह वही चैत्र है जो मैंने 'सौराष्ट्र' में देखा था जो कि आज उसे अपनी आँखों के सामने देख रहा हूँ—इस प्रकार सतत निरन्तर आत्म-तत्त्व भासित होने पर भी मोह के कारण अपने आपको दूसरा ही मान लिया है कि मैं परिच्छिन्न इत्यादि हूँ।

इस प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में भी प्रसिद्ध पुराण, सिद्धान्त, आगम और अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध विदित ज्ञान का उदय पूर्णशक्ति सम्पन्न ईश्वर के अपनी तरफ उन्मुख होने से और उसका प्रतिसंधान करने से होता है, निश्चय ही ठीक वही ईश्वर मैं स्वयं हूँ—ऐसा जीवात्मा को बोध

इति। उपपत्तिः संभवः, तां संभवन्तीं तत्समर्थाचरणेन प्रयोजकव्यापारेण संपादयामि। तथाहि— संभवति तावत् असौ, अविच्छिन्नप्रकाशत्वात्; निरोधकाभिमतमायाशक्तिसमपसारणमात्रमेव तु तत्र उपपादनम्। प्रत्यभिज्ञोपपत्तौ स्वपरविभागाभावे तदपेक्षं कर्त्रभिप्रायादि असंभाव्यम् इति परस्मैपदप्रयोगः। इत्थं च अत्र श्लोके योजना,—महेश्वरस्य दास्यं समस्तसंपल्लाभहेतुं कथंचित् आसाद्य, जनस्यापि कथंचित् तत्प्रत्यभिज्ञाम् आसाद्य प्रापय्य, उपकारं समस्तसंपल्लाभहेतुभूतं महेश्वरदास्यात्मकम् इच्छन्, तामेव समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुकां तत्प्रत्यभिज्ञाम् उपपादयामि। 'आसाद्य' इति आवृत्तियोजने द्वौ णिचौ। इयति च व्याख्याने वृत्तिकृता भरो न कृतः, तात्पर्यव्याख्यानात्। यदुक्तम् 'संवृतसौत्रनिर्देशविवृतिमात्रव्यापारायाम्।' इति। टीकाकारेणापि

हो जाता है, इस प्रत्यभिज्ञा का मैं उपपादन करता हूँ। उपपत्ति सम्भव होने से उस सम्भावना की ठीक-ठीक समझ बूझकर प्रयोजक-व्यापार से संपन्न करता हूँ। क्योंकि वैसे तो यह संभव भी हो सकता है, अविच्छिन्न प्रकाशरूप होने के कारण; वहाँ पर तो केवल निरोध करनेवाली अभीष्ट मायाशक्ति ही है, उसे वहाँ से दूर कर देना ही उपपादन है। प्रत्यभिज्ञा को उपपत्ति हो जाने पर तो अपना और परायेपन का विभाग ही नहीं रह जाता और उसकी अपेक्षा रखनेवाले कर्त्ता के अभिप्रायादि की संभावना भी नहीं बन सकती; इसी कारण 'उपपादयामि' इस में परस्मैपद का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार इस श्लोक में जोड़ना चाहिए, संपूर्ण संपत्ति की प्राप्ति में हेतुरूप उस महेश्वर के प्रति दास्य भाव रखना ही एक मात्र लक्ष्य है। महेश्वर की दास्यभावना को किसी तरह प्राप्त करके और अन्य लोगों में भी उस महेश्वर की किसी प्रकार पहचान कराकर, समस्त संपत्ति की प्राप्ति में खास कारणरूप से महेश्वर के प्रति दास्यभावना रखना ही एकमात्र कारण है इसे भी दास्यभाव मिल जाये—ऐसी उपकार करने की भावना को आगे रखते हुए जो संपूर्ण संपत्ति की प्राप्ति में हेतुभूत प्रत्यभिज्ञा है उसका मैं उपपादन करता हूँ।

'आसाद्य' इस प्रयोग में 'देहली-दीपक' न्याय से एकबार प्रयोग करने पर भी एक साथ दो या दो से अधिक अर्थ का भी क्रम से बोध होता है क्योंकि [आसाद्य] इसमें दो 'णिच्' प्रत्यय हैं और वृत्तिकार ने इतने व्याख्यान में कोई विशेष भार नहीं दिया है, चूँकि इसके तात्पर्य मात्र की ही व्याख्या करनी थी। जिसके बारे में कहा भी गया है कि—'ढका हुआ जो सूत्र का अर्थ है उसका निर्देश करने के लिए ही यह विवरण मात्र व्यापारवाली टीका है।'

---

१. जहाँ पर कर्ता के अभिप्राय से क्रियाफल की विवक्षा की जाती है वहाँ पर आत्मनेपद में क्रिया होती है, किन्तु जिसमें वह नहीं होती है उसमें तो 'शेषात् कर्तरि परस्मैपदम्' इससे परस्मैपद में होती है। किन्तु प्रत्यभिज्ञा ज्ञान के उपाय को बताने वाले ग्रन्थ कर्ता में समस्त सम्पत्ति के कारण रूप परमेश्वर की दास्यभावना की प्राप्ति से, पूर्णता में डूब जाने से स्व-पर विभाग गल गया है, इसी कारण कर्ता का अभिप्राय क्रियाफल विनष्ट हो जाता है अर्थात् कर्ता को अभीष्ट अपने लिये नहीं रह जाता है। जिससे 'तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयेऽहम्' यह प्रयोग नहीं होता है। अपने आपके लिए किञ्चित् करने योग्य एवं अपेक्षणीय भी नहीं रह जाता, क्योंकि समस्त एषणायें ज्ञान के द्वारा विनष्ट हो जाती हैं, परोपकारार्थ ही मात्र इच्छा अवशेष रह जाती है, जो अपने स्वार्थ में डूबे हुए हैं वे परोपकारार्थ नहीं कर सकते हैं, इसी कारण परस्मैपद का प्रयोग 'तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि' इस अंश में किया गया है।

वृत्तिमात्रं व्याख्यातुमुद्यतेन नेदं स्पृष्टम्, अस्माकं तु सूत्रव्याख्यान एव उद्यम—इति विभज्य व्याख्यातम्। एवं सर्वत्र। एवमनेन श्लोकेन अभिधेयं, प्रयोजनं, तत्प्रयोजनं, तत्प्रयोजनम्, अधिकारिनिरूपणं, गुरुपर्वक्रमः, संबन्ध—इति दर्शितम्। तथाहि—समस्तसंपल्लक्षणो व्याख्यातो योऽर्थः पूर्वं पुण्यपापादौ संसारमूलकारणे हेतुः, स एव प्रत्यभिज्ञायते अनया—इति करण-

एवं टीकाकार के द्वारा भी वृत्तिमात्र की व्याख्या करना ही उद्देश्य था उससे अतिरिक्त थोड़ा सा भी कहीं स्पर्श नहीं किया हुआ है और हमारा भी तो यत्न मात्र सूत्र की व्याख्या करने में है; इससे अधिक नहीं है, इसलिए हमने खूब-खोल-खोलकर व्याख्या की है। इसी प्रकार ही सब जगह व्याख्या की गयी है।

इस श्लोक से जो विषय करना था उसे भी अभिधेय के रूप से कहा है, प्रयोजन और उसका प्रयोजन तथा प्रयोजन के भी प्रयोजन को दिखलाया है, अधिकारी के विषय में भी कहा है कि इस प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को प्राप्त करनेवाले कौन अधिकारी हो सकते हैं इसका भी अच्छी तरह से निरूपण हुआ है, तथा गुरु-परम्परा के क्रम को भी दिखाया है। इन ईश्वरप्रत्यभिज्ञा आदि शास्त्रों की कौन-कौन से गुरुजनों के द्वारा रचनाएँ हुई हैं एवं आदि से अन्त तक इनके प्रधान गुरु लोग रहे, तथा इस ईश्वरप्रत्यभिज्ञा का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव रूप जो सम्बन्ध है उसे भी हमने दिखा दिया है। [अभिधेय का उपाय और प्रयोजन का जो उपाय ज्ञान है एवं उसका प्रयोजन प्रत्यभिज्ञान होना, प्रत्यभिज्ञान का भी प्रयोजन परमेश्वर सम्बन्धी ऐश्वर्य की प्राप्ति करना है। अधिकारी तो जिस किसी भी जाति-वर्ग का पवित्र हृदय वाला हो सकता है। श्री कण्ठनाथ प्रभृति गुरु सम्बन्ध क्रम में आ जाते हैं। श्री कण्ठनाथ के शासन काल के चले जाने पर दुर्वासामुनि हुए उन्होंने भी इस दर्शन के उद्धार के लिए आदेश दिया, उन्होंने भी भगवान् देव से आदेश प्राप्तकर त्र्यम्बकादित्य नाम के मानस पुत्र को पैदा किया। गुरु प्रवर्तित मार्ग को चलाने के लिए श्री अनन्तनाथ से शिवतत्त्व श्री कण्ठनाथ ने प्राप्त किया, वह भी भगवान् शक्ति से, इस प्रकार आगमों में गुरु परम्परा के सम्बन्ध क्रम का निरूपण हुआ है यहाँ प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है।] वैसे तो समस्त संपत्ति को देनेवाला जो अर्थ है उसी की व्याख्या की गयी है; क्योंकि पूर्व जन्म के अर्जित पुण्य-पापादि ही तो इस असार-संसार का मूल कारण है, इस व्याख्यान से उसी की पहचान होती है 'प्रत्यभिज्ञायते अनया' इस कथन को करण

---

१. इस 'दर्शन' प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में विषय उपाय है और प्रयोजन उपाय ज्ञान है, उसका प्रयोजन प्रत्यभिज्ञान है, उसका प्रयोजन पारमैश्वर्य की प्राप्ति करना है। इसका अधिकारी जो कोई शक्तिपात-परमेश्वर का अनुग्रह वाला, पवित्र हृदय से युक्त हो सकता है। श्री कण्ठनाथ से लेकर श्री सोमानन्द आदि तक गुरु परम्परा का सम्बन्ध द्योतित होता है। 'कैलासाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया। अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥ मुनिं दुर्वाससं''' शास्त्रं रहस्यं कुरु तादृशम् ॥'

कलिकाल के कालुष्य से यह शैवाद्वैत दर्शन प्रायः लुप्त हो गया था और उसकी परम्परा का ह्रास हो जाने से बहुत काल के बाद कैलास पर्वत पर परिभ्रमण करते हुए भगवान् शंकर ने श्री कण्ठमूर्ति रूप को धारण कर दुर्वासा मुनि को इस शैव शास्त्र का प्रचार-प्रसार करने के लिए आज्ञा की। उनकी आज्ञा को शिरोधार्य समझकर दुर्वासा मुनि ने अखिल आगम रूप उपनिषद्-वेद के सारभूत षडर्ध

व्युत्पत्त्या उपायः इह लोकोत्तरमार्गं प्रति निर्णीतः,—इति अतिदुर्घटकारित्वलक्षणमैश्वर्यम् 'मार्गो नव' (४ अ० ३ आ० १६ श्लो०) इति शास्त्रान्ते निरूपयिष्यमाणं सूचयता उपायः प्रदर्शितः अभिधेयत्वेन । अत एव 'तथाहि जडभूतानाम्' (१ अ० १ आ० ४ श्लो०) इत्युपक्रमपूर्वं श्लोकान्तरं भविष्यति । प्रयोजनं च प्रत्यभिज्ञोपायज्ञानं, तस्य प्रयोजनं प्रत्यभिज्ञानं, तस्यापि प्रयोजनं समस्तसंपल्लक्षणपारमैश्वर्यैकरूपप्रथनं; ततः परं नास्त्येव, तस्य सर्वपर्यन्तफलत्वात् अंशांशिकयापि । यदुक्तं मयैव स्तोत्रे—'फलं क्रियाणामथवा विधीनां पर्यन्ततस्त्वन्मयतैव देव । फलेप्सवो ये पुनरत्र तेषां मूढा स्थितिः स्यादनवस्थयैव ॥' इति । एतद् वक्ष्यति 'तदत्र निदधत्पदम्'

व्युत्पुत्ति होने से लोकोत्तर मार्ग का देनेवाला है यह उपाय निर्णीत हो जाता है, इसका अतिदुर्घटकारीरूप ऐश्वर्य माना जाता है जो कि आगे कहा भी है—'मार्गो नव' (४।३।१६) ।

इस प्रकार शास्त्र के अन्त में निरूपण करते हुए हमने उपाय भी इसके सूचित किये हैं जो प्रतिपाद्य विषयक हैं । इसलिए 'तथाहि जडभूतानाम्' (१ अ. १०४ श्लोक) जैसा कि जडभूतों की प्रतिष्ठा जीव के आश्रित होती है उस तरह उपक्रमपूर्वक दूसरे-दूसरे श्लोक कहे जायेंगे तब फिर प्रयोजन क्या वस्तु है ? उत्तर यह है कि प्रत्यभिज्ञा का उपाय जानना ही यहाँ पर प्रयोजन है, उसका भी प्रयोजन ईश्वर का प्रत्यभिज्ञान होना कि मैं महेश्वररूप हूँ, तब फिर उस प्रत्यभिज्ञान का क्या प्रयोजन है और किसलिए ? समस्त संपत्तिरूप परमेश्वर के परम ऐश्वर्य का प्रथन हो जाना ही वस्तुतः प्रयोजन है; इसके बाद कुछ अवशेष करना नहीं रह जाता है, सारा का सारा फल मिल जाने से कुछ भी आंशिकरूप से शेष नहीं रह जाता है । मैंने स्वयं ही स्तोत्र में बताया है—

'हे देव ! क्रियाओं से उत्पन्न होने वाले अथवा विधियों से होने वाले जितने भी फल होते हैं; उन सब से हम तुम्हारे पूर्ण व्यापकरूप में तन्मय हो जायें । जो लोग फल की आकांक्षा रखते हैं वे सभी मूढ़ ही हैं और इससे अनवस्था ही होगी ।' इस विषय में आगे विवेचन किया जायेगा ।

दो पाद से 'तदत्र निदधत्पदम्' (४ अ० ३ आ० १६ श्लोक) 'जनस्य' इसके द्वारा अधिकारी कौन हो सकता है, इसे दिखाया है । जिसका उपसंहार करते समय बताया जायेगा—

[त्रिक] शास्त्र जो संसार में विलुप्त हो गया था इसके प्रचारार्थ त्र्यम्बक आदित्य नामक मानस पुत्र को उत्पन्न किया और इन्होंने भी इस प्रकार मानस प्रक्रिया से सृष्टि क्रम के द्वारा पुत्र उत्पन्न किया, स्वयं गुहा में जाकर ध्यानस्थ हो गये । इस प्रकार क्रमशः सृष्टि-प्रक्रिया चलती आयी । आगे चलकर मानुषी सृष्टि का क्रम चला । इस मानुषी सृष्टि में संगम आदित्य और वर्षादित्य पुत्र उत्पन्न हुए, उनके भी भगवान् अरुणादित्य नाम के पुत्र पैदा हुए । श्री सोमानन्द आनन्दादित्य से हुए । इस प्रकार शैवाद्वैत दर्शन के प्रचारार्थ श्री सोमानन्द का अत्यधिक योग रहा है । इनका बनाया हुआ 'शिवदृष्टिशास्त्र' इस दर्शन का सर्वप्रथम ग्रन्थ है । इसके आधार पर उत्पलदेव एवं अभिनवगुप्त, लक्ष्मणगुप्त, वसुगुप्त, क्षेमराज एवं रामेश्वर झा आदि ने ग्रन्थों की रचनाएं की । इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है ।

१. सम्पूर्ण सम्पत्ति की प्राप्ति होने पर ही पूर्णता दिखायी देती है । राज्य, भोग, स्वर्ग, भवन इत्यादि भोग पदार्थ की प्राप्ति में भी उत्तरोत्तर इच्छा विशेष बढ़ती ही जाती है, कहाँ पूर्णता को स्थान मिला माना जाय ? जब परमार्थ मिल जाने पर तो इससे अतिरिक्त प्राप्त करने के लिए रह ही नहीं जाता है, उस परमेश्वर भाव में सम्मिलित हो जाने पर तो फिर क्या वाञ्छनीय रह जाता है–इसका यही आशय है ।

(४ अ० ३ आ० १६ श्लो०) इति पादद्वयेन । 'जनस्य' इत्यनेन अधिकारी दर्शितः । यत् निगमयिष्यति 'अनिशमाविशन्' (४ अ० ३ आ० १६ श्लो०) इति । 'कथंचित्' इत्यनेन गुरुपर्वक्रमः । वक्ष्यति 'महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा ।' (४ अ० ३ आ० १६ श्लो०) इति । एवं प्रतिज्ञातव्यसमस्तवस्तुसंग्रहणेन इदं वाक्यमुद्देशरूपं प्रतिज्ञापिण्डात्मकं च, मध्यग्रन्थस्तु हेत्वादिनिरूपकः, 'इति प्रकटितो मया' (४-३-१६) इति च अन्त्यश्लोको निगमनग्रन्थः,—इत्येवं पञ्चावयवात्मकमिदं शास्त्रं परव्युत्पत्तिफलम् । नैयायिकक्रमस्यैव मायापदे पारमार्थिकत्वम्—इति ग्रन्थकाराभिप्रायः 'क्रियासंबन्धसामान्य' (२ अ० २ आ० १ श्लो०)

इत्यादिषु उद्देशेषु प्रकटीभविष्यति—इति तावद् ग्रन्थस्य तात्पर्यम् । सुजनश्च लौकिकेश्वरपरिचित ईश्वरविषये जनम् अनुजीविगुणोपपन्नं प्रकाशयति, जनविषये च आभिगामिकादिगुणगणसम्पन्नम् ईश्वरं प्रकाशयति,—इति इयानर्थः सामन्येन षष्ठीसमासेन दर्शितः 'सस्य प्रत्यभिज्ञा' इति । एतच्छ्लोकाकर्णनसमये च शिष्याणाम् एतदर्थसंक्रमेण परमेश्वरतादात्म्यमेव उपजायते तावत् । तथाहि—'जनस्य'—इत्याकर्णनात् वयं ते जननमरणपीडिता अपर्युदस्तवृत्तयश्च, अस्माक-

'अनिशमाविशन्' (४ अ० ३ आ० १६ श्लोक में) 'कथंचित्' इस शब्द से गुरु परम्परा का क्रम 'महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा' (४ अ० ३ आ० १६ श्लोक) से कहा जायेगा ।

इस प्रकार प्रतिज्ञा करने योग्य सारी वस्तुओं का संग्रह करके प्रतिज्ञा को एक पिण्डाकाररूप में दिखा दिया, और बीच का ग्रन्थ तो हेतु आदि का निरूपण करता है, 'इति प्रकटितो मया' (४-३-१६) और अन्तिम श्लोक से ग्रन्थ का उपसंहार किया हुआ है । इस प्रकार प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन रूप पाँचों अवयवों वाला यह शास्त्र परम व्युत्पत्तिरूप फल देने वाला है । नैयायिक लोगों के क्रम को ग्रन्थकार ने मायापद में पारमार्थिकरूप माना है, 'क्रियासम्बन्धसामान्य' (२ अ० २ आ० १ श्लोक) के उद्देश्यों में प्रकट किया जायेगा । यही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है और सज्जन लोग लौकिक ईश्वर के विषय में परिचित हो जाने पर अनुचरवर्ग को अपने स्वामी के विशेष गुणों का वर्णन किया करते हैं और लोगों के विषय में भी ईश्वर सम्बन्धी गुण गरिमा का प्रकाश डालते रहते हैं इतना अर्थ 'तस्य प्रत्यभिज्ञा' इस सामान्य षष्ठी समास के द्वारा दिखा दिया । इस षष्ठीसमास में कर्ता और कर्म ये दोनों हैं अर्थात् तत्कर्तृक प्रत्यभिज्ञा एवं तत्कर्मक प्रत्यभिज्ञा समझना चाहिए ।

इस श्लोक के सुनते समय में ही श्रद्धालु शिष्यों को इसका बोधार्थ संक्रमण क्रमशः परमेश्वर की तादात्म्यता उत्पन्न करा देता है । जैसा कि 'जनस्य' ऐसा सुनने मात्र से हम जन्म-मरण के दुःखों से बहुत ही पीडित हैं और प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृति आदि वृत्तियों से भिन्न अथवा उसके सदृशवस्तुओं से भिन्न; हमलोगों का उपकार चाहते हुए, परमेश्वर

१. जिनकी चारों ओर से बाहरी समस्त 'प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृति' वृत्तियाँ अस्त हो चुकी है वे उदासीन कहलाते हैं इससे विपरीत अपर्युदास वृत्तियाँ होती हैं । अथवा सदृश वस्तु का परिग्रहण करना ही पर्युदास है, अपने से विपरीत वृत्तियों का ग्रहण नहीं करना ही उदासीन भाव है । अर्थात् किसी अन्य में अपनी वृत्ति को न रखना ही अनन्य वृत्ति कहलाता है ।

मयम् उपकारम् इच्छन्, महेश्वरस्य दास्यम् आसाद्य, समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुं तत्प्रत्यभिज्ञाम् उपपादयति; ततश्च प्रत्यभिज्ञामेवंभूतां वयं प्राप्ता एव—इति । इत्थमेव हि अधिकारिणि शास्त्रार्थस्य बिम्बप्रतिबिम्बवत् संक्रान्तिः लोड्लिङादीनां विषयीभवति—इति प्रथमपुरुषार्थः उत्तमपुरुषार्थे पर्यवस्यति, न तु ताटस्थ्येन; अधिकार्यनधिकारिणोः प्रतिपत्तौ विशेषाभावप्रसङ्गात् । आरोग्यकामाः शिवां सेवन्तां सेवेध्वम्—इति वा वाक्यार्थस्य सेवामहै–इत्येवंरूपेण अधिकारिणि द्वितीयकक्ष्यासंक्रान्तौ तृतीयकक्ष्यायामेव भाविकोटिपतितामपि पुरुषार्थसंपत्तिम् अकालकलितस्वरूपानुप्रवेशेन स्वात्मीकृताम् अभिमन्यमाने, तत एव विततसंवित्सुन्दरपरामर्शे पूर्णताभिमानप्रतिलम्भात्, अन्यस्य तु अनेवंरूपत्वेनैव अधिकारिता ताटस्थ्यप्राणा—इति । तदास्ताम् अवान्तरमेतत् अतिगहनं च—इति स्थितमेतत् । एतेन श्लोकेन ईश्वरसामुख्यं विनेयानां प्रयोजनादिप्रतिपादनं च क्रियते—इति ॥ १ ॥

अनन्तभावसंभारभासने स्पन्दनं परम् ।
उपोद्घातायते यस्य तं स्तुमः सर्वदा शिवम् ॥

ननु ईश्वरस्य सिद्धिरेव कर्तव्या, केयं सिद्धिः ! न तावत् उत्पत्तिः नित्यत्वात् । नापि ईश्वरसिद्धिकारादयस्तस्योत्पत्तिं विदधते । ज्ञप्तिः सिद्धिरिति चेत् ! अनवच्छिन्नप्रकाशस्य प्रमाणव्यापा-

की दासता को पाकर, सम्पूर्ण अलौकिक सम्पत्ति प्राप्ति में हेतुरूप ईश्वर की प्रत्यभिज्ञा का उपपादन करते हैं,—ऐसी प्रत्यभिज्ञा हमलोग प्राप्त कर चुके हैं ।

इस प्रकार अधिकारी में ही शास्त्र का अर्थ बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव के समान संक्रमण हो जाता है; यह 'लोट्' लकार और 'लिङ्' लकार का अर्थ है—इस प्रकार प्रथमपुरुष का अर्थ उत्तमपुरुष के अर्थ में पर्यवसित होता है, तटस्थरूप से नहीं होता है; क्योंकि अधिकारी और अनधिकारी के जानने में किसी तरह की विशेषता नहीं है । आरोग्य की कामना चाहने वाले भगवतीशक्ति की सेवा करें; तुम लोग सेवा करो या वाक्यार्थ के लिए उत्तमपुरुष का प्रयोग 'सेवामहै' हमलोग सेवा करते हैं इस प्रकार से अधिकारी में द्वितोय कक्षा का संक्रमण हो जाने पर 'सेवेध्वम्' इस तृतीय कक्षा में पड़ने पर आगामी कोटि 'लोट्' लकार में पुरुषार्थ सम्पत्ति को अकालकलित कोटि में प्रविष्ट कराकर अपने अधीन कर उसे मानने पर उत्तमपुरुष का प्रयोग होता है, इसलिए खूब विस्तृत संवित् सुन्दरता के परामर्श में पूर्णता ला देने के कारण दूसरे का तो उससे भिन्न तटस्थरूप में अधिकारिता है । रहने दो, इसको यह तो बड़ा भोतर घुसा हुआ और अति कठिन भी है जिस परिस्थिति में है उसी में रखना ही समुचित दिखायी देता है । इस श्लोक से शिष्यों के प्रयोजन आदि का और ईश्वर की सन्मुखता का प्रतिपादन विषय भी हो जाता है ॥ १ ॥

अनन्त भावपदार्थ समूह को प्रकाशित करने में जिसका सर्वश्रेष्ठ स्पन्दन-उपोद्घात होता है । उस शिव की हम लोग स्तुति करते हैं ॥

अब शंका करते हैं कि ईश्वर की सिद्धि करनी चाहिए, किन्तु कौन सी यह सिद्धि है ? ईश्वर की उत्पत्ति हो नहीं सकती है क्योंकि ईश्वर नित्य-शुद्ध-बुद्ध स्वभावरूप है और न तो ईश्वर की सिद्धि करने वाले लोग उनकी उत्पत्ति के विषय में कुछ बता भी सकते हैं ठीक ढंग से, या उत्पत्ति दिखा सकते हैं । ईश्वर के विषय में जाननारूप मात्र सिद्धि सम्भव हो

रोपाधेयप्रकाशात्मकसिद्धयनुपयोग एव । ननु अनवच्छिन्नस्तदीयः प्रकाश—इति कथमेतत्; घट-सुखादिप्रकाशे हि तत्प्रकाशः कुतः ?, तदप्रकाशेऽपि सुप्तमूर्च्छादौ नतरां; स्वप्रकाशेऽपि वा ईश्वरे प्रमातॄणां किं वृत्तं, येन तेषां प्रमाणव्यापारानुपयोग ?—इत्याशङ्क्याह—

कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे ।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः ॥ २ ॥

इह क ईश्वरे कीदृशे कीदृशेन प्रमाणेन अस्ति-इति ज्ञानलक्षणां सिद्धिं, नास्तीति ज्ञानलक्षणं वा निषेधं कुर्यात् ? प्रमाता इति चेत्, स एव कः ? देहादिर्जडः उत तदन्यो वा कश्चित् आत्मादि-शब्दवाच्यः ? सोऽपि स्वप्रकाशस्वभावो वा न वा ? देहादिर्जडः इति चेत्, स एव स्वात्मनि

सकती है—ऐसा यदि करते हो ? तो यह होना असम्भव सा ही है क्योंकि अनवच्छिन्न प्रकाश वाले के प्रमाण व्यापार को लगाकर उसे प्रकाशित करने वाली सिद्धि उपयुक्त हो नहीं बैठती है ।

पुनः शङ्का करते हुए कहते हैं कि उसका प्रकाश अनवच्छिन्न माना जाता है तब यह कैसे घटित होगा; क्योंकि घट-सुखादि के प्रकाश में उसका प्रकाश कहाँ से आया हुआ माना जाय ?

उस अनवच्छिन्न प्रकाशात्मा के प्रकाश न रहने पर भी स्वप्न-मूर्च्छा, शयनादि में तो उससे भी अधिक नहीं रहेगा ।

['अक्षैर्योऽर्थग्रहः पुंसां तज्जाग्रदिति कथ्यते । यत्तैर्विनार्थस्मरणं मनसा स्वप्नसंज्ञितम् ॥
यत्रार्थस्मरणे न स्तस्तत्सौषुप्तमिति स्मृतम् । शुद्धबोधैकरूपो योऽवस्थातः सैव तुर्यता ॥

जिसमें चक्षु इन्द्रियों के द्वारा पुरुष को अर्थ का ग्रहण होता हो उस अवस्था का नाम जाग्रत् है । जब उनके बिना मात्र मन से ही अर्थ विषय का ग्रहण जिसमें होता हो उसे स्वप्न अवस्था कहते हैं । जिसमें अर्थ का स्मरण भी न होता हो उसी का नाम सुषुप्ति अवस्था है । जिसमें शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-नित्य स्वभाव का बोध हो उसे चतुर्थ अवस्था 'शिव' कहा जाता है । उसमें भी सुषुप्ति अवस्था दो प्रकार की मानी जाती है । मूर्च्छादि न्याय से, एक सवेद्य है और दूसरी अपवेद्य है । 'मैं सुखी हूँ'—इसी का नाम संवेद्य है ओर 'मैंने कुछ भी नहीं जाना' यह अपवेद्य है ।]

ईश्वर के स्वप्रकाश रहने पर प्रमाताओं का इसमें क्या बिगड़ना है, जिससे उन प्रमाताओं के प्रमाण-व्यापार का अनुपयोग होता हो ? इस विषय में आशङ्का कर उत्तर देते हैं—

अपने आप स्वयं कर्ता, ज्ञाता, आदि सिद्ध महेश्वर के रहने पर कौन चेतन निषेध या सिद्धि अपने आप की करेगा ॥ २ ॥

कौन व्यक्ति कैसे ईश्वर में प्रमाण के द्वारा ज्ञान लक्षणा की सिद्धि या निषेध कर सकता है, उसकी सत्ता है या नहीं है ऐसे कैसे कर सकेगा ? यदि माना जाय कि ईश्वर के अस्तित्व में सिद्धि या निषेध प्रमाता करता है तो वही प्रमाता कौन है जो सिद्धि और निषेध करने चल पड़ा है ? चार्वाकादि नास्तिक लोग देहादि जड-पदार्थों को मानते हैं यदि ऐसा कहो, तो क्या सचमुच देहादि जड या उससे भिन्न कोई आत्म शब्द का वाच्य माना जाय ?

असिद्धः परत्र कां सिद्धिं कुर्यात् ? आत्मापि अस्वप्रकाशो जड एव तत्तुल्ययोगक्षेमः। स्वप्रकाश-स्वभावः इति चेत्, कीदृशेन स्वेन रूपेण आभाति ? यदि परिनिष्ठितसंविन्मात्ररूपेण, तदा संविदां भेदनं, भेदितानां च अन्तरनुसंधानेन अभेदनं न स्यात्; तेन स्वतन्त्रस्वप्रकाशात्मतया तावत् स भासते, तथा भासमानश्च कीदृशमीश्वरं साधयेत् निषेधेत् वा ? कर्तृज्ञातृस्वभावम् इति चेत्, ननु स प्रमातैव तथाभूतः—इति कोऽन्यः सः ? ननु सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वे प्रमातुर्न स्तः, न खलु सर्व-शब्दार्थो ज्ञातृकर्तृत्वयोः स्वरूपं भिनत्ति, भेददर्शनेऽपि ईश्वरज्ञानचिकीर्षायत्नादेर्नित्यस्य विषयेण अकारणभूतेन अनाधेयातिशयत्वात्। प्रकाशमानतानयनमेव विषयत्वम् इति चेत्, अप्रकाशस्व-भावस्य तथात्वमनुचितम्—इति वक्ष्यामः। प्रकाशमानस्वभावत्वे विषयोऽपि सर्वात्मना प्रकाश एव निमग्न इति प्रकाशः प्रकाशते—इत्येतावन्मात्रपरमार्थत्वे कः सर्वज्ञासर्वज्ञविभागः ?, प्रमाणमपि एवं सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां पर्यनुयोज्यम्; एवं सिद्धिरपि। तस्मात् विषयाभिमतं वस्तु-शरीरतया गृहीत्वा तावत् निर्भासमान आत्मैव प्रकाशते विच्छेदशून्यः, सुषुप्तमपि प्रति प्रकाशत

वह भी स्वप्रकाश स्वभाव वाला है अथवा नहीं है ? यदि देहादि जड-भाव को ही मानते हो, तो वह भी अपने में असिद्ध होता हुआ दूसरे की कौन सी सिद्धि कर देगा ? इससे तो फिर आत्मा भी अप्रकाश रूप जड तुल्य हो जायेगा और यदि उसे स्वप्रकाश तुल्य मान लिया जाय; तो फिर वह कैसे अपने स्वयं के स्वरूप को भासित करेगा ? यदि कहो कि परिमित संवित्मात्र रूप से भासता है, तब तो ज्ञानों का भेद दिखाई पड़ता है और भेद से अलग किये पदार्थों के भीतर अनुसन्धान रूप से अभेद का होना मुश्किल हो जायेगा; इसलिए यह मानना होगा कि वह स्वतंत्र अपने प्रकाशात्मक रूप से भासित होता हुआ कैसे ईश्वर की सिद्धि कर पायेगा या निषेध कर सकेगा ? यदि स्वप्रकाश रूप आत्मा कर्तारूप और ज्ञातारूप है—ऐसा मानते हो तो वह प्रमाता ही उसी प्रकार का है, ऐसी बात है तो फिर दूसरा कौन वह है ?

'ननु' कहकर प्रश्न करते हैं कि सर्वकर्तृत्व और सर्वज्ञत्व भी तो उस प्रमाता में नहीं है, क्योंकि सर्वकर्तृत्व और सर्वज्ञत्व तो ईश्वर परमात्मा में रहते हैं; सर्वशब्द का अर्थ कर्तृत्व ज्ञातृत्व के स्वरूप का भेद नहीं करता है, भेदवादी के दर्शनों में भी ईश्वर का ज्ञान, करने की इच्छा और प्रयत्नादि के नित्य होने से; एवं विषय का कारण नहीं होने से उसमें कुछ भी अतिशय नहीं लगाया जा सकता है। यदि ईश्वर परमात्मा में प्रकाशमानता लाया जाना ही विषय मानते हो; तब तो फिर यह अप्रकाश वाले का ही धर्म हो जाता है जब कि उसी प्रकार से मानना उचित नहीं दिखायी देता है—इस विषय में हम स्वयं आगे कहेंगे—

प्रकाशमान स्वभावता के रहने पर विषय भी सब तरह से प्रकाश में अन्तर्निहित रहता है; प्रकाश प्रकाशरूप से प्रकाशित रहता है, यही वस्तुस्थिति है और जब इस प्रकार परमार्थभाव के रहने पर फिर सर्वज्ञ और असर्वज्ञ का विभाग कौन-सा माना जाये ? जबकि सर्वज्ञ और असर्वज्ञ के विचार की यहाँ पर कोई आवश्यकता नहीं दिखायी पड़ती है ? प्रमाण भी सिद्ध है या असिद्ध है इस ढंग से इसमें भी पूछना होगा [यदि प्रमाण प्रकाश के अन्तगर्त सिद्ध है तब फिर प्रकाश ही अपने आपकी सिद्धि एवं निषेध क्या करेगा ? यदि असिद्ध है तो फिर अप्रकाश स्वभाव वाले का उसी प्रकार का होना अनुचित ही है] एवं सिद्धि के विषय में भी विचार करना होगा। इसलिए शरीर धारण करके तब तक निर्भासित होता हुआ विच्छेद शून्य होकर आत्मा ही

एव, अन्यथा स्मृत्ययोगात्; प्रकाशस्य च नित्यत्वात् विच्छेदहेतोरभावेन, अन्यप्रमात्रपेक्षया च प्रकाशमानत्वात्, स्वपरप्रमातृविभागस्य तत्सृष्टस्य मायीयत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। स चायं स्वतन्त्रः।

स्वातन्त्र्यं च अस्य अभेदे भेदनं, भेदिते च अन्तरनुसंधानेन अभेदनम्—इति बहुप्रकारं वक्ष्यामः। तदेव अस्य पारमेश्वर्यं मुख्यमानन्दमयं रूपम्–इति पूर्वमुपात्तं 'कर्तरि' इति। तदेव तु स्वातन्त्र्यं विभज्य वक्तुं 'ज्ञातरि' इति पश्चान्निर्दिष्टम्। ज्ञानपल्लवस्वभावैव हि क्रिया–इति वक्ष्यते। तेन सर्वक्रियास्वतन्त्रे सर्वशक्तिके–इति यावद् उक्तं, भवेत् तावदेव 'कर्तरि ज्ञातरि'इति। इयमेव च संवित्स्वभावता। संविदिति तु उच्यमाना विकल्प्यत्वेन प्रमेयतां स्पृशन्ती सृष्टत्वात् न परमार्थसंवित्–इति वक्ष्यामः। कर्ता ज्ञाता च महेश्वर—इत्यभिधानेऽपि स एव प्रकार आपतेत्, इति—यथा यथा प्रमेयभूमिकापादनन्यक्कारकलङ्कपरिहारः शक्यः तथा तथा यावद्गति यतितव्यम्,—इति भूतविभक्त्या निर्देशः कृतः। उपदेशावसरे हि सर्वात्मना तावत् सा प्रमेयता अस्य परिहर्तुम् अशक्या। 'स्वात्मनि' इति, स्वस्मिन् अनपायिरूपे स्वभावे इत्यनेन वैशेषिकाद्यभिमतजडात्मवादनिरासः। 'आदिसिद्धे' इति, अविच्छिन्नप्रकाशे इत्यर्थः। 'महेश्वरे' इति, एतदेव माहेश्वर्यं—

प्रकाशित होता रहता है, एवं गहन निद्रा में सोनेवाले व्यक्ति को भी प्रकाशित करता है यदि ऐसा न माना जाय तो स्मृति कैसे हो पायेगी अर्थात् इससे फिर स्मृति नहीं हो सकती है, क्योंकि प्रकाश के नित्य होने से वहाँ पर विच्छेद का कोई कारण नहीं मिलता, और दूसरे प्रमाता की अपेक्षा से प्रकाशमान होने के कारण, अपना और अपने से भिन्न दूसरे प्रमाता का विभाग जो कि उसी से बनाया गया है वे सभी मायीय प्रमाता हैं। इसको विवक्षा आगे की जायेगी और वह सर्वतंत्र स्वतंत्र है। इसका स्वातंत्र्य अभेद में भेद कर भासित करता है और भेद करने पर भी भीतर अनुसंधानरूप से एक अभेदतया रहता है यह वहुत प्रकार का है इसका हम आगे निरूपण करेंगे। वही इसका परम ऐश्वर्य है एवं मुख्य आनन्दमय स्वरूप है इसको पूर्व में हमने 'कर्तरि' में और उसी का स्वतंत्ररूप से विभाग कर कहने के लिए 'ज्ञातरि' ज्ञाता में है यह पीछे से निर्देश किया है। क्रिया क्या चीज है ? इसके विषय में हम आगे दिखायेंगे कि ज्ञान स्वभाव के ही विस्तारवाली क्रिया होती है अर्थात् ज्ञान के विस्तार को ही क्रिया कहा जाता है। इस कारण सब क्रियाओं की स्वतन्त्रता में और सब शक्ति सम्पन्न वाली क्रियाओं के विषय में और जो कुछ कहा गया है यह सब 'कर्तरि–ज्ञातरि' में ही रहता है और यही ज्ञान का वास्तविक स्वरूप भी है। संवित् इतना कहने पर तो विकल्पित होकर प्रमेयरूप बन जाती है किन्तु सृष्टिरूप होने के कारण परमार्थ संवित् नहीं कहलाती है। इस विषय में हम कहेंगे। कर्त्ता और ज्ञाता के रूप में महेश्वर को बताने पर भी उसी प्रकार करना पड़ेगा, इसलिये जैसे-जैसे प्रमेय भूमिका को प्राप्त कर लेने से कलङ्क का परिहार करना शक्य हो सके वैसे-वैसे प्रयत्न करना चाहिए, इस बात को भूतकाल की विभक्तिसे दिखाया गया है। क्योंकि उपदेश अवस्था में इसका सब प्रकार से तो प्रमेयता का परिहार करना शक्य नहीं हो सकता है। 'स्वात्मनि' शब्द जो श्लोक में दिया है इसका यह आशय है कि अपने निरुपायरूप स्वभाव में रहते हैं इससे वैशेषिकों के जडात्मवाद सिद्धान्त का खण्डन हो जाता है। 'आदिसिद्धे' इस शब्द से यह भाव प्रकट होता है कि वह अनवच्छिन्न प्रकाशरूपमें स्थित है। 'महेश्वरे' इससे यह सार निकलता है कि यही महेश्वर का

यद् अनवच्छिन्नप्रकाशत्वेन ज्ञातृ-कर्तृत्वधारोपारोहः। 'अजडात्मा' इति, यस्य तु वैशेषिकादेर्जड आत्मा स सिद्धिं करोतु ईश्वरविषयाम्; अन्यस्तु सांख्यादिर्निषेधं; सांख्योऽपि विषयावभासनरूपं ज्ञानं बुद्धिधर्ममिच्छन् आत्मानं वस्तुतो जडमेव उपैति; न च जडात्मा स्वात्मन्यपि दुर्लभप्रकाशस्वातन्त्र्यलेशः किंचित् साधयितुं निषेद्धुं वा प्रभविष्णुः पाषाण इव; न च अजडात्मनोऽपि एतद् उचितं, तथाहि—स स्वात्मनि सिद्धिमित्थं कुर्यात्—यदि अस्य सोऽभिनवत्वेन भासमानः पूर्वं न भासते, अनाभासनं चेत् जडतैव। निषेधं च इत्थं निदध्यात्—यदि स न प्रकाशते तथा च जडः, न च जडस्य एतत् युक्तम्—इत्युक्तं, नापि अजडस्य; तस्मात् संवित्प्रकाश एव घटादिप्रकाशः, न त्वसौ स्वतन्त्रः कश्चित् वास्तवः; प्रकाश एव च आत्मा; तत् न तत्र कारकव्यापारवत् प्रमाणव्यापारोऽपि नित्यत्ववत् स्वप्रकाशत्वस्यापि तत्र भावात् ॥ २ ॥

ननु कारकव्यापारः प्रमाणव्यापारश्च यदि ईश्वरे न संभवति, तर्हि प्रत्यभिज्ञापयामि—इति यो व्यापार उक्तः स कतमो व्यापार ?,—इत्याशङ्क्याह—

किंतु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते ।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते ॥ ३ ॥

ऐश्वर्य है जो अनवच्छिन्न प्रकाश रूप होकर ज्ञातृत्वरूप और कर्तृरूप धारा के ऊपर आरूढ रहता है। 'अजडात्मा' इस शब्द से वैशेषिकों के मत में आत्मा को जड माना है। यदि वे लोग ऐसा मानते हैं तो ईश्वर विषयक सिद्धि करें; और दूसरे सांख्यादि लोग निषेध करते रहें; सांख्य-सिद्धान्तवाले भी तो विषय को अवभासित करने वाले ज्ञान को ही बुद्धि का धर्म और आत्मा के रूप में मानते हैं और वह भी एक प्रकार से जड को ही आत्मा मानना हुआ; और जो जडरूप है उससे अपने में दुर्लभ प्रकाश की स्वतन्त्रता का लेशमात्र भी सिद्ध नहीं कर सकेगा या निषेध कर पायेगा; क्योंकि वह एक तरह से पत्थर जैसा ही है; और अजडरूप चेतन का होना समुचित भी नहीं है। वे लोग इस प्रकार से अपने आत्मा को सिद्धि करेंगे—यदि इसका वह आत्मा कोई नये रूप से भासित होने वाला है जो कि पूर्व में नहीं भासता था, तब तो वह फिर जड ही हो गया। और निषेध इस प्रकार करेंगे कि यदि वह प्रकाशित नहीं होता है तो वह जडरूप ही है और जड स्वभाव वाले का ऐसा होना उचित भी नहीं है, इसी कारण हमने कहा है कि अजडरूप चेतन आत्मा की सिद्धि नहीं कर सकता है; इसलिए यह मान लो कि संवित् प्रकाश ही घट-पटादि का प्रकाश है, वह स्वतन्त्र रूप से किसी वस्तु का स्वरूप नहीं है और प्रकाश ही आत्मा है। वहाँ पर कोई कारकव्यापार के समान प्रमाणव्यापार भी नहीं रहता; क्योंकि नित्यत्व के समान होनेके कारण स्वयं अपने प्रकाश से भासित रहता है ऐसी स्थिति में वहाँ पर कारक व्यापार क्या कर सकता है ॥ २ ॥

अब 'ननु' कहकर प्रश्न करते हैं कि कारकव्यापार और प्रमाणव्यापार यदि ईश्वर में न सम्भव होते हों तो, मैं प्रत्यभिज्ञा करता हूँ—ऐसा जो व्यापार कहा गया है वह कौन सा व्यापार है ? इस विषय में आशंका कर उत्तर में कहते हैं कि—

किन्तु मोह से वशीभूत हो जाने के कारण देखते हुए भी स्वरूप को नहीं देखते हैं। इसी कारण विद्याशक्ति का आविष्कार कर इस प्रत्यभिज्ञा को दिखाते हैं ॥ ३ ॥

स ईश्वरस्वभाव आत्मा प्रकाशते तावत्, तत्र च अस्य स्वातन्त्र्यम्—इति न केनचिद्वपुषा न प्रकाशते, तत्र अप्रकाशात्मनापि प्रकाशते प्रकाशात्मनापि, तत्रापि प्रकाशात्मनि सर्वथा प्रकाशात्मना प्रकाशो भागशो वा; भागशः प्रकाशने सर्वस्य व्यतिरेकेण अव्यतिरेकेण वा, कतिपयस्य व्यतिरेकेण अव्यतिरेकेण वा, उक्तप्रकारपूर्णतया वा; तदमी सप्त प्रकाराः। तत्र प्रथमः प्रकारो जडोल्लासः, अन्त्यः परमशिवात्मा, मध्यमा जीवाभासाः, सैव भगवतो माया विमोहिनी नाम शक्तिः, तद्वशात् प्रकाशात्मतया सततम् अवभासमानेऽपि आत्मनि भागेन अप्रकाशनवशाद् 'अनुपलक्षिते' सर्वथा हृदयंगमीभावमप्राप्ते अत एव पूर्णतावभासनसाध्याम् अर्थक्रियाम् अकुर्वति, तत्पूर्णतावभासनात्मकाभिमानविशेषसिद्धये 'प्रत्यभिज्ञा' व्याख्यातपूर्वा प्रदर्श्यते, कथं 'शक्तेः' ईश्वरनिष्ठत्वेन प्रसिद्धाया दृक्क्रियात्मिकाया 'आविष्करणेन' प्रदर्शनेन अभिमानसाध्यार्थक्रियाणां तदभिमानसिद्ध्या विना असिद्धेः; तथा च दृष्टान्तं दर्शयति 'तैस्तैरप्युपयाचितैः (४ अ० ३ अ० १७ श्लो०)।' इति।

एतदुक्तं भवति—न कारकव्यापारो भगवति, नापि ज्ञापकव्यापारोऽयम्, अपि तु मोहापसारणमात्रमेतत्, व्यवहारसाधनानां प्रमाणानां तावत्येव विश्रान्तेः। घटोऽयमग्रगः प्रत्यक्षत्वात्—इत्यनेन हि घटो न ज्ञाप्यते प्रत्यक्षेणैव प्रकाशमानत्वात्, अन्यथा पक्षे हेत्वसिद्धेः, केवलं

वह ईश्वर स्वभाव वाला आत्मा प्रकाशित होता है, और उसमें ही इसका परम स्वातंत्र्य निहित है—इस प्रकार वह किसी शरीर से नहीं प्रकाशित होता, वह उसमें जड-शून्यभाव से भी भासित होता है और प्रकाशरूप से भी भासित होता है, उस प्रकाशात्मा में सब प्रकार के प्रकाश प्रकाशित होते हैं या कुछ अंश में प्रकाश रहता है आंशिक प्रकाश के मानने पर भी उसमें साधर्म्य रूप से रहता है; या वैधर्म्य रूप से रहता है, यह भी विकल्प हो सकता है, कहे हुए की पूर्णता से है, इस प्रकार ये सात विकल्प हो सकते हैं। इसमें पहला प्रकार तो यह है कि जड पदार्थों का जिसमें उल्लास होता हो, अन्त में परम शिव का स्वरूप हो और बीच में जीवात्माओं का आभास हो, वही भगवान् की माया-शक्ति है। जिससे कि प्राणी मोह पाश में बँध जाता है उसी कारण से प्रकाशरूप का निरन्तर प्रकाश होने पर भी आत्मा में कुछ अंश प्रकाशित न होने के कारण 'अनुपलक्षिते' सभी प्रकारके हृदयंगमभाव नहीं प्राप्त करते हैं ऐसा होनेपर भी पूर्णता के अवभासन से होने वाली व्यवहार क्रिया नहीं करते रहने से, उस पूर्णता के अवभासनात्मक अभिमान की विशेष सिद्धि के लिए जिस 'प्रत्यभिज्ञा' की हमने पूर्व में ही व्याख्या कर दी है उसे दिखलाते हैं। उसे कैसे बताते हो; ऐसा यदि प्रश्न करते हो तो, इसके उत्तर में सुनो, 'ईश्वर परमात्मामें रहनेवाली प्रसिद्ध ज्ञान-क्रियारूप शक्तिका 'आविष्करणेन' आविष्कार द्वारा दिखाना अभिमान साध्य अर्थक्रियाओं की अभिमानसिद्धि के बिना सिद्धि का होना सम्भव नहीं हो सकता है, उसे दृष्टान्त देकर दिखाते हैं—तैस्तैरप्युपयाचितैः (४ अ० ३ आ० १७ श्लोक) उन-उन मनौतियों के द्वारा भी जब दमयन्ती नल को प्रत्यक्ष होते हुए भी नहीं पहचान सकी। यह कहा गया है कि—उस परमेश्वर में न तो कारक व्यापार घटता है और न जनानेका कोई व्यापार कर सकता है, किन्तु यहाँ पर तो केवल मोह दूर करनेसे ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, व्यवहार को सिद्ध करने वाले का प्रमाण भी तो इतने कार्य करके विश्रान्त हो जाते हैं। देखो—जैसा कि हमारे सामने घट प्रत्यक्षरूपसे विद्यमान है चूँकि प्रकाशमान होनेके कारण यदि ऐसा मानते हो; तो फिर पक्ष में हेतु का रहना असिद्ध हो

मोहमात्रमपसार्यते। यश्चायं मोहस्तदपसारणं च यत्, तदुभयमपि भगवत एव विजृम्भामात्रं, न तु अधिकं किंचित्—इत्युक्तं वक्ष्यते च ॥ ३ ॥

ननु परिदृश्यमाने भावराशौ किमीया शक्तिराविष्क्रियते कं च प्रति? इति, जडानां तावत् न ज्ञानात्मिका शक्तिरस्ति, क्रियात्मिकापि स्वातन्त्र्यप्राणा स्वातन्त्र्यव्यपगमाद् असंभावनाभूमिरेव; तथा च रथो गच्छति—इत्यादौ उपचारं केचन प्रतिपन्नाः, न च जडान्प्रति व्यवहारसाधनम् उचितम्; अथ अजडजीवज्जनताधिकारेण उभयमपि, तर्हि सर्वस्य स्वात्मा महेश्वर—इति दूरतरं विप्रकर्षिता प्रत्याशा, तदेतद् आशङ्क्य निरूपयति—

तथाहि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ॥ ४ ॥

'तथाहि' इति युक्त्युपक्रमं द्योतयति, दृश्यतां किल इत्यर्थः। 'तथा' इत्यनेन साध्यं सूच्यते, 'हिना' हेतुरित्यन्ये, प्रकृतं साध्यं हेतुसिद्ध्यायत्तमुपक्रम्यते इत्यर्थः। तेन इति बुद्धिवर्तिना, अत एव स्मर्यमाणेन ग्रन्थेन वर्णयिष्यमाणेन प्रकारेण यस्मात् सर्वमेतद् युक्तम् इति 'तथाहि' इति शब्दस्य वार्थः। इह तावत् भावराशिर्यथा विमृश्यते तथा अस्ति, अस्तित्वस्य प्रकाशं शरणीकुर्वतः

जायेगा, मात्र मोह दूर करना ही इसका कार्य है। अब जिज्ञासा होती है कि यह क्या वस्तु है? और उसे कहाँसे हटाना है? ये दोनों ही भगवान् की इच्छा का कार्य है—इससे अधिक कोई चीज नहीं है—इस विषय में हम कह भी चुके हैं और आगे भी कहेंगे ॥ ३ ॥

अब शंका करते हैं कि दिखलाई देने वाली जो भाव राशियाँ हैं उनमें कौन सी शक्ति आविर्भूत की जाती है और किसके प्रति की जाती है? यदि जड-पदार्थों को लेकर कहते हो; तो जड-पदार्थों में थोड़ी सी भी ज्ञानशक्त नहीं रहती है, क्रियात्मक शक्ति जिसका परम स्वातंत्र्य 'जीवन' माना जाता है, स्वातंत्र्य के न रहने से तो उसकी सम्भावना ही नहीं की जा सकती है; जैसा कि 'रथो गच्छति' रथ जाता है, इससे रथ में गमनात्मक क्रिया का रहना असम्भव है क्योंकि रथ जड पदार्थ है; कुछ लोग रथ पर बैठे हुए की भी क्रिया को स्वीकार करते हैं और जड-पदार्थों का व्यवहार होता हुआ देखा भी नहीं जाता और समुचित भी नहीं है; चेतन जीवित हुए जीवों के ही अधिकार द्वारा ये दोनों प्रकार के कार्य होते हैं तब तो फिर सबकी आत्मा महेश्वर है, ऐसी आशा करना बहुत दूर की बात हो जायेगी, इस पर आशङ्का कर विवेचन करते हैं—

इसलिए वैसा ही सिद्ध होता है कि जडभूतों की प्रतिष्ठा जीवित जीवों के आश्रित होती है। ज्ञान और क्रिया जीवित प्राणियों का जीवन है—ऐसा माना जाता है ॥ ४ ॥

'तथाहि' इस शब्द से युक्ति का उपक्रम द्योतित हो रहा है, दृढ़ता पूर्वक देखो—ऐसा इसका भावार्थ निकलता है। 'तथा' इससे साध्य सूचित होता है 'हिना' इस शब्द के द्वारा हेतु सूचित होता है दूसरे लोगों की ऐसी मान्यता है, प्रकृत जो साध्य है वह हेतु सिद्धि के अधीन है इसलिए हम उसका उपक्रम करते हैं 'तेन' यह बुद्धि में रहने वाले होने के कारण है, इसलिए आगे स्मरण किये जाने वाले ग्रन्थ के द्वारा यह वर्णन समुचित है ऐसा 'तथाहि' शब्द का विकल्प अर्थ है यहाँ पर भाव राशि का जैसा विचार किया जाता है वैसा ही है क्योंकि अस्तित्व के प्रकाश का

प्रकाशप्राणितदेशीयं विमर्शम् आश्रित्य समुन्मेषात्, अविमृष्टं हि यदि वस्तु तन्न नीलं न पीतं न सत् न असदिति, कुत ?—इति पर्यनुयोगे किम् उत्तरं स्यात्। तेन यद् यथा यावत् अबाधितं विमृश्यते तत् तथा तावत् अस्ति, तत एव देशकालाकारविततात्मानोऽपि द्रव्यक्रियासंबन्धादयः एकत्वेन परमार्थसन्त–इति वक्ष्यते 'क्रिया संबन्धसामान्य (२ आ० २ आ० १ श्लो०)।' इत्यादिना,

ततश्च विततमपि इदं विश्वं संक्षेपविमर्शदशाधिरोहे जडं जीवच्च—इत्येतावता द्वयरूपेण अस्ति। तत्र जडा अपि विमृश्यमाना न स्वतन्त्रा भवन्ति, विमृश्यमानता हि तेषां न स्वशरीरविश्रान्तः कोऽपि धर्मः जडत्वाभावप्रसंगात्, मम नीलं भाति मया नीलं ज्ञायते इति। तेषां 'जडभूतानां चिन्मयत्वेऽपि मायाख्यया ईश्वरशक्त्या जाड्यं प्रापितानां 'जीवन्तं' प्रमातारमाश्रित्य 'प्रतिष्ठा' तत्प्रमात्राभिमुख्येन अवस्थानं, ततो जडा नाम न पृथक् सन्ति। यथोक्तं ग्रन्थकृतैव 'एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी। जडाः..............................।।'

इति। स एव हि स्वात्मा सन् वक्तव्यो यस्य अन्यानुपाहितं रूपं चकास्ति; न च भारूपानुपाहितं जडं नाम किञ्चित्, तेन जडानां हि शक्तिराविष्क्रियते जडान्प्रति—इत्येतत् तावत् निरुत्थानमेव। ये तु अन्ये जडेभ्यो जीवन्त—इति नाम प्रसिद्धाः तेषामपि शरीरप्राणपुर्यष्टकशून्याकाराः तावत् जडा एव—इति तेषामपि किमुच्यते। एवं घटशरीरप्राणसुखतदभावरूपं

आश्रय लेने वाले प्रकाश से जीवित प्रायः विमर्श के आश्रित होकर उन्मेष होने के कारण, जिसका विमर्श नहीं किया गया है ऐसी वस्तु न तो नील है और न तो पीत ही है; और न सत् है और न असत् है ऐसा क्यों है ? इस तरह से प्रश्न करने पर उत्तर क्या देंगे। इसलिए जो जितना भी अबाधित परामर्श होता है; वह वैसा उतना ही रहता है इससे देश-काल-आकार आदि विस्तृत स्वभाव वाले द्रव्य क्रिया के सम्बन्धादि यथार्थं सत् हैं—ऐसा आगे बताया जायेगा 'क्रिया सम्बन्ध सामान्य' (२ अ० २ आ० १ श्लोक) इस स्थल में।

इसलिए विस्तृत होता हुआ भी यह संसार विमर्श दशा में आरूढ़ होने पर जड और चेतन इन्हीं दो रूपों में रहता है। जडवर्ग भी विमर्श दशा में आ जाने पर स्वतंत्र नहीं रहते, विमृष्ट होना कोई उनका अपने स्वरूप में विश्राम लेने वाला धर्म नहीं है तब तो फिर जडभाव का अभाव प्रसंग आ जायेगा, मुझे नील भासता है। अथवा मेरे द्वारा नील का ज्ञान होता है। उन जडपदार्थों के चिन्मयरूप होने पर भी माया नामक ईश्वर की शक्ति से जडता को प्राप्त हुए 'जीवन्तम्' जीवित प्रमाता का आश्रय लेकर 'प्रतिष्ठा' उस प्रमाता के अभिमुख वर्तमानरूप से स्थित रहता है, इसलिए जडवर्ग कोई उससे अलग नहीं है जब कि ग्रन्थकार ने स्वयं इसका प्रतिपादन किया है। ''इस प्रकार ये सभी पदार्थ अपने में असत् कल्प [नहीं रहने के बराबर] प्रकाशक के ही अन्तर्भूत हैं।''

उसी आत्मा को सत्य कहना चाहिए जिसका रूप अन्य किसी से युक्त न होता हुआ स्वयं प्रकाशित होता हो। जड कोई ज्योतिरूप से संयुक्त नहीं रहता, इसी कारण जडपदार्थों के लिए ही जडवस्तुओं की शक्ति दिखाई जाती है किन्तु ऐसा घटित होना तो असंभाव्य ही दीखता है। जो लोग जडभावों से भिन्न जीते हुए कहे जाते हैं उनमें भी बहुत से शरीर-प्राण पुर्यष्टक [शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध-मन-बुद्धि और अहंकार को पुर्यष्टक कहते हैं] से शून्य ही आकार होते हैं और उनके भी शरीरादि जडरूप ही तो हैं इस विषय में अधिक और क्या कहा जाय। इस प्रकार घट-शरीर-

सत् यल्लग्नं भाति तदेव जीवरूपभूतं सत्यम्; तस्य च आपाते यद्यपि बहुत्वं भाति तथापि तत् जडात्मकवेद्यशरीराद्युपाधेः। ततस्तत् अपारमार्थिकम् अन्योन्याश्रयात्, जीवा हि जडभेदात् भेदभागिनः जडाश्च जीवभेदात्, एतद्देहोऽयम् एतद्वेद्योऽयम्—इति भेदम् उपेयुः, नीलपीतादिभेदस्तु प्रमातृसंलग्नतया अभेदभूमिमेव परमारूढ इति किं तेन। तदयं जीवानामभेद एव संपन्न, इति जीवन् प्रमाता—इति जातं। जीवनं च जीवनकर्तृत्वं तच्च ज्ञानक्रियात्मकं, यो हि जानाति च करोति च स जीवति—इत्युच्यते। तदयं प्रमाता ज्ञानक्रियाशक्तियोगाद् ईश्वर—इति व्यवहर्तव्यः

प्राण-सुख और उन सबों का अभाव दुःखादिरूप सत् वस्तु को कुछ संसक्त मिला हुआ भासता है और वही जीवरूप में सत्य भी है; यद्यपि उसे देखने पर पहले-पहल बहुत से मालूम पड़ते हैं तो भी वह संबद्ध जडात्मक वेद्य शरीरादि की उपाधि से है। इसीलिए इसे पारमार्थिक रूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि परस्पर एक दूसरे के आश्रित होने के कारण, जीव जड से भिन्न भेद भागी होने से और जड जीव से भिन्न है, इसीलिए यह देह है एवं यह वेद्य है—ऐसे भेद-भाव को प्राप्त करना होगा, नील-पीतादि के भेद तो प्रमाता के संसक्त मिले हुए रहने के कारण अभेदात्मक भूमि में आरूढ़ रहता है उससे क्या प्रयोजन सिद्ध करना है। इसलिए जीवों का अभेद ही सिद्ध सम्पन्न हुआ, इसलिए जीवन प्रमाता कहा जाता है और जीवन जीव का कर्तापन है और इसी कारण उसे ज्ञान-क्रियात्मक कहा जाता है, जो जैसा जानता है उसे वैसा ही करता भी है और जीता है। इसलिए यह प्रमाता ज्ञान क्रिगात्मक शक्ति के योग से ईश्वर हो जाता है—ऐसा पुराण-

---

१. परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम्।
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते॥

परिच्छिन्न प्रकाशत्व होना जड का लक्षण है। ज्ञान तो जड से विलक्षण होता है इसलिए उसका परिच्छेद नहीं होता।

२. इच्छा-ज्ञान-क्रियापूर्वा यस्मात्सर्वाः प्रवृत्तयः।
सर्वेपि जन्तवस्तस्मादीश्वरा इति निश्चिताः॥

इति। ज्ञानक्रियाशक्तिलक्षणं च—

स्वप्रकाशे निजे धाम्नि भासयेद्भावविभ्रमान्।
भासना च क्रिया शक्तिरिति शास्त्रेषु कथ्यते॥
यया विचित्रतन्वादिकलना प्रविभज्यते।
भासनानभाते च कथं नामप्रकल्पनम्॥
तदस्यान्तःस्थितं भानं ज्ञानशक्तिरहं स्मृता।

'इच्छा एवं क्रिया ज्ञानपूर्वक ही हुआ करती है और तभी प्रवृत्तियाँ देखी जाती हैं। सभी प्राणीवर्ग ईश्वर का ही स्वरूप है यह दृढ़तापूर्वक मानना चाहिए।'

ज्ञान-क्रियाशक्ति का स्वरूप दिखाते हैं—'सब भावों को अपने बोध में जो भासित करते हैं वहाँ पर उसका भासना है और उसी क्रिया-शक्ति को शास्त्रों में भी कहा गया है जिससे विचित्र शरीरादि की स्थिति का विभाग होता है, यदि ऐसा उसका भासना नहीं भासित होता हो तो, कल्पना का होना असम्भव हो जायेगा; इसलिए उसका अन्तःकरण में रहकर भासित होना ज्ञान-शक्ति कहलाती है जिसका अहं विमर्श होता रहता है।'

पुराणागमादिप्रसिद्धेश्वरवत्; तदप्रसिद्धावपि सर्वविषयज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वस्वभावमेव ऐश्वर्यं तन्मात्रानुबन्धित्वादेव सिद्धं; तदपि च कल्पितेश्वरे राजादौ तथा व्याप्तिग्रहणात्, यो यावति ज्ञाता कर्ता च स तावति ईश्वरो राजेव, अनीश्वरस्य ज्ञातृत्वकर्तृत्वे स्वभावविरुद्धे यतः, आत्मा च विश्वत्र ज्ञाता कर्ता च—इति सिद्धा प्रत्यभिज्ञा। ज्ञानक्रियाशक्ती एव स्वाभाविक्यौ अप्ररूढभेदोन्मेषे सदाशिवेश्वरौ, भेदस्य सामान्यतः प्ररोहे विद्याकले, विशेषतः प्ररोहे बुद्धिकर्मेन्द्रियगण—इति भविष्यति। जडा इति अजीवन्तः, अन्ये च जीवन्त—इत्यापाते तावत् भाति न तु संविदापाते भाति। जीवतामिति जङ्गमा एव अमी इत्थं निर्दिष्टाः ॥ ४ ॥

ननु ज्ञानक्रिये एव कथं सिद्धे यत ऐश्वर्यव्यवहारः प्रसाध्येत ?,—इति शङ्कां शमयितुमाह–

तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं क्रिया कायाश्रिता सती।
परैरप्युपलक्ष्येत तयान्यज्ञानमूह्यते ॥ ५ ॥

अहं जानामि, मया ज्ञातं ज्ञास्यते च–इत्येवं प्रकाशाहंपरामर्शपरिनिष्ठितमेव इदं ज्ञानं नाम,

आगमशास्त्रों में प्रसिद्ध ईश्वर के तुल्य व्यवहार में आता है; उसका ऐश्वर्य प्रसिद्ध न होने पर भी सब प्रकार से ज्ञान-क्रियाशक्ति का अपने में आ जाना ही ऐश्वर्य माना हुआ है; ये सभी बातें चिद्रूप में मिलने के कारण ही ऐश्वर्य वाले कहते हैं; और यह सिद्ध भी होता है एवं ये सारी को सारी बातें कल्पित ईश्वर-राजा आदि में भी मिलती हैं, जो जितने का ज्ञाता और कर्ता है वह उतने का स्वामी कहलाता है, जो ईश्वर नहीं है उसमें ज्ञातृत्व और कर्तृत्व का रहना अपने स्वभाव के विरुद्ध भी है, और आत्मा सर्वत्र ज्ञाता और कर्ता के रूप में रहता है इसलिए प्रत्यभिज्ञा सिद्ध होती है। ज्ञान और क्रिया की शक्ति स्वाभाविक है। जबतक भेद नहीं प्रस्फुटित होता है तबतक सदाशिव और ईश्वर भाव होता है, भेद भाव के सामान्यतः स्फुटित होने पर विद्या और कला का भाव आता है और अधिक विशेषरूप से बढ़ जाने पर बुद्धि और कर्मेन्द्रियगण का भाव होने लग जायेगा। जडपदार्थ निर्जीव है और चेतन तत्त्व तो सजीव जीवित होता है। दूसरे जीते हैं—ऐसा तो पहले-पहल ही देखने में आता है किन्तु ज्ञान के रहने पर नहीं भासता। 'जीवताम्' इससे चेतन जीवों का निर्देश किया हुआ है ॥ ४ ॥

अब शंका करते हैं कि ज्ञान और क्रिया कैसे सिद्ध होगी जिससे कि इन्हीं दोनों क्रियाओं का ऐश्वर्य-व्यवहार सिद्ध हो सके ? इस आशंका के समाधान में उत्तर देते हैं—

ज्ञान और क्रिया के बीच ज्ञान अपने आप सिद्ध है और क्रिया शरीर से सम्बन्ध रखती हुई दूसरे के द्वारा भी वह उपलक्षित होती है तथा क्रिया के द्वारा अन्यज्ञान को भी जान सकते हैं ॥ ५ ॥

मैं जानता हूँ, मेरे द्वारा जाना गया और मुझ से जाना जायेगा—इस प्रकार अहं परामर्श से परिनिष्ठित ही यह ज्ञान होता है, इससे अधिक वहाँ दूसरा क्या विचार किया जाय, उसका

किं तत्र अन्यत् विचार्यते, तदप्रकाशे हि विश्वम् अन्धतमसं स्यात्, तदपि वा न स्यात्, बालोऽपि हि प्रकाशविश्रान्तिमेव संवेदयते। तदुक्तम् 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।' (बृ० २.५.१९) इति।

तन्निह्नवे हि कः प्रश्नः, किम् उत्तरं च स्यात्—इति। तत्र जानामि—इत्यन्तः संरम्भयोगोऽपि भाति, येन शुक्लादेर्गुणात् अत्यन्तजडात् जानामि—इति वपुः चित्स्वभावताम् अभ्येति, स च संरम्भो विमर्शः क्रियाशक्तिरुच्यते। यदुक्तम् अस्मत्परमेष्ठिश्रीसोमानन्दपादैः 'घटादिग्रहकालेऽपि घटं जानाति सा क्रिया।' इति। तेन आन्तरीयक्रियाशक्तिः ज्ञानवदेव स्वतः—

प्रकाश न रहने पर तो यह सारा का सारा विश्व अन्धकारमय हो जायेगा, या विश्व ही नहीं रहेगा, क्योंकि बालक भी तो प्रकाश में ही विश्रान्ति का ज्ञान करता है। उसके विषय में कहा भी गया है—जानने वाले को किससे जाना जा सकता है' (बृ० २.५.१९)

उसके छिप जाने पर क्या प्रश्न और क्या उत्तर हो सकता है। 'मैं जानता हूँ' ऐसा अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश भासता है, जबकि प्रकाश शुक्लादि गुणों से अत्यन्त जड रहता है, उससे भिन्न ही मैं जानता हूँ ऐसा वपु चित्स्वभाव को प्राप्त करता है उससे बढ़े हुए विमर्श को ही क्रिया-शक्ति कहा जाता है। जो कि हमारे दादा गुरु सोमानन्दपाद ने कहा है—'घटादि के ग्रहण काल में ही मैं घट को जानता हूँ इसी का नाम क्रिया है।' इसलिए अन्तःकरण में होने

---

१. **असिद्धौ च प्रकाशस्य कोऽहं किं त्वं तमोऽपि किम्।**
न किञ्चिदपि वा किं स्यात्तूष्णीं स्यादपि वा कथम्॥

किञ्च

अयं घटोऽयं पट इत्येवं नानाप्रतीतिषु।
अर्कप्रभेव स्वज्ञानं स्वयमेव प्रकाशते॥
ज्ञान न चेत्स्वयंसिद्धं जगदन्धं ततो भवेत्। इति

प्रकाश की सिद्धि न होने पर ही व्यक्ति अपने आपको नहीं जान पाता है वास्तव में मैं कौन हूँ और तुम क्या हो तथा अज्ञान क्या है ? कुछ भी नहीं तो भी—कैसे चुपचाप रहेगा, क्या होगा या रहेगा भी कैसे—बैठा चुपचाप और भी इस विषय में सुनो—यह घट है और यह पट है इस प्रकार की विविध प्रतीतियों में सूर्य की प्रभा के समान अपना ज्ञान स्वयं प्रकाशित रहता है। यदि ज्ञान स्वयं सिद्ध नहीं होता तो यह सारा-का-सारा संसार अन्धा हो जायगा—

२. **वेदान्त दर्शन का यह मत है कि जैसा वह जानता है, इसमें अन्तःकरण की वृत्ति विशेषरूप क्रिया ही "ज्ञा" धातु का वाच्यार्थ है क्योंकि 'ज्ञा' धातु अवबोध रूप में पढ़ी गयी है और चित्तत्व के प्रतिबिम्ब रूप आभास से युक्त होकर ही 'तिङ्' प्रत्यय का अर्थ होता है। परस्पर अध्यास को प्राप्त हुए आभास और बुद्धि के भेद का ग्रहण नहीं होता; ये दोनों आभास में मिल जाने के कारण मालूम नहीं पड़ते इस विषय में आचार्य ने कहा है—**

आत्माभासस्तु तिङ्वाच्यो धात्वर्थश्चधियः क्रिया।
उभयं चाविवेकेन जानातीत्युच्यते मृषा॥
बुद्धेः कर्तृत्वमध्यस्य जानातीति ज्ञ उच्यते।
तथा चैतन्यमध्यस्य ज्ञत्वं बुद्धेरिहोच्यते॥

सिद्धा स्वप्रकाशा, सैव तु स्वशक्त्या प्राणपुर्यष्टकक्रमेण शरीरमपि संचरमाणा स्पन्दनरूपा सती व्यापारव्याहारात्मिका मायापदेऽपि प्रमाणस्य प्रत्यक्षादेर्विषयः। सा च परशरीरादिसाहित्येन अवगता स्वं स्वभावं ज्ञानात्मकं गमयति, न च ज्ञानम् इदन्तया भाति, इदन्ता हि अज्ञानत्वं, न च अन्यत् अन्येन वपुषा भातं भातं भवेत्, तत् ज्ञानं भात्येव परं, भाति च यत् तदेव अहमित्यस्य वपुः,—इति परज्ञानमपि स्वात्मैव; परत्वं केवलम् उपाधेर्देहादेः, स चापि विचारितो यावत् न अन्य इति विश्वः प्रमातृवर्गः परमार्थत एकः प्रमाता, स एव च अस्ति। यदुक्तम्—

'…प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः।'

इति। ततश्च भगवान् सदाशिवो जानाति इत्यतः प्रभृति क्रिमिरपि जानाति—इत्यन्तम् एक एव प्रमाता—इति फलतः सर्वज्ञत्वं प्रमातुः[१]। एवं कर्तृत्वेऽपि वाच्यम्। यदुक्तम् अस्मत्पर-

वाली क्रिया-शक्ति ही ज्ञान के जैसो सिद्ध होती है और स्वयं अपने आप प्रकाशित भी रहती है, वही अपनी शक्ति द्वारा प्राण-पुर्यष्टकके क्रम से शरीर में रहती हुई स्पन्दनरूप होकर व्यापाररूप व्यवहार को सम्पादन कराती हुई मायामय पद में भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय बनती है। और वह किसी अन्य के शरीरादि में ज्ञात होकर अपने ज्ञानात्मक स्वभावको जनाती है। ज्ञान 'इदन्तया' नहीं भासता है, क्योंकि इदन्ता तो अज्ञान का स्वरूप माना जाता है, और दूसरा कोई दूसरे के स्वरूप से भासित होने पर स्वयं भासित होना यह नहीं कहा जाता, वही अहंभाव का वपु है, इसलिए दूसरे का ज्ञान भी आत्मस्वरूप ही होता है; दूसरे का ज्ञान मात्र देहादि की उपाधि है, और उसके विषय में विचार करने पर वह दूसरा है ऐसा सिद्ध ही नहीं होगा, इसलिए विश्व के सारे प्रमातृगण परमार्थरूप से एक ही परमेश्वर के प्रमाता हैं। कहा भी है—इस विषय में '…प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः परात्मभिः।' अपने आपका प्रकाश ही दूसरे को आत्मा से मिलकर रहता है।'

जो भगवान् सदाशिव जिस वस्तु-पदार्थ को जैसा भी सूक्ष्म-स्थूल रूप से जानता है उसे पहले से लेकर आखिरी तक कोट-पतंग भी जानते ही हैं, यहाँ तक एक ही प्रमाता है इससे प्रमाता की सर्वज्ञता सिद्ध हुई। उसी प्रकार कर्तृता में भी जान लेना चाहिए। जिसका प्रतिपादन परमेष्ठी

"तिङ्" प्रत्ययका वाच्यार्थ आभास है और "ज्ञा" धातुका अर्थ है बुद्धि की क्रिया। ये दोनों आपसमें मिले हुए रहनेके कारण और भेद ज्ञानके नहीं रहनेसे ही कहा जाता है कि यह ज्ञान असत्य है। बुद्धिके कर्तृत्वका अध्यास कहकर, यह "ज्ञाता जानता है" ऐसा बोला भी जाता है। इस प्रकार चैतन्यके ज्ञानका अध्यास होनेके कारण बुद्धिका ज्ञान कहा जाता है।

आभास, बुद्धि, और उसकी जो क्रियाएँ हैं इन तीनों का व्यवहार भी मिथ्या है। सकल बुद्धि का समष्टि रूप माया अवच्छिन्न चैतन्य ही ईश्वर है। उस-उस बुद्धिमें प्रतिबिम्बित होने वाले को जीव शब्द से कहा जाता है। उपाधि से रहित जो पूर्ण चैतन्य है वह ब्रह्म है। इस तरह चिति शक्ति के तीन भेद हो जाते हैं।

१. प्रश्न उठता है कि ईश्वर सर्वज्ञ क्यों नहीं है? यदि यह कहो कि–प्रमातृ-गत भेद के होने के कारण ऐसा मैं कहता हूँ, वह भी ठीक नहीं बैठता क्योंकि प्रमाताओं का भेद पारमार्थिक नहीं है।

स्वातन्त्र्य-शक्ति के द्वारा ही मात्र उसमें भेद दिखायी पड़ता है। वस्तुतः शिव आदि से लेकर

मेष्ठिभिः शिवदृष्टौ—

'घटो मदात्मना वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना।
सदाशिवात्मना वेद्मि स वा वेत्ति मदात्मना॥
नानाभावैः स्वमात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः।'

इत्यादि। 'ऊह्यते' इत्यनेन ज्ञानस्य प्रमेयत्वं न निर्वहति–इति दर्शयति, अन्यथा हि अनुमीयते–इति ब्रूयात्। तदेवं येषां तार्किकप्रवादपांसुपातधूसरीभावो न वृत्तोऽस्मिन् संवेदनपथे, ते इयतैव आत्मानमीश्वरं विद्वांसो घटशरीरप्राणसुखतदभावान् तत्रैव निमज्जयन्त ईश्वरसमाविष्टा एव भवन्ति। ततोऽयम् उपोद्घातः।—उप इति आत्मनः समीपे टङ्कवत् ईश्वराभिज्ञानलक्षण उत्कर्षो हन्यते विश्राम्यते येन; एतावदेव च अस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यम्,–इति। ततोऽपि अयम् उपोद्घातः।—उपांशु अविततं कृत्वा उदिति शास्त्रस्य ऊर्ध्वं एव हन्यते अपसार्यते प्रमेयविषयो व्यामोहो येन—इति। गत्यर्थत्वाद्वा हन्तेर्ज्ञानमर्थः, ज्ञायते प्रमेयं येन इति। केचित्तु गतिं

गुरु ने शिव दृष्टि शास्त्र में भी किया है—

'घट अपने आपको हमारे रूप से जानता है और मैं घट रूपमें जानता हूँ। मैं सदाशिव को सदाशिव के रूप में जानता हूँ और वह मेरे रूप से मुझे जानता है। इस प्रकार अनेक रूपों में अपने आपको जानते हुए स्वयं भगवान् शिव विराजमान है।'

'ऊह्यते' इस पद से ज्ञान की प्रमेयरूपता नहीं बनती, अर्थात् ज्ञान प्रमेयरूप नहीं होता, उसे तो प्रमाता का स्वरूप माना गया है—ऐसा 'ऊह्यते' क्रिया द्वारा दिखाया जाता है, नहीं तो अनुमान किया जाता है—ऐसा कहो। इसलिए इस ज्ञान मार्गमें जो लोग तार्किक प्रवाद की धूलि से दूषित नहीं हुए हैं वे लोग इतने ही ज्ञान से अपने आपको ईश्वर मानते हुए घट-शरीर-प्राण सुखादि को और उन सवोंके अभावों को उन्हीं में डुबाते हुए—ईश्वर परमात्मा में ही समाविष्ट हो जाते हैं। इस कारण से ही यह उपोद्घात शब्द सिद्ध होता है 'उप' शब्द का अर्थ यह होता है कि—आत्मा के समीप में टंकना के सदृश ईश्वर का अभिज्ञान-पहचान रूप उत्कर्ष जिससे पहुँचा दिया जाय उसी की उपोद्घात संज्ञा होती है, और इतना ही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है, इसलिए भी यह उपोद्घात है। उपांशु=एकान्त में फैलने न देकर सभी शास्त्रों के ऊपर प्रमेय विषय को हटाते हुए जिससे आत्मा को उठाया जाय वही उपोद्घात है। गतिरूप अर्थ होने के कारण 'हन्' धातु

स्थावरपर्यन्त वह सर्वज्ञ शिव ही एक प्रमाता है। इसलिये रामावतार कालमें मैं नहीं था यह बात नहीं है अपितु मैं उस समय में भी था जो कि दूसरे प्रमाता में संवेदन ज्ञान से वक्ता ही उस काल का अनुभव करने वाला है।

१. चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं प्रचक्षते।
प्रसक्तानुप्रसक्तादि प्रस्तुताद्उपजायते॥

बुद्धि में प्रतिपाद्य विषय का संग्रह कर उसके अर्थ को अर्थान्तर से कहना ही उपोद्घात कहलाता है। प्रकृत प्रसंग के विचार-विमर्श को सिद्ध करने के लिए यथाक्रम वर्णन करते हुए रखना ही उपोद्घात है।

स्त्रियं गच्छति—इत्येतद्विषयामेव हन्त्यर्थमाहुः । एवं श्लोकचतुष्टयार्थभावनादार्ढ्यादिव लभ्यते परमशिवः—इति शिवम् ॥ ५ ॥

इति श्रीमदाचार्योत्पलदेवशिष्य—श्रीमदाचार्यलक्ष्मणगुप्तदत्तोपदेश—श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तविरचितायां श्रीप्रत्यभिज्ञाविमर्शिन्यां ज्ञानाधिकारे उपोद्घाताख्यं प्रथममाह्निकम् ॥ १ ॥



अथ प्रथमे ज्ञानाधिकारे पूर्वपक्षविवृत्याख्यं द्वितीयमाह्निकम्

पूर्वपक्षतया येन विश्वमाभास्य भेदतः ।
अभेदोत्तरपक्षान्तर्नीयते तं स्तुमः शिवम् ॥

इह यत् परमार्थरूपं तद् आशङ्क्यमानप्रतिपक्षप्रतिक्षेपेण निरूपयिष्यमाणं सुष्ठुतमां स्पष्टीकृतं भवति । यदाह भट्टनारायणः ।

'नमस्ते भवसंभ्रान्तभ्रान्तिमुद्भाव्य भिन्दते ।
ज्ञानानन्दं च निर्द्वन्द्वं देव वृत्वा विवृण्वते ॥'

तत्रेह अनात्मानीश्वरवादिनां भ्रान्तिभेदनपूर्वकं परमार्थं विवरीष्यन् तदुद्भावनं तावत् एकादशभिः श्लोकैः करोति 'ननु स्वलक्षणाभासम्·····।' इत्यादिभिः '·····तेन कर्तापि कल्पितः ॥' इत्यन्तैः । तत्र श्लोकद्वयेन आत्मनो ध्रुवस्य दृश्यानुपलब्ध्या अभाव उक्तः प्रत्यक्षात्मवादिनः

का ज्ञान रूप भी अर्थ निकलता है, जिसके द्वारा प्रमेय विषय का ज्ञान होता हो । कुछ लोग तो स्त्री के समीप जाने में ही 'हन्' को गति-अर्थक मानते हैं ।

इस प्रकार चारों श्लोकों की अर्थ भावना को हृदय में दृढ कर देने से परम शिव की प्राप्ति होती है ॥ ५ ॥

प्रथम आह्निक समाप्त

जो पूर्वपक्ष के द्वारा विश्व को भेद पूर्वक आभासित कर उत्तरपक्ष को अद्वैत-अभेद के भीतर ले जाता है उस शिवकी हम स्तुति करते हैं ।

यहाँ पर जो परमार्थ रूप है उस पर आशंका करने वाले प्रतिपक्षी का उत्तर देकर निरूपण किया जाना अच्छा होता है । जैसा कि भट्टनारायण ने भी इस विषय में कहा है 'हे देव ? आपको नमस्कार हो ।' आप संसार की भ्रान्ति को बनाकर फिर उसका विनाश करते हैं तथा सुख-दुख के द्वन्दों से विनिर्मुक्त ज्ञानानन्द को विवरण करके प्राप्त करा देते हैं ।'

अनात्मा के विषय में अनीश्वर-वादियों की जो भ्रान्ति है उसे दूर करते हुए परमार्थ स्वरूप का विवरण करेंगे और उसका उत्थापन ग्यारह श्लोकोंसे करते हैं 'ननु स्वलक्षणाभासम्···।' इत्यादि से लेकर '···तेन कर्तापि कल्पितः ॥' दो श्लोक से नित्य आत्मा का दृश्य के अभाव की

प्रति । तत्र श्लोकत्रयेण स्मृत्यनुसंधानं संस्कारात् सिद्धम्—इति अन्यथासिद्धत्वात् आत्मानुमानाय न पर्याप्तम्—इति प्रोक्तम् अनुमेयात्मवादिनः प्रति । तत्र श्लोकेन ज्ञानादिगुणैर्गुणिनि प्रतिपत्तिः—इति अनुमानं निरस्तम् । एवम् आत्मानं निराकृत्य, ततो ज्ञानक्रियाशक्तिसंबन्धरूपमैश्वर्यं निराकर्तुं ज्ञानस्य स्वरूपमेव व्यतिरिक्तं बाह्यन्तरमते, सांख्यमते च अयुज्यमानम्—इति निरूपितं श्लोकद्वयेन । तत एकेन क्रिया नाम न काचित् क्वचिदपि अस्ति—इति कथितं । तत्र साधकं प्रतिक्षिप्य बाधकं च उपन्यस्यति । ततः संबन्धस्य श्लोकेन नास्तित्वं प्रतिपादितं प्रमाणाभावं वदता । श्लोकेनैव तत्र बाधकं प्रमाणमुक्त्वा, न आत्मा स्थिरो, नापि ज्ञातृत्वकर्तृत्वलक्षणम् अस्य ऐश्वर्यम्—इति स्वपक्ष उपसंहृतः—इति पूर्वपक्षस्य पिण्डार्थः ।

अथ ग्रन्थो व्याख्यायते

ननु स्वलक्षणाभासं ज्ञानमेकं परं पुनः ।
साभिलापं विकल्पाख्यं बहुधा नापि तद्द्वयम् ॥ १ ॥
नित्यस्य कस्यचिद्द्रष्टुस्तस्यात्रानवभासतः ।
अहंप्रतीतिरप्येषा शरीराद्यवसायिनी ॥ २ ॥

उपलब्धि से अभाव कहा गया है, मानसप्रत्यक्षात्म-अद्वैत-शैव-मतावलम्बियों के लिए । तीन श्लोकोंसे संस्कार के द्वारा स्मृति का अनुसन्धान सिद्ध किया जायेगा—अन्यथा सिद्ध होने के कारण आत्मा के विषय में अनुमान करना पर्याप्त नहीं होगा—यह अनुमेय आत्मवादी नैयायिकों के लिए कहा हुआ है । अनन्तर एक श्लोक से ज्ञानादि गुणों के द्वारा गुणवान् आत्मा का ज्ञान होता है तार्किक मत से । इस प्रकार से अनुमान को निरस्त कर दिया गया । आत्मा का निरास करके ज्ञान, क्रिया-शक्ति के सम्बन्ध रूप ऐश्वर्य को निरस्त करने के लिए ज्ञान का स्वरूप भिन्न होता है यह दूसरे वादियों के सिद्धान्त की बात है । और इसके पश्चात् दो श्लोक से यह अयुक्त है सांख्यमत में इसका निरूपण किया जायेगा । इसके बाद क्रिया नाम की कोई चीज हो नहीं है जो कि कहीं पर किसी को देखने में आयो हो—ऐसा बताया है । साधक प्रमाण का खण्डन करके बाधक प्रमाण का उपपादन करेंगे । इसके बाद एक श्लोक से ज्ञान-क्रिया के सम्बन्ध का अभाव प्रमाणाभाव के कारण से होता है यह बताया गया है । और एक श्लोक से बाधक प्रमाण कहकर, आत्मा स्थिर नहीं है और न तो उसका (ज्ञातृत्व-कर्तृत्व) जानना और करना घटित होता है और इसका ऐश्वर्य है, यह अपने पक्ष का उपसंहार किया हुआ है और यही पूर्वपक्ष का निचोड़ है ।

अब ग्रन्थकी व्याख्या करते हैं—अपने आप ही भासित होने वाला स्वयंप्रकाश ज्ञान हो एक श्रेष्ठ पदार्थ है विकल्प रूप अपना ही अभिलाप है बहुतसे या दो प्रकार के भो विकल्प नहीं होते हैं ॥ १ ॥

क्योंकि नित्य द्रष्टा यहाँ कोई भासित नहीं होता है । अहंप्रतीति यह जो होती है वह शरीर को ही विषय करती है ॥ २ ॥

'ननु' इति आक्षेपे; इह आत्मा संवित्स्वभावः स्थिरः—इति तावदयुक्तम्, स्थिरस्य स्वप्रकाशस्य अप्रकाशनात्। तथाहि—घटप्रकाशो, घटविकल्पो, घटप्रत्यभिज्ञा, घटस्मृतिः, घटोत्प्रेक्षा—इत्यादिरूपेण ज्ञानान्येव प्रकाशन्ते, भिन्नकालानि भिन्नविषयाणि भिन्नाकाराणि च।

तत्र नीलप्रकाशः 'स्वलक्षणाभासं ज्ञानं'। 'स्वम्' अन्याननुयायि स्वरूपसंकोचभागि 'लक्षणं' देशकालाकाररूपं यस्य तस्य 'आभासः' प्रकाशनम् अन्तर्मुखं यस्मिन् बहिर्मुखीनस्वरूपधारिणि ज्ञाने तत् अविकल्पकं, विषयभेदेऽपि एकजातीयं स्वरूपे, तद्वैचित्र्ये कारणाभावात्। विकल्पे हि वैचित्र्यकारणम् अभिलापः, स च अत्र नास्ति; नहि अभिलापो नीलस्य धर्मः, नच चक्षुर्ग्राह्यः, ततोऽसौ प्राच्यः स्मर्तव्यः, अप्रबुद्धे च संस्कारे न स्मृतिः, तत्प्रबोधश्च वस्तुदर्शनोत्थितः—इति वस्तुदर्शनसमयेऽभिलापस्मृतिर्नास्ति। ततः 'परं' विकल्पकं ज्ञानं, सर्वस्य विकल्पस्य साक्षात्, पारम्पर्येण वा निर्विकल्पकमूलत्वात्। 'परम्' इति च अन्यरूपं सामान्यलक्षणं तस्य विषयः, स्वलक्षणेऽतिसंकोचिनि विततविकल्पसाध्यस्य वृद्धव्यावहारिकस्य, औपदेशिकस्य वा संकेतस्य कर्तुम् अशक्यत्वात्, कृतस्यापि वैयर्थ्यात्, तेन हि अननुयायिना न पुनर्व्यवहारः। तच्च बहुभेदं,

'ननु' शब्द का प्रयोग कहे हुए सिद्धान्त का निराकरण करने के लिए किया गया है। ज्ञान, क्रिया-शक्ति से युक्त संवित् ज्ञान का स्वरूप है। 'ननु' आक्षेप अर्थ में भी है; आत्मा संविद्रूप स्वभाव वाला एवं स्थिर नित्य है यह कहना कोई युक्तियुक्त नहीं है, स्थिर स्वभाव वाला जो स्वप्रकाश है उसका प्रकाश न होने के कारण। देखो—घट का प्रकाश हुआ, घट का विकल्प हुआ, घट की प्रत्यभिज्ञा हुई और घट की स्मृति हुई एवं घट की उत्प्रेक्षा हुई—इत्यादि जो कुछ है वह सब ज्ञानरूप से भासित होता है, जो कि भिन्न कालवाले, भिन्न विषयवाले और भिन्न आकार-प्रकारवाले हैं। [क्योंकि ज्ञानों की क्षणिकता होने से] नील प्रकाश निर्विकल्परूप है 'स्वलक्षणाभासं ज्ञानं' वह अपने स्वरूप का आभासरूप ज्ञान है। दूसरों का अनुकरण नहीं करता है अपने स्वरूप का संकोच करनेवाला होता है 'लक्षणं' देश, काल और आकाररूप लक्षण है जिसका। उसी का आभास-प्रकाश अन्तर्मुख रहता है, बहिर्मुख स्वरूपधारी ज्ञान में अविकल्प स्थिर रहता है, विषय के भेद होने पर भी अपने स्वरूप में एक जातीय ही रहता है, उसकी विचित्रता में कारण का अभाव होने से। क्योंकि विकल्प में विचित्रता का कारण अभिलाप होता है और वह इसमें नहीं है; अभिलाप नीलका धर्म नहीं है और चक्षु इन्द्रिय से ग्रहण भी नहीं होता, इसलिए वह समयरूप से स्मरणीय है और जबतक संस्कार उद्‌बुद्ध नहीं होता तबतक स्मृति नहीं होती है, उसका ज्ञान वस्तु के दर्शन से ही होता है—इस प्रकार वस्तु-पदार्थ के दर्शन के समय में अभिलाप की स्मृति नहीं होती है। इसलिए 'परं विकल्पं ज्ञानं' सब से अच्छा ज्ञान विकल्प का होता है; क्योंकि वह सभी विकल्पों का साक्षात् या परम्परा रूप से निर्विकल्पमूलक रहता है। 'परं' इसका तात्पर्य यह है कि अन्यरूप सामान्यलक्षण उसका विषय है, अपने लक्षण में जो अति संकोचशील है जिसका विकल्प साध्य वृद्धजनों से व्यवहार करने योग्य या औपदेशिक संकोच करने के लिए अशक्य होता है, संकोच करना भी उसका निरर्थक है, क्योंकि वह किसी का अनुयायी नहीं होता और उसका फिर से व्यवहार भी नहीं हो सकता एवं उसमें अनेक भेद भी मिलेंगे; क्योंकि सङ्कल्पात्मक अभिलाप होने से वह कथन रूप होने के कारण साथ में हो रहता है

यतस्तत् अभिलापेन[1] संजल्पात्मना शब्दनरूपेण सह वर्तते। शब्दनं च इदम्—इति, तत्—इति, तदिदम्—इति, भवेदिदम्—इति, इदं वा इदम्—इत्यादि 'बहुधा' भिद्यते। तच्च न विषयपक्षे वर्तते, अपि तु तस्य विकल्पस्य स्वरूपमेव विचित्रीकुर्वत् प्रतिभाति—इति विकल्पो बहुभेदः।

एवम् अनुभवविकल्पपरम्परा तावत् स्वप्रकाशत्वेन भाति। स्यादेतत्, यल्लग्नासौ परम्परा सोऽपि आभाति—इति; तन्न, यतो द्वयमपि एतद् अविकल्पेतररूपं न अन्यस्य 'कस्यचित्' एतदतिरिक्तस्य 'द्रष्टुः' अनुभवितुः सम्बन्धि, दृश्यस्य तु भवतु बाह्यार्थवादे। अत्र हेतुः—यतः 'तस्य' द्रष्टुः, अत एव संवित्स्वभावतोपगमात् स्वप्रकाशतायोग्यत्वात् आपन्नोपलब्धिलक्षणप्राप्तेः; 'अत्र' एतद्बोधद्वयमध्ये नास्ति अवभासः। ननु अस्त्येव अवभासः—इति असिद्धा दृश्यानुपलब्धिः।

तथाहि–अहं वेद्मि, निश्चिनोमि, स्मरामि इदम्–इति विदादिप्रकृत्यर्थरूपात् ज्ञानस्मृत्यादेः, इदम्—इति च कर्मरूपात् विषयात् अतिरिक्तमेव अहम्—इति अनुयायिनि प्रकाशे अनुयायि रूपं भाति। क एवमाह भाति—इति ?। भानं हि अविकल्पकम्, अहम्—इति शब्दानुविद्धो

और इसका कथन भी यही होता है, वही यह है. यह ऐसा होगा, इस तरह इसके बहुत से 'बहुधा' भेद हो जाते हैं और वह प्रतिद्वन्द्वी के पक्ष में नहीं है अपितु, उस विकल्प के स्वरूप को ही चित्र-विचित्र करता हुआ स्वरूप से भासित होता है—इस प्रकार विकल्प भी बहुत भेदवाला होता है। एवं अनुभव-विकल्पों की धारा पहले स्वप्रकाशरूप से भासती है। यह हो सकता है, इसकी अपेक्षा जो उसमें मिला रहता है वह भी भासित होता है; क्योंकि ये दोनों अविकल्प और विकल्प से भिन्न रूप में किसी 'द्रष्टुः' द्रष्टा का अथवा तो अनुभव करनेवाले का सम्बन्धी नहीं हो सकता, किन्तु दृश्य का तो बाह्यार्थवादी के मत में हो सकता है। इसमें हेतु दिखाते हैं—क्योंकि 'तस्य' उस द्रष्टा का हो सकता है, इसलिए होता है कि संविद्रूप ज्ञान स्वभाव की प्राप्ति कर लेने के कारण अपने प्रकाश की योग्यता होने से, उपलब्धि की प्राप्ति होने से; 'अत्र' इन दोनों के ज्ञान के बीच में आभास नहीं है। 'ननु' कहकर शंका उठाते हैं कि अवभास रहता ही है दृश्य को अनुपलब्धि [अप्राप्ति] असिद्ध हो गयी जो सिद्ध है तब फिर दृश्य की उपलब्धि कैसे होगी। उसी प्रकार से होती है कि मैं जानता हूँ, मैं निश्चय करता हूँ और इसको मैं स्मरण करता हूँ—इत्यादि जो विदादि धातुओं के प्रकृत्यर्थ ज्ञान, स्मृति वगैरह है उन कर्मरूप विषयों से 'अहं' अतिरिक्त-भिन्न वस्तु है—इस प्रकार इच्छा करनेवाले के प्रकाश में अनुयायी रूप से भासता है। कौन कहता है कि भासता है ? क्योंकि भान तो अविकल्प ही होता है अहं जो है वह तो अहं शब्द से अनुविद्ध-

---

१. अभिलाप विषय की परवशता का त्याग करा कर बोध स्वातन्त्र्य रूप होने के कारण विषय को तादात्म्यरूप में ले आता है, व्यक्तरूप से प्रमाता का साक्षात्कार करने तक परामर्श किया जाना ही अभिलाप है, आन्तर शब्द वाला संजल्प कहलाता है। श्री भर्तृहरि ने भी कहा है—

सोऽयमित्यभिसम्बन्धाद्रूपमेकीकृतं यदा।
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते॥

विकल्पप्रत्ययः। ननु तथापि किम् अनेन विकल्प्यते, शरीरसन्तानो वा कृशोऽहम्—इत्यादिप्रत्ययात्, ज्ञानसन्तानो वा सुख्यहम्—इत्यादिप्रतीतेः। मत्वर्थीयश्च सन्तानमेव स्पृशति नातिरिक्तम्। तदेतदुक्तम्—'अहंप्रतीतिरपि' शरीरम्, आदिग्रहणात् ज्ञानम् अवस्यति, सन्तानरूपतया विकल्पयति अवश्यं; सदृशापरापरभावभेदग्रहणसामर्थ्यवासनाविष्टत्वात्—इति। 'एषा' इति न अस्माभिर्निह्नुता, 'साभिलापं विकल्पाख्यम्' इत्यनेन संगृहीतत्वात्। एतदुक्तं भवति—अहंप्रतीतिरेव तावत् न आत्मा, तस्या अपि विकल्परूपत्वात् अस्थैर्याच्च। एतत्प्रतीतिप्रत्ययेयोऽपि नास्ति अन्यः शरीरादेः, भवन्नपि वा वेद्यपक्षपतितः स्यात्—इति। तथापि संवित्संवेद्यव्यति-

अनुगत होकर विकल्प का बोध कराता है। प्रश्न करते हैं कि इससे तुम क्या विकल्प करते हो, 'मैं कृश हूँ' इत्यादि प्रत्यय से शरीर-सन्तान का विकल्प करते हो ? या 'मैं सुखी हूँ' इत्यादि ज्ञान सन्तान का विकल्प करते हो ? क्योंकि मत्वथीर्यं जो प्रत्यय है वह सन्तान को ही स्पर्श करता है किसी अन्य को नहीं। इसीलिए यही कहा जाता है कि अहं-प्रतीति भी शरीर को ही स्पर्श करती है आदि ग्रहण से ज्ञान को भी लिया जाता है, सन्तान रूप से अवश्य विकल्पित किया जा सकता है, सदृश अन्य-अन्य भाव-भेद के ग्रहण-सामर्थ्य की वासना से आविष्ट होने के कारण। 'एष' शब्द से साभिलाप जो विकल्प है हमने उसको नहीं छिपाया है किन्तु उसका संग्रह कर दिया है। इसका यह निचोड़ निकलता है कि अहं शब्द से जो प्रतीति होती है वह आत्मा को विषय नहीं करती; क्योंकि वह भी तो विकल्परूप है और अस्थिर है। शरीरादि से भिन्न इस प्रतीति का दूसरा कोई विषय नहीं होता यदि हो तो भी वेद्य का ही पक्षपात करनेवाला होगा। फिर भी

१. अनादि अनवच्छिन्न धारा से प्रवृत्त हुए ज्ञानों का कार्य-कारण-भावरूप प्रवाह ही सन्तान है। 'अहं' प्रतीति से मैं जानता हूँ, मैं देखता हूँ—इस प्रकार अनुभव से शरीर-सन्तान अथवा ज्ञान-सन्तान का निश्चय करता है, इससे अतिरिक्त कोई ज्ञाता अथवा द्रष्टा का ज्ञापन नहीं हो रहा है—ऐसा सौगतों का कहना है।

२. आत्मानमात्मनात्मैव लिङ्गादनुमिनोति हि।
तत्र नूनमुपेतव्या कर्तृता कर्मतास्य च॥
तत्रानुमानज्ञानस्य यथात्मा याति कर्मताम्।
तथाऽहं-प्रत्ययस्यैव प्रत्यक्षस्यापि गच्छतु॥
देहादिव्यतिरिक्तश्च यथा लिङ्गेन गम्यते।
तथाऽहं प्रत्ययेनापि गम्यतां तद्विलक्षणः॥

अपने ही लिङ्ग से आत्मा का अनुमान होता है। इसलिए उसमें निश्चय ही उसकी कर्तृता और कर्मता को मानना पड़ेगा। जैसा कि आत्मा अनुमान ज्ञान का कर्म होता है उसी प्रकार ही वह प्रत्यक्ष अहंप्रत्यय की कर्मता को प्राप्त करे। देहादि से भिन्न आत्मा जिस प्रकार अपने लिङ्ग से जाना जाता है उसी प्रकार अहं प्रत्यय से भी उसको विलक्षण होने के कारण जाना जाय।

अब प्रश्न करते हैं कि आत्मा का जो रूप है क्या वह प्रत्यय साक्षात् किया जाता है, यदि सुखादि आत्मा का रूप है तो उसका मानस प्रत्यक्ष होगा ?

शंका होती है कि आनन्दादि स्वभाव प्रसिद्ध ही रूप सुखादि का है, तब तो उसको आधारता से अपनी आत्मा का भी रूप जानना चाहिए—

रिक्तस्य आत्मनो न सिद्धिः—इत्येतत् अपिशब्देन द्योतितम्। एवं नास्ति आत्मा संवित्संवेद्यव्यतिरिक्तो दृश्यस्य अनुपलब्धेः—इति ॥ २ ॥

अत्र आत्मवाद्यनुमानमुत्थापयितुमाह—

अथानुभवविध्वंसे स्मृतिस्तदनुरोधिनी ।
कथं भवेन्न नित्यः स्यादात्मा यद्यनुभावकः ॥ ३ ॥

इह स्मृतिकाले सुस्मूर्षितोऽर्थो भवतु, ध्वंसतां वा—इति किम् अनेन, अनुभवस्तावत् ध्वस्तः—इत्यत्र सर्वस्य अविवादः, तमेव च अनुरुन्धाना स्मृतिर्जायते। तथाहि—स्मृतौ न अर्थस्य प्रकाशः, न अध्यवसायः, नापि अनुभवस्य, अर्थस्य च अङ्गुलिद्वयवत्, नापि अनुभवविशिष्टस्य

ज्ञान-संवित् संवेद्य से भिन्न आत्मा की सिद्धि नहीं हो सकेगी। यह 'अपि' शब्द से द्योतित होता है। [संवित् ज्ञान-सन्तान और संवेद्य शरीर-सन्तान है, उन दोनों से भिन्न है।] इसलिए मानना पड़ेगा कि दृश्य की अनुपब्धि के कारण संवित् संवेद्य से भिन्न आत्मा नहीं है ॥ २ ॥

आत्मवादी अनुमान का उत्थापन करने के लिए कहते हैं—

अनुभव के ध्वंस हो जाने पर भी स्मृति उस अनुभव को स्थिर रखती है। यदि आत्मा अनुभव करने वाला नित्य न होता तो स्मृति किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती है ॥ ३ ॥

स्मृतिकाल में सूक्ष्मरूप से अर्थ स्मृत हो जाय अथवा ध्वस्त हो जाय—इससे क्या प्रयोजन, अनुभव तो विनष्ट हो जाता है इस विषय में किसी को भी विवाद नहीं है, और उसी अनुभव को स्थिर करती हुई स्मृति पैदा होती है। जैसा कि—स्मृति में अर्थ का प्रकाश नहीं होता है, और न निश्चय रूप से अध्यवसाय ही होता है, एवं अनुभव भी नहीं होता है, और अर्थ का दो अङ्गुली के जैसा समानरूप से प्रकाश होता है, न तो अनुभव विशिष्ट अर्थ का

सुखादि चेत्यमानं हि स्वतंत्रं नानुभूयते ।
मतुबर्थानुवेधस्तु सिद्धं ग्रहणमात्मनः ॥
इदं सुखमिदं ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत् ।
अहं सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ॥

अपि च

ज्ञातृज्ञानविशिष्टार्थग्रहणं किल भाष्यकृत् ।
स्वयं प्रादीदृशत्तच्च किं वा युक्तमुपेक्षितुम् ॥
विशेष्यबुद्धिमिच्छन्ति नागृहीतविशेषणाम् ।

अनुभव में आया हुआ सुखादि भी स्वतन्त्र रूप से अनुभूत नहीं होता है 'मतुप्' को लगा देने पर तो आत्मा का ग्रहण होना सम्भव है। यह सुख है, यह ज्ञान है ऐसा घटादि के समान नहीं दिखता है किन्तु मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञाता हूँ, यह प्रकाशित होता है।

इस वात को भाष्यकार ने भी बताया है—ज्ञाता के ज्ञान से विशिष्ट ही अर्थ ग्रहण होता है। स्वयं उन्होंने इसको बता दिया है इसलिए यह उपेक्षा करने योग्य नहीं है। अत एव विशेष बुद्धि को ही चाहते हैं विशेषण को नहीं ग्रहण करना चाहिए।

अर्थस्य दण्डिवत्, सर्वत्र अयम्—इति प्रत्ययप्रसङ्गात्; किन्तु अनुभवप्रकाश एव स्मृतौ प्रधानम्, अनुभवस्य तु अर्थप्रकाशात्मकत्वात् अनुभवप्रकाशनान्तरीयकोऽर्थावभासः—इति। सर्वथा यदि अनुभवो ध्वस्तः, तदा तत्प्रकाशरूपा कथं स्मृतिस्तद्द्वारेण अर्थविषया स्यात्, तया च सर्वो व्यवहारः क्रियमाणो दृष्टः—इत्यसौ स्वरूपेण अनपह्नवनीया, सति अनुभवस्य नाशे, किञ्चित् अविनष्टम् आवेदयति। तदेव च अनुभवकर्तृ अनुभवितृरूपम्, आत्मा अनुभावको नित्यः—इति इयदेव च आत्मसिद्धेर्जीवितम्। तत्तु न अधिकम् इहैव उन्मीलितम् आचार्येण, वक्तव्यशेषविवक्षया पूर्वपक्षो मा तावत् समापत्—इत्याशयेन 'कथंभवेत्' इति। अर्थस्तावत् तस्याम् अकिञ्चित्करः।

अनुभवश्च ध्वस्तः—इति न केनचित्प्रकारेण स्मृतिः स्यात्, तदभावे च संकेतशब्दस्मृत्यायत्ता अपि अस्तङ्गताः सर्वे विकल्पाः, निर्विकल्पं च अन्धमूकबधिरप्रायम्—इति हन्त निराक्रन्दम् अवसीदेत् विश्वम्—इति॥ ३॥

इह कार्यव्यतिरेकेण तादृक् कल्पनीयं यत् कार्यसिद्धये पर्याप्नोति, न चैवम् आत्मा, अर्थो हि तावत् स्मर्यते, स च अनुभवप्रकाशमुखेन, अनुभवश्च ध्वस्तः–इत्युक्तं; यदि आत्मा कश्चिदस्ति, किं तेन। एतदपि हि वक्तव्यम्—आकाशमपि अस्ति—इति। अथ उच्यते—न केवलेन आत्मना

दण्डीपुरुष की तरह प्रकाश होता है, किन्तु स्मृति में अनुभव प्रकाश ही प्रधान है, अनुभव तो अर्थप्रकाशात्मक है अनुभव प्रकाश के बिना अर्थ का अवभास नहीं होता, यदि सब प्रकार से अनुभव का ध्वंस हो जायेगा, तब तो अनुभवसे प्रकाशित होनेवाली स्मृति अर्थविषयक कैसे सम्भव हो सकेगी, और उस स्मृति से ही समस्त क्रियमाण व्यवहार होता हुआ देखा जाता है, इसलिए इसको स्वरूप से हटा नहीं सकते हो, अनुभव के नाश हो जाने पर कुछ अविनष्ट संस्कार का ज्ञापन होता है, इसीलिए उसे अनुभवकर्ता और अनुभविता कहा जायेगा, आत्मा अनुभव करने वाला नित्य है और इतना ही आत्मसिद्धि का जीवन है। इससे अधिक नहीं है, इसी में आचार्य ने दिखाया है, अभी करने के लिए कुछ शेष रह गया है इस विवक्षा से पूर्वपक्ष प्रायः समाप्त न हो जाय; इस अभिप्राय से 'कथं भवेत्' यह पद दिया गया है। अर्थ उस स्मृति में कुछ भी नहीं है, विषय की सत्ता स्मृति में अनपेक्षणीय है, और अनुभव तो विनष्ट हो गया, तब फिर स्मृति कैसे सम्भव हो सकेगी, अर्थात् स्मृतिका किसी भी प्रकारसे होना सम्भव नहीं दीखता, और स्मृति का अभाव हो जाने पर संकेत शब्द स्मृति के आधीन होता हुआ भी सभी विकल्प नष्ट ही हो जाते हैं, और निर्विकल्प तो फिर अन्धे एवं बहरे के जैसा ही प्रायः हो जाता है; बड़े दुःख की बात है। अब इसके लिए चिल्लाना निरर्थक ही है यह विश्व दुःखमय हो जायेगा॥ ३॥

कार्य से भिन्न ऐसा जो कार्यानुकूल उस कार्यको पैदा करनेवाले कारण की कल्पना करनी चाहिए जो कि सिद्धि के लिए पर्याप्त हो, और जो आत्मा नहीं है, अर्थ विषय का ही स्मरण किया जाता है और वह अर्थप्रकाश अनुभवप्रकाश के माध्यम से होना चाहिए, किन्तु अनुभवप्रकाश विनष्ट हो जाता है, इस विषय में जो कहना था सो कह दिया गया है; यदि आत्मा नाम की कोई वस्तु है तो फिर उससे किसी का कुछ भी प्रयोजन सिद्ध होता नहीं

एतत् सिद्ध्यति, अपितु अनुभवसंस्कारोऽपि अत्र उपयोगी—इति, तर्हि स एवास्तु, किम् आत्मना ?—तत् एतत् दर्शयति—

सत्याप्यात्मनि दृङ्नाशात्तद्द्वारा दृष्टवस्तुषु ।
स्मृतिः केन

'दृष्टेषु' अनुभूतेषु 'वस्तुषु' या 'स्मृतिः' तस्याम् अनुभवो दृगात्मा 'द्वारम्' अर्थांशस्पर्शे, स च 'सत्यपि आत्मनि' नष्टोऽनुभवः तस्य हि अनाशे इदम्—इत्येष एव अत्रुटितः प्रकाशः—इति का स्मृतिः, तदनुभविता किं स्मृतेः कुर्यात्—इति ॥

अथ यत्रैवानुभवस्तत्पदैव सा ॥ ४ ॥

'यत्रैव' विषये 'अनुभवो' वृत्तः 'तदेव' तस्या स्मृतेः 'पदं' स्मर्यमाणम् । तत्पदा—इति बहुव्रीहिः, 'सा' इति स्मृतिः ॥ ४ ॥

ननु ज्ञानान्तरस्य विषयेण कथं तस्याः विषयित्वाभिमानः—इत्याशङ्क्याह—

यतो हि पूर्वानुभवसंस्कारात्स्मृतिसंभवः ।

दिखाई देता; यह भी कहना चाहिए कि आकाश भी कोई वस्तु है ? ऐसी स्थिति में यही कहा जाता है कि—आत्मा से कुछ भी सिद्ध होनेवाला नहीं है, अपितु अनुभव संस्कार ही इसमें उपयोगी होगा, तब तो, अनुभव संस्कार ही स्मृति में उपयोगी रहे, आत्मा से क्या सिद्ध होने वाला होगा ? उसे दिखाया जाता है—

आत्मा के ही रहने से दृष्टि के नष्ट हो जाने पर भी दृष्ट वस्तु का स्मरण होता है, यदि आत्मा को नहीं मानते हो तो फिर कौन स्मरण करेगा ·····॥

'दृष्टेषु' दृष्ट—अनुभूत वस्तुओं में जो स्मृति होती है उस स्मृति में अनुभव ज्ञानात्मा अर्थविषयक अंश का द्वार है, और वह 'सत्यपि आत्मनि' आत्मा के रहने पर भी अनुभव नष्ट हो जाता है, उस अनुभव के नित्य रहने पर यह घट-पद है—ऐसा लगातार प्रकाश होता रहेगा। अतः स्मृति की क्या जरूरत रह जायेगी ? हम अनुभव को ही नित्य मान लेंगे और इसीसे हमारा कार्य सम्पन्न हो जायेगा। स्मृति में अनुभवकर्ता को मान कर क्या करेंगे।

जिस अर्थ विषय में अनुभव होता है उस विषय के अर्थ की ही स्मृति होती है ॥ ४ ॥

'यत्रैव' जिस विषय में अनुभव होता है। जैसे घट-पद का अनुभव हुआ तो घट-पद का स्मरण भी घट-पद से ही होगा। और उसी विषय का स्मरण होता है, जो पद अनुभव का विषय है वही पद स्मृति का भी विषय होता है, 'तत्पदं यस्यां स्मृतौ सा तत्पदा स्मृतिः', कारिका में 'सा' यह स्मृतिपद से लिया हुआ है ॥ ४ ॥

अब शङ्का करते हैं कि जो अनुभव का विषय है वह स्मृति का विषय कैसे बनेगा, क्योंकि अनुभव तो नष्ट हो गया फिर उसका विषय स्मृति नहीं बनेगी, इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं—

क्योंकि पूर्व के अनुभव-संस्कार से ही स्मृति सम्भव है।

अनुभवेन हि संस्कारो जन्यते स्वोचितः, संस्कारश्च प्राक्तनरूपां स्थितिं स्थापयति, आकृष्ट-शाखादेश्चिरसंवर्तितस्य विवर्त्यमानस्य भूर्जदेः। तेन अत्रापि संस्कारः तां स्मृतिं पूर्वानुभवानु-कारिणीं करोति—इति तद्विषय एव स्मृतेर्विषयः॥

यद्येवमन्तर्गडुना कोऽर्थः स्यात्स्थायिनात्मना ॥ ५ ॥

एवं तर्हि 'अन्तर्गडुः' यथा आयासाय परं, तद्वत् आत्मा स्थिरः कल्पनायासमात्रफलः—इति किं तेन, सर्वं हि संस्कारेण जगद्व्यवहारकुटुम्बकं कृतकरावलम्बम्—इति ॥ ५ ॥

ननु तस्यैव संस्कारस्य आश्रयो वक्तव्यः, स हि गुणत्वाद् आश्रयमपेक्षते, य आश्रयः स आत्मा स्यात्—इत्याशङ्क्याह—

ततो भिन्नेषु धर्मेषु तत्स्वरूपाविशेषतः।
संस्कारात्स्मृतिसिद्धौ स्यात्स्मर्ता द्रष्टेव कल्पितः[1] ॥ ६ ॥

अनुभव से संस्कार उत्पन्न होता है, यही उचित भी है। जैसा हमारा देखा रहेगा वैसा ही संस्कार होता है और वही संस्कार पूर्वकालीन स्थिति को स्थिर रखता है। किसी शाखा को खींचकर बड़ी देर तक रोके रखें तो भी वह बाद में जब छोड़ देते हैं तब पुनः अपने स्थान पर चली जाती है। इसलिए यहाँ पर भी संस्कार उस स्मृति को पूर्व अनुभव के अनुसार ही कराता है, अनुभव का विषय ही स्मृति का विषय है।

यदि ऐसी बात है तो केवल संस्कार से काम चल जायेगा एक स्थायी आत्मा को मानने से कौन सा प्रयोजन सिद्ध होनेवाला है। घेघ बड़े हुए गले के रोग के समान व्यर्थ ही आत्मा की सत्ता मानना है ॥ ५ ॥

जैसे 'घेघ' गले का फूल जाना केवल पीड़ा ही देता है, उसी प्रकार आत्मा को स्थिर मानना केवल कल्पना का कष्ट सहना है। उस आत्मा से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा, समस्त जगत का व्यवहार-परिवार संस्कार से ही हाथ में आजायेगा ॥ ५ ॥

'ननु' कहकर प्रश्न करते हैं कि तब फिर उस संस्कार का आश्रय कौन है यह कहना होगा, वही संस्कार गुण होने के कारण अपने आश्रय द्रव्य की अपेक्षा रखता है। उसका आश्रय द्रव्य है वही आत्मतत्त्व है—ऐसी आशङ्का कर उत्तर में कहते हैं कि—भिन्न-भिन्न धर्मों के रहते हुए आत्मा के स्वरूप में भेद न होने से संस्कारमात्र से ही स्मृति सिद्ध हो जाने पर द्रष्टा के समान स्मरण करनेवाला भी वही आत्मा है ॥ ६ ॥

---

१. जो संस्कार धर्मरूपी गुण है वह स्वतन्त्र नहीं होता है—इसका कोई न कोई धर्मी अवश्य होगा, यदि ज्ञान-सन्तान को ही संस्कार का धर्मी मान लिया जाये, तो पहले ज्ञानों से भिन्न कोई सन्तान ही नहीं बन पाता है जिससे ज्ञान सन्तान हो सके, यदि वह सन्तान ज्ञानों में ही संस्कार रूप से रहता है तो भी ऐसा कहना संगत नहीं हो सकता, अन्यत्र किया हुआ अनुभव का विषय, किसी अन्य में संस्कार रूप होकर स्मृति को पैदा नहीं कर सकता है, यह लोक में प्रसिद्ध नहीं है कि चैत्र को अनुभव हो और

इह संस्कारे जायमाने, यदि आत्मनो विशेषः, स तर्हि अव्यतिरिक्तः—इति न नित्य आत्मा स्यात्; अथ न कश्चित् अस्य विशेषः, तेन तर्हि किम्। अथ संस्कार एव अस्य विशेषः, तर्हि न व्यतिरिक्तोऽसौ—इति, पुनरपि अनित्ये ज्ञाने संस्कारः—इत्यायातम्। अनुभवाद्विशिष्टं विशिष्टस्मृत्याख्यकार्यकारि ज्ञानं परम्परया जायते–इति इयानेव संस्कारार्थः। अथ संस्कारात्मा व्यतिरिक्तो विशेषः, तस्य तर्हि किमसौ। संबन्धश्च व्यतिरिक्तो निराकरिष्यते। एवं ज्ञानसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्मा अपि विकल्पनीयाः। एतदाह—'ततः' इति आत्मनो 'भिन्नेषु धर्मेषु' अङ्गीक्रियमाणेषु तेषु सत्स्वपि, आत्मनः 'स्वरूपे' विशेषाभावात् स तावत् आत्मा स्मृतौ न व्याप्रियेत, अस्मर्तृरूपासंस्कृतरूपादिप्राच्यरूपानपायात्—इति 'संस्कारादेव स्मृतेः सिद्धिः'—इति। अहं स्मरामि—इति

अनित्य संस्कार जिसमें उत्पन्न हो जाय वह भी अनित्य क्यों न हो जाय, वह आत्मा तो संस्कार से भिन्न नहीं हुआ, इसीलिए आत्मा भी नित्य नहीं होगा; इसमें कोई विशेषता नहीं हुई, उस आत्मा से क्या लाभ होगा, संस्कार ही इसकी यदि विशेषता मानी जाय, तो वह आत्मा संस्कार से भिन्न नहीं हुआ; फिर भी अनित्य ज्ञान में संस्कार होता है यही बात सिद्ध हुई। अनुभव से विशिष्ट ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान से स्मृति नामक कार्य करनेवाला ज्ञान परम्परा द्वारा उत्पन्न होता है, यही सब संस्कार का अर्थ है। यह संस्काररूप आत्मा भिन्न विशेष हुआ, उस संस्कार का आश्रय आत्मा कैसे बनेगा। और इन दोनों का सम्बन्ध भी भिन्न नहीं मानेंगे। इस प्रकार ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म को भी मानना होगा। इसी बात को लेकर कहा है कि 'ततः' आत्मा के 'भिन्नेषु धर्मेषु' भिन्न-भिन्न धर्मों को स्वीकार करने पर भी आत्मा के 'स्वरूपे' स्वरूप में कोई भेद न होने के कारण वह आत्मा स्मृति में सम्मिलित नहीं होगा, स्मरणकर्ता होने से, संस्काररूप पूर्व का धर्म न होने से, इसी कारण 'संस्कार से ही स्मृति होती है' यह बात सिद्ध हुई। स्मरण करता हूँ; जो स्मरण करने

मैत्र को स्मृति हुई हो अर्थात् चैत्र-मैत्रादि प्रमाताओं के भेद होने के कारण ऐसा वृतान्त नहीं देखने में आया है। इसलिए अनुभव और संस्कार के अभेद को मानना पड़ता है, और वह स्वरूप से तो उपलब्ध होता नहीं देखा जाता है विलक्षण स्वभाव वाला होने के कारण—अतः आश्रय एक रहता है और अनुभव एवं संस्कार में आश्रय के द्वारा अभेद की सिद्धि हो जाने पर तो सुखादिकों की भी प्रतिसन्धि सिद्ध हो जाती है। इसलिए संस्कार का आश्रय एकमात्र आत्मा ही है और एक होने के कारण जो स्थिर है वही आत्मा है। पूर्वपक्षी के मत को लेकर शंका खड़ी करते हैं—आत्मा में संस्कार के अनुदित होने से तो पूर्व के समान अनित्य ही हो जायेगा, इसलिए संस्कार से ही पूर्वोक्त युक्ति से स्मृति की सिद्धि हो जाती है। जो कि मैं स्मरण करने वाला हूँ—ऐसा भासता है, तब तो अहं प्रतीति जो उसमें हो रही है वह आत्मा नहीं है क्षणिकता एवं अस्थिरता के कारण, वेद्य-वेदन से भिन्न कोई द्रष्टा या स्मर्ता रूप नहीं दिखायी देता है। संस्कार का उदय होने पर भी स्मृति में कोई बाधा नहीं पड़ती है उदित संस्कार होने पर तो उसके स्वरूप को अंश मात्र से भी विलक्षणता होने के कारण तथा वैलक्षण्य भाव तो संस्कार में ही रहता है यदि भिन्न होकर तो पूर्वापरी भाव नहीं बन सकता है क्योंकि तब तो अनित्य हो जायेगा भिन्न रहने पर तो वह कुछ भी नहीं रहेगा। इसलिए संस्कार का कुछ भी आश्रय न होने से स्मृति की उपपत्ति में बाधा पड़ेगी।

यः 'स्मर्ता' सोऽपि शरीरसंतानो, ज्ञानसंतानश्च अध्यवसीयते, यथा 'द्रष्टा'। पूर्वं हि उक्तम्—

'अहंप्रतीतिरप्येषा शरीराद्यवसायिनी।' (१।२।२)

इति। एवम् आत्मनि साधकं प्रमाणं प्रत्यक्षमनुमानं च पराकृतं, बाधकं च सूचितं—धर्मयोगे नित्यताहानिः, अन्यथा किं तेन। तदुक्तम्—

'वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत्सोऽनित्यः　　खतुल्यश्चेदसत्समः॥' इति॥ ६॥

इत्थम् आत्मानं निराकृत्य, तस्य ऐश्वर्यमपि निराकर्तुं, ज्ञानशक्तिमेव परीक्षितुमाह—

ज्ञानं च चित्स्वरूपं चेत् तद् अनित्यं किमात्मवत्।
अथापि　जडमेतस्य　कथमर्थप्रकाशता॥ ७॥

वाला है वह भी शरीर सन्तान-प्रवाह और ज्ञान-सन्तान-प्रवाह है, यही निश्चय किया जाता है। जैसा कि 'द्दष्टा' हमारे यहाँ सन्तान-प्रवाह है। क्योंकि यह बात हमने पूर्व में ही कह दी है "अहं प्रतीतिरप्येषा शरीराध्यवसायिनी।" (१-२-२) इस प्रकार आत्मा के विषय में साधक प्रमाण प्रत्यक्ष और अनुमान को हटा दिया, और बाधक प्रमाण को सूचित कर दिया। ज्ञानादि धर्म के योग होने पर नित्यता की हानि होगी, ये सभी नहीं रहेंगे तो, आत्मा भी नहीं रहेगा। इस विषय में कहा भी गया है—

वर्षा और ताप से आकाश का क्या बिगड़ता है। चूँकि वर्षा और ताप का फल तो चमड़े पर पड़ता है। यदि आत्मा चमड़े के समान है तो फिर आत्मा अनित्य हो जायेगा एवं आकाश के समान है तो फिर नहीं के बराबर होगा॥ ६॥

इस प्रकार आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं है, इस बात का निराकरण कर, उसके ऐश्वर्य निराकरणार्थ अब ज्ञान शक्ति की परीक्षा करने के लिए कहते हैं—

यदि ज्ञान चित्स्वरूप है तो क्या वह आत्मा की तरह अनित्य है और यदि उसे जडरूप मानोगे तो फिर पदार्थों का प्रकाश कैसे करेगा॥ ७॥

---

१. कल्पित जिसकी सिद्धि के लिए सम्भव नहीं होता है, तब फिर उसकी सिद्धि के लिए कल्पना नहीं हो सकेगी, जैसे अंकुर की सिद्धि के लिए आकाशपुष्प, इसलिए कोई नित्य आत्मा है—ऐसा मानना पड़ेगा, जो कि स्मरण का प्रतिसन्धान कराता है। इसमें कल्पना का नियमन करने वाला व्यापक ही होता है, नहीं तो, वह नहीं ठहर सकती, यदि वह समर्थ तभी उसकी सिद्धि के लिए कल्पना हो सकेगी। अन्यथा नहीं हो पायेगी। ऐसा न होने पर व्यापकत्व इसका विनष्ट ही हो जायेगा। इसीलिए इसकी सिद्धि के लिए कल्पना की जाती है और वह प्रभविष्णु विषयत्व से व्याप्त है। इसी कारण व्यापकत्व नहीं दिखायी देता और व्यापक की अनुपलब्धि हो रही है। अतः 'वर्षातपाभ्यामिति' इस वाक्य से ऐसा कहा है। जिसके रहने पर ही दूसरे की कल्पना होती है। उसी को हेतु बनाकर सब जगह हेतु मानना चाहिए क्योंकि हेतुओं की अनवस्था हो जायेगी।

पराभ्युपगमेन प्रसङ्गापादनम् एतत् पूर्वपक्षवादी करोति–प्रसङ्गविपर्ययलाभो मे भविष्यति- इति। तत्र आत्मवादी नित्यत्वम् आत्मन इत्थं ब्रूते—इह कालो नाम इदंभावविशिष्टस्य विशेषणताम् अवलम्बमानः तं विशिष्टीकुर्वन् तत्संकोचात् अनित्यं संपादयति, आत्मनश्च चित्स्वभावत्वात् इदम्—इति प्रथनाभावेन विशेष्यत्वं नास्ति, विशेषणविशेष्यभावो हि योजकायत्तः, नच स्वप्रकाशे योजकान्तरम् अस्ति। स इत्थं ब्रुवाणः पर्यनुयुज्यते—'ज्ञानमपि' तर्हि स्वप्रकाशम्—इति, तत्रापि एषैव वार्ता—इति। तदपि कस्मात् न नित्यम् ?, नच द्वयोर्नित्ययोः कश्चित् संबन्धः, कार्यकारणभावो हि असौ नान्यः, तत आत्मनो ज्ञानं शक्तिः—इति अवसन्नम् अदः। अथ न स्वप्रकाशं ज्ञानं,

दूसरे के सिद्धान्त को मानकर पूर्वपक्षी प्रसंग उठाते हैं कि प्रसंग से विपरीत लाभ मुझे प्राप्त होगा अर्थात् जिसने नित्य रूप आत्मा माना है ऐसे सिद्धान्ती को उससे उलटा अनित्यत्व का लाभ होगा। आत्मतत्त्व की सत्ता को माननेवाले सिद्धान्ती लोग आत्मा का अस्तित्व इस प्रकार से कहते हैं—काल उसी वस्तु का नाम है जो किसी वस्तु-पदार्थ का विशेषण होकर आता है और वस्तु-पदार्थ को विशिष्ट बनाता हुआ संकोच से उसे अनित्य बना देता है, संकोचित परिच्छिन्न भाव उसमें आ जाने से वह अनित्य हो जाता है और आत्मा चेतन रूप होने के कारण 'इदम्' यह परिच्छिन्न भाव आत्मा का विशेषण नहीं हो सकता है, क्योंकि विशेष और विशेषण ये दोनों संयोजक व्यक्ति के आधीन होता है, स्वप्रकाश आत्मा में कोई दूसरा योजक नहीं हो सकता है। ऐसा कहने पर पुनः उससे प्रश्न किया जाता है कि—'ज्ञानमपि' ज्ञान को भी प्रकाश कहो और उसे भी नित्य मानो, तब तो वहाँ पर भी वही बात हुई। वह ज्ञान भी क्यों न नित्य हो जाय? ज्ञान और आत्मा ये दोनों यदि नित्य होंगे तो कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। ज्ञान और आत्मा में कोई कार्य-कारण-भाव भी नहीं बनता है, इसलिए मानो कि आत्मा की शक्ति ज्ञान है। यह प्रसंग यहाँ पर समाप्त हुआ। यदि स्वप्रकाश ज्ञान नहीं होगा, तब तो फिर दूसरे घट-पटादि है उन सबों का

---

१. 'अथ' इत्यादि से कारिका के द्वितीय अर्धभाग की व्याख्या करते हैं—यदि ज्ञान स्वप्रकाशरूप नहीं है, तो दूसरे घटादिकों का भी प्रकाश नहीं कर सकेगा, जिस कारण से वह बोध स्वकीय जो प्रकाश रूप बोध को उसमें प्रवेश करता हुआ घटादिकों का भी अपने प्रकाश के भीतर किये गये दूसरे को प्रकाशित करता है। यह कहा जाता है कि जो नित्यत्व, व्यापित्व और अद्वैत तत्त्व है, इन सबों का प्रसंग बलात् ही आ पड़ेगा, वही दोष अपने पक्ष का उपमर्दन करने के कारण आ जाता है इससे डरपोक आत्मवादी ने यदि ज्ञान को जडरूप मात्र स्वीकार कर लिया, तब तो नील पदार्थ जैसे पीत को प्रकाशित नहीं करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी तो अपने से भिन्न पदार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकेगा। अब प्रश्न उठता है कि अग्नि आदि जड भी तो वस्तु-पदार्थ को प्रकाशित करते हैं, ऐसी बात नहीं है, प्रकाश के रहने पर ही तो इन दीप, सूर्य, रत्न, प्रभा आदि से प्रकाश निकलता है, प्रमाता के रहने पर ही अर्थ का प्रकाश होता है, न रहने पर नहीं होगा, सैकड़ो प्रदीप के प्रज्ज्वलित करने पर भी जो अर्थ नहीं भासता था वह ज्ञान से वैसा ही क्यों भासने लगता है, जो पदार्थ जातीय सन्निधान के रहने पर जैसा नहीं होता है वह उस विलक्षण जातीय सन्निधान के सम्पर्क में आ जाने पर वैसा ही हो जाता है, जैसे—शीतल जल एवं हिमवायु के सन्निधान में घट अरक्त अनुभूत होता था, वही ऊष्ण-वह्नि की सन्निधि पाकर रक्त [लाल] रूप में अनुभूत हो रहा है। जड पदार्थों के साथ में दिखता

तर्हि परस्यापि अदो न प्रकाशः, स्वप्रकाशरूपावेशनं हि असौ परस्य विदधत् बोधः प्रकाशो भवति परस्यापि, ततः स्वपरप्रकाशताशून्यो न असौ अर्थस्य प्रकाशः स्यात्, भावान्तरवत् ॥ ७ ॥

जडोऽपि असौ इत्थम् अर्थस्य प्रकाशो भविष्यति—इति सांख्यमतम् आशङ्कते—

अथार्थस्य यथा रूपं धत्ते बुद्धिस्तथात्मनः ।
चैतन्यं

इह तावत् अर्थं जानामि—इत्यस्ति व्यवहारः। तत्र अर्थस्य प्रकाशः—इति एतावत्-परमार्थः। तत् न अर्थस्य स्वं रूपं, सर्वं प्रति तथात्वप्रसङ्गात्, न कंचित्प्रति वा—इति सर्वज्ञम् अज्ञं वा जगत् स्यात्। नापि अर्थे अन्यत एतद्रूपम् उपनिपतितम्, एष एव हि दोषः स्यात्। तत् नूनम् अन्यत्रैव अयं धर्मः तत्त्वान्तरे, तत्रापि कथम् अर्थस्य प्रकाशः स्यात्—इति नूनं तत्र तत्त्वान्तरे सोऽर्थः प्रतिबिम्बत्वेन उपसंक्रामति। तत् तत्त्वान्तरं सत्त्वप्रधानत्वात् प्रतिबिम्बोपग्रह-

बोध नहीं हो पायेगा जिस कारण से यह अपना स्वप्रकाश बोध उसमें प्रवेश कर दूसरे घटादि को भी स्वप्रकाश से प्रकाशित करता हुआ अपने भीतर दूसरे का भी प्रकाश करता है। स्वप्रकाश का यही लक्षण है कि—अपने आपको प्रकाशित करता हुआ अन्य घटादि का भो अच्छी तरह प्रकाश करावे। यदि अपने को प्रकाशित करने में असमर्थ है तो अर्थ को भी प्रकाशित नहीं कर सकता। जैसे—एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को प्रकाशित नहीं कर सकता है ॥ ७ ॥

इस प्रकार जड भी अर्थ का प्रकाश करेगा—अब सांख्यदर्शन के सिद्धान्त की शंका लेकर कहते हैं—

जैसे घट-प्रकाश में बुद्धि रूप को ग्रहण करती है उसी प्रकार आत्मा का चैतन्य प्रकाशक है……

पहले यही होता है कि मैं अर्थ को जानता हूँ—ऐसा व्यवहार होता है। तब अर्थ का प्रकाशक ज्ञान मानना पड़ेगा, यही निछोड़ है। इसलिए अर्थ का अपना रूप कुछ भी नहीं है; ज्ञान उसका रूप नहीं है, ज्ञान आत्मा का रूप है, यदि पदार्थ में स्वयं जनाने की शक्ति होती तो सभी को जनाया करता; सब के लिए वैसा ही प्रसङ्ग आजायेगा, अथवा किसी को कुछ भी नहीं कह सकते हो—इस प्रकार यह जगत् सर्वज्ञ या मूर्ख हो जायेगा। अथ में किसी दूसरी जगह से रूप नहीं आता है, क्योंकि यही दोष होगा। तब तो निश्चय ही अन्यत्र दूसरे तत्त्व में यही धर्म आजायेगा, क्योंकि ज्ञान और पदार्थ एक वस्तु नहीं है, दूसरे तत्त्व में कैसे अर्थ का प्रकाश संभव होगा—इसलिए निश्चित वहाँ पर वह अर्थ अन्य तत्त्व में प्रतिबिम्बित होकर संक्रान्त हो जाता है। ज्ञान अन्य तत्त्व के सत्त्व गुण की प्रधानता से प्रतिबिम्ब ग्रहण करने

हुआ भी अजड जातीय का प्रकाश द्योतित करता है, इससे विपरीत होने में कोई कारण नहीं दिखता है। बाधक प्रमाण से व्याप्ति की सिद्धि में स्वभाव ही कारण होता है। अनुभवनिष्ठ निश्चयात्मक ज्ञान में जो किसी अन्य की उपेक्षा न रखने वाली विश्रान्ति है, वे नीलादि विषयों में व्यवस्थितियाँ विविषता-पूर्वक असंकीर्ण रूप से रहने वाली हैं, वे अचेतन-जड अर्थों की व्यवस्था कैसे करेंगे ?

योग्यं तमसाऽऽच्छादितत्वात् सकलप्रतिबिम्बनतो व्यावर्तितनं, भागे रजसा तमसोऽपसारणात् किंचिदेव प्रतिबिम्बकं गृह्णाति, तदेव बुद्धितत्त्वम् उच्यते। अर्थप्रतिबिम्बोपग्रहश्च ज्ञानम् अस्य वृत्तिरूपं पूर्वव्यपदेशतिरोधायकदध्यादिपरिणामविलक्षणपरिणतिविशेषात्मकम्। एवम् 'अर्थस्य' तावत् 'रूपं बुद्धिः' धारयति। इयच्च सत्त्वादीनां सुखदुःखमोहतया भोग्यत्वात् जडम्—इति दर्पणवत् अप्रकाशम्। नच भोग्यस्य अप्रकाशस्य तद्विरुद्धभोक्तृतारूपप्रकाशात्मकस्वभावसंभवो युक्त्यनुपातो—इति तद्विलक्षणेन भोक्त्रा भवितव्यम्। स च प्रकाशः—इत्येतावत्स्वभावः, स्वभावान्तरं हि अप्रकाशरूपं भोग्यं कथं भोक्तुः स्वभावतया संभाव्येत। स च प्रकाशमात्रस्वभावत्वेनैव यदि विश्वस्य प्रकाशः, तर्हि विश्वं युगपदेव प्रकाशेत, घटप्रकाशोऽपि पटप्रकाशः स्यात्—इति विश्वं संकीर्येत। स च अर्थात् अर्थप्रतिबिम्बात्, तदाधाराच्च बुद्धितत्त्वात् अन्यः कथम् अर्थस्य प्रकाशः स्यात्, असंबन्धात्। तस्मात् बुद्धिरेव स्वच्छत्वात् प्रकाशप्रतिबिम्बमपि परिगृह्णाति। ततः प्रकाशः प्रतिबिम्बपरिग्रहमहिमोपनतप्रकाशावेशबुद्धितत्त्वावेशितप्रतिबिम्बकनोलाद्यर्थपर्यन्तसंक्रान्तेः प्रका-

योग्य हो जाता है, अज्ञानरूपी अन्धकार से ढके रहने के कारण सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब से हट जाता है, रजोगुण से तमोगुण हटा देने के कारण थोड़े कुछ अंश में ही प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेवाला होता है—इसो को बुद्धितत्त्व कहा जाता है। और अर्थ के प्रतिबिम्ब को उपग्रहण करने वाला ज्ञान इसका वृत्तिरूप परिणामविशेष पूर्व की स्थिति को बदलकर दधि इत्यादि पदार्थरूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार 'अर्थस्य' अर्थ के 'रूपं बुद्धिः' रूप को बुद्धि धारण करती है। और इतना हो जोवों का सुख, दुःख और मोह जनक होने के कारण भोग्य जड कहलाता है—इसलिए पदार्थ दर्पण की भाँति प्रकाश नहीं करता है। भोग्य प्रकाशक नहीं है, किन्तु भोक्ता आत्मा हो प्रकाशक है; क्योंकि सत्त्व प्रकाश बाहरी आलोक के समान जड है और भोग्य जड पदार्थ होनेके कारण प्रकाशक नहीं हो सकता उसमें स्वयं प्रकाश का अभाव रहता है; किन्तु भाक्ता आत्मा हो प्रकाशक है भोग्य पदार्थ के विरुद्ध भोक्ता रूप प्रकाश स्वभाव से ही युक्तिरूप भोग्य से मिले हुए होने के कारण भोग्य से विलक्षण ही कोई आवश्य भोक्तारूप आत्मा है—ऐसा समझना चाहिए। अप्रकाश जो भोग्य पदार्थ है उसके विरुद्ध स्वभाववाला भोक्ता होता हुआ भी उससे विलक्षण भोक्ता नहीं हो सकता है; जब कि होना चाहिए। और भोक्ता का स्वभाव तो प्रकाश है; क्योंकि दूसरा स्वभाव जो अप्रकाश भोग्य है वह भोक्ता का स्वभाव कैसे हो सकता है अर्थात् यह बात नहीं घट सकती है। जैसे अन्धकार प्रकाश नहीं हो सकता है और न तो प्रकाश ही अन्धकार हो सकेगा और वह प्रकाश मात्र स्वभाववाला होने के कारण यदि सारे विश्व का प्रकाशक है तो फिर वह एक ही साथ सारे के सारे विश्व को प्रकाशित कर दे, अपने स्वप्रकाश से, ऐसी स्थिति में तो घट प्रकाश भी पट का प्रकाशक हो जायेगा यूँहि सारा का सारा विश्व संकीर्ण होता चला जायेगा। अर्थात् एक दूसरे आपस में मिल जायेंगे और वे भोक्ता अर्थ के प्रतिबिम्ब से; उसके आधार बुद्धितत्त्व से भिन्न होने के कारण अर्थ को प्रकाशित कैसे करेंगे ? क्योंकि उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए बुद्धि ही स्वच्छ-निर्मल स्फटिक जैसी होने के कारण प्रकाश के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करती है। उसके बाद प्रकाश के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने के प्रभाव से आया हुआ प्रकाश का प्रवेश है जो कि बुद्धितत्त्वमें प्रतिबिम्बित

शावेशस्य अर्थः प्रकाशते—इति सिद्धो व्यवहारः। तदेवं ज्ञानं जडबुद्धितत्त्वाव्यतिरेकात् जडमपि चित्प्रतिबिम्बयोगात् विषयस्य प्रकाशः—इति। एतदेव तावत् अनुचितम्—यत् प्रकाशात्मा पुमान् बुद्धौ प्रतिबिम्बम् अर्पयति, समानगुणे बिम्बकापेक्षया च विमले प्रतिबिम्बसंक्रान्तिदर्शनात्, रूपवति आदर्शे घटरूपप्रतिबिम्बवत्; आत्मबुद्ध्योश्च अतिवैलक्षण्यम्, आत्मापेक्षया च न बुद्धिर्विमला, तत् भवतु तावत् एतत्—इति 'अथ'शब्देन सूचयति।

किंतु प्रतिबिम्बवादेनापि न किंचित् प्रतिसमाहितं भवेत्—इति दर्शयति

अजडा सैवं जाड्ये नार्थप्रकाशता ॥ ८ ॥

चैतन्यप्रतिबिम्बयोगे यदि तावत् तत्प्रतिबिम्बकमपि मुख्यं प्रकाशरूपमेव न भवति, तेनापि न किंचित् कृतं स्यात्; नहि प्रतिबिम्बितवह्निपुञ्ज आदर्शो दाह्यं दहेत्। अथ मुख्यप्रकाशरूपमेव तत्प्रतिबिम्बकं, तत् तर्हि बुद्धेरव्यतिरिक्तम्—इति मुख्यप्रकाशरूपैव बुद्धिर्जाता—इति, यतो विरुद्धधर्माध्यासात् भीरुभिः एतत् कल्पितं स एव पुनः जाज्वल्यमानं निजम् ओजो जृम्भयति,

हुआ था वही नीलादि पदार्थ पर्यन्त कायम रहने से, प्रकाश में आवेश विद्यमान होने से पदार्थ प्रकाशित होता है; इस प्रकार यह सारा का सारा जगत्-व्यवहार चलता रहता है। ठीक वैसे ही ज्ञान भी जड बुद्धितत्त्व से भिन्न न होने के कारण जड होता हुआ भी चित्प्रतिबिम्ब के योग से विषय को प्रकाशित करता है। यही समुचित नहीं है—[बुद्धि में चेतनता और आत्मा में कर्तृता का आ जाना] जिससे प्रकाशरूप पुरुष बुद्धि में प्रतिबिम्ब अर्पण करता है, इसी का नाम 'अन्योऽन्याध्यास' है और सत्त्वगुण में बिम्ब की अपेक्षा से ही शुद्ध निर्मल में प्रतिबिम्ब के संक्रमण का दर्शन होता है, जैसे रूपवाले दर्पण में घटरूप का प्रतिबिम्ब होता है; और आत्मा की अपेक्षा से बुद्धि निर्मल नहीं है, इसलिए यह मान लिया जाय। यह 'अथ' शब्द से सूचित किया जाता है। किन्तु सौत्रान्तिक लोग इस विषय में कुछ समाधान नहीं दे सकते हैं—इस विषय में दिखाया जाता है—

इस प्रकार चैतन्य के प्रतिबिम्ब योग से वह बुद्धि अजड-संविद्रूप हो जाती है; क्योंकि जडता में अर्थप्रकाशता नहीं रहती है ॥ ८ ॥

उसमें चैतन्य का प्रतिबिम्ब योग रहने पर प्रतिबिम्बवाला भी मुख्य प्रकाशरूप नहीं हो सकता है, उससे फिर कुछ कार्य-सम्पादन करना भी असम्भव होगा; जैसे—अग्नि का प्रतिबिम्ब दर्पण में पड़ता है तो भी उसका प्रतिबिम्ब किसी वस्तुपदार्थ को जला नहीं सकता, उस चैतन्य का प्रतिबिम्ब मुख्यप्रकाशरूप ही है फिर भी कार्य नहीं करता है और वह प्रतिबिम्ब तो बुद्धि से भिन्न नहीं है, बुद्धि मुख्यप्रकाशरूप ही हो जाती है, क्योंकि विरुद्ध धर्म के अध्यास से भीरु लोगों ने ऐसी उलटी कल्पना कर ली है। वही पुनः अपना अत्यन्त उत्कट जाज्वल्यमान प्रकाश

---

१. भोग्य पदार्थ में भोक्ता का अध्यास अथवा अचिद्रूप में चिद्रूपता का अध्यास कर लेना ही विरुद्ध धर्म का अध्यास कहा जाता है। इसलिए सांख्यों ने प्रकाश प्रतिबिम्ब वाले की कल्पना कर ली है।

ततश्च सा बुद्धिरेव चिन्मयी स्यात्, किं पुरुषेण। एवम् अर्थप्रतिबिम्बकद्वारेण अर्थमयी—इत्यपि आयातो विज्ञानवादः। कुत एव अस्याः तद्रूपत्वम् ?—इति, पूर्वकारणपरम्परातः—इति उत्तरं वाच्यम्। एवं सैव चेत् चिद्रूपा, प्राग्वत् नित्यताप्रसङ्गः; न चेत् चिद्रूपस्यापि नित्यता, तर्हि आत्मा न नित्यः कश्चिदस्ति, यस्य ज्ञानं नाम शक्तिः स्यात्—इति ज्ञानमात्रमेव अस्ति। योऽर्थप्रकाशरूपो बोधो, यश्च विकल्पस्मृत्यादिरूपः, तावता अर्थव्यवहारसिद्धेः—इति प्रसङ्गविपर्ययलाभे 'ज्ञानं च चित्स्वरूपं चेत्' इत्यादेः श्लोकद्वयस्य तात्पर्यम्॥ ८॥

एवं ज्ञानं परीक्ष्य, क्रियां परीक्षते—

फैलाता है, इसी कारण बुद्धि ही चिन्मय हो जाती है, पुरुष से कौन सा प्रयोजन फिर सिद्ध होने वाला है जब बुद्धि ही अपना कार्य सम्पादन कर लेती है। एवं पदार्थ के प्रतिबिम्ब को द्वार बनाकर बुद्धि पदार्थविषयक हो गयी, इस ढंग से भी विज्ञानवाद आ जाता है। विज्ञानवादियों में निराकार ज्ञान का अर्थप्रतिबिम्ब द्वारा साकारतापन बन जाना ही माना है और यह योगाचार मतवाले भी मानते हैं। इसलिए यह कैसे चेतनरूपता हो सकती है ? पूर्व कारण परम्परा से चैतन्ययुक्त हो जाती है, यही उत्तर दे देना चाहिए। इस प्रकार यदि वह बुद्धि चैतन्य वाली है तब तो पहले के जैसा हो आत्मा नित्य है वैसा हो नित्यता का प्रसङ्ग बुद्धि में भी आ पड़ेगा। बुद्धि भी, आत्मा के जैसी नित्य हो जायेगी, चैतन्य के प्रतिबिम्ब योग से यदि अजड चिद्रूप की नित्यता मानोगे—तब तो, पुरुष नाम की कोई नित्य वस्तु हो नहीं रह जायेगी। ऐसी बुद्धि की नित्यता मानना कोई युक्तियुक्त नहीं बैठता है, जिस पुरुष की ज्ञान नाम की शक्ति सम्भव हो सकेगी जो स्वयं ज्ञानप्रकाशरूप हो है। जो कि अर्थप्रकाशवाला बोधात्मा है और विकल्प स्मृति वाला है, उतने से ही अर्थव्यवहार की सिद्धि हो जाती है। प्रसङ्ग से विपरीत लाभ "ज्ञानं चित्स्वरूप चेत्" हो जाय इत्यादि जो दो श्लोक से कहा था उसका यही आशय है॥ ८॥

इस प्रकार अब ज्ञान को परीक्षा कर क्रिया को परीक्षा करते हैं—

---

१. विज्ञानवादी लोग निराकार ज्ञान की अर्थ के प्रतिबिम्ब द्वारा साकारता मानते हैं और यही योगाचारवालों का भी मत है। इस विषय में कहा गया है—

अथ स्वच्छतया पुंसो बुद्धिवृत्त्यनुपातिता।
बुद्धेर्वा चेतनाकारसंस्पर्श इव लक्ष्यते॥
एवं सति स्ववाचैव मिथ्यात्वं कथितं भवेत्।
चिद्धर्मो हि मृषा बुद्धौ बुद्धिधर्मश्रितौ मृषा॥
साकारज्ञानवादाच्च नातीवैष विशिष्यते।
स्वत्पक्षः...॥

पुरुष तत्त्व के स्वच्छ होने के कारण बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिम्ब पड़ता है अथवा बुद्धि में चेतन आकार का संस्पर्श सा प्रतीत होता है। वही ज्ञान है; ऐसा मानने पर तो फिर अपने ही वचन से मिथ्यात्व सिद्ध कर देना होगा। जैसा कि बुद्धि में चित्तत्व का धर्म मिथ्या और चित्तत्त्व के धर्म में बुद्धित्व का मिथ्या होना, इससे साकारवादियों के सिद्धान्त में कौन सी विशेषता रही ?

क्रियाप्यर्थस्य कायादेस्तत्तद्देशादिजातता ।
नान्याऽदृष्टेः

इह परिस्पन्दरूपं तावत् गच्छति, चलति, पतति--इत्यादि यत् प्रतिभासगोचरः, तत्र गृहदेशगतदेवदत्तस्वरूपात् अनन्तरं बाह्यदेशवर्तिदेवदत्तस्वरूपम्--इत्येतावत् उपलभ्यते, नतु तत्स्वरूपातिरिक्तां कांचित् अन्यां क्रियां प्रतीमः। 'देवदत्तो दिनं तिष्ठति' इत्यत्र तु प्रभातकालाविष्टदेवदत्तस्वरूपं ततः प्रहरकालालिङ्गिततत्स्वरूपम्--इत्यादि भाति, 'दुग्धं परिणमते' इत्यत्र मधुरवस्तुरूपम् अम्लवस्तुरूपं द्रवरूपं कठिनरूपम्--इत्यादि। एवं तद्देशतया तत्कालतया तदाकारतया च भाव एव भाति। सादृश्याच्च तत्र प्रत्यभिज्ञा भिन्नेऽपि कायकेशनखादाविव। देशाकारान्यत्वे तु कालान्यत्वम् अवश्यंभावि देशकालान्यत्वेपि स्वरूपस्यैव देशत्वात्, कालभेदे च स्वरूपभेदात्, देशकालाकारा आकार एव यद्यपि पर्यवस्यन्ति, तथापि स्थूलदृष्ट्या अस्ति भेदः--

क्रिया भी शरीरादि पदार्थ के उन-उन स्थानों में गमनादि से उत्पन्न होती है। इससे अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है; क्योंकि वह दृष्ट नहीं होता, यदि होता तो अवश्य किसी न किसी रूप में दृष्ट हो जाता[1]।

जो स्पन्दन, गमन, चलन और पतन इत्यादि क्रियाएँ हैं उनका बोध होता है, घर में रहनेवाला देवदत्त से भिन्न बाहर में रहनेवाला देवदत्त का ही स्वरूप है, उसमें अतिरिक्त दूसरी कोई क्रिया मालूम नहीं पड़ती है। 'देवदत्तो दिनं तिष्ठति' देवदत्त दिन भर बैठा रहता है यहाँ पर प्रभात काल से मिला हुआ देवदत्त का स्वरूप प्रहरकाल से मिला रहता है, ऐसा भासता है। 'दुग्धं परिणमते' दुग्ध दही के रूप में बदल जाता है इसमें दुग्ध अपने मधुर स्वभ व को छोड़कर अम्ल-खट्टापन को और तरलता से काठिन्यरूप पाप्त कर लेता है। इस प्रकार उस-उस देशरूप से, उस-उस कालरूप से और उस-उस आकार से पदार्थमात्र ही भासता है। और सादृश्य-ज्ञान से तो वही यह है ऐसी प्रत्यभिज्ञा होती है। जैसे शरीर, केश और नखादि में प्रतिक्षण भिन्नता होने पर भी ये ही सभी हैं ऐसी हो एक प्रकार से प्रत्यभिज्ञा होती है कि वे ही शरीर, केश और नखादि हैं जो पहले हुए थे। देश आकार के अन्य रहने पर तो काल भी अवश्य बदल जाता है और देशकाल के भिन्न रहने पर भी स्वरूप उसी देश का होने से भिन्नता नही आयेगी,

---

१. क्रिया की परीक्षा करने के लिए पहले तो उन मतावलम्बियों के सिद्धान्त में वस्तु का स्वरूप दर्शन होता है। उसके बाद कारक पद सिद्धि का कारण रूप क्रिया के कारण का ज्ञान होता है। उस क्रिया की अपेक्षा से कर्त्ता का जो सम्बन्धी ज्ञान है उसका स्मरण हो जाता है। व्यापार में जो अपनी क्रिया है उसके स्वरूप का बोध करना ही क्रिया है। जिसमें पूर्वोत्तर क्रमवृत्तियाँ रहती है। इस विषय में भर्तृहरि ने कहा है—

यावत्सिद्धिमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वादभिधानं प्रतीयते ।।
गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ।।

इति, ते हि भेदेन बौद्धैरुच्यन्ते—इति तात्पर्यम् । एवं प्रत्यक्षेण न दृश्यते क्वचित् क्रिया, तदभावात्

[देवदत्त सम्बन्धी गमनात्मक क्रिया में देश का भेद है, बाहरी देश का सम्बन्ध और भीतरी देश का सम्बन्ध देवदत्त से सम्भव हो सकता है. कालभेद भी क्रमशः गमनादि क्रिया का अनुमेय होता है, और आकारभेद एवं स्वरूपभेद दूसरे का पर्यायवाची सम्भव हो सकता है, क्योंकि नील होता है, श्वेत होता है, शोभायमान होता है और प्रकाशित होता है, इसमें देवदत्त का स्वरूप भेद मालूम पड़ता है, गमनक्रिया में देश, काल और आकारादि के विषय में किसी का भी विवाद नहीं है । परिणाम क्रिया में तो मधुर-अम्लादि के स्वरूपभेद से ही कालभेद होता है, किन्तु उसमें भेद गोचर नहीं होता है । यद्यपि थोड़ी देर के लिए मान लो फिर भी तो देश की ही स्वरूता है । अतः देशभेद का कालभेद से अनादर हो गया] और कालभेद से स्वरूप में भेद आ जाता है । यद्यपि देश, काल और आकारवाली वस्तुएँ केवल आकाररूप में संसक्त रहता हैं, फिर भी स्थूल दृष्टि को लेकर अवश्य उसमें भेद कुछ रहता है । देश, काल और आकार के ही भेद से बौद्ध लोग भेद मानते हैं यही अभिप्राय है । एवं प्रत्यक्ष प्रमाण से कोई क्रिया नहीं दृष्टिगोचर होती हुई दिखाई पड़ती है, प्रत्यक्ष प्रमाण के न रहने पर प्रत्यक्षमूलक अनुमान

श्वेतं श्वेतत इत्येतच्छ्वेतत्वेन प्रकाशते ।
आश्रितक्रमरूपत्वादभिधानं प्रवर्तते ॥
कार्यकारणभावेन ध्वनतीत्याश्रितक्रमः ।
ध्वनिः क्रमनिवृत्तौ तु ध्वनिरित्येष कथ्यते ॥

इति । एवं-भूता च क्रिया आत्मनोऽस्त्येव गच्छति जानाति यतते—इति पूर्वापरीभूततत्तद्धर्मप्रतीतेः, अङ्गीकृता च ईश्वरात्मवादिभिः । यदाहुः ग्रन्थकारगुरुपादाः—

'तदिच्छा तावती तावज्ज्ञानं तावत् क्रिया हि सा ।' इति ।
'एवं न जातुचित् तस्य वियोगस्त्रितयात्मना ।
शक्या.................................... ॥' इति ।
'घटादिग्रहकालेऽपि घटं जानाति सा क्रिया ।' इत्यादि च ।

जितने भी सिद्ध या असिद्ध वस्तु पदार्थ है उन सबको साध्यरूप से ही कहा जाता है । क्रम का आश्रय लेने से उसका अभिधान ही मालूम पड़ता है । उन क्रमों के समूह को गुण रूपी अवयवों से बुद्धिपूर्वक कल्पित भेद मिटाकर एक क्रिया कही जाती है । सफेदी चमक रही है इसमें तो सफेदी रूप से क्रिया ही प्रकाशित हो रही है ऐसा कहा जाता है । कार्यकारण-भाव से क्रिया ही ध्वनित होती है यही आश्रित क्रम इसका है, और ध्वनि की निवृत्ति हो जाने पर तो ध्वनि रुक गयी ऐसा ही कहा जाता है ।

इस प्रकार क्रिया ही अपने आप में रहती है, जानती है और यत्न करती है । उन-उन धर्मों से पूर्वोत्तर क्षण में प्रतीत होती है, और ईश्वरात्मवादीने इसको माना भी है । ग्रन्थकार स्वयं इसे कहते हैं ।

इसलिए इच्छा और ज्ञान ही बाद में क्रिया बन जाते हैं ।'

'इस प्रकार कभी भी उसका अभाव नहीं रहता; घटादि के ग्रहण काल में भी मैं घट को जानता हूँ—उसीका नाम क्रिया है ।'

ततत्पूर्वकेन अनुमानेन, कार्यं च ग्रामप्राप्त्याद्युत्तरक्षणरूपं तद्देशवस्तुरूपादि,—इति कार्यान्यथानुपपत्त्यापि न सा कल्प्या।

एवं प्रत्यक्षानुमानाभ्यां तस्या अदृष्टिः,—इति साधकप्रमाणाभाव उक्तः, बाधकमपि आह—

न साप्येका क्रमिकैकस्य चोचिता ॥ ९ ॥

तत्र पूर्वापररूपता क्षणानां, न तु स्वात्मनि किंचित् पूर्वम् अपरं वा, वस्तुमात्रं हि तत्, अतो विकल्पप्राणितं पूर्वापरीभूतत्वं क्रमरूपता क्रियाया लक्षणं न वस्तु किंचित् स्पृशति, ते हि क्षणा न अन्योन्यस्वरूपाविष्टाः—इति कथम् 'एका' क्रिया ?, क्रमो हि भेदेन व्याप्तः अभिन्ने तदभावात्, भेदस्य विरुद्धम् ऐक्यम्—इति कथं 'क्रमिका एका च' इति स्यात् ?। अथ एकत्र आश्रयेऽवस्थानात् एका, तत्रापि तत्क्षणातिरिक्तो न कश्चित् आश्रयोऽनुभूयते, क्षणा एव हि प्रबन्धवृत्तयो भान्ति। किंच तथाभूतैर्भिन्नदेशकालाकारैः क्रियाक्षणैराविष्ट आश्रयः कथमेकः

प्रमाण से भी दृष्टिगोचर नहीं होती, और कार्य क्या वस्तु है दूसरे क्षण में ग्रामप्राप्ति और उस वस्तु का उस देश के अनुकूलरूप आदि माना जाता है, अन्यथा कार्य नहीं सिद्ध हो सकता, इसलिए क्रिया की कल्पना नहीं कर सकते हैं। उत्तर क्षण में होनेवाला ग्रामप्राप्तिरूप आदि जो भी कार्य है, उस देश वस्तुरूपादि का माना जाता है, अन्यथा कार्य की सिद्धि न होने से भी क्रिया की कल्पना असम्भव होगी। स्वस्थ देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता है यहाँ पर जैसे स्थूलत्वरूप कार्य को देखकर रात्रि के भोजन की अवश्य अर्थापत्तिप्रमाण से अनुमान की कल्पना होती है उसी प्रकार यहाँ पर क्रिया की कल्पना नहीं कर सकते हो।

इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से क्रिया की प्रतीति दृष्टिगत नहीं होती, इससे साधक प्रमाण कहा गया। अब बाधक प्रमाण भी दिखाते हैं—

……'वह क्रिया भी एक नहीं होती; क्योंकि क्रिया तो अनन्त हैं और क्रमशः एक क्रिया का होना समुचित नहीं है ॥ ९ ॥

क्रिया में क्षणों की पूर्वोत्तररूपता रहती है किन्तु अपनी निजी क्रिया में कुछ पूर्वोत्तररूपता नहीं है। क्रिया तो केवल वस्तु का स्वरूप ही है, इसलिए विकल्प ही प्राण-जीवन है जिसका ऐसी आगे-पीछे होनेवाली क्रमरूपता यह क्रिया का लक्षण नहीं है जो किसी वस्तु-पदार्थ को स्पर्श करती हो, वे ही सभी क्षण एक दूसरे में नहीं मिली हुई हैं किन्तु भिन्न-भिन्न ही रहती हैं—तब तुम ही बताओ एक क्रिया कैसे होगी ? क्योंकि क्रम भेद से व्याप्त रहता है एक में क्रम का अभाव रहने से, भेद के विरुद्ध एकता है इस प्रकार कैसे 'क्रमिका एका च' एक भी हो और क्रमपूर्वक भी होगी ?

इसके समाधान में कहते हैं कि एक आश्रय में रहने के कारण क्रिया एक है, उसमें उन क्षणों से भिन्न कोई आश्रय अनुभूत नहीं होता है; क्योंकि वे क्षण ही एकाकाररूप से प्रतीत होते हैं अन्य किसी की भी प्रतीति नहीं होती। यदि यह मानोगे तो इस प्रकार भिन्न देश, काल और आकारवाली क्रिया के क्षणों से युक्त आश्रय कैसे एक हो सकेगा ? इसी कारण 'देवदत्तोऽयम्' यह

स्यात् ?, अत एव 'देवदत्तोऽयं, स एव ग्रामं प्राप्तः' इति सादृश्यात् भवन्ती प्रत्यभिज्ञा न ऐक्यं वास्तवं गमयितुमलम् ॥ ९ ॥

एवं ज्ञानं क्रियां च परीक्ष्य, यस्मिन् सति ते संबद्धे सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृतारूपैश्वर्यप्रसाधनाय प्रभवत, तं संबन्धं ध्वंसयितुं तद्विषयं प्रमाणाभावं तावदाह—

तत्र तत्र स्थिते तत्तद्भवतीत्येव दृश्यते ।
नान्यन्नान्योऽस्ति संबन्धः कार्यकारणभावतः ॥१०॥

मृत्पिण्डे सति स्तूपकः, तत्र सति शिविको यावत् घटः—इत्येवं भावक्षणा एव उपलभ्यन्ते, न अधिकं किंचित् प्रत्यक्षेण अवभासते, नापि अनुमानेन—इति क्रियायामिव वाच्यम् । सर्वत्र आधाराधेयभावादौ अयमेव पन्थाः—पृथग्रूपकुण्डबदरक्षणानन्तरं निरन्तरात्मकविशिष्टकुण्ड-बदरोदयः इति । अयमेव च भावो भावान्तरेण सह नियतपूर्वापरतया विकल्पेन व्यवह्रियमाणः कार्यकारणभावः—इति अभिधीयते । नच ज्ञानक्रियाभ्यां सह आत्मनः कार्यकारणभावः आत्मनस्तत्कार्यत्वाभावात्, ज्ञानस्य च स्वसामग्रीकार्यत्वात्, क्रियायाश्च अभावात्,—इति न ज्ञानक्रियासंबन्धो यतो ज्ञातृत्व-कर्तृत्वे स्याताम् ॥ १० ॥

एवं प्रमाणं पराकृत्य, संबन्धे बाधकं सामान्यविशेषमुखेन निरूपयति—

जिसने गाँव को प्राप्त कर लिया है । इस प्रकार सादृश्य ज्ञान होनेवाली 'प्रत्यभिज्ञा' एकता को जनाने में समर्थ नहीं हो सकती ॥ ९ ॥

इस तरह ज्ञान और क्रिया की परीक्षा कर जिसके रहने पर उन ज्ञान और क्रियाओं का सम्बन्ध सर्वज्ञत्व-सर्वकर्तृत्वरूप ऐश्वर्य प्रसाधनार्थ उत्पन्न होते हैं उस सम्बन्ध को ध्वंस करने के लिए सम्बन्ध के विषय में प्रमाण का अभाव बताते हैं—

उस-उस कारण के रहने पर वह-वह कार्य होता है यही देखा जाता है । कार्य-कारणभाव से दूसरा कोई अन्य सम्बन्ध नहीं है ॥ १० ॥

मृत्पिण्ड के रहने पर दण्ड और दण्ड रहने पर शिविका [दोरी जो तैयार हुए घट को चक्र से अलग करने के लिए रखी जाती है] घट के तैयार होने तक, ये सभी भावरूपी क्षण ही उपलब्ध होते हैं, उससे कुछ अधिक वहाँ पर प्रत्यक्षरूप से अवभासित नहीं होता और जिस प्रकार से क्रिया में अनुमान कर लेते हो वैसा यहाँ पर अनुमान से भी काम नहीं होगा । इसी ढंग से आधार-आधेयभावादि फल रहा, जब पुनः कुछ क्षणों के बाद बेर फल रख दिया गया तब लगातार रूप से विशिष्ट कुण्डवाले बेर फल की व्युत्पत्ति होने लगती है और यही पदार्थभाव के बिना दूसरे भाव के साथ विकल्प द्वारा ठीक पूर्वोत्तर रूप से व्यवहार किया हुआ कार्य-कारणभाव कहा जाता है । ज्ञान और क्रिया के साथ आत्मा का कार्य-कारणभावरूप सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि आत्मा उसका कार्य नहीं है । ज्ञान अपने उत्पादक सामग्री को अपेक्षा रखता है; क्रिया का भाव न होने से, इसीलिए ज्ञान और क्रिया का सम्बन्ध नहीं है जिससे ज्ञातृत्व-कर्तृत्व हो ॥ १० ॥

इस प्रकार सम्बन्ध में साधक प्रमाण को हटाकर, अब सम्बन्ध में जो बाधक प्रमाण दिये हुए हैं उन्हें भी सामान्य-विशेषरूप से निरूपण करते हैं—

द्विष्ठस्यानेकरूपत्वात्सिद्धस्यान्यानपेक्षणात् ।
पारतन्त्र्याद्ययोगाच्च तेन कर्तापि कल्पितः ॥११॥

संबन्धस्तावत् परस्परप्राप्तिरूपो द्वयोः प्राप्तिभाजोरेकस्तिष्टति,—इति सामान्यलक्षणम् । तच्च कथं, ? नहि एकत्र विश्रमिताशेषशरीरसारोऽन्यत्र विश्रमितुम् अलं, स्वरूपभेदप्रसङ्गात् । एतेन संयोगसमवायौ तन्मूलाश्च अन्येऽपि संबन्धा बाधविधुरां धुरम् अध्यारोपिता मन्तव्याः । योऽपि चेतनेषु तत्कल्पनया च अचेतनेषु पारतन्त्र्यात्मा सबन्धो व्यवह्रियते, तत्र सिद्धस्य न पारतन्त्र्यम् अस्ति सिद्धत्वादेव, असिद्धस्य नतरां निःस्वरूपस्य ताद्धर्म्यायोगात् । एवमपेक्षायामपि[१] वाच्यम् । द्वे च रूपे कथं श्लिष्यतो ? द्वयोरेकत्वानुपपत्तेः; एकत्वे वा कः श्लेषः, ? तस्मात् ज्ञानसंबन्धात् 'ज्ञाता' इति यथा विकल्पकल्पितोऽर्थो न वस्तु तथा क्रियासंबन्धात् 'कर्ता' इत्यपि कल्पनामात्रम्—इति पूर्वपक्षः ॥ आदितः ॥ १६ ॥

इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तविरचितायां प्रत्यभिज्ञासूत्रविमर्शिन्यां ज्ञानाधिकारे
पूर्वपक्षविवृतिर्नाम द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥



अनेक रूप होने से सम्बन्ध दो पदार्थों का होता है, सिद्ध को किसी अन्य को अपेक्षा नहीं होने के कारण और परतन्त्रता का योग होने से कर्ता भी कल्पित है ॥ ११ ॥

परस्पर प्राप्तिरूप सम्बन्ध दो पदार्थों का होता है प्राप्त करनेवाले दोनों के बीच में एक ही रहता है यही सामान्य लक्षण है और वह कैसे है ? एक जगह में पूरा थका हुआ शरीर दूसरी जगह परिश्रम करने के लिए समर्थ नहीं होता, स्वरूप का भेद होना चाहिए। तभी वह कार्य सम्बन्ध रख सकता है । इसी कारण संयोग और समवाय एवं तन्मूलक दूसरे सभी सम्बन्ध बाध से खण्डित होनेवाले में से हैं उससे आरोप किया गया है यह बात माननी पड़ेगी । जो चेतन में कल्पित की कल्पना भी अचेतन में पारतंत्र्यरूप सम्बन्ध का व्यवहार होता है; क्योंकि सिद्ध वस्तु में परतन्त्रता नहीं रह सकती, सिद्ध होने के कारण । असिद्ध वस्तु में कोई रूप न होने से निश्चय ही कर्तृत्वादि धर्म का योग रहता है, इस प्रकार अपेक्षा में भी कहना चाहिए । दो रूप एक में कैसे रहेंगे ? क्योंकि दो रूप एक नहीं बन सकता; या एकता में कोन-सा सम्बन्ध रहेगा ? इसलिए ज्ञान सम्बन्ध से ज्ञाता कल्पित है । इसी प्रकार विकल्प से कल्पित अर्थ वस्तु पदार्थ सत्य नहीं होता तथा क्रिया सम्बन्ध से 'कर्ता' यह भी कल्पना मात्र है ॥ ११ ॥

द्वितीय आह्निक समाप्त

---

१. 'राज्ञः' ऐसा कहने पर निराकांक्षा की प्रतीति राजा के जैसी नहीं होती, अपि तु 'राजा' इस कथन में अन्य की आकांक्षा राजा शब्द रखता है, इसलिए वह आकांक्षा किसी सम्बन्ध की आकांक्षा रखती हुई सब जगह से व्यवस्थित होकर रहती है—इससे सिद्ध होता है कि अपेक्षा ही सम्बन्ध है, ऐसा लोक में व्यवहार भी देखा जाता है और करना भी चाहिए—इस पर आशंका कर उत्तर में कहते हैं—'अपेक्षायामिति' ऐसा—'अपेक्षा में कहना चाहिए ।' जैसा कि कहा भी गया है ।

अपेक्षा का स्वरूप तो पराधीन-परतन्त्र रहता है वह किसी दो में सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सकता है । अर्थात् जड और अजड इन दोनों में सम्बन्ध नहीं होता; असम्भव होने से·········।'

अथ प्रथमे ज्ञानाधिकारे परदर्शनानुपपत्त्याख्यं

तृतीयमाह्निकम्

विना येन न किंचित्स्यात्समस्ता अपि दृष्टयः ।
अनस्तमितसंबोधस्वरूपं तं स्तुमः शिवम् ॥

एतस्मिन् पूर्वपक्षे यदुक्तं स्मृतेः संस्कारमात्रादेव सिद्धिः—इति, तदेव दूषयितुं 'सत्यं ··· ।' इत्यादि '···ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् ॥' इत्यन्तं श्लोकसप्तकम् । क्रियायां संबन्धे च दूषणोद्धरणं

जिसके बिना समस्त ज्ञानरूप दृष्टि कुछ भी प्रकट नही कर सकती है । हमलोग उस सतत आभासरूप बोधात्मा शिव की स्तुति करते हैं ।

पूर्वपक्ष में कहा गया था कि स्मृति की संस्कार मात्र से ही सिद्धि हो जाती है [इस पूर्वपक्ष में दो अधिकार से सिद्धान्त का निरूपण किया जाता है जो कि 'स्वलक्षणाभासं' इत्यादि से पीठबन्ध—'भूमिका' बाँधकर 'संस्कारात् स्मृतिसिद्धौ स्यात् स्मर्ता द्रष्टेव कल्पितः' इसलिए यह ज्ञान विचार वाला अधिकार है, और क्रिया सम्बन्ध का विचार-विमर्श द्वितीय अधिकार में होगा । ज्ञानशक्ति के योग से ज्ञाता का ज्ञान-अधिकार में विचार होगा, क्रियाशक्ति के योग से कर्ता का क्रियाधिकारमें दृढ किया जाता है । वस्तुतः ज्ञानाधिकार के क्रम से समस्त शास्त्र के अर्थ का आक्षेप हो जाता है. ज्ञान के व्याज से कर्तृता का समर्थन शुद्ध स्वातन्त्र्यरूप ऐश्वर्य 'कर्तरि ज्ञातरि आदि सिद्धे महेश्वरे' इस कारिका रूपा सूत्र में दिखा दिया । जैसे ज्ञानविषय में यथारुचि संयोजन-वियोजनरूप स्वातन्त्र्य है उसे प्रकाश और विमर्शरूप से बताया है उसमें प्रकाश भाग मात्र को प्रधान बना कर ज्ञानाधिकार का विचार किया जाता है, और विमर्श की प्रधानता में क्रियाधिकार होगा । एक अंश के द्वारा धर्मी में पूर्णता का प्रवेश नहीं होता । इसलिए शुद्ध स्वातन्त्र्य रूप कर्तृत्व ही यहाँ पर पूर्ण है—ऐसा मानना चाहिए ।]

वौद्धों ने कहा है कि स्मृति की सिद्धि संस्कार मात्र से हो सम्पन्न हो जायेगी; इसका खण्डन दोष देकर किया जायेगा ।

'सत्यं··········· इत्यादि से लेकर 'ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् ॥' सात श्लोकों तक । क्रिया और सम्बन्ध में जो दोष दिया है उसका निराकरण क्रियाधिकार नामक द्वितोय भाग में

अजडों में तो वह होती है, उसमें भी सम्बन्ध तो दो में ही होता है इस कारण वह एक वस्तु-पदार्थरूप में नहीं रहती; चूँकि इसका उपकार करना रूप ही सम्बन्ध मात्र कारण माना जाता है और अपेक्षित जो होता है वह तो कार्य ही कहलाता है, किन्तु ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं दिखायी पड़ता । जब कि इस विषय में कहा भी है ।

यदि अपेक्षा को ही सम्बन्ध माना जाय, तो वह सम्बन्ध के अभाव में कैसे अपेक्षा रख सकती है । इसलिए जिसका स्वभाव वैसा नहीं होता है उसका स्वभाव कैसे बन सकता है—ऐसा होना तो सम्भव नहीं दिखायी देता ।

द्वितीये क्रियाधिकारे भविष्यति। यत्तु परेण व्यतिरिक्तं ज्ञानं काणादसांख्यादिदृष्टौ निराकृतं तदभिमतमेव। ग्रन्थकृतः—इति तत् दूषणान्तमेव। तत्र श्लोकद्वयेन ज्ञानस्य स्वसंवेदनरूपतया अनुभवस्य स्मृतौ अप्रकाश्यत्वं दर्शितं संस्कारजत्वेऽपि। ततः श्लोकद्वयेन स्मृतेः भ्रान्तित्वम् आशङ्कापूर्वकं पराकृत्य तृतीयेन प्रसङ्गात् सर्वाध्यवसायानामपि भ्रान्तित्वाशङ्का शमिता। ततः सत्यपि संस्कारे स्मृत्यनुपपत्तौ व्यवहारोच्छेदः,—इति श्लोकेन उक्त्वा स्वपक्षे तदुपपत्तिः,—इति श्लोकेन उक्तम्—इति तात्पर्यम्। ग्रन्थार्थस्तु निरूप्यते—

सत्यं किंतु स्मृतिज्ञानं पूर्वानुभवसंस्कृतेः।
जातमप्यात्मनिष्ठं तन्नाद्यानुभववेदकम् ॥ १ ॥

पूर्वपक्षमध्यात् मया तावत् बहु अङ्गीकर्तव्यम्,—इति 'सत्यम्' इत्यनेन दर्शितम्, यत्तु न अङ्गीकर्तव्यं तत् दूष्यते,—इत्येतदुक्तं 'किंतु' इत्यनेन विशेषाभिधायिना। इह स्मृतौ विषयमात्रस्य प्रकाशो न समर्थनीयो वर्तते यः संस्कारादेव सिद्ध्येत्, किंतु अनुभवप्रकाशेन विना 'तत्' इत्येवं-रूपा कथं स्मृतिः स्यात्, कथं च तया विना अभिलाषेण [पेन] व्यवहारः स्यात् ?, अनुभवेन हि अस्य सुखसाधनता निश्चिता, तत उपादानम्; तत्र पूर्वानुभवजनितात् संस्कारात् एतावत् जातम्—

होगा। काणाद और सांख्यादि की दृष्टि में ज्ञान एक भिन्न वस्तु है। इस विषय में बौद्धोंने दोष दिखलाया है, यह तो शैवाद्वैत-सिद्धान्त के लिए अभीष्ट ही है जो दोष हमें उन्हें देना था वह तो बौद्धोंने ही दे दिया है। दो श्लोकों से ज्ञान का स्वसंवेदनरूपता से अनुभव की स्मृति में अप्रकाश्यता दिखायी, संस्कार से उत्पन्न होने पर भी अनुभव के बिना हो जाती है अनुभव की कोई स्मृति में आवश्यकता नहीं होती। इसके बाद दो श्लोकों से स्मृति में भ्रान्तिता की शङ्का को लेकर खण्डन कर, तृतीय श्लोक से प्रसङ्गवशात् समस्त अध्यवसायों में भी भ्रान्तिता की शङ्का का उपशमन करेगें। अनन्तर संस्कार के रहने पर भी स्मृति की सिद्धि न होने से व्यवहार का उच्छेद हो जायेगा ऐसा एक श्लोक से कहकर अपने पक्ष में उसकी उपपत्ति हो गयी, जो बात हमने उठायी थी उसे एक श्लोक से कह दिया। यही इस आह्निक का सारांश है।

अब ग्रन्थ के अर्थ का निरूपण किया जाता है।

कणाद और सांख्यदर्शनों में ज्ञान भिन्न नहीं होता है ऐसा उनका मानना तो हमें अभीष्ट ही है; इस प्रकार आर्य पूर्वपक्षो के प्रति सुहृद् होकर प्रसन्न होते हैं 'सत्यं' इस शब्द द्वारा प्रयोग कर 'सत्य है' परन्तु वह स्मृतिज्ञान है। क्योंकि पूर्व अनुभव के संस्कार से वह उत्पन्न होता है। स्मृतिरूप ज्ञान पूर्वानुभव संस्कार से यद्यपि उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर अपने में ही रहता है वह आद्य अनुभव का वेदक नहीं होता है ॥ १ ॥

पूर्वपक्ष के बीच से हमें बहुत कुछ लेना है, यह बात 'सत्यम्' शब्द से दिखाई गयी है। जिसको स्वीकार नहीं करना है उस विषय को 'किन्तु' इस विशेष शब्द से दूषित किया गया है। स्मृति में विषय भाग के प्रकाश का समर्थन नहीं किया जाता जो कि संस्कार से सिद्ध हो जाता है, किन्तु अनुभव प्रकाश के बिना वह इस प्रकार स्मृति कैसे होगी ? और कैसे उसके बिना व्यवहार सम्भव हो सकेगा ? अनुभव से तो इसकी सुख-साधनता का ही निश्चय होता है तब उसका ग्रहण भी होता है; उसमें पूर्वानुभव के संस्कार से वह उत्पन्न होता है यद्यपि वह

यद्यपि तज्ज्ञानं विषयेण न जनितं, तथापि तद्विषयम्—इति। नच एतावता किंचित्, आत्मनिष्ठे स्वप्रकाशज्ञाने विषयस्येव अनुभवस्य प्राच्यस्य अप्रकाशनात् ॥ १ ॥

ननु संस्कारजत्वादेव प्राच्यमनुभवमपि विषयीकुरुतां स्मृतिः—इत्याशङ्क्याह—

दृक्स्वाभासैव नान्येन वेद्या रूपदृशेव दृक्।
रसे संस्कारजत्वं तु तत्तुल्यत्वं न तद्गतिः ॥ २ ॥

'दृक्' ज्ञानं, तच्च जडात् विभिद्यते स्वप्रकाशैकरूपतया, जडो हि प्रकाशात् पृथग्भूतो वक्तव्यः, तेन दृक् 'स्वाभासा' आभासः प्रकाशमानता सा स्वं रूपमव्यभिचारि यस्याः, स्वस्य च आभासनं रूपं यस्याः। सत्यपि बाह्ये तच्छरीरसंक्रान्तं न प्रकाशनं ज्ञानस्य रूपं भवितुमर्हति, परप्रकाशनात्मकनिजरूपप्रकाशनमेव हि स्वप्रकाशत्वं ज्ञानस्य भण्यते। ननु स्वाभासमेव सत् तत् अनुभवज्ञानं स्मरणे भासिष्यते, न—इत्याह 'नान्येन वेद्या'। परत्र यदि दृक् भासेत तर्हि न सा स्वाभासा, इदमेव हि स्वप्रकाशस्य लक्षणं—स्वयं हि यदि प्रकाशेत तदा परेण सह असंबन्धात् संबन्धप्राणा कथं 'परत्र' इति सप्तमी संगच्छताम्; तथा च रूपज्ञानेन 'रसे दृक्' रसविषयं ज्ञानं न वेद्यते, एवं हि चक्षुषैव रसः फलतो गृहीत एव स्यात्। ननु यदि न आभाति स्मरणेऽनुभवः

ज्ञान विषय से पैदा हुआ है फिर भी वही उसका विषय है यह आत्मनिष्ठ अपने प्रकाश ज्ञान में जैसा विषय का भान होता है वैसा पूर्वानुभव का नहीं होता ॥ १ ॥

अब शङ्का करते हैं कि—संस्कार से पैदा होने के कारण स्मृति यदि पूर्व के अनुभव को भी विषय करे तो इसका उत्तर देते हैं—

ज्ञान के स्वभाव से ही रूप को दृष्टि के समान वह दृष्टि भी वेद्य है किसी दूसरे से नहीं। इसमें संस्कार से पैदा होना तो है किन्तु उसको समानता को प्राप्त करना नहीं है ॥ २ ॥

'दृक्' दृष्टिज्ञान जडवस्तु से अत्यन्त भिन्न होता है, क्योंकि ज्ञान अपने प्रकाश से प्रकाशित है और जड वस्तु तो प्रकाश से भिन्न होती है ऐसा जड वस्तु के विषय में कहना समुचित ही है, इसलिए 'दृक्' ज्ञान अपने आभास से आभासित रहता है उसका अर्थ यही है कि—जो स्वयं अव्यभिचरत रूप से प्रकाशित है और जिसका स्वरूप अपने से भासित है। बाह्य शरीर में जो संक्रान्त रहता है वह प्रकाशन ज्ञान का स्वरूप नहीं हो सकता, दूसरे अन्य को प्रकाशित करना एवं अपने स्वयं प्रकाशित रहना यही ज्ञान का स्वप्रकाशत्व कहलाता है।

'ननु' कहकर शंका करते हैं कि—अपना आभास ही यदि अनुभव ज्ञान के रूप में मानते हो, तो वही स्मरणमें भी भासित होगा, ऐसा नहीं हो सकता है 'नान्येन वेद्या' वह दूसरे किसी से वेद्य नहीं होता। यदि दूसरी जगह 'दृक्' ज्ञान भासित होता हो तो उसे स्वाभास (अपने आभास से आभासित होने वाला) नहीं कहा जा सकता है। यहा स्वप्रकाश का लक्षण है, स्वयं यदि प्रकाशित होता हो तो दूसरे से सम्बन्ध नहीं हाने के कारण उसे सम्बन्धप्राण कैसे कहेंगे, 'परत्र' में सप्तमी विभक्ति कैसे संघटित होगी; इसलिए रूपज्ञान के साथ 'रसे दृक्' रस विषयक ज्ञान नहीं जाना जा सकता है, ऐसा कहने पर तो फिर चक्षु-इन्द्रिय से भी रसका ग्रहण होने लगेगा

१. परस्पर एक-दूसरों के संवेदन ज्ञान में अन्योऽन्य एक-दूसरों का विषय ज्ञान भी होता है। वैसा स्वीकार करने से तो इन्द्रियों के नियम विनष्ट हो जायेंगे। वह नियम तीन प्रकार का होता है। इन्द्रिय के

किं तर्हि संस्कारेण कृतं स्यात्, रूपज्ञानं न रसज्ञानजात् संस्कारात् जातं, तत् कथम् अयं प्रसङ्गः, तस्मात् संस्कार एव भवत्संभावितदोषभङ्गाय प्रभवेत्; नैतत्, यतो हि असौ तत्संस्कारसंस्कृतात् समनन्तरप्रत्ययात् उत्थितः स्मृतिबोधः, तेन तत्सदृशो भवतु शाखासंनिवेश इव पूर्वसंनिवेशतुल्यः, नतु यो यत्संस्कारात् जातः स तस्य वेदनस्वभावो भवति—इति युक्तम्। सदृशत्वस्यापि गतिरवगमः कथम् ?, नहि अनुभवज्ञानं सादृश्यं गमयति, नापि स्मृतिज्ञानं, परस्परम् असंवेदने द्वयनिष्ठसादृश्याध्यवसायायोगात्, अन्यस्य च तदुभयवेदनरूपस्य अभावात्,—इति संस्कारात् परं सविषयतामात्रं स्मृतेः सिद्धं, नतु अनुभवविषयत्वं, नापि अस्य विषयस्य पूर्वानुभवविषयीकृतत्वम्—इति निश्चय एषः ॥ २ ॥

ननु यदि स्मृतिज्ञाने अनुभवस्य सत्यतः प्रकाशः स्यात्, तन्मुखेन च तद्विषयस्य, तदा भवेत् भवदुक्तेरवकाशः, यावता स्मृतिर्विकल्परूपत्वात् केवलमप्रकाशमानमेव अनुभवं तद्विषयं च अध्यवस्यति, तत् इयं भ्रान्तिस्वभावा, तत्र कोऽयं निर्बन्धः ?, तदेतत् दर्शयति शङ्क्यमानत्वेन—

अथातद्विषयत्वेऽपि स्मृतेस्तदवसायतः।
दृष्टालम्बनता भ्रान्त्या

जब कि इष्ट नहीं है। चक्षु-इन्द्रिय से जन्य ज्ञान रूप का प्रकाश करता है अर्थात् चक्षु रूपविषयक ज्ञान को ही पैदा करता है—दूसरा नहीं करा सकता है।

पुनः शंका करते हुए कहते हैं कि यदि स्मरण में अनुभव नहीं होता है तो उसमें संस्कार फिर क्या काम करेगा, रूपज्ञान रसज्ञान से होनेवाले संस्कार से नहीं उत्पन्न होता है, तब फिर ऐसा प्रसंग कैसे उपस्थित होगा। इसलिए संस्कार ही आपके प्रदर्शित दोष को दूर करने के लिए समर्थ होगा। यह तो हो ही नहीं सकता है, क्योंकि वह बाद के ज्ञान से होनेवाला स्मृति ज्ञान है, इसलिए उसके समान भले ही हो, जैसे—खींची हुई वृक्ष का शाखा पुनः छोड़ देने पर अपने नियत स्थान में वापस चली जाती है, जो संस्कार से उत्पन्न होता है उसका वैसा स्वभाव नहीं होता है वह ज्ञानस्वरूप वाला होता है—ऐसा कहना तो युक्ति-युक्त भी है। सदृशका ज्ञान होना भी तो बड़ा कठिन है ? अनुभव-ज्ञान, सादृश्य-ज्ञान का बोध नहीं कराता है और न तो स्मृतिज्ञान ही बोध कराता है, अज्ञान में ही सादृश्य दो के ज्ञान से होता है और दूसरे में तो दोनों के ज्ञान का अभाव रहता है, इसलिए संस्कार के बाद ही दूसरा स्वविषयता मात्र स्मृति से सिद्ध होता है—न तो वह अनुभव का विषय होता है, और न उसके विषय का पूर्व का अनुभव ही विषय करता है—यही इसका निश्चय है ॥ २ ॥

यदि अनुभव का स्मृति के ज्ञान में सत्य रूपसे ठीक-ठीक प्रकाश होता है—तब तो उसके द्वारा विषय का भी प्रकाश होता है इससे फिर आपकी युक्ति को अवकाश (स्थान) मिलेगा, जब कि स्मृति विकल्प रूप से केवल अप्रकाशित ही अनुभव और उसके विषय को देखती है, इसलिए यह भ्रम का स्वभाव है फिर उसमें क्या विचार करना होगा ? इसी बात को शंका कर दिखाते हैं।

सामर्थ्य बल से ज्ञान का नियम है; क्योंकि नेत्र-इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान ही रूप का प्रकाश करनेवाला होता है। इन्द्रिय की योग्यता ही इसी में होती है कि नेत्र रूपसम्बन्धी ही ज्ञान पैदा करे दूसरा कुछ नहीं।

न तद्दर्शनं नापि तद्विषयः स्मृतेर्विषयः, तथापि तु उभयम् अध्यवसीयते, भ्रमरूपतया स्मृतेः ॥ एतत् निराकरोति—

तदेतदसमञ्जसम् ॥ ३ ॥

अत्र कारिकया उपपत्तिम् आह—

स्मृतितैव कथं तावद्भ्रान्तेश्चार्थस्थितिः कथम् ।
पूर्वानुभवसंस्कारापेक्षा च किमितीष्यते ॥ ४ ॥

अनुभूतस्य अनुभवप्रकाशितस्य विषयस्य अप्रमोषो[1]ऽनपहारः तथैव प्रकाशनं यत् एतत् स्मृतेः आत्मीयं रूपं तथाप्रकाशनाभावे विघटेततमाम् । किंच भ्रान्तौ असद्वा आत्माकारो वा प्रख्याति, नतु तया अर्थः स्वीक्रियते तस्य अप्रकाशनात्—इति तया अर्थो न व्यवस्थापित एव । प्रकाशनात्मा हि व्यवस्थापना, ततश्च स्मरणादभिलापेन कथम् अर्थविषयो व्यवहारः ?; नच तदप्रकाशने संस्कारजत्वेन किंचित् कृत्यं, तद्धि सादृश्यं लब्धुम् अवलम्ब्यते; नच अनुभवेन

यदि अनुभव और उसके विषय को स्मृति विषय नहीं करेंगी तो अन्ततोगत्वा प्रत्यक्ष-प्रमाण के आलम्बन करने से उसकी भ्रान्ति हो जाती है, इसका निराकरण करना सन्देह में डूब जायेगा । अनुभव को देखना और उसके विषय को देखना यद्यपि यह स्मृति का विषय नहीं है फिर भी दोनों भ्रमरूप से स्मृति के द्वारा देखे जाते हैं । उनका निराकरण करना असमञ्जस हो जायेगा ॥ ३ ॥

यहाँ पर कारिका के द्वारा उपपत्ति दिखाते हैं—पहले स्मृति कैसे होगी और भ्रान्ति से पदार्थ की स्थिति कैसे होगी ? पूर्व अनुभव के संस्कार की अपेक्षा ही फिर किसके लिए होगी ॥ ४ ॥

जो अनुभव से प्रकाशित विषय है उसका भुलावा नहीं होता उसी प्रकार यह प्रकाशन जो स्मृति का अपना रूप है उसके प्रकाशन का अभाव होने पर ये दोनों अत्यन्त विघटित हो जायेंगे। और भी सुनो, भ्रान्ति होने पर अभाव या उसका अपना आकार प्रकट होता है, उससे पदार्थ का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वह अप्रकाशित रहता है, इसीलिए उस प्रख्याति से अर्थ व्यवस्थित ही नहीं हुआ । प्रकाशित होना ही व्यवस्थित होना है, इसलिए स्मरण के कहनेसे अर्थविषयक व्यवहार कैसे होगा ? और उसके अप्रकाशित रहने पर संस्कार से उत्पन्न होनेवाला कोई कृत्य ही नहीं रह जाता, फिर भी वह सादृश्य खोजता है; और विषय-प्रकाश करने वाले अनुभव के

१. अनुभूत विषय का विनष्ट नहीं होना और बीच में कुछ काल लुप्त होने के समान पूर्ण रूप से नहीं छिप जाना, प्रकाश के बल से पुनः प्राप्त हो जाना ही स्मृति का मुख्य रूप है ।

विषयप्रकाशनात्मना स्मृत्यभिधानाया भ्रान्तेः किंचिदपि सादृश्यम् अस्ति, सर्वथा विषयमस्पृशन्त्याः ॥ ४ ॥

ननु योऽनुभवो यश्च तद्विषयः स यतः तया अध्यवसीयते, ततः अंशात् सादृश्यम् अनुभवेन स्मृतेः, तत्सिद्धये च संस्कारपरिग्रहः। 'अध्यवसीयते' इति किम् उच्यते? 'प्रकाश्यते' इति चेत् न भ्रान्तित्वं; 'न प्रकाश्यते' इति चेत् पुनरपि विषयो न स्पृष्ट एव अनया,—इति सादृश्यमपि शब्दगड्डुमात्रम्; तदेतत् दर्शयितुमाह—

भ्रान्तित्वे चावसायस्य न जडाद्विषयस्थितिः।

इह स्मृतेः अन्यस्य वा भ्रान्तिबोधस्य स्वसंवेदनांशे प्रकाशमाने न भ्रान्तिता, तत्र वैपरीत्याभावात्; यस्तु तत्र अध्यवसीयते स्वाकारः स विपरीततया अस्वाकारत्वेन अर्थतया,— इति तत्र अंशे भ्रान्तिता। स च अंशोऽर्थलक्षणो न स्मृत्या अन्यया वा भ्रान्त्या स्पृश्यते, तत्र असौ तूष्णीका,—इति बलादेव तत्र अंशे जडत्वम् अस्या आयातं घटज्ञानस्येव पटे। नच जडेन विषयस्य किंचित् कृत्यम्, ततश्च अर्थविषयो व्यवहारो विलुप्येत।

ततोऽजाड्ये निजोल्लेखनिष्ठान्नार्थस्थितिस्ततः ॥ ५ ॥

साथ स्मृति कही जाने वाली भ्रान्ति का कोई सादृश्य नहीं है, क्योंकि वह विषय को स्पर्श नहीं करती है ॥ ४ ॥

अब शंका करते हैं कि जो अनुभव और उसका विषय जितना जाना जाता है उतने अंश में तो अनुभव का स्मृति से सादृश्य सिद्ध हुआ, और उसकी सिद्धि के लिए संस्कार का भी ग्रहण करना पड़ेगा। 'अध्यवसीयते' इसका आप क्या अर्थ करते हैं? यदि 'प्रकाश्यते' ऐसा इसका अर्थ करते हो तो फिर भ्रान्ति नहीं हुई 'न प्रकाश्यते' प्रकाशित नहीं है ऐसा अर्थ यदि करते हो तो भी स्मृति द्वारा विषय का स्पर्श नहीं हुआ, सादृश्य भी तो निरर्थक मात्र शब्द रह गया; इसीको दिखाने के लिए कहते हैं—

भ्रान्ति होनेपर ज्ञान की जड से विषय स्थिति नहीं होती है।

यहाँ स्मृति का या उससे भिन्न भ्रान्ति के ज्ञान का अपना ज्ञानांश प्रकाशित होनेपर भ्रान्तिता कहाँ रहेगी; क्योंकि उसमें विपरीतता नहीं है; जब कि उसमें अपनी आकारता का भान होता है वह विपरीत होकर अपना आकारत्व ही भिन्न अर्थरूप द्वारा उस अंश में भ्रान्ति ही होती है। और अर्थरूप वह अंश स्मृति से या भ्रान्ति से नहीं स्पृष्ट होता है, वह वहाँ मौन है, इसलिए बलात् उस अंश में उसकी जडता आ जाती है। जैसे घटज्ञान की घटमें और जड वस्तुका विषय के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, इससे भी अर्थविषयक व्यवहार लुप्त हो जायेगा।

इसलिए चैतन्य में अपनी और उल्लेख की निष्ठा से अर्थ की स्थिति नहीं रहती है ॥ ५ ॥

अथ तु तम् अवसायरूपं स्वसंवेदनांशं स्वाकारं वा अवलम्ब्य अजडत्वम् अस्याः, एवमपि 'अजाड्ये निजं' स्वसंवेदनम् 'उल्लेखश्च' स्वाकारः—इति इयति एषा परिनिष्ठिता स्मृतिः,—इति विषयस्य नामापि ग्रहीतुम् अशक्नुवतः 'ततः' स्मृत्यध्यवसायात् कथं विषयस्य व्यवस्थापनं व्यवहार्यत्वसंपादनसामर्थ्यम् ? ॥ ५ ॥

संस्कारे सत्यपि स्मृतिः न कथंचन घटते, ततश्च परस्परसङ्गतिहीनानि सकलानि ज्ञानानि,—इति यदुक्तं श्लोकपञ्चकेन तत् इदानीं प्रकृते योजयति—

एवमन्योन्यभिन्नानामपरस्परवेदिनाम् ।
ज्ञानानामनुसंधानजन्मा नश्येज्जनस्थितिः ॥ ६ ॥

'जनस्य' लोकस्य या काचन 'स्थितिः' व्यवहारः सा सर्वज्ञानानां यत् 'अनुसंधान' एकविषयभावोपपन्नस्मृतिताप्राप्तिरूपं, तत्र आयत्ता। तथा हि—स्मरणनिबन्धनः सर्वो व्यवहारः। प्रथममपि हि प्रत्यक्षज्ञानम् 'अहम्' इति पूर्वापररूपानुसंधानेन स्मरणानुप्राणितेन विना न घटते, प्रमातरि विश्रान्त्यभावात् अप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। एवं सुखादौ मन्तव्यम्। हानादानप्रेरणाभ्युपगमादयस्तु व्यवहाराः स्मरणमया एव। 'एवं ज्ञानानां' यत् 'अनुसंधानं' ततो जायमाना 'जनस्थितिः' 'एवम्' इति पराभ्युपगमे सति 'नश्येत्' नश्यति—इति संभाव्यते। कुतः ?—इति

ज्ञानरूप स्वसंवेदन अंश का अवलम्बन कर, या अपने आकार का अवलम्बन करके इस स्मृति को चेतन मानोगे तो, ऐसा भी 'अजाड्ये निजं' जो चेतन में अपना ज्ञान या उल्लेख अर्थात् अपने आकार का ज्ञान—इतने में ही यह स्मृति निश्चित हो जाती है, जिस विषय का नाम लेनेमें भी असमर्थ होते हैं 'ततः' उसी कारण स्मृति के ज्ञान से कैसे विषय का व्यवस्थापन होगा और व्यवहार के सम्पादन में सामर्थ्य होगा ? ॥ ५ ॥

संस्कार के रहने पर स्मृति किसी प्रकार से भी नहीं घटती है, इसलिए सकल ज्ञान परस्पर सङ्गति से शून्य होते हैं, जिसको पाँच श्लोकों से कहा गया था; उसको अब प्रकृत प्रसङ्ग से बता देते हैं—

इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को न जाननेवाले ज्ञानों के अनुसन्धान से उत्पन्न होनेवाला लोक-व्यवहार विनष्ट हो जायेगा ॥ ६ ॥

'जनस्य' लोगों का बाहर और भीतर की जो 'स्थितिः' व्यवहार वह सब ज्ञानों का 'अनुसन्धानं' जो अनुसन्धान करना है वह एकविषयकभाव की स्मृति प्राप्त करना ही है, क्योंकि वह उसी के आधीन रहती है। जैसे कि स्मरणमूलक ही सब व्यवहार होते हैं। प्रथम अनुभव काल में भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है कि 'मैं यह जानता हूँ' इस तरह स्मरण से अनुप्राणित पूर्वोत्तररूप अनुसन्धान के बिना नहीं घटता, क्योंकि प्रमाता में उसका विश्राम नहीं होगा। साथ ही अप्रत्यक्ष का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा। इसी प्रकार सुख-दुःखादि में भी समझना चाहिए। छोड़ना, ग्रहण करना, प्रेरणा करना और स्वीकार करनारूप जितने भी व्यवहार हैं वे सभी स्मरणजन्य ही होते हैं। 'एवं ज्ञानानां' इस प्रकार ज्ञानों का जो अनुसन्धान है उससे होनेवाला 'जनस्थितिः' लोक-व्यवहार 'एवं' ऐसा बौद्ध सिद्धान्त के स्वीकार करने पर 'नश्येत्' विनष्ट हो जायेगा यह सम्भव है।

चेत्, विशेषणद्वारेण हेतुमाह 'अन्योन्यं' तावत् 'भिन्नानि' ज्ञानानि—अन्यत् अनुभवज्ञानं, अन्यत् इदानीन्तनं ज्ञानं विकल्पाभिमतं, अन्यत् स्मरणसंमतं ज्ञानं । तत् एतानि स्वविषयप्रकाशमात्ररूपाणि परविषये जडान्धानेडमूककल्पानि, नच अन्योन्यस्य प्रकाशरूपाणि । एवं न स्वरूपतो न वेद्यतो वा एकीभावरूपम् अनुसंधानम् अस्ति । अन्योन्यं च विषयविषयिभावो नास्ति । नच तुर्यं ज्ञातेयनिबन्धनम् अनुसन्धानाधायि संभाव्यते,—इति ध्वंसेरन् व्यवहाराः । न च ध्वंसन्तामिति भवदभीष्टशापमात्रात् ते ध्वंसन्ते प्रकाशन्ते यतः तत एतत् आपद्यते, एतदेव समर्थयितुम् उद्यन्तव्यम्—इति ॥ ६ ॥

तच्च अस्मदभिमतप्रकारेण विना विधेरपि अशक्यसमर्थनम्—इति दर्शयति—

न चेदन्तःकृतानन्तविश्वरूपो महेश्वरः ।
स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् ॥ ७ ॥

'संवित् तावत् प्रकाशते' इति तावत् न केचित् अपह्नुवते । सा तु संवित् यदि स्वात्म-

दूसरे को यथार्थ बोध हो जाये इसलिए पञ्चावयववाक्य का उत्थापन किया जाता है 'कुतः' अर्थात् किससे ? यदि ऐसा कहते हो, तो विशेषण के द्वारा हेतु को दिखाते हैं—'अन्योऽन्यं' परस्पर 'भिन्नानि' भिन्न-भिन्न ज्ञान एक प्रमाता में विश्रान्त होनेवाले ज्ञान के बिना जो दूसरा शुद्ध अनुभवात्मक ज्ञान है, दूसरा इस समय का ज्ञान जो विकल्प से युक्त होता है, 'अन्यत्' शब्द का दूसरा अर्थ यह है कि स्मरणजन्य ज्ञान । इसी कारण वे सभी ज्ञान अपने विषय का प्रकाश मात्र करते हैं दूसरे के विषय में तो जड अन्धे और बहरे के समान हो जाते हैं और एक दूसरे का प्रकाश नहीं कर सकते हैं । इसीलिए न स्वरूपतः स्मृति अनुभव को विषय कर सकती है और न तो अनुभूत को वेद्यरूप से विषय करती है । वेद्य और स्वरूप से भी एकीभावरूप होकर अनुसन्धान नहीं हो सकता है और परस्पर विषय-विषयीभाव भी नहीं हो सकता है । चौथा परस्पर भिन्नों का एक में ज्ञातेयरूप अनुसन्धान भी नहीं हो सकता, क्योंकि उनका होना सम्भव नहीं है इसलिए जगत् के सारे व्यवहार नष्ट हो जायेंगे और 'ध्वंसन्ताम्' ध्वस्त हो जायें ऐसा आपके कहने मात्र से तो न ध्वंस ही हो सकेंगे और न प्रकाशित ही हो सकेंगे, क्योंकि जिससे यह होता है उसीसे उदय भी होता है ॥ ६ ॥

इसीलिए हमारी अभीष्ट इच्छा के बिना विधाता का भी समर्थन अशक्य ही है—इसको दिखाया जाता है—जिसने अनन्त विश्व अपने भीतर कर लिया है, जो ज्ञान, स्मृति और अपोहन शक्तिरूप तथा चेतन शरीरवाला है ऐसा महेश्वर यदि नहीं होता तो (जनस्थिति नष्ट हो जाती) ॥ ६ ॥

'संवित् तावत् प्रकाशते' पहले जब तक संवित्-ज्ञान प्रकाशित रहता है तब तक कोई ज्ञान

१. स्मृति न तो अनुभव को विषय करती है, न वेद्य से अनुभूत विषय को विषय करती है ।
२. चकार शब्द अत्यन्त असम्भावना अर्थ में दिया है ।

मात्रविश्रान्ता अर्थस्य सा कथं प्रकाशः ?, स हि अर्थधर्म एव तथा स्यात्; ततश्च अर्थप्रकाशः तावत्येव पर्यवसितः,—इति गलितो ग्राह्यग्राहकभावः। अतोऽर्थप्रकाशरूपां संविदम् इच्छता बलादेव अर्थोऽपि तद्रूपान्तर्गत एव अङ्गीकर्तव्यः; स च अर्थप्रकाशो यदि अन्यश्च अन्यश्च, तत् न स्मरणम् उपपन्नम्,—इति अत एक एव असौ,—इति एकत्वात् सर्वो वेद्यराशिः तेन क्रोडीकृतः,—इत्येतदपि अनिच्छता अङ्गीकार्यम्। एवमपि सततमेव उन्मग्ने निमग्ने वा विश्वात्मना प्रकाशेत, तथास्वभावत्वात्। न चैवम्, अतः स्वरूपान्तर्ब्रुडितम् अर्थराशिम् अपरमपि भिन्नाकारम् आत्मनि परिगृह्य, कंचिदेव अर्थं स्वरूपात् उन्मग्नम् आभासयति,—इति आपतितम्। सैषा ज्ञानशक्तिः। उन्मग्नाभाससंभिन्नं च चित्स्वरूपं बहिर्मुखत्वात् तच्छायानुरागात् नवं नवं ज्ञानमुक्तम्। एवमपि नवनवाभासाः प्रतिक्षणम् उदयव्ययभाजः,—इति सैव व्यवहारनिवहहानिः। तेन क्वचित् आभासे गृहीतपूर्वे यत् संवेदनं बहिर्मुखम् अभूत्, तस्य यत् अन्तर्मुखं चित्स्वरूपत्वं तत् कालान्तरेऽपि अवस्थान्तरे स्वात्मगतं तद्विषयविशेषे बहिर्मुखत्वं परामृशति,—इति एषा स्मृतिशक्तिः। यच्च तत् नवं भासयति स्मरति वा तत् वस्तुतः संविदा विश्वमय्या तादात्म्यवृत्ति,—इति विश्वमयं पूर्णमेव,—इति नवं न किंचित् आभासितं स्मृतं वा स्यात्।

छिपा नहीं रहता है। यदि वह संवित् = ज्ञान अपने स्वरूप मात्र में विश्रान्त होता हो तो फिर वह अर्थविषय को प्रकाशित कैसे करेगा ?

पदार्थधर्म ही उसी प्रकार होता हो तो, पदार्थों का प्रकाश उतने में ही लीन रहता। इससे फिर जितने भी ग्राह्य-ग्राहकभाव हैं, वे सब समाप्त हो जाते हैं। इसीलिए अर्थविषयक प्रकाश करनेवाली संवित् को माननेवाले बौद्ध को हठात् अर्थ का प्रकाश भी उसी (संवित्) के अन्तर्गत मानना पड़ेगा और यदि वह अर्थ प्रकाश कोई दूसरा है और वह उससे भी भिन्न है तब तो फिर स्मरण नहीं बनेगा, इसलिए एक ही यह है, भिन्न नहीं है। एक होने के कारण सब वेद्य-राशि को अपने भीतर सम्मिलित कर लिया, इस प्रकार नहीं चाहते हुए भी मानना पड़ेगा। इसी तरह सर्वदा उन्मग्न और निमग्न होनेवाला विश्वरूपसे प्रकाशित होगा; क्योंकि उसी प्रकार का अपना उसका स्वभाव है और ऐसा नहीं देखा जाता है, इसीलिए अपने स्वरूप से अर्थराशि उसी में डूबी रहती है और दूसरे भी विभिन्न आकारवाले को अपने में सम्मिलित करके स्वरूप से अलग कुछ ही पदार्थ भासित करता है—यही कहना पड़ेगा। वही यह ज्ञान-शक्ति है और शरीरादि से अवच्छिन्न संकुचित प्रकाशरूप बहिर्मुख होने के कारण उसकी छाया के सम्पर्क से नया-नया ज्ञान प्रकाशित होता है—ऐसा कहा गया है। इस तरह ज्ञान-शक्तिके [समर्थन करने में नये-नये बहिर्मुखी आभास प्रतिक्षण उदय एवं अस्त होते रहेंगे, वही व्यवहारसमूह का लोप कहा जायेगा। इसलिए कहीं आभास पहले गृहीत होने पर जो ज्ञान बहिर्मुख हुआ था, उसका जो अन्तर्मुख चेतनस्वरूपज्ञान है वह कालान्तर में एवं दूसरी अवस्था में भी अपने विषय विशेष में बहिर्मुखता का परामर्श करता है—इसी का नाम स्मृति-शक्ति है। नया रूप भासित करती है या स्मरण करती है। वस्तुतः वह विश्वमय संवित् से तादात्म्यवृत्ति प्राप्त कर रहती है, इसलिए

१. शरीरादि में माया प्रमाता अवच्छिन्न संकुचित स्वभाववाला होकर अपनी अपेक्षा से भिन्न-भिन्न पदार्थों को प्रकाशित करते हैं उसका बहिर्मुखी ज्ञान नया-नया कहा जाता है और उसमें जो ऐश्वर्य, स्वातन्त्र्य है वही ज्ञान-शक्ति है।

इदमपि प्रवाहपतितम् ऊरीकार्यम्—यत् किल तत् आभास्यते तत् संविदो विच्छिद्यते, संविच्च ततः, संविच्च संविदन्तरात्, संवेद्यं च संवेद्यान्तरात्; नच विच्छेदनं वस्तुतः संभवति,—इति विच्छेदनस्य अवभासमात्रम् उच्यते । नच तत् इयता अपारमार्थिकम्, निर्मीयमाणस्य सर्वस्य अयमेव परमार्थो यतः । एष एव परितश्छेदनात् परिच्छेद उच्यते, तदवभासनसामर्थ्यम् अपोहन-शक्तिः । अनेन शक्तित्रयेण विश्वे व्यवहाराः । तच्च भगवत एव शक्तित्रयं—यत् तथाभूतानुभवितृ-स्मर्तृ-विकल्पयितृस्वभावचैत्रमैत्राद्यवभासनम् । स एव हि तेन तेन वपुषा जानाति, स्मरति विकल्पयति च । यथोक्तम् आचार्येणैव 'यद्यप्यर्थस्थितिः प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रिते । जीवे निरुद्धा

विश्व उससे परिपूर्ण हो जाता है, इससे कोई नयी-वस्तु आभासित या स्मृत नहीं होती है। यह जो आगे कहेंगे सबको स्वीकार करना होगा—वह आभासित होता है वह संवित् ज्ञान भिन्न है और संवित् ज्ञान भी उससे भिन्न होता है और संवित् ज्ञान अन्य संवित् ज्ञान से भिन्न होता है तथा संवेद्य भी दूसरे संवेद्य से भिन्न होता है; इसी से वहाँ विच्छेदन का आभासमात्र कहा जाता है और विच्छेदन इसी कारण अपारमार्थिक नहीं है; क्योंकि सब निर्मीयमाण पदार्थ परमार्थतः सत्य ही होते हैं। वह परिच्छिन्न होने के कारण 'परिच्छिन्न'—संकुचित कहा जाता है—उसका ठीक-ठीक आभासित नहीं होना, अपोहन-शक्ति कही जाती है। भगवान् के जिस मायारूप स्वातन्त्र्य-शक्ति से मायीय जीव प्रमाता का विकल्परूप ज्ञान होता है वही अपोहन-शक्ति है। इन्हीं तीनों शक्तियों से सारे विश्व का व्यवहार-विचार आदि कार्य होते रहते हैं। ये तीनों शक्तियाँ भगवान् महेश्वर की ही हैं—जो कि स्वभाव से ही अनुभव करनेवाले, स्मरण करनेवाले और विकल्प करनेवाले चैत्र-मैत्र आदि का अवभासन करते हैं। वे ही उस-उस शरीर से जानते हैं, स्मरण करते हैं और विकल्प करते हैं। जैसे कि आचार्य ने कहा है—'यद्यपि

---

१. देश, कालादि विशेष अवच्छेद से शून्य होने के कारण विचित्र इच्छा से अवबोधित, केवल आभास भेदसंस्कार के द्वारा उत्पन्न हुए विकल्परूप विज्ञानवाली अपोहन-शक्ति कहलाती है, पूर्व अवभासित वस्तु का, पूर्व में अवभासित हुए पदार्थ के साथ वर्तमान समय में प्रकाश होना ही प्रख्यापन-शक्ति है, अपोहन-शक्ति और स्मृति-शक्ति इन दोनों में यही भेद है।

२. भगवान् की जिस स्वातन्त्र्य-शक्ति के द्वारा मायीय प्रमाता का विकल्परूप हो जाता है वही अपोहन-शक्ति है।

३. न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते ।
केवलं ज्ञानसत्तायाः प्रारम्भोऽयं प्रवेशने ॥

"वह्नि में रहनेवाली जो वह्नि की दाहिका शक्ति है वह वह्नि से भिन्न देश-काल में नहीं रहती अपितु उसी में रहती है। यह केवल ज्ञान सत्तामें प्रवेश करने केलिए ही प्रारम्भ होता है।" इस आगम के कथन से अग्नि दाहक, पाचक, प्रकाशक इत्यादि अनेक परामर्शों की प्रधानता में शक्ति का व्यवहार देखा जाता है। वह्नि में परामर्शन की प्रधानता होने के कारण लोक में वह्नि का ही व्यवहार होता है।

तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता ॥' इत्यादि। एतासां च ज्ञानादिशक्तीनाम् असंख्यप्रकारो वैचित्र्यविकल्पः,—इति तत्सामर्थ्यं स्वातन्त्र्यम्, अपराधीनं पूर्णं महदैश्वर्यं तन्निर्मितब्रह्म-विष्णुरुद्राद्यैश्वर्यापेक्षया उच्यते। तदेव 'चिद्वपुः' इत्येवं कृत्वा इयदायातम् 'विश्वरूपः' इति। तत एव च परिनिष्ठितैकरूपजडभाववैलक्षण्यात् ज्ञानादिशक्तियुक्ततामाहेश्वर्यम् उपसंप्राप्तः। एतदनुपगमे न किंचित् इदं भासेत,—इति प्रसङ्गः। भासते तु; तस्मात् एतत् अवश्यम् अङ्गीकर्तव्यम्,—इति प्रसङ्गविपर्ययः। नश्येज्जनस्थितिः, यद्येवं न स्यात्,—इति प्राक्तनेन श्लोकेन सह प्रसङ्गः 'चेत्' इत्यनेन तद्विपर्ययः सूचितः ॥ ७ ॥ आदितः ॥ २३ ॥

इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तविरचितायां ईश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्रविमर्शिन्यां
ज्ञानाधिकारे परदर्शनानुपपत्तिर्नाम तृतीयमाह्निकम् ॥३॥



प्राण और पुर्यष्टक से बद्ध जीव में अर्थस्थिति नियन्त्रित रहती है तथापि वह परमात्मा में रहती है जीव में नहीं रहती।'

इन ज्ञानादिशक्तियों के असंख्य प्रकार से विचित्र विकल्प होते हैं, उसी के सामर्थ्य से स्वातन्त्र-शक्ति रहती है अर्थात् उसी का नाम सामर्थ्य एवं स्वातन्त्र्य है। ईश्वर का स्वातन्त्र्य पराधीन न होकर स्वाधीन रहता है और पूर्ण एवं महा ऐश्वर्य से संयुक्त है, क्योंकि ब्रह्मा, विष्णु एवं अन्य देवों में जो सामर्थ्य है उससे वह बढ़ा-चढ़ा रहता है अर्थात् इसके सामर्थ्य से ही ये सभी देवता आदि सामर्थ्यशाली होते हैं। वही 'चिद्वपुः' चेतन शरीरधारी ईश्वर है इतने निबन्ध से इनका विश्वरूपत्व सिद्ध होता है। इसी से परिनिष्ठित एक रूप में रहते हैं जड से विलक्षण इनका स्वरूप है तथा ज्ञानादि शक्तियों से युक्त होकर महा ऐश्वर्य को प्राप्त किये रहते हैं। इनको न मानने पर कुछ भी भासित नहीं होगा, ऐसा प्रसंग आ पड़ेगा। किन्तु भासित ही होता है; इसलिए इसे अवश्य स्वीकार करना चाहिए, यही प्रसंग का विपर्यय व्यतिरेक है। यदि ऐसा न हो तो लोक-व्यवहार विनिष्ट हो जायेगा, पहले श्लोक के साथ प्रसंग लगाकर 'चेत्' इससे विपरीत प्रसंग विपर्यय कहा है यह सूचित हुआ ॥ १७ ॥

॥ तृतीय आह्निक समाप्त ॥

---

१. न सा जीवकला काचित्संतानद्वयवर्तिनी।
व्याप्त्री शिवकला यस्यामधिष्ठात्री न विद्यते ॥

दो सन्तानों से व्यवहृत होनेवाली [ज्ञान सन्तान और क्रिया सन्तान] कोई भी जीवकला ऐसी नहीं दिखती है कि जिसमें शिवकला अधिष्ठात्री होकर व्याप्त न रहती हो।

अथ प्रथमे ज्ञानाधिकारे स्मृतिशक्तिनिरूपणाख्यं

चतुर्थमाह्निकम्

पदार्थरत्ननिकरं निजहृद्‌गञ्जपुञ्जितम् ।
ग्रन्थन्तं स्मृतिसूत्रान्तः संतत्यैव स्तुमः शिवम् ॥१॥

एवं ज्ञानपूर्विका स्मृतिः, तदुभयानुग्राहिणी अपोहनशक्तिः,—इति तावात् वस्तुसंभवक्रमेण प्रदर्शितम् । उपक्रमानुसारेण स्मृतिरेव सूचितप्रसङ्गविपर्ययसमर्थनदृशा विवेच्या । 'सत्यं किंतु स्मृतिज्ञानम्…………….।'

इति हि उपक्रान्तम् । तत्र संस्कारमात्रात् तावत् मा नाम उदपादि स्मृतिः, इदं तु वक्तव्यम्—तथाभूतभवदभ्युपगतभगवत्प्रभावोऽपि कथम् एनां कुर्यात् ?,—इति शङ्कां शमयितुं स्मृतितत्त्व-निरूपणाय 'स हि पूर्वानुभूतार्थोपलब्धा…………।' इत्यादि'…………अर्थौ भातः प्रमातरि ।' इत्यन्तं श्लोकाष्टकम् । तत्र श्लोकेन स्वपक्षे स्मृतिरुपपन्ना,–इति कथितम् । द्वितीयेन स्मृतेः पूर्वानु-

पदार्थरूपी रत्नसमूह [सभी पदार्थसमूह को आभासित करनेवाले चिदानन्तसार] को अपने हृदयरूपी स्थान [आकर] में एकत्रित किया गया है। स्मृतिरूपी सूत्र के भीतर क्रम से गूँथनेवाले उस शिव की हम स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

इस प्रकार ज्ञानपूर्वक स्मृति होती है, ज्ञान और स्मृति को अन्तर में जगानेवाली अपोहन-शक्ति है, पहले किसी प्रकार वस्तु सम्भव हो सके उसे क्रमशः दिखलाया है। प्रारम्भ में जैसा कहा गया है उसके अनुसार स्मृति को ही सूचित किये गये प्रसङ्ग के विपरीत समर्थन की दृष्टि से विचार करना होगा।

'सत्यं किंतु स्मृतिज्ञानम्…………।' [पूर्वपक्ष में 'अथानुभवविध्वंसे स्मृतिः' तथा सिद्धान्तपक्ष में भी 'सत्यं किंतु' ठीक ही है 'न चेत्' इससे आत्म ईश्वर-सिद्धि में सातिशय अभिज्ञान माना है। गीता में भी भगवान् ने कहा है कि—'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' पहले देखी-सुनी या किसी प्रकार भी अनुभव की हुई वस्तु या घटनादि के स्मरण का नाम 'स्मृति' है। किसी भी वस्तु को यथार्थ जान लेने की शक्ति का नाम 'ज्ञान' है—तथा संशय-विपर्यय आदि वितर्क जाल का वाचक 'ऊहन' है और उससे दूर होने का नाम 'अपोहन' है। ये तीनों मुझसे ही होते हैं।] क्योंकि ऐसा ही प्रारम्भ में कहा गया है। उस जगह भले ही संस्कारमात्र से स्मृति उत्पन्न होती हो, किन्तु यह तो कहना ही पड़ेगा कि—आपके कल्पना किये हुए भगवान् का प्रभाव इसको तैयार कर खड़ा कैसे करेगा ? [प्रभाव उसी वस्तु-पदार्थ को कहा जाता है जो असम्भव को मी सम्भव कर सकने में समर्थ हो।]

इस शङ्का के शमनार्थ स्मृतितत्त्व का निरूपण करने के लिए 'स हि पूर्वोऽनुभूतार्थो-पलब्धा……।' यहाँ से लेकर……'अर्थौ भातः प्रमातरि।' पर्यन्त आठ श्लोक कहे गये हैं। प्रथम श्लोक से अपने सिद्धान्त पक्ष में स्मृति उत्पन्न होती है, यह कहा गया है। द्वितोय श्लोक से

भवविषयीकृतस्वलक्षणप्रकाशनसामर्थ्यमुक्तम् । तृतीयेन अनुभवेन तद्विषयेण च एकीभाव पर्यन्त आवेशः स्मरणस्य उक्तः । तुरीयेण अनुभवस्य न विषयतया स्मृत्या प्रकाशनम्,—इति निरूपितम् । पञ्चमेन योगिज्ञानमपि अनुभवं पृथग्भावेन न विषयीकरोति,—इति वदता तुर्यश्लोकार्थ एव उपोद्बलितः । षष्ठेनाशङ्क्यमानम् अनुभवस्य स्मृत्या पृथग्विषयीकरणं काल्पनिकम्,—इत्यवास्तवीकृतम् । सप्तमेन स्मृतिप्रसङ्गात् विकल्पेऽपि पूर्वानुभवेन ऐक्यात्मावेशो दर्शितः अष्टमेन स्मर्तव्यस्य, स्मृतेः स्मर्तुश्च एकचित्तत्त्वविश्रान्तिः उक्ता; प्रसङ्गाच्च दृश्यस्य, दर्शनस्य द्रष्टुश्च,—इति तात्पर्यार्थः । अथ क्रमेण श्लोकार्थ उच्यते ।

स हि पूर्वानुभूतार्थोपलब्धा परतोऽपि सन् ।
विमृशन्स इति स्वैरी स्मरतीत्यपदिश्यते ॥ १ ॥

'पूर्वमनुभूतस्य अर्थस्य' य 'उपलब्धा' अन्तर्मुखो बोधः स तावत् अद्यापि 'परतः' स्मृति-

पूर्व के अनुभव से विषय किया हुआ स्वलक्षण प्रकाशन-सामर्थ्य कहा है । तृतीय श्लोक से अनुभव और उसके विषय से स्मरण का एक में जबतक मिल नहीं जाता है यह बताया है । चतुर्थ श्लोक से अनुभव विषयरूप से स्मृति द्वारा अलग नहीं भासता है ऐसा निरूपण हुआ है। पञ्चम श्लोक से योगिजन का ज्ञान भी अनुभव को भिन्नरूप से विषय नहीं करता है, इसको आचार्य ने चतुर्थ श्लोक के अर्थ में ही दृढ कर दिया है । पष्ठ श्लोक से शङ्का किये हुए अनुभव का स्मृति से 'इदन्तया' भेदयुक्त ज्ञान कल्पना का विषयमात्र है, जब कि वह वास्तविक नहीं है। सप्तम श्लोक से स्मृति के प्रसङ्ग से विकल्प ज्ञान में भी अनुभव के द्वारा एकता में मिल जाना यह दिखलाया है । अष्टम श्लोक से स्मर्तव्य विषय का, स्मृतिज्ञान और स्मरण करनेवाला स्मर्ता पारमार्थिक एक चित्तत्त्व महाप्रकाश की प्रमाता में विश्रान्ति होना बताया है; और प्रसङ्ग से दृश्य का, दर्शन का और द्रष्टा का, इतना ही इसका तात्पर्यार्थ है । इसके पश्चात् अब क्रम से श्लोकार्थ कहा जाता है ।

वही पूर्व के अनुभूत अर्थ को प्राप्त करनेवाला पूर्वानुभवकाल से अन्य स्मरण काल में कारण विद्यमान रहता है । वह स्वतन्त्ररूप बोधात्मा विचार करता हुआ स्मरण करता है—ऐसा उपदेश दिया जाता है ॥ १ ॥

'पूर्वमनुभूतस्य अर्थस्य' जिसने पूर्व अनुभूत अर्थ का अन्तर्मुख बोध प्राप्त किया था, वह वर्तमान समय में भी रहता ही है, संविद्रूपमात्रस्वरूप का काल से किये हुए संकोचरूप विशेषात्मक रूप से विच्छेद का सम्बन्ध नहीं हो सकता । जिस स्थितिमें है उसीमें वह रहेगा, [क्योंकि उससे अभिन्न एक रूप होने के कारण पूर्व की अनुभूत वस्तु की स्थिति सम्भव नहीं होगी । इससे फिर स्मरण कैसे बनेगा । स्मृति का सर्व आकारवाला स्वातन्त्र्य होता है ऐसा दिवाकर भट्ट ने कहा है—

सर्वेऽनुभूता यदि नान्तरर्थास्त्वदात्मसात्कारसुरक्षिताः स्युः ।
विज्ञातवस्त्वप्रतिमोषरूपा काचित्स्मृतिर्नाम न सम्भवेत्तत् ॥

"यदि अन्तर्वर्ती अनुभूत अर्थ तुम्हारी आत्मा में सुरक्षित नहीं रहेगा, विज्ञात वस्तु के असदृशरूप होने से कुछ भी स्मृति सम्भव नहीं होगी ।"]

कालेऽपि अस्त्येव, संविन्मात्रस्वरूपस्य कालकृतसङ्कोचरूपविशेषात्मकविच्छेदायोगात् । अनुभवस्य च अन्तः अर्थोऽपि अपृथग्भावेन अवस्थितः—इत्येतदपि अयत्नसिद्धम् । इदं तु चिन्त्यम्—अकालकलिते संवेदने तदन्तर्वर्तिनि च विश्वत्र भावजाते यदि तावत् चिन्मयतापरामर्शः, तत् 'अहम्' इति एतावतैव पूर्णेन विमर्शेन भाव्यम्; अथ इदन्तया पृथग्भावावभासनेन, तथापि तत्र द्वयी गतिः । 'अहम्' इत्यंशे यदि विश्राम्यति इदन्ता, तदा 'अहमिदम्' इति सदाशिवदशया भाव्यम्; अथ न रोहति, तत् 'इदम्' इत्येव आभासनेन भवितव्यम्; अपूर्वताभासनाच्च तत् अनुभवनमेव स्यात् न स्मरणम्,—इत्याशङ्क्याह 'स्वैरी' इति । 'स्वम्' आत्मीयम् उपकरणम् ईरयति कर्तव्येषु अवश्यं तच्छीलश्च; 'स्वं'[1] च आत्मानम् ईरयति न पुनः स्वकर्तव्ये प्रेरकमपेक्षते,—इति 'स्वैरी' स्वतन्त्रः । तेन स्वतन्त्रत्वात् 'स' इत्येवं विमृशति । स इति विमर्शनस्य च इयद्रूपम्—यत् सर्वथा अकालकलितस्वरूपपरामर्शनमेव न, नापि अत्यन्तभेदपरामर्शनमेव; अपि तु यो भावः पूर्वमनुभवकाले तद्देशकालप्रमात्रन्तरसाचिव्येन पृथक्कृतो न च अहन्तायामेव विलीनीकृतः, स तादृगेव तमसेव आच्छाद्य अवस्थापितः संस्कारशब्दवाच्यः, तस्य तमाच्छादकम् अपहस्तयति; तत्र अपहस्तिते स पूर्ववत् पृथक्कृत इवावभाति । ननु च इदन्तया अवभासेत पूर्ववदेव, नैवम्

अर्थ भी अनुभव के भीतर अभिन्न एकरूपसे रहता है, यह बात तो अयत्न ही सिद्ध है किन्तु यह विचारणीय है कि—'अकालकलित्' काल-विच्छेद-शून्य संवेदन ज्ञान में और उसके अन्तर्वर्त्ती विश्व के समस्त भावपदार्थों में यदि चिन्मयपरामर्श होता हो तब तो 'अहम्' इतने से ही पूर्ण विमर्श हो जाना चाहिए; वाद में इदन्ता भिन्नरूप से अवभासमान होती है, फिर भी उस समय में 'अहमिदम्' सदाशिव-ईश्वर दो 'गति स्थिति' रहती है। 'अहम्' इस भाग में यदि इदन्ता की विश्रान्ति होती हो, तो 'अहमिदम्' सदाशिवस्थिति होगी, इदन्ता नहीं विश्रामित होती हो तो 'इदम्' यही आभासरूप होना चाहिए; और अपूर्वरूप से आभासन होने से तो अनुभवन ही होगा, स्मरण फिर नहीं हो सकेगा, इस पर आशंका कर कहते हैं कि—'स्वैरी' परमेश्वर के स्वातन्त्र्य पद को ही स्वैरी पद से द्योतित किया है। 'स्वम्' अपनी सामग्री को अवश्य कर्त्तव्यों में लगाता है और लगाने के स्वभाववाला भी है तथा 'स्वम्' अपने आपको ही उन्हीं में लगाता है, किसी अन्य प्रेरक की अपेक्षा नहीं रखता अर्थात् किसी दूसरे के मुख की ओर देखना नहीं पड़ता, सर्वतन्त्र स्वतन्त्र रहता है, इसलिए 'स्वैरी' वह स्वतन्त्र है। स्वतन्त्ररूप होने से 'स' वह विमर्शन करता है। 'स' [उससे भी क्या ?] विमर्शन का इतना मात्र ही रूप है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। जिसका सर्वथा काल से असंकुचित परामर्शरूप ही 'अहम्' स्वरूप है, और उनमें न तो इदन्तारूप से अत्यन्त भेद परामर्शन ही है; अपितु जो भाव पूर्व अनुभव काल में था वह देश, काल अन्य प्रमाता के साथ होने से अलग किया हुआ है अहन्ता में ही विलीन नहीं किया हुआ है, वह उसी प्रकार ही अज्ञानतम से आच्छादित (ढक) कर रखा गया संस्कार शब्द से कहा गया है, उसका अज्ञानतम आच्छादन करनेवाला है वही उसे छिपा देता है, उसमें छिप जाने पर वह पूर्व के जैसा पृथक् किये हुए की भाँति ही भासता है।

---

१. स्व शब्द आत्मा एवं आत्मीय का वाची है; गणपाठ वृत्ति के अनुसार।

२. 'तत्' पद से अनुभव लिया गया है,

तदानीन्तनावभासनपृथक्कृतशरीरादिसंबन्धमनवधूयैव हि तत्प्रकाशः; ततश्च इदानीन्तनावभासनकालपरामर्शोऽपि न निमीलति,—इति एतत्परामर्श भित्तिप्राधान्येन पूर्वकालपरामर्शः,—इति विरुद्धपूर्वापरपरामर्शस्वभाव एव 'स' इति परामर्श उच्यते। एवं च स एव परमेश्वरः 'स्मरति'। एतदेव हि तस्य स्मरणम्—यत् एवंप्रकारपरामर्शोचितकालकलादिस्पर्शसहिष्णुमायाप्रमातृभावपरिग्रहः,—इति मायाविद्याद्वयाद्वयमयम्। तत एव सकलसिद्धिवितरणचतुरचिन्तामणिप्रख्यम् आगमिकाः स्मरणमेव मन्त्रादिप्रमाणित मन्यन्ते। तथा च—

'ध्यानादिभावं स्मृतिरेव लब्ध्वा चिन्तामणिस्त्वद्विभवं व्यनक्ति।'

इति। अलं तावत् अनेन। तृन्नन्तसमासेन यत्नतोऽनुभवस्यार्थमुखेन कालस्पर्शम्, अर्थविश्रान्ततां, द्वयोरपि प्रमातरि निरूढि भेदाभेदाभ्यां दर्शयति, वृत्तौ एकार्थीभावात् तस्य च भेदाभेदमयत्वम्—इति वक्ष्यामः॥ १॥

अब शङ्का करते हैं कि इदन्ता रूप से पूर्व में जैसा अलग से भासित होता था वैसा ही अलग किया हुआ जो शरीरादि अभी भी भासित होगा, ऐसी बात नहीं है। उस अनुभव काल में अवभासन से अलग किया हुआ शारीरादि सम्बन्ध उसे न हटाता हुआ ही उस स्मर्यमाण का प्रकाश रहता ही है और इससे इस समय में होनेवाला अवभासन काल का परामर्श भी नष्ट नहीं होता है, इस स्मरणकालिक परामर्श को आधार मानकर पूर्वकाल का भी परामर्श रहता है, इसी को पूर्वोत्तर विरुद्ध स्वभाव वाला परामर्श कहा जाता है और इस प्रकार वही परमेश्वर 'स्मरति' स्मरण करता है। यही उसका स्मरण है एवं पूर्वोत्तर विरुद्ध स्वभाववाला परामर्श के समुचित काल-कलादि को सहनेवाला माया प्रमाता का भावपरिग्रह ग्रहण करना कहलाता है। जो माया—'भेदप्रथा' और विद्या—'शुद्धविद्या' है यही दोनों का ऐक्यभाव है। इससे ही सकल सिद्धि देनेवाली चतुर चिन्तामणि के तुल्य आगमिक लोग [शुद्ध विद्या परामर्श प्राणित] मन्त्रादि जीवित स्मरण मानते हैं और वैसा कहा भी है—

'स्मृति ध्यानादिभाव को उपलब्ध करानेवाली है। स्वातन्त्र्य के ऐश्वर्य विभव को स्मरणात्मिका चिन्तामणि व्यक्त करती है।'

इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है। [पूर्वानुभूतोपलब्धा इसमें 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' इस पाणिनीय सूत्र से षष्ठी समास का निषेध कर 'द्वितीयाश्रितातीतेति' इस सूत्र में द्वितीया पद का योगविभागादि करके अनायास तृन्नन्त समास कर लिया जाता है] यत्न पूर्वक तृन्नन्त समास के द्वारा अनुभव का अर्थ प्रधानतया काल से सम्बन्ध रखता है, अर्थ में विश्रान्ति होती है, अर्थात् अनुभव और अर्थ इन दोनों का ही प्रमाता में बैठ जाना भेद एवं अभेद द्वारा दिखाता है, समास में एकार्थीभाव हो जाने के कारण उसका भेद और अभेदमयत्व हो जाता है—इस विषय में हम कहेंगे॥ १॥

---

१. माया = भेद प्रथा, माया, कला, विद्या, राग, नियति, काल ये छः तत्त्वसमुदाय भेद प्रथा को बढ़ानेवाले हैं इसका दूसरा नाम शास्त्रीय भाषा में 'षट् कंचुक' भी कहा जाता है। विद्या = शुद्ध विद्या, इसका छत्तीस तत्त्वों के मध्य में पञ्चम स्थान है। इस विद्यातत्त्व में इदं च एवं अहं च ये दोनों समान रूप से दृष्टि गोचर होते हैं। यद्यपि इसमें अनेकत्व का अनुभव होता है फिर भी एकत्वभाव रहता है। इसमें आरुढ होनेवाले साधक को मन्त्र शब्द से कहा जाता है।

एतदेव स्मृतितत्त्वमुपपादयितुं श्लोकान्तराणि। तत्र यदि कश्चिद्ब्रूयात्—इह स्मृतिर्विकल्पः, न च अनेनार्थः प्रकाश्यते, अर्थासंस्पर्शिनो हि विकल्पाः, अनुभवेन च येन सोऽर्थः प्रकाशतां नीतः स इदानीं कीर्तिमात्रमूर्तिर्जातः, न च सोऽपि स्मृत्या प्रकाश्यते—ज्ञानस्य ज्ञानान्तरेणासंवेद्यत्वात् असत्त्वाच्च—इति अर्थस्य प्रकाशनाभावात् 'इदं स्मरामि' इति ज्ञानं भ्रान्तिमात्रमेव—इति पुनरपि आपतितम्—इति, तदा तं प्रति उच्यते—

भासयेच्च स्वकालेऽर्थात्पूर्वाभासितमामृशन्।
स्वलक्षणं घटाभासमात्रेणाथाखिलात्मना ॥ २ ॥

इसी स्मृतितत्त्व के उपपादनार्थं दूसरे श्लोक भी हैं। उस पर यदि कोई बोले कि—स्मृति विकल्प है, इस विकल्प से अर्थ प्रकाशित नहीं होता, क्योंकि वस्तु का संस्पर्श न करने वाला ही विकल्प कहलाता है। जिस अनुभव से उस अर्थ का प्रकाशन होता है वह उस समय में केवल कीर्तिरूप ही रह गया, अर्थात् विनष्ट हो चुका है, और वह भी स्मृति से प्रकाशित नहीं होता क्योंकि एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से नहीं जाना जा सकता है, न रहने के कारण; इसलिए कि अर्थ का प्रकाशन न होने से, "इदं स्मराभि" में यह स्मरण करता हूँ—यह ज्ञान भ्रान्तिमात्र है। अतः फिर भी वही बात आ जायेगी, तब उसके प्रति कहा जाता है—

[वह महेश्वर भगवान् चिदात्मा तबतक स्मृति में अर्थ को विकल्पित करता है और ऐसा मानने पर उस अर्थ का पूर्व देश-काल के द्वारा अवच्छेद होने के कारण इसी से देश-काल संकोच वशात् पदार्थ के रूप का परामर्श करता है यही इसका निचोड़ है और परामर्श भी परमार्थरूप ही है अर्थात् दूसरा कोई नहीं है, अप्रकाशमानता रहने पर क्या परामर्श होगा ? वह अप्रकाशित है और परामृष्ट भी है ऐसा बोलना अन्धे का बोलना जैसा ही प्रायः है। परामर्श ही प्रकाशक स्वभाववाला है, स्वभाववाले के न रहने से किसका स्वभाव होगा, इसलिए कहिये—परामर्श हेतु से या परामर्श के उपलक्षण से उस स्वलक्षण का अवश्य रहना मानना पड़ेगा। अर्थात् सामर्थ्य होने से परामर्श के बिना अन्यथा नहीं बन सकता, घटाभास ही अकेला या लाल-पीला, ऊँचा-नीचा, छोटा-बड़ा आदि आभास के सम्बन्ध से या वह सब पूर्वाभास से युक्त होकर बहुत प्रकाश से भासित होता है, सब कुछ वह देश-काल के आभास के भेद से अपना स्वरूप ही है। यदि तुम कहो कि पूर्व वाला ही अर्थ प्रकाशित होता हो, तो उस अनुभव से कौन सा भेद है, कौन इस प्रकार कहता है कि प्रकाशित होता है। अरे ! वह प्रकाशित होता है वही पूर्व का काल इसके वेद्य को स्वीकार करनेवाले अवभास अंश में अपने लक्षण का कारण है और इस समय में भी स्मर्ता के देह, प्राण आदि से होनेवाला वर्तमान काल विमर्श भाग में भासता है, यही दोनों काल का स्पर्शन उस विमर्श का हेतु है।]

स्मृति काल में अर्थ सामर्थ्य से युक्त होकर पूर्व अवभासित स्वलक्षणरूप अर्थ को विमर्शन करता हुआ अखिलाभास से मिश्रित वपु केवल घटाभासतया भासित होगा ॥ २ ॥

इह स्मृतेकाले तावत् अर्थो[१]**ऽध्यवसीयते, अन्यथा सुप्तमूर्च्छितकल्पतापत्तेः। एवं च यावत् अध्यवसायोऽर्थस्य तावत् 'अर्थात्' इति सामर्थ्यात् इयत् अभ्युपगन्तव्यम्—यत् सोऽर्थः प्रकाशते, अप्रकाशमानेऽध्यवसातव्येऽध्यवसायोऽन्धप्रायः स्यात्। प्रकाशनं च न तदानीन्तनकालस्य त्यागेन, नापि स्वीकारेण इदम् इत्येवावभासनप्रसङ्गात् तस्मात् अतीतानुभवकालः पूर्वानुभूतभावस्वालक्षण्याक्षेपकत्वेनापेक्षणीयो वेद्यभागे प्रकाशात्मकावभासाभिनिवेशितया, स्मर्तृदेहप्राणाद्यवभासकालश्चावलम्बनीयो वेदकभागे विमर्शांशाभिनिवेशित्वेन। आभासमात्रं हि भावस्य स्वरूपं, प्रत्याभासं प्रमाणस्य व्यापारात्। तदेव आभासान्तरव्यामिश्रणया दीपसहस्रप्रभासंमूर्च्छनवत् स्फुटीभवति। आभासान्तरव्यामिश्रणाभावेऽपि तु कालाभाससंभेदेनैव स्वालक्षण्यं तस्य आभासस्य करोति—कालशक्तेरेव भेदकत्वात् इति वक्ष्यते। एवं तावत् स्वलक्षणीभावः प्राक्तनदेहाभाससाचिव्याद्युदितकालाभासयोजनया घटाभासस्य इति। तावत्येव वा स्मृतिः आभासान्तरैरपि व्यामिश्रा अतिस्फुटा। अत्यन्तस्फुटीभावेऽपि तदानीन्तनकालता न त्रुट्यति अन्यसाधारण्येन अनवभासनात्। तथावभासे तु योगिनस्तन्निर्माणमेव। ब्रह्मभाषितादौ तु नवमेव अवभासनम्**[२]

स्मृतिकाल में ही स्वलक्षणरूप अर्थ का अध्यवसाय होता है, यह बात न मानोगे तो सुप्त और मूर्छित व्यक्ति को जैसे अर्थ का अध्यवसाय नहीं होता है वैसे ही होने लगेगा, और भी जितना अर्थ सम्बन्धी अध्यवसाय होता है उतना अर्थात् अर्थ सामर्थ्य से ही सम्भव हो सकता है यह सभी के लिए स्वीकार करने योग्य होना चाहिए जो वह अर्थ प्रकाशित है, अध्यवसाय का प्रकाश नहीं होने पर प्रायः अन्धे के समान हो जायेगा और प्रकाशन में उस काल का न त्याग करने से, न तो, स्वीकार करने से काम चलेगा केवल 'इदम्' इतना ही कहना पड़ेगा। इस हेतु से अतीत अनुभव काल और पूर्वानुभूतभाव का जो अपना स्वरूप है उसकी वेद्यभाग में अपेक्षा करनेवाले से अपेक्षणीय है प्रकाशरूप में अवभासित होने के अभिनिवेश से स्मर्ता के देह-प्राणादि का अवभासकाल भी वेदक भाग में अवलम्बन करना पड़ेगा, विमर्श अंश का अभिनिवेश होने से आभासमात्र ही भाव का स्वरूप है; क्योंकि प्रत्याभास प्रत्यक्षादि प्रमाण का प्रमारूप व्यापार है। वही भावरूप दूसरे आभास के मिल जाने से सहस्र प्रदीप की प्रभा के मिलावट के तुल्य स्फुट हो जाता है। किन्तु दूसरे आभास के न मिलने पर भी कालाभास के पृथक कर देने से ही उस आभास का अपना स्वरूप प्रकट हो जाता है—क्योंकि भेद कराने वाली काल-शक्ति ही है—इस विषय में आगे बताया जायेगा। इस प्रकार पूर्ववर्ती शरीराभास के साथ उदित काल के आभास को जोड़ने से घटाभास का यही अपना लक्षण करना है, तबतक ही स्मृति भी दूसरे आभास के साथ मिली हुई अत्यन्त स्फुट होती है। अत्यन्त स्फुटीभाव होने पर भी उस समय होने वाले काल का स्वरूप नहीं टूटता है; क्योंकि अन्य के सदृश वह अवभासित नहीं होता है। यदि वैसा भासता तो भी वह योगी का निर्माण ही होगा। ब्रह्म के द्वारा भासित होने वाली वस्तुओ में नया ही

---

१. अर्थ = स्वभाव लक्षण।

२. उस काल में होने के कारण ये प्रमातावर्ग सर्वज्ञ कहलाते हैं, अथवा संसारी होते हैं, अनुमान, आगमादि प्रमाणों से आया हुआ उसका विषयप्रकाश अपूर्व रूप से देखते हैं अर्थात् विमर्शन करते हैं उसमें जो ज्ञान का आभास है उसके साथ उस अंश में ही भगवान् की इच्छा से ऐक्यभाव हो जाता है। स्मरण

इति। तत्र तु आगमादिमानान्तरानुभूतब्रह्मादिस्वरूपस्मरणपरम्परा अभ्युपायः। 'भासयेत्' इति विधिरूपेण नियोगेन नियमो लक्ष्यते, न भासयति इत्येतत् न, अपि तु भासयत्येव इति। 'स्वकाले' इति स्मरणकाले। 'आमृशन्' इति वेदकभागनिवेशी वर्तमानकाल उक्तः। 'पूर्वावभासितं स्वलक्षणम्, इति वेद्यांशस्पर्शी भूतकालो घटाभासस्यापि केवलस्य स्वालक्षण्यापत्तिहेतुर्दर्शितः। इयदेव स्मृतेः अव्यभिचारि वपुः, अर्थितातिशयात् तु स्फुटत्वम् इति 'अथ' शब्दो द्योतयति। तदेवाह 'अखिलात्मना' इति सर्वाभासमिश्रेण वपुषा इत्यर्थः॥ २॥

ननु एवं स्वलक्षणस्य प्रकाशने भेदेन बहिस्तदवभासेत। एतदेव हि बहिरवभासनम्—यत् स्वलक्षणप्रकाशनम् इति शङ्काशमनाय निरूपयति—

नच युक्तं स्मृतेर्भेदे स्मर्यमाणस्य भासनम्।
तेनैक्यं भिन्नकालानां संविदां वेदितैष सः॥ ३॥

भासन है। वहाँ पर तो आगम आदि दूसरे प्रमाणों से अनुभूत ब्रह्मादि स्वरूप का स्मरण-परम्परा उपाय है। 'भासयेत्' इस विधिलिङ् के प्रयोग से मालूम पड़ता है कि—नहीं भासित करता है यह बात नहीं है, अपितु भासन करता ही है। 'स्वकाले' स्मरण काल में। 'आभृशन्' विमर्शन करता हुआ वेदक अंश को बतलानेवाला वर्तमानकाल का प्रयोग कहा गया है। 'पूर्वाभासितं स्वलक्षणम्' वेद्यांश का स्पर्श करनेवाला भूतकाल केवल घटाभास का भी स्वलक्षण आ पड़ेगा; इसका हेतु भी दिखा दिया। इतना ही स्मृति का अव्यभिचारी वपु है, जो कि अभीष्ट वस्तु को अत्यन्त चाहने के कारण उससे भी अधिक स्फुरता आ जायेगी, यह 'अथ' शब्द द्योतित करता है। उसी बात को कहते हैं कि 'अखिलात्मना' समस्त आभास से मिला हुआ शरीर है। क्योंकि परमार्थ अन्धे के समान नहीं होता है॥ २॥

अब शंका करते हैं कि इस प्रकार अपने स्वरूप का प्रकाशन करने पर भेद से वह बाहर की ओर प्रकाशित होगा। क्योंकि यही बाहर का अवभासन है जो अपने स्वरूप का प्रकाशन है। इस शंका के समाधान में उत्तर देते हैं—यह स्मर्ता है वही अनुभव करनेवाला है, भिन्नकाल में होनेवाले ज्ञानों की उस हेतु से एकता है। स्मर्यमाण विषय का स्मृति से भेद हो जाने पर भासित होना उचित नहीं है॥ ३॥

में तो पूर्व प्रमाताओं का जो ज्ञानाभास है उस स्मरण करनेवाले का पूर्व अनुभव से मिला हुआ रहता है और वही इस समय उन्मिलित हो जाता है। यही दोनों में भेद है।

१. नियोग का अर्थ आज्ञा है और नियम का आवश्यभाव। क्योंकि मर्यादा ज्ञान आज्ञा करना रूपी है, स्वयं मर्यादा को जानकर दूसरों को उसका ज्ञान कराते हुए आज्ञा करना यही इसका तात्पर्य है, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इसमें स्वर्गकाम के लिए यह अवश्य "जुहोति" हवन करना ही है, नहीं तो स्वर्गकाम का पारमार्थिक रूप नहीं रह जायेगा। इसलिए "भासयेत्" इस क्रिया में लिङ्ग लकार है।

२. 'स्मृतेः' इस प्रयोग में पञ्चमी विभक्ति है।

स्मरणज्ञानात् भिन्नत्वेन बहीरूपतया यदि सोऽर्थो भासेत 'स्मर्यमाणस्य' च यत् 'भासनं' तदेव न स्यात् स्मर्यमाणमेव तत् न स्यात्, अनुभूयमानमेव तत् भवेत् इति यावत्। ननु चैवं कथं स्वलक्षणस्य प्रकाशनम्? उक्तमेतत्—न इदानीं प्रकाशनम् अपि तु पूर्वकाले एव, तदा चासौ बहिरवभासत। ननु चेदानीं तर्हि किम्?—विमर्शनम् इति ब्रूमः। ननु प्रकाशनविमर्शनयोः भिन्नकालत्वम् आपतितम् ततः किम् उभयमपि न किंचित् स्यात् अन्योन्यजीवितत्वात् अस्य?, नैवम्, यस्य हि संवेदनान्येव भिन्नानि तत्त्वम् तस्य इदम् अप्रतिसमाधेयमेव, अस्मद्दर्शने तु भिन्नकाला अपि संविदः तत्कालात्यागेनैव एकताभासनेन स्वतन्त्रः प्रमाता यावदन्तर्मुखतया तावत्यंशे विमृशति तावत् प्रकाशस्य तात्कालिकबहिर्भावावभासो, विमर्शस्य इदानीन्तनान्तर्मुखा स्थितिरेव, एतदेव वेदनाधिकं वेदितृत्वं—वेदनेषु संयोजनवियोजनयोः यथारुचि करणं स्वातन्त्र्यम्, कर्तृत्वं च एतदेव उच्यते घटमहमन्वभूवम् इति वा, स घटः इति वा 'ऐक्यम्' अनुसंधानम् अनुसंधातुरभिन्नम् इति दर्शयितुं यदेव ऐक्यं 'स एव वेदिता'[1] इति सामानाधिकरण्येन दर्शितम्।

स्मरण ज्ञान से भिन्न होने के कारण बाहररूप से यदि वह अर्थ स्मरण ज्ञान से भिन्न होकर बाहर में भासित होगा 'स्मर्यमाण' स्मर्यमाण विषय का तो 'भासन' भासित होना होता है, वह स्मर्यमाण विषय ही नहीं होगा, उसे तो अनुभूयमान ही कहा जायेगा। तब फिर स्वलक्षण का प्रकाश कैसे बनेगा?

इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि प्रकाशन है वह इस समय का नहीं है अपितु पूर्व काल का ही है इस बात को हम पहले कह चुके हैं, तभी यह बाहर में अवभासित होता है। अब शंका करते हैं कि अभी जो वर्तमानकाल में प्रकाशमान हो रहा है वह क्या चीज है?—यह तो विमर्शन है—ऐसा हम कहते हैं। जब ऐसी बात है तब तो प्रकाशन और विमर्शन में भिन्नकालत्व आ पड़ेगा; दोनों का भी कुछ अर्थ नहीं है उससे फिर क्या लाभ होगा जब एक दूसरे परस्पर जीवित हैं तो कुछ भी दोनों से होनेवाला नहीं है? ऐसी बात नहीं है, क्योंकि जिसका संवेदन ही भिन्न-भिन्न तत्त्व होता है उस बौद्ध के लिए यह अशक्य समर्थन ही है। हमारे शैवाद्वैत दर्शन में तो भिन्न काल के रहते हुए भी संविद्रूप के उस काल को नहीं छोड़ने से ही ऐक्यरूप के आभास होने से स्वतन्त्र प्रभाता माना जाता है, जहाँतक 'संवित्' अन्तर्मुखरूप से रहता है उतने अंश में ही विमर्शन करता है और वहाँतक ही प्रकाश का भी तात्कालिक बाहरी भाव में अवभास होता है, किन्तु विमर्शन की वर्तमानकाल में ही अन्तर्मुखी स्थिति रहती है, यही ज्ञान से अधिक बढ़ा-चढ़ा हुआ ज्ञाता का स्वरूप है एवं ज्ञानों में संयोजन और वियोजन अर्थात् मिलाने-हटाने की जैसी अपनी अभिरुचि है तदनुकूल करना ही स्वातन्त्र्य है, और इसीको कर्तृत्व भी कहा जाता है। या मैंने घट का अनुभव किया, 'वह घट है' ऐसा जो 'ऐक्य' वह अनुसन्धानरूप स्वातन्त्र्य है वही ऐक्य अनुसन्धान करनेवाले से अभिन्न है, उसे बताने के लिए जो ऐक्यभाव का अनुसन्धान करनेवाला है 'स एव वेदिता' वही जाननेवाला आत्मा है; ऐसा एक विभक्ति से सामानाधिकरण्य दोनों में बताया गया है। 'एष स' 'यही वह है' इस कथन से जो

---

१. वेदिता = आत्मा।

'एष स' इति आच्छादितस्येव प्रमातृतत्त्वस्य स्फुटावभासनं कृतम् इदम् इति विस्मयगर्भया उक्त्या प्रत्यभिज्ञानमेव सूचितम्। यदाह ग्रन्थकार एव—

इत्थं स्वसंवित्तिमपह्नुवानैर्यत्तद्वदद्भिः कलुषीकृतं यत्।
प्रमातृतत्त्वं स्फुटयुक्तिभिस्तान्मूकान्विधाय प्रकटीकृतं तत्॥ इति ॥ ३ ॥

ननु च प्राच्य एव अनुभवो यदि स्मर्यमाणस्य बहिरवभासनरूपः प्रकाशः तर्हि इयत् उच्यताम्—सोऽनुभव इदानीं स्मरणेन विषयीक्रियते—इति, ऐक्येन तु अलौकिकेन कोऽर्थः इति व्यामोहं विहन्तुमाह—

नैव ह्यनुभवो भाति स्मृतौ पूर्वोऽर्थवत्पृथक्।
प्रागन्वभूवमहमित्यात्मारोहणभासनात् ॥ ४ ॥

वैधर्म्यसाधर्म्याभ्यां दृष्टान्तः 'प्राक्' इति अनुभवकाले यथा स 'पूर्वो' घटादिः अर्थः 'पृथक्' इति इदन्तया भाति स्म नैवं स्मरणकाले स्मृतिज्ञानात् पृथक्त्वेन इदं पूर्वमनुभवनम् इति 'भाति'। यथा च स्मृतिकाले तस्मात् स्मृतिज्ञानात् सोऽर्थः 'प्राक्' इति 'पूर्वस्वभावो न भेदेन आभाति, स्मृतिकाले बहिरवभासाभावात्। एवं तत एव हेतोः 'पूर्वोऽपि अनुभवो' न भेदेन आभाति, कथं तर्हि उभयं भाति!—अन्वभूवम् इत्येवम्। एतत् किमुच्यते?—इति चेत्,

ढका हुआ सा था उस प्रमातृत्त्व का स्फुट अवभासन कर दिया इस विस्मयगर्भ युक्ति से पहचान करा दिया कि यही वह है। ग्रन्थकार ने स्वयं इस विषय में कहा है—

इस प्रकार छिपानेवाले बकवासियों के द्वारा जिस स्वसंवित् ज्ञान को कलुषित कर दिया है। उन्हें प्रस्फुट युक्तियों से मूक बनाकर प्रमातृतत्त्व को प्रकट कर दिया। अब शंका करते हैं कि पूर्व का ही अनुभव यदि स्मर्यमाण विषय का बाहर में अवभासित होनेवाला प्रकाश है तो इतना ओर कहिये कि वही अनुभव इस समय स्मरण का विषय किया जाता है यह जो अलौकिक ऐक्यभाव है उससे कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा; ऐसा जो बौद्धों का मोह (अज्ञान) है उसे दूर करने का उपाय बताते हैं।

पूर्व का अनुभव स्मृति में अर्थ की भाँति अलग से नहीं भासित होता, मैंने पहले अनुभव किया था, उसी का कर्ता को आगे चलकर भान होता है ।।४।।

उस समय जैसे वस्तु-पदार्थ भासता था वैसे इस वर्तमान समय में नहीं भासता है, यह साधर्म्य है, जिसे अन्वयव्याप्तिक कहा जाता है, इस वर्तमान समय में जैसे एकरूप में अभेदरूप से भासता है वैसे उस काल में नहीं भासता था यह वैधर्म्य दृष्टान्त है।

वैधर्म्य और साधर्म्य को दृष्टान्त देकर बताते हैं 'प्राक्' पूर्वकाल में जैसे वह 'पूर्वो' घटादि अर्थ 'पृथक्' भिन्न इदन्तथा भासता था, वही इस समय स्मरणकाल में स्मृतिकाल से पृथक्त्वेन यह पूर्व का अनुभव नहीं 'भाति' भासता है। और अब साधर्म्य दृष्टान्त को बताते हैं। स्मृतिकाल में स्मृतिज्ञान से वह अर्थ 'प्राक्' पूर्व स्वभाववाला भेद से नहीं भासता है, क्योंकि स्मरणकाल में बाहरी अवभास का अभाव है। ऐसी अवस्था रहने पर उसी हेतु से [बाहरी अवभास का अभावरूप कारण होने से] 'पूर्वोऽपि अनुभवः' पूर्व का भी अनुभव भेद से नहीं भासता है, तब उस समय अर्थ और अनुभव ये दोनों कैसे भासते हैं? इसके समाधान में इतना

'अहम्'—इत्येवं स्वभावो य 'आत्मा' पूर्वापरसंविदन्तर्मुखस्वभावः तत्र यत् 'आरोहणं' विश्रमः तेन हेतुना पूर्वसंविद्रूपतायाः स्वप्रकाशाया 'भासनात्' तल्लीनस्यापि घटस्य स्वप्रकाशदेशीयत्वेन अवभासनम्। 'आत्मनि च आरोहणं' विश्रमणा अनुभवस्य अर्थस्य च। प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतः—इति न्यायात् संख्याक्षिप्ते तद्वति वा कर्तृभूतेऽस्मदर्थे प्रत्ययार्थेऽनुभवो ब्रुडितः तद्द्वारेण अर्थोऽपि च, न तु स्वातन्त्र्येणैव असौ, तदर्थमेव कर्म न निर्दिष्टम्। घटादिः पुनः अनुभवकाले न अस्मदर्थमारोहति, 'हि' यस्मात् नैव भाति पूर्वोऽनुभवः पृथक् अपरार्धोक्तवात् हेतोः, तस्मात् संविदामैक्यम् इति पूर्वेण संबन्धः। लुङा भूतकालस्य द्योतितत्वात्, 'प्राक्' इति भिन्नक्रमः, उत्तमपुरुषेण अस्मदर्थस्य 'अहम्' इत्यपि, आरोहणम् इति रुहिरपि णिजन्तोऽपि ॥ ४॥

ननु क एवमाह—अनुभवः पृथक् न भाति ?—इति, घटवत् न भाति—इति चेत् किं ततः ? घटोऽपि हि न अनुभवभङ्ग्या भाति—इति, किं न भाति ? स्वभावेन भाति—इति तु उभयत्रापि समानम्। तथाहि—अतीतानागतसूक्ष्मादि यथा योगिज्ञाने विषयीभवति इति अभ्युपगतम्, तथा परचित्तमपि 'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।' (योगद० ३ पा० १९ सू०) इत्यादौ।

ही कहते हैं कि मैंने अनुभव किया था। तब ऐसा है, 'अहम्' ऐसा स्वभाववाला जो 'आत्मा' पूर्व-अपर [अर्थका अनुभव और स्मृति] ज्ञान को अपने भीतर रखनेवाले स्वभाव से युक्त होकर वहाँ जो 'आरोहण' विश्रम स्थिर हो जाना उस हेतु से पूर्व पदार्थ का ज्ञान संविद्रूप में स्वयं प्रकाशित है, उसीमें लीन हुए घट का भी स्वप्रकाश के तुल्य अवभासन है। 'आत्मनि च आरोहणम्, अर्थ का और अनुभव का आत्मा में आरोहण हो जाना ही विश्रमण कहलाता है। प्रकृति 'श्रम' धातु और 'युच्' प्रत्यय येही दोनों साथ रहकर अर्थ करते हैं [इसमें 'ण्यासश्रन्थो युच्' (पाणिनीय व्याकरण ३ अ-३ पाद० १९ सूत्र से युच् प्रत्यय हुआ है] इन न्याय से विश्रमणा में एक वचन संख्या आक्षेप करने से उस संख्यावाले आत्मा में जो 'अस्मत्' शब्द का अर्थ कर्तृभूत है वह प्रत्ययार्थ है उसीमें अनुभव डूब जाता है और उसके द्वारा अर्थ भी डूब गया, अब वह स्वातन्त्र्यरूप से नहीं है, इसलिए कर्म का निर्देश नहीं किया है। पुनः घटादि अनुभव-काल में 'अस्मद्' अर्थ के ऊपर नहीं आरोहित होता है, 'हि' जिससे श्लोक में ऊपर कहे हुए हेतु से, जो कि हमने कहा है कि अनुभव पृथक् नहीं भासता इसलिए संवित् ज्ञानों को एकता है यह पूर्व के श्लोक से सम्बन्ध रखता है। 'अन्वभूवम्' इस क्रिया में 'लुङ्' लकार से भूतकाल झलकता है, 'प्राक्' इसका भिन्नक्रम अर्थ है, 'अस्मत्' शब्द का अर्थ 'अहम्' है उसके साथ 'प्राक्' का अन्वय है, आरोहण में 'रुहि' धातु का अर्थ 'णिजन्त' चढ़ा देना भी है ॥ ४॥

अब प्रश्न करते हैं कि ऐसा कौन कहता है अनुभव अलग से नहीं भासता है ? अनुभव घट की तरह अलग नहीं भासता है ऐसा यदि कहो, तो उससे क्या होना है [स्मृति में नहीं भासता है] घट भी तो अनुभवभंगी रीति से नहीं भासता है, क्यों नहीं भासता है ? अपने स्वभाव से भासता है; ऐसा यदि कहते हो, तो अनुभव और अर्थ में अन्तर ही नहीं रहा, तब तो फिर दोनों में समानता ही रह जायेगी। जैसे कि भूत और भविष्यगत सूक्ष्म परमाणु आदि योगी को प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो जाते हैं—यह बात स्वीकार की जाती है, उसी प्रकार दूसरों के चित्त का भी साक्षात्कार हो जाता है—

'प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानमि'ति। (पा० योगदर्शन ३ पा० १९ सूत्र)

तत्र ज्ञानवृत्तिपरिणतमेव सत्त्वं चित्तशब्देनोक्तम्, अन्यथा प्रत्ययस्य संयमविषयीकार्यत्वं किमुच्यते, आलम्बनयोगश्च कथं शङ्क्येत,—'न च सालम्बनमिति—' तस्मात् परकीयमनुभवनमिव निजमपि विषयीक्रियताम् इत्याशङ्क्य दृष्टान्त एवासिद्धः इति, 'भान्ति' इत्यन्तेन अभ्युपगमेन वा सिद्धत्वेऽपि प्रकृतेऽर्थे विषमः इति शेषेण दर्शयति—

योगिनामपि भासन्ते न दृशो दर्शनान्तरे ।
स्वसंविदेकमानास्ता भान्ति मेयपदेऽपि वा ॥ ५ ॥

'योगिनां' यत् एतत् 'दर्शनान्तरं' भावनाद्युद्भवः परचित्तविषयो ज्ञानविशेषः, तत्र 'दृशः' इति उपलब्धयो न भान्ति। तथाहि—सौगतानां तावत् स्वप्रकाशैकरूपं ज्ञानं, तत् चेत् ज्ञानान्तरेण वेद्यं, तर्हि यत् अस्य निजं वपुः अनन्यवेद्यतया प्रकाशनं नाम, न तत्प्रकाशितं स्यात् ।

परपुरुष की वृत्ति में ध्यानसंयम करने से उसके साक्षात्कार हो जाने पर उसके चित्त का बोध होता है कि उसका चित्त अभी रागयुक्त है अथवा वैराग्यवाला है अर्थात् दूसरे चित्त प्रविष्ट धर्मों को जानता है। 'न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्' रागयुक्त वृत्ति को तो जान लेता है किन्तु इस आश्रय में रक्त है ऐसा ज्ञान का बोध योगी नहीं कर सकता, क्योंकि दूसरे पुरुष के चित्त का आलम्बन अविषय होता है। इसका चित्त नीलरंग विषयक है या पोतरंग विषयक है यह नहीं जानता है। जो ग्रहण नहीं किया है उसमें संयम करना असम्भव होने के कारण, दूसरे के चित्त का जो विषय है उसका ज्ञान नहीं होता उसी कारण दूसरे के चित्त को आलम्बन सहित नहीं ग्रहण किया जाता है, क्योंकि उसका आलम्बन अगृहीत होता है। परन्तु चित्त के धर्म ग्रहण किये जाते हैं। इसके चित्त से क्या वस्तु आलम्बित है जब ऐसा ध्यान किया जाता है तब ऐसा ध्यान संयम उसका करने से उस विषय का ज्ञान भी पैदा होता है। उसमें ज्ञानवृत्ति का परिणाम प्राप्त होनेवाले सत्त्व [अन्तःकरण] को चित्त शब्द से कहा गया है, अन्यथा ज्ञान का संयम करना क्या माने रखेगा, और तब फिर आलम्बन योग के विषय में शंका कैसे खड़ी होती है, 'न च सालम्बनमिति'—दूसरे के अनुभव जैसा अपना अनुभव भी [सविषय] सालम्बन करो ऐसी शंका करके योगी अर्थात् प्रत्ययरूप दृष्टान्त दिया है, वह असिद्ध हो जायेगा, इस बात को 'भान्ति' प्रकाशित होते हैं, यहाँ तक मान करके या प्रकृत अर्थ के सिद्ध हो जाने पर बचे हुए [मेय] पद से दिखाते हैं—

दूसरे के विषय में योगी लोगों का ज्ञान भी नहीं भासता है। अथवा वे स्वसंवित् एकता को प्राप्त हुए विषयपद में भी प्रकाशित होते हैं ॥ ५ ॥

'योगिनाम्' जो यह 'दर्शनान्तरम्' दूसरे के विषय में योगिजन को भूतार्थ-भावना पर्यन्त अन्य के चित्त का ज्ञान विशेष होता है, वहाँ पर 'दृशः' ज्ञान वेद्यरूप से नहीं भासित होते हैं। जैसा कि 'सौगत' बौद्धों का स्वप्रकाशरूप एकमात्र ज्ञान ही है, वह यदि दूसरे ज्ञान से वेद्य है, तो इसका अनन्य वेद्यतया प्रकाशित होना कैसे माना जायेगा, स्वयं प्रकाशित होने वाला ज्ञान दूसरे ज्ञान से प्रकाशित नहीं हो सकता। सांख्यों के मत में भी पुरुष का प्रतिबिम्ब ही ज्ञान [बुद्धि,

सांख्यानामपि पुरुषच्छायैव उपलब्धिः, पुरुषश्च असंवेद्यपर्वा इति कथं वेद्यः स्यात् । वैशेषिकाणामपि आत्मनि अभेदेन समवायि संवेदनं परगतं मनसा कथं गृह्णीत अन्तःशरीरवृत्तिना, तच्छरीरान्तरऽनुप्रवेशे तु तस्यैव अहम् इति शरीरीकरणात् अहन्तावभासितत्वात् आत्मनो भेदो विगलेत्, नित्यानुमेयत्वं तु न आत्मन उपपद्यते, ज्ञानस्य च ज्ञानान्तरवेद्यत्वेऽनवस्थादि उक्तम् । तस्मात् योगिनः परवित्तवेदनावसरे इयान् प्रकाशः —एतद्देहप्रकाशसहचारी घटसुखादिप्रकाशः —इति । तत्र घटसुखादिः इदन्तया भाति, तद्गतस्तु प्रकाशोऽहम्—इत्येव स्वप्रकाशतया प्रकाशते । प्रमात्रीकृतपरदेहप्राणादिसमवभाससंस्कारात् तु तन्निष्ठाम् इदन्तां प्रकाशभागेऽपि मन्यमान इदं परज्ञानम् इति अभिमन्यते अविगलितस्वपरविभागो योगी । प्राप्तप्रकर्षस्तु सर्वम् आत्मत्वेन पश्यन् स्वसृष्टमेव स्वपरविभागं पश्यति इति ज्ञानस्य न योगिज्ञानेन प्रकाश्यता, भवतु वा तथापि प्रकृते न एतत् समम् । तथाहि—अयमनुभवति इति परनिष्ठ एव असौ अनुभवे योगिनः प्रकाशो, न तु अहमनुभवामि इति आत्मारोहेण, इह तु अन्वभूवम् इति अहमंशविश्रान्तिः अनालीढेदंभावैव अनुभवस्य इति युक्तमुक्तम्—यस्मात् अनुभवः पृथक् न भाति तस्मात् ऐक्यं भिन्नकालानां संविदां वेदिता इति ॥ ५ ॥

उपलब्धि] माना जाता है, और स्वयं पुरुष भी असंवेद्यवर्ग की श्रेणी में है वह वेद्य कैसे हो सकता है ? वैशेषिक काणादों का भी आत्मा में अभेद समवाय-सम्बन्ध, समवायी संवेदन, अन्तःशरीरवृत्ति मन के द्वारा दूसरे के विषय को कैसे ग्रहण करेगा, उसके शरीर के भीतर प्रवेश कर लेने पर तो उसका ही 'अहम्' ऐसा जीवात्मा का रूप धारण कर लेने से और उसकी अहन्ता से अवभासित हो जाने से अपना भेद गल जायेगा, आत्मा का नित्य अनुमेयत्व नहीं हो सकेगा और एकता से दूसरा ज्ञान प्रकाशित होता है तो, अनवस्थादि दोष से ग्रस्त हो जायेगा, यह हम कह चुके हैं। इसलिए योगी को दूसरों के चित्त का ज्ञान करते समय ये जो कहे जाने वाले प्रकाश दूसरों के देह के साथ रहनेवाला घटसुखादि प्रकाश है उसकी चिन्ता को देख सकते हैं किन्तु घट सुखादि को नहीं जान सकते हो। घटसुखादि इदन्तारूप से अलग ही भासता है, घटमुखादि तो 'अहम्' इसी प्रकाश में प्रकाशित रहता है। अर्थात् अपने स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित होता है। बनाये गये प्रमाता के दूसरे देह, प्राणादि अवभास के संस्कार से उसमें हुई इदन्ता को प्रकाशभाग में भी मानता हुआ यही उत्कृष्ट ज्ञान है—ऐसा समझ लेता है; जिसमें कि योगो दूसरे के साथ अपना भेदभाव नहीं रखता। दृढरूप से अपना और दूसरे का संस्कार भी विनष्ट हो जाने से, योगी आत्मभाव से देखता हुआ स्व-पर-विभाग को भी अपने आप से सर्जन किया हुआ ही देखता है। ज्ञान की प्रकाशता योगी के ज्ञान से नहीं होती है, क्योंकि वैसा उसका विषय न होता है, चित्तमात्र को ही योगी विषय करता है, भले ही प्रकृत में उसकी आवश्यकता नहीं है। यही बात है देखो, यह अनुभव करता है ऐसा दूसरों के लिए ही अनुभव में योगी का प्रकाश है। मैं अनुभव करता हूँ ऐसा अपने को लगाकर प्रकाश नहीं होता, यहाँ पर मैंने अनुभव किया, ऐसा आत्मा 'अहम्' का उल्लेख है इदं-भाव का अनुभव नहीं चढ़ा हुआ है; इसीलिए हमने ठीक ही कहा है—जिससे अनुभव अलग नहीं भासता है इसीलिए भिन्न कालों के संवित् ज्ञानों को भी एकरूप से ज्ञानने वाला वेदिता इत्यादि ॥ ५ ॥

यदि अहं-भावविश्रान्तिवशात् अनुभवः स्मृतौ पृथक् न भाति इति उच्यते, तदा परामर्शान्तरं साक्षादेव इदन्तया अनुभवं परामृशत्, यदि वा इदं-भावोचितघटादिविश्रान्तताम् अनुभवस्य प्रथयत् उपलब्धम्, इति तदनुसारेणापि किं न व्यवह्रियते इति पराभिप्रायं प्रतिक्षिपति–

स्मर्यते यद्दृगासीन्मे सैवमित्यपि भेदतः ।
तद्व्याकरणमेवास्या मया दृष्टमिति स्मृतेः ।। ६ ।।

लोकस्य तावत् एवं न संवेदनं, स हि न पृथग्भूतां दृशं कांचित् मन्यते—'सा दृक् मे आसीत्' इत्येवम्, अपि तु यत् स्मर्यते एवंभूतमपि यत् स्मरणं कस्यचित् विवेचकंमन्यस्य, तत् स्मृतेर्व्याकरणम्, पदस्येव प्रकृतिप्रत्ययार्थनिरूपणं काल्पनिकं विभज्य आकरणं परत्र प्रतिपादन-मात्रम् । सोऽपि यदि मूलप्रतीतिं विमृशति पूर्वोक्तक्रमेण, तदा अनुभवं पृथग्भूतं न वेद, यत एव तत् राहोः शिरः इतिवत् कल्पितं भेदं मन्यते, अन्यथा स घटः इतिवत् 'सा दृक्' इत्यत्रापि प्राक्तनं दृगन्तरम् अपेक्षणीयं स्यात् । तत् इत्यनेन हि घटस्य वा दृशो वा पूर्वानुभवविषयापत्तिः

यदि अहं [आत्मा के आरोहण से भासित होने से] भाव को विश्रान्ति के कारण अनुभव स्मृति में अलग नहीं भासता है—ऐसा कहते हो, तो दूसरा परामर्श साक्षात् ही इदन्तारूप से अनुभव को परामर्श करेगा। अथवा इदंभाव से मिला हुआ घटादि के अनुभव की उपलब्धि को बढ़ाता हुआ उसके अनुसार भी क्यों न व्यवहार हो यह दूसरे के अभिप्राय का हस्तक्षेप करना है—

जो मेरा ज्ञान था वह भी ऐसा ही भेदसे स्मरण होता है। इसी स्मृति का जो विस्तार है उसी को मैंने देखा ।। ६ ।।

घट के विषय में मेरा अनुभव था इस कथन में भी घट ही वेद्य होता जैसा कि इस विषय में कहते हैं—'घटज्ञानमिति ज्ञानं घटज्ञानविलक्षणम् । घट इत्यपि यज्ज्ञानं विषयोपनिपातितत् ।।' घट ज्ञान का ज्ञान घट ज्ञान से विलक्षण है। घट यह ज्ञान भी विषय को ग्रहण करता है।

संसार का ऐसा ज्ञान नहीं होता है, वैसी दृष्टि थी, वह मेरा अनुभव था ऐसा स्मरण होता है, दृष्टि को अलग नहीं मानता है वह विषय से भिन्न किसी दृष्टि को नहीं मानता, 'सा दृक् मे आसीत्' वह ज्ञान मेरा था ऐसा नहीं बोलता है, अपि तु जो किया है जो कोई ऐसा भी स्मरण मानेगा जिसमें किसी दूसरे का विचार करना पड़ेगा, उसे स्मृति का विस्तार कहते हैं, पद के जैसा प्रकृति-प्रत्यय के अर्थ का निरूपण काल्पनिक विभाग करके दूसरे को समझना मात्र है। वह भी यदि मूलप्रकृति का विचार करेगा तो 'अहम्' आत्मा के आरोहण का ही विचार करेगा। पूर्वोक्त क्रम से मैंने अनुभव किया, तब तो, अनुभव को अलग नहीं जानेगा, क्योंकि 'राहोः शिरः राहु का शिर है' इस प्रकार 'काल्पनिक' कल्पित भेद मानना पड़ेगा, यदि नहीं मानते हो तो फिर जैसा यह घट है 'सा दृक्' वह ज्ञान है इसमें भी पहले का दूसरा ज्ञान मानना पड़ेगा। उसको घट कहो अथवा वह ज्ञान कहो इस प्रकार पूर्व का अनुभव ही विषय हो जायेगा, अन्यथा ज्ञान इतना

---

१. घट के विषय में मेरा अनुभव था इस कथन में भी घट ही वेद्य होता है। अतः इस विषय में कहते हैं—
'घटज्ञानमिति ज्ञानं घटज्ञानविलक्षणम् ।
घट इत्यपि यज्ज्ञानं विषयोपनिपाति तत् ।।'
घट ज्ञान का ज्ञान घटज्ञान से विलक्षण है। घट यह ज्ञान भी विषय को ही ग्रहण करता है।

उच्यते, अन्यथा दृक् इत्येव स्यात्। ततश्च दृक् मया दृगन्तरेण अनुभूता इति आपतेत्। तत्रापि तथात्वेऽनवस्था।

ननु स्मृतेः मौलिकं किंरूपम्? उच्यते—मया दृष्टम् इति। ननु अत्र दयितावदन-नलिनादिविश्रान्तं दर्शनम् उक्तम् न तु आत्मारूढं—कर्मणि निष्ठोत्पत्तेः। स एष स्ववाचमेव न चेतयति। कर्तुः क्रियया हि आप्यं कर्म इति दृशिक्रियायाः कर्तृनिष्ठतैव। तथा च कर्तृस्थामेव दृशिक्रियामाहुः —'दर्शयते भृत्यान् राजा इत्यादौ। जैमिनीयैरपि ज्ञानरूपा दृशिः भावनात्मिका प्रमातृविश्रान्तैव उक्ता, केवलं प्रकटता विषयधर्मो, दृष्टता नाम अन्या, संवित् वा स्वतन्त्रा इति अन्यत् एतत्। प्रमातृविश्रान्तत्वमेव कथयितुं मया इत्युक्तम्। तेन अन्वभूवमहम्, मयानुभूतम् इति शब्दवैचित्र्यमात्रमिदम्, न तु अर्थभेदः। अन्ये तु भिन्नक्रमत्वेन योजयन्ति—दृक् आसीत् सा मे इत्येवं, मया दृष्टम्—इति च यत् स्मरणं, 'तत् व्याकरणमस्याः' इति अनन्तरोक्तान्वभूवम् इति उचितपरामर्शायाः स्मृतेः इति, अपिः चार्थे॥ ६॥

ही होता है। इसलिए 'ज्ञान को मैंने दूसरे ज्ञान से अनुभव किया' यही कहना पड़ेगा। उसमें भी दूसरा ज्ञान कहोगे तो अनवस्था हो जायेगी।

अब शंका करते हैं कि स्मृति का अविसंवादि स्थान से आया हुआ मूल पारमार्थिकरूप क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं—मैंने देखा है यही स्मृति का रूप है। प्रश्न उठता है कि स्त्री के मुखारविन्द में विश्रान्तिरूप दर्शन कहा गया है। किन्तु अपने ऊपर आरूढ नहीं बताया है बाहरी कर्म में निष्ठा की उत्पत्ति देखी जाती है। वह कर्ता अपनी वाणी को ही नहीं याद करता है; क्योंकि क्रिया के द्वारा कर्ता की अभीष्ट वस्तु की सिद्धि होना कर्म है अर्थात् क्रिया से कर्ता का जो अभीष्ट हो वही कर्म है, इस प्रकार दृशि क्रिया कर्तृनिष्ठ है। अन्य लोग भी कर्ता से ही दृशि क्रिया को मानते हैं—जैसे राजा परिकरों को दिखाता है। मीमांसकलोग भी ज्ञानरूप 'दृशि' धातु को भावनारूप में प्रमातृगत विश्रान्ति रहना मानते हैं, केवल प्रकट हो जाना ही विषय-धर्म है, दीखनापन दूसरा ही है, संवित् अथवा स्वतन्त्रता यह सब अवान्तर भेद हैं। प्रमातृगत विश्रान्तिता को ही कहने के लिए मैंने ऐसा कहा है। इसलिए 'मैंने अनुभव किया', 'मेरे द्वारा अनुभव किया गया' इन दोनों वाक्यों में शब्दों की विचित्रता अवश्य है किन्तु दोनों का अर्थ एक ही है। इसको दूसरे लोग भिन्न क्रम से कहते हैं—'ज्ञान मुझे था' और 'मेरे द्वारा देखा गया' ऐसा स्मरण होना ही इसका व्याकरण कहलाता है, बाद में जो कहा गया है, मैंने अनुभव किया यही उचित परामर्श वाली स्मृति का व्याकरण है, 'अपि' शब्द चकार अर्थ में है॥ ६॥

---

१. धातु दो प्रकार की होती है—कर्मस्थभाव और कर्तृस्थभाव। जिनकाभाव कर्म से अनुभूत होते हैं, वे तो कर्मगामी हैं और जिनका कर्ता से अनुभूत हैं वे कर्तृगामी हो जाती हैं। प्रत्येक का विभाग दिखाते हैं—

कर्मस्थः पचतेर्भावः कर्मस्था च भिदेः क्रिया। आसासिभावः कर्तृस्थः कर्तृस्था च दृशेः क्रिया॥

'पच्' धातु का भाव कर्म में रहता है और 'भिद्' धातु की क्रिया भी कर्म में रहती है। 'आस्' और 'अस्' धातु के भाव कर्ता में रहता है और देखने अर्थ में 'दृश्' धातु की क्रिया भी कर्ता में रहती है।

जैसे 'तण्डुलान् पचति' इस वाक्य में होनेवाले 'विक्लिति' नामक क्रियात्मक जो धातु का अर्थ है वह 'तण्डुलान् इस कर्म में है। उसी प्रकार 'भवता आस्यते' जो उपदेशात्मक धातु का

ननु दृष्टमपि निर्विकल्पेन यावत् न परामृष्टं विमर्शविशेषविश्रान्त्या तावत् न स्मर्यते मार्गदृष्टमिव तृणपर्णादि विशेषरूपेण, तदिदमेव विचारणीयं,—समनन्तरभाविविकल्पकाले तद्दर्शनम् इदन्तया अवभातपूर्वं वा न वा इति तदेतत् आशङ्क्याह—

या च पश्याम्यहमिमं घटोऽयमिति वाऽवसा ।
मन्यते समवेतं साप्यवसातरि दर्शनम् ॥ ७ ॥

इह दर्शनं यादृशं निजेन वपुषा तादृशेनैव तेन भातव्यं सर्वदा, तच्च स्वकालेऽनन्यप्रकाशम् अहम् इत्येतावता रूपेण उचितप्रकाशम्, तद्विकल्पांशविचारः तावत् न कुत्रचित् अङ्गम्, भवतु वा, किं तु अवसायोऽपि एवंभूतः इति अपि-शब्देन सूचयति। तत्र समनन्तरभाविना विकल्पेन वस्तु परामृश्यमानम् अनुभवपरामर्शमुखेन वा परामृश्यते अहमिमं पश्यामि इति वर्तमानतया, इमम् इत्यनेन च प्रत्यक्षव्यापारत्वं प्रत्यक्षायमाणत्वेन दर्शितम्। एवमेव वा परामृश्यते—घटोऽयम् इति।

अब शंका करते हैं कि निर्विकल्परूप से देखा हुआ भी जबतक परामृष्ट किये हुए में विमर्श विशेष की विश्रान्ति से अत्यन्त गौरपूर्वक 'दृष्ट' वस्तु को भी नहीं देखते तबतक वस्तु का स्मरण नहीं होता है। जैसे मार्ग में पड़ी हुई तृण-पर्णादि वस्तु विशेषरूप से देखता है तभी उसका स्मरण होता है, अन्यथा नहीं होता है, इसलिए यही विचार करना चाहिए कि ठीक उसके बाद होने वाला विकल्पकाल में निर्विकल्पक निःसन्देह अवभासपूर्व इदन्ता से उस वस्तु का देखना माना जाता है। वह है या नहीं है, इस आशंका को उठाकर कहते हैं—

मैं इसको देखता हूँ अथवा यह घट है ऐसा जो अध्यवसाय परामर्श है, उसका भी ग्राहकांश में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान ज्ञान माना जाता है ॥ ७ ॥

जैसा ज्ञान अपने शरीर रूपी स्वरूप से है वैसा ही सर्वदा उसे भासित होना पड़ता है और वह ज्ञान अपने निर्विकल्पकाल में अनन्य प्रकाश 'अहम्' इस रूप में ठीक भासित होता है, वह विकल्पांश का विचार पहले कहीं पर किसी का अंग नहीं बनता, सविकल्प में या निर्विकल्प में भले ही हो, किन्तु अवसाय (द्वितीय ज्ञान) भी सविकल्प के जैसा ही होता है, यह 'अपि' शब्द से सूचित होता है। [इदन्ता-उदन्ता को भी आविष्कार नहीं करता है] बाद में होनेवाले विकल्प से वस्तु का परामर्श करना अथवा अनुभव परामर्श को प्रधान करके मैं इसको देखता हूँ ऐसा जो वर्तमानरूप से होते हुए परामर्श को परामर्श करना है, 'अस्मत्' शब्द के प्रयोग बिना भी 'अहम्' का ही परामर्श किया जाता है कि यह घट है। यहाँ पर 'अयम्' शब्द से प्रत्यक्ष का

अर्थ है वह कर्ता में रहता है, इसे भर्तृहरि ने कहा है—

गतिबोधाशनत्यागशब्देच्छाप्रासिवाचिनाम् ।
द्वेषार्थाकर्मकाणां च भावः कर्त्रानुभूयते ॥

गति = ज्ञान एवं गमन, बोध-ज्ञान, त्याग-छोड़ना, शब्द-बोलना, इच्छा-आकांक्षा करना अर्थात् प्रास करना इत्यादि धातुओंके अर्थ और द्वेषात्मक अर्थवाले धातु अकर्मक होती हैं जिनका भाव कर्ता से अनुभूत हो जाता है।

अत्र अयं-शब्देन प्रत्यक्षायमाणत्वमुक्तम्। तत्र अन्त्ये विकल्पे दर्शनस्य पृथक् परामर्श एव नास्ति इति का तत्र इदन्ताशङ्का। ततश्च पारिशेष्यात् अहन्तया तस्य अत्रास्ति परामर्शः, तदभावे विकल्पस्य निमीलिताक्षेऽपि भावात् स्वयमर्थास्पर्शे स्फुटतमविषयपर्यवसितः कथमध्यवसायो भवेत्। आद्ये तु दर्शनं परामृष्टमपि अस्मदर्थान्तर्भूतम् अहंभावास्पदम् अवसातरि विश्रान्तं स्वप्रकाशमेव परामृष्टम् इति विकल्पोऽपि न बोधान्तरबोध्यतां बोधयति बोधस्य। अवसायः अवसा, समवेतम् इति अपृथग्भावमाह। अवसातरि इति स्वतन्त्रेऽन्तर्मुखे बोधात्मनि अहन्तास्पदे इत्यर्थः। दर्शनम् इति निर्विकल्पकमनुभवनम्। उपलक्षणं चैतत्—विकल्पस्मृत्यादेरपि, ज्ञानस्य ज्ञानान्तरेण परामर्शे हि अयमेव न्यायः। विकल्पयाम्यहं, स्मराम्यहम्, विकल्पितं मया, स्मृतं मया इति अहन्तारूढचैव विकल्पादेः अवभासात्। अत एव आत्मनोऽमी विकल्पाद्याः शक्तिविशेषाः तद्विश्रान्तशरीरत्वात् इति दर्शितम्, ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान्, इत्यत्र ॥ ७॥

एवमियतः प्रमेयस्य यत्फलं तदुपसंहर्तुमाह—

तन्मया दृश्यते दृष्टोऽयं स इत्यामृशत्यपि।
ग्राह्यग्राहकताभिन्नावर्थौ भातः प्रमातरि ॥ ८॥

'तत्' इति तस्मादर्थे पूर्वोक्तस्य प्रमेयस्य हेतुभावेन उपजीवनम् इह सूचयति। यत एवमुक्तम्—अनुभवस्य अर्थस्येव स्मरणात् न भेदेन अवभासः, स्मृतिशक्तिश्च परमेश्वरस्यैव, तत

परामर्श होता है, यह घट है इसमें अलग परामर्श नहीं है इसमें कहाँ इदन्ता की शंका उठती है, इसलिए यहाँ पर भी अहन्तारूप से ही उसका परामर्श है, नहीं तो उसके अभाव में विकल्प के दब जाने पर भी भाव से स्वयं विषय का स्पर्श नहीं होने से, निश्चित दबा हुआ अध्यवसाय कैसे होगा। 'अहं पश्यामि' इस प्रथम ज्ञान में परामृष्ट होता हुआ भी 'अस्मत्' शब्द के भीतर अर्थ रहता है अहंभाव का स्थान अध्यवसाय करनेवाले में बैठे हुए को अपने प्रकाश का ही मैंने परामर्श किया था, इस विकल्प से भी ज्ञान अन्य ज्ञान को न जानने में समर्थ नहीं होता, अवसाय को अवसा कहते। 'अवसातरि' स्वतन्त्र अन्तर्मुख रहनेवाला बोधात्मा अहन्ता का 'आस्पद' स्थान है—ऐसा अर्थ होता है।

दर्शन का अर्थ यह है कि निर्विकल्पक अनुभव और यही विकल्प स्मृति आदि का भी उपलक्षण है। ज्ञान का अन्य ज्ञान से परामर्श करने में भी यही युक्ति है। मैं विकल्प करता हूँ, मैं स्मरण करता हूँ, मैंने विकल्प किया, मैंने स्मरण किया, इस प्रकार अहन्ता-प्रधान ही विकल्प का भास होता है। अत एव ये विकल्पादि शक्तिविशेष अपने ही हैं; क्योंकि परामर्श का स्वरूप अहन्ता में लीन रहता है। ज्ञान, स्मृति और अपोहन-शक्ति का इसमें निर्देश किया गया है ॥ ७॥

इस प्रकार इतने से प्रमेय का जो फल दिखाया है, उसके उपसंहार करने के लिए अब कहते हैं [चित्तत्व ही ज्ञानादि शक्तिवाला है, स्मरण और अनुभव एक ही संविद्रूप है इतना अर्थात् आ जाता है। समस्त मायीय ग्राह्य-ग्राहक शुद्ध संविद्रूप से अवभासित होते हैं।]

वह मुझसे देखा जाता है, यह मुखसे देखा गया। वह यही अनुभव करता भी है। प्रमाता में ग्राह्य और ग्राहकता के भेद से अर्थ भासता है ॥ ८॥

'तत्' इसलिए अर्थ में पहले कहा हुआ प्रमेय का हेतुभाव से उपजीवन को यहाँ पर

इदमत्र परिनिष्ठितं तत्त्वम् इति। इह स्मृतिः अनुभवं क्रोडीकरोति इत्युक्तम्। अनुभवश्च द्विधा,—परामर्शभेदात् कदाचित् स्वात्मपरामर्शपूर्वकम् अनुभाव्यम् आमृशति यत्र अस्य अभिसन्धिप्रधानता 'मया दृश्यते' इति, कदाचित् अनुभवनीयमेव प्रधानतया परामृशति यत्र अनभिसन्धेरेव सहसा वस्तूपनिपातः, अर्थक्रियां प्रति आग्रहविशेषो वा 'अयम्' इति, तत्रापि च प्रकाशपरामर्शोऽस्त्येव, अन्यथा प्रकाशायोगात्। एवमुभयथानुभवे प्रत्येकं स्मृतिरपि द्वयपरामर्शमयी उदेति इति चत्वारः स्मरणभेदाः, द्वौ अनुभवभेदौ अनुसन्धानरूपं प्रत्यभिज्ञानमपि एतदुभयमेलनात्मकम् अत्रैवान्तर्भूतम्। तच्च एतद्भेदात् अष्टधा, पूर्वापरविश्रान्तिकृतात् प्रत्येकं द्विधाभेदाच्च षोडशधा। तदेते द्वाविंशतिः संवेदनभेदाः। तेषु च ग्राह्यं तावत् प्रकाशात् अबहिर्भूतम् अन्यथा प्रकाशनायोगात्, बहिर्भूतं च तत् अन्यथार्थत्वासम्भवात्, न च तत एव, तदैव, तदेव पृथग्भूतं अत्र पृथग्भूतं च भवति इति नूनमन्यः कल्पितप्रकाशात्मा कश्चित् अत्र अर्थोऽस्ति, यतोऽयम् अर्थराशिः पृथग्भवन् अन्योन्यमपि पृथक्ताम् अधिगच्छेत्, अन्यथा प्रकाशाभिन्नानां परस्परमपि कथङ्कारं पृथग्भावो भवेत्। सोऽयं वेद्यैकदेश एव, विच्छिन्न एव अनुज्झितवेद्यभाव एव, अहम् इति विच्छेदशून्योचितेन परामर्शेन परामृष्यमानो मायाप्रमाता इति वक्ष्यते,— 'देहे बुद्धौ,……'। (१.६.४) इत्यत्र। स च ग्राहकः इति उच्यते। एवं सममेव स्वात्मनि

ग्रन्थकार सूचित करता है। क्योंकि ऐसा कहा हैं—अनुभव का पदार्थ के जैसा स्मरण होता है, भेद से भान नहीं होता और स्मृति परमेश्वर की ही शक्ति है, इसलिए इतना ही यहाँ पर निष्कर्ष है। स्मृति अनुभव को अपने में लीन कर लेती है यही कहा गया है।

और अनुभव दो प्रकार का हैं—परामर्श भेद से कभी-कभी अपने को परामर्श करता हुआ [अनुभव का विषय] अनुभाव्य को परामर्श करता है जहाँ पर प्रमाता का परामर्श प्रधान रहता है 'मया दृश्यते' इस प्रयोग में तो प्रमाता प्रधान है, कभी अनुभव के विषय को प्रधान करके जहाँ पर प्रमाता का परामर्श न कर सहसा पदार्थ की ही उपस्थिति रहती है, अथवा अर्थक्रिया के प्रति आग्रहविशेष होता है जिसको 'अयम्' कहा जाता है और वहाँ पर भी प्रकाश का परामर्श रहता ही है, नहीं तो प्रकाश का योग ही नहीं बैठेगा। एवं दोनों प्रकार से अनुभव में प्रत्येक स्मृति भी दोनों को परामर्श करनेवाली उदित होती है इस तरह चार स्मरण भेद हो जाता है, पहला और बाद का मिला देने से प्रत्येक में दो-दो होने के कारण सोलह भेद हो जाते हैं ! [मेरे द्वारा यह घट देखा गया] इस प्रकार बाईस से संवेदन ज्ञान के भेद होते हैं और उनमें ग्राह्य है वह तो प्रकाश के अन्तर्भूत ही है अर्थात् प्रकाश से भिन्न नहीं है, नहीं तो, प्रकाश से योग नहीं बैठेगा और यदि उसमें अन्तर्भाव नहीं मानते हो, तो उसका प्रकाशरूप अर्थ संभव नहीं हो सकेगा और उससे ही नहीं होता है, वही है, वही अलग होकर ग्राह्य से अलग भी रहता है निश्चय ही कोई दूसरा कल्पित प्रकाशात्मा पदार्थ है, जिससे यह अर्थसमूह अलग होता हुआ आपस में भी भेद को प्राप्त करेंगे अन्यथा प्रकाश से अभिन्न होंगे तो आपस में कैसे अलग भाव होगा, इस प्रकार वह इस वेद्य का एक अंग है, जिसका वेद्यभाव नहीं छूटा है; ऐसा विच्छिन्न ही है, 'अहम्' ऐसा विच्छेद से रहित होकर यह उचित परामर्श के साथ परामर्श किया गया माया प्रमाता है—इसी को आगे कहेंगे, देहे बुद्धौ……। (१.६.४) और वह ग्राहक है ऐसा उसे कहा जाता है। इस प्रकार समानरूप से स्वच्छ दर्पण के सदृश विमल स्वात्मा में जो कि दोनों अपने रूप से भिन्न

विमलमुकुरस्थानीये यत् युगलकं स्वस्मात् प्रकाशरूपात् अव्यतिरिक्तम् अवभासयति परमेश्वरः तदेव एतत् भगवतो ज्ञानकर्तृत्वं, स्मरणकर्तृत्वं, ज्ञानशक्तिस्मृतिशक्तिरूपम् उच्यते इति तात्पर्यार्थः।

अक्षरार्थस्तु—मया दृश्यते इति, अयम् इति च यत् आमृशति प्रमाता प्रकाशरूपो येन अनुभवति इति उच्यते, तत आमर्शनात् एतत् लक्ष्यते, ग्राह्यरूपेण ग्राहकरूपेण योजितौ घटादि-देहादिस्वभावौ अर्थौ वेद्यौ प्रमातरि विशुद्धप्रकाशरूपे भातः प्रकाशेते। एवं दृष्टः इति स इति च यत् परामृशति प्रकाशरूपः प्रमाता, यतोऽसौ स्मरति इति व्यपदेश्यः, ततोऽपि एतदेव लक्ष्यते। अनुभवरूपोपजीवित्वं पूर्वोक्तं द्रढयितुं प्रसङ्गात् अत्र ज्ञानशक्तेरपि उन्मीलनं कृतम्। लक्षणे शत्रादेशः। अपि-शब्दश्चार्थे। अर्थ-शब्दो विच्छिन्नवेद्यवाची। ग्राहको मायीयः कल्पितः प्रमाता अशुद्धप्रकाशस्वभाव इति ॥ ८ ॥ आदितः श्लो० ॥ ३१ ॥

श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तविरचितायामीश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्रविमर्शिन्यां प्रथमे
ज्ञानाधिकारे स्मृतिशक्तिनिरूपणं नाम चतुर्थमाह्निकम् ॥४॥

•

अथ प्रथमे ज्ञानाधिकारे ज्ञानशक्तिनिरूपणाख्यं

पञ्चममाह्निकम्

**महागुहान्तर्निर्मग्नभावजातप्रकाशकः ।
ज्ञानशक्तिप्रदीपेन यः सदा तं स्तुमः शिवम् ॥**

एवं तावत् स्मृतिशक्तेः स्वरूपं प्रतिपादितम्, अधुना तदुपजीवनीयज्ञानशक्तिपरामर्श-निर्णयं वितत्य, 'वर्तमानावभासानाम्' इत्यादिकया, 'सक्रमं प्रतिभासते' इत्यन्तया श्लोकैकविंशत्या

नहीं है परमेश्वर प्रकाशित होता है वही भगवान् का ज्ञानकर्तृत्व, स्मरणकर्तृत्व है ज्ञान-शक्ति एवं स्मृति-शक्तिवाला ही कहा जाता है इसका यही भावार्थ है।

अब अक्षरार्थ बताते हैं—मुझसे देखा जाता है, ऐसा जो प्रकाशरूप प्रमाता परामर्श करता है जिससे कि अनुभव करता है, ऐसा कहा जाता है इस परामर्श से यह लक्षणा द्वारा लक्षित होता है, ग्राह्य और ग्राहक ये दोनों रूपों से घटादि और देहादि स्वभाववाले दोनों पदार्थ वेद्य होकर विशुद्ध प्रकाशरूप प्रमाता में प्रकाशित होते हैं! इस प्रकार से देखा गया है ऐसा ही वह प्रकाशरूप प्रमाता परामर्श करता है, जिससे कि वह स्मरण करता है—ऐसा कहा जाता है, इसीसे यह ग्राह्यरूप से बोधित होता है। अनुभवरूप उपजीवन के विषय में पहले कह चुके हैं उसी को प्रसंग से दृढ़ करने के लिए ज्ञान-शक्ति का भी प्रकाश किया है। लक्षण में 'शतृ' प्रत्यय का आदेश करना चाहिए। 'अपि' शब्द 'चकार' के अर्थ में पढ़ा गया है। अर्थ शब्द विच्छिन्न वेद्य-विषयवाची है। ग्राहक शब्द का यह अर्थ है कि मायीय कल्पित अशुद्ध प्रमाता है ॥ ८ ॥

॥ चतुर्थ आह्निक समाप्त ॥

जो महा गुहा के अन्तर में निमग्न पदार्थसमूह को ज्ञान-शक्तिरूप प्रदीप से प्रकाशित करने वाले हैं, उस शिव की हम स्तुति करते हैं।

इस प्रकार स्मृति-शक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन कर दिया, सम्प्रति उस स्मृति-शक्ति का उपजीवनीय आधार ज्ञान-शक्ति है उसके परामर्श का निर्णय विस्तारपूर्वक कर 'वर्तमानावभासानाम्'

निरूपयति। तत्राद्येन श्लोकेन वस्तुनि प्रतिज्ञां करोति, एवंभूता ज्ञानशक्तिः इति, ततः श्लोकद्वयेन प्रकाश एवार्थानां स्वरूपम् इत्याह। ततो द्वयेन प्रकाशबाह्यानामर्थानां सद्भावं विज्ञानवादोपगतवासनादूषणेन दृढीकृतम् आशङ्क्य, तृतीयेन तदनभ्युपगमेऽपि तावत् न किञ्चित् उपरुध्यत इति दर्शयति। अथ श्लोकेन स्वदर्शनेऽर्थतत्त्वम् उपदर्शयन् बाह्यार्थसद्भावे प्रत्यक्षं निराकरोति प्रमाणत्वेन। ततो द्वयेन अनुमेयतामपि बाह्यस्य निरस्यति। अनन्तरं श्लोकेन चिदात्मनि अर्थानाम् अवश्यं सद्भावः परामर्शात्मना इति प्रकटयति। ततोऽपि प्रकाशस्य प्रमातृरूपस्य प्रत्यवमर्श एव जीवितम्, इति श्लोकचतुष्टयेन अनुभवागमन्यायस्वरूपनिरूपणाभिः अभिधत्ते। अनन्तरं ज्ञानपरामर्श एव ज्ञेयं शुद्धं प्रमातृरूपतानु ज्झतं च प्रथयति इति तस्यैव प्रधानत्वे न्यायं श्लोकत्रयेणाह। प्रकाशैकरूपत्वे च ज्ञानज्ञात्रादि भिन्नम् इति श्लोकेनाह। ततो ज्ञातरि इव विशुद्धे ज्ञानेऽपि अविकल्पकसविकल्पकरूपे विमर्श एव प्राणितम् इति श्लोकद्वयेनाह। ततो ज्ञातुर्ज्ञानस्य च पूर्वपक्षे दूषितं यत् भिन्नत्वं तत् उपसंहारदिशा श्लोकेन समर्थयते, इति तात्पर्यम् आह्निकस्य। श्लोकार्थस्तु निरूप्यते।

ननु स्मरणविकल्पादीनाम् अनुभव एव जीवितम्, तत्र यदि भेदेन आभासन्तेऽर्थाः, तत् तेष्वपि तथैव अवभास उचितः, नो चेत् अन्यथा तदनुभव एव तावत् ज्ञानशक्तिरूपो विचारणीय इति आशयेनाह—

वर्तमानावभासानां भावानामवभासनम्।
अन्तःस्थितवतामेव घटते बहिरात्मना॥ १॥

इस श्लोक से उठाकर 'सक्रमप्रतिभासते' यहाँतक इक्कीस श्लोकों से निरूपण करेंगे। पहले श्लोक से ज्ञानशक्तिविमर्शरूप वस्तु में ऐसी ज्ञान-शक्ति रहती है यह प्रतिज्ञा करते हैं, दो श्लोकोंसे प्रकाश ही अर्थ का स्वरूप है इस बात को कहेंगे। इसके बाद दो श्लोकों से बाहर में होनेवाले अर्थों के सद्भाव को विज्ञानवाद से प्राप्त वासना दोष से दृढ़ किये हुए की आशंका कर तीसरे श्लोक से उसको न मानने पर भी हमारी कुछ भी हानि नहीं होगी, यही बतायेंगे। अनन्तर एक श्लोक से अपने दर्शन में पदार्थतत्त्व के स्वरूप को दिखाते हुए बाह्य अर्थ के सद्भाव में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है ऐसा खण्डन करेंगे। तब दो श्लोकों से बाह्य पदार्थ का अनुमान भी निरस्त करेंगे। इसके बाद एक श्लोक से चिदात्मा में अर्थों का परामर्शरूप से सद्भाव अवश्य रहता है यह प्रकाशरूप प्रमातृरूप का प्रत्यवमर्श ही जीवन है, पश्चात् चार श्लोकों से अनुभव, आगम न्याय के स्वरूप को, निरूपण द्वारा कहेंगे। अनन्तर तीन श्लोकों से ज्ञान परामर्श में प्रमातृरूपता को न छोड़कर शुद्ध ज्ञेय का विस्तार करेंगे, उसकी प्रधानता में ही न्याय 'युक्ति' बतायेंगे और एक श्लोक से प्रकाश की एकरूपता में ज्ञान, ज्ञातादि भिन्न है—ऐसा कहेंगे। दो श्लोकों से ज्ञाता की तरह विशुद्ध ज्ञान में भी निर्विकल्पक और सविकल्पकरूप विमर्श ही जीवन है—इसको कहेंगे। एक श्लोक से ज्ञान और ज्ञाता में पूर्वपक्षी ने पहले भिन्नता दिखाकर दोष दिया था उसका उपसंहार करते हुए समर्थन करेंगे, इस आह्निक का यही तात्पर्य है। अब श्लोक के अर्थ का निरूपण करते हैं।

अब प्रश्न करते हैं कि अनुभव ही स्मरण विकल्पादि का 'प्राण' जीवन है, यदि उसमें पदार्थ भेद से आभासित होते हैं, तो उन अनुभव स्मरणादि विकल्पों में भेद से ही अवभास होना

वर्तमानत्वेन स्फुटतया अवभासनम् इदमित्येवमाकारं येषां तेषाम्, यदेतत् बहिरात्मना—कल्पितमायीयशून्यादिशरीरान्तप्रमातृपृथग्भावेन हेतुना भिन्नानां, ततो मायाप्रमातुः विच्छिन्नानाम् 'अवभासनम्' तत् परमार्थप्रमातरि शुद्धचिन्मये 'अन्तःस्थितवतां' तेन सह ऐकात्म्यम् अनुज्झितवतामेव 'घटते' प्रमाणेन उपपद्यते, तेन अनुज्झितसंविदभेदस्य भावस्य कल्पितप्रमात्रपेक्षया भेदेन प्रकाशनं भगवतो ज्ञानशक्तिरित्युक्तं भवति ॥ १ ॥

प्रमाणेनोपपद्यते, इत्युक्तं तत् प्रमाणं दर्शयति—

प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्प्रकाशात्मतया विना ।
न च प्रकाशो भिन्नः स्यादात्मार्थस्य प्रकाशता ॥ २ ॥

अर्थो नीलादिः, तस्य नीलादिरूपतैव यदि प्रकाशमानता न पुनरपरा काचित् अर्थशरीरोत्तीर्णा प्रकाशात्मता तर्हि यथा सर्वान् प्रति नीलमेव तत्सम्भावनया भण्यते, न कञ्चित् वा प्रति, वस्तुतो वा स्वात्मन्येव तत् नीलं परस्य परनिष्ठतानुपपत्तेः, स्वात्मनि वा न नीलं न अनीलम् प्रकाशानुग्रहेण विना व्यवस्थानायोगात् । तथा प्रकाशमानतापि अस्य सर्वान् प्रति न कञ्चित्

उचित है, यदि ऐसा नहीं मानते हो तो अनुभव का ही पहले ज्ञान-शक्ति के रूप से विचार करना पड़ेगा, इस अभिप्राय से कहते हैं—

वर्तमानरूप में अवभासित होनेवाले पदार्थों का ही बाह्यरूप से अवभासित होना घटता है ॥ १ ॥

जिनका देश-काल के आभास से विशिष्ट होकर वर्तमानकाल में भिन्न-भिन्न रूपों से भासित होना ही 'आकार' स्वरूप है उन स्फुटरूप का बाहरी रूप से कल्पित मायीय प्रमाता के भीतर भिन्नभाव से भिन्न हुए का कारण से भासित होना है, इसी कारण माया-प्रमाता से भिन्न होकर भासता है 'अवभासनम्' जो कि मायीय-प्रमाता में भासित हुआ था अर्थात् अविच्छिन्न हुआ था, वही शुद्धचिन्मय प्रमाता में 'अन्तःस्थिताम्' भीतर रहकर उसके साथ एकता को प्राप्त कर न छोड़ते हुए 'घटते' प्रकाश को अपने में बनाये रखता है अर्थात् एकता की स्थिति के प्रमाण से प्रमाणित होता है, इसलिए संविद्रूप भेद को न त्यागनेवाले भाव का कल्पित प्रमाता की अपेक्षा भेद से प्रकाशित होना ही तो भगवान् महेश्वर की ज्ञान-शक्ति है। यही सारांश निकलता है ॥ १ ॥

प्रमाण से प्रमाणित होता है, ऐसा जो कहा है—उस प्रमाण को दिखाते हैं—

पूर्वरूप के बने बिना तो पूर्व की तरह पदार्थ अप्रकाशित ही रहेगा, अपने स्वरूप की प्रकाशरूपता प्रकाश से भिन्न नहीं हो सकती है ॥ २ ॥

जो अर्थ है वह नीलादि पदार्थ है, यदि इसकी नीलादिरूपता ही प्रकाशमानता है, तब तो परमार्थवपु से हटी हुई प्रकाशमानता नहीं हुई। जैसा कि सबके लिए यह नील है इस सम्भाववा से कहा जाता है अथवा किसी के प्रति नहीं भी है, यह कहा जाय, वस्तुतः अपने में ही वह नील है दूसरे में इसकी सत्ता नहीं बन सकती, या अपने में नील नहीं है, अनील नहीं है, प्रकाश के अनुग्रह बिना व्यवस्था का योग नहीं बैठ सकता है तथा प्रकाशमानता भी सबके लिए या किसी के लिए नहीं है, अपितु अपने में है या अपने में भी नहीं है, इससे जगत् में अन्धकार फैल जायेगा। इसलिए

वा प्रति अपि तु स्वात्मन्येव, स्वात्मन्यपि वा न स्यात् इति अन्धता जगतः। अथ इन्द्रियालोकादिक्षणवर्गात् प्रकाशरूपोऽसौ नीलक्षणो विशिष्ट एव जातः, एवमपि स एव प्रसङ्गः, प्रकटतावादेऽपि अयमेव दोषः, सर्वथा अर्थशरीरविश्रान्तः चेत् प्रकाशो मम अवभासते इति प्रमातृलग्नतया प्रकाशस्थितिः दुरुपपादा। प्रमाता हि तदानीम् इन्द्रियार्थमयोऽर्थरूपस्य प्रकाशस्य कारणं भवेत्, बीजमिव अङ्कुरस्य। न च अङ्कुरो बीजापेक्षोऽङ्कुरात्मा, ततो यदि न प्रकाशात्मा स भवेत् 'प्रागिव' ज्ञानोदयात् पूर्वं यथा सोऽप्रकाशः, तथा ज्ञानोदयेऽपि स्यात्। ननु ज्ञानम् अर्थप्रकाशरूपमेव, तत् कथं ज्ञानस्य उदयानुदययोः अर्थस्य तुल्यता स्यात्। स्यात् एतत् यदि उपपद्येत, यावता अर्थात् भिन्नं यत् ज्ञानं प्रकाशरूपं, तत् अर्थस्य सम्बन्धितया कथं स्यात्। यदि तावत् अर्थः प्रकाशते, इत्येवंभूतं ज्ञानस्य स्वरूपं तत् अर्थज्ञानयोः अभेद एवायातः—अर्थस्वभावस्य ज्ञानत्वेन उक्तत्वात्, अर्थस्वभावत्वे च प्रकाशस्य अर्थात्मतायाम् उक्तं दूषणम्। अथ अर्थं प्रकाशयति इति ज्ञानस्य स्वरूपम्, तर्हि प्रकाशमानमर्थं करोति ज्ञानम् इति आपतिते पुनरपि स एव दोषः। कृतप्रतानश्च अयं प्रकृत्यर्थण्यर्थविवेको मयैव भेदवादविदारणे इति तत एव अन्वेष्यः। तस्मात् भिन्नः प्रकाशोऽर्थस्य सम्बन्धी भवति इति सम्भावनैव नास्ति। अतश्च इदम् उपपत्त्या आयातम्—अर्थस्य स्वरूपं प्रकाशमानत्वं प्रकाशाभिन्नत्वम् इति। प्रकाशश्च यदि घटेऽन्यः पटेऽन्यः तदा अनुसन्धानस्य अयोगः—द्वयोः प्रकाशयोः स्वात्ममात्रपर्यवसानात् इति वितत्य उपपादितं

इन्द्रिय आलोकादि क्षण समूह से प्रकाशरूप नीलक्षण [प्रकाशमान घटरूप] विशिष्ट ही हो गया, इस तरह भी वही प्रसंग उपस्थित होगा, [कौमारिलों के मत] प्रकटतावाद में यही दोष आ जायेगा, सब प्रकार से यदि अर्थ-शरीर में विश्रान्ति मानोगे तो मुझे प्रकाश भासित होता है इस प्रकार प्रमाता में प्रकाश की स्थिति नहीं सिद्ध कर सकते हो; क्योंकि उस समय प्रमाता ही इन्द्रिय और पदार्थ से युक्त होकर अर्थरूप प्रकाश का कारण बनेगा, जैसे अंकुर का कारण बीज होता है और अंकुर बीज की अपेक्षा किये बिना अंकुरत्व प्राप्त नहीं कर सकता, यदि वह प्रकाशात्मा नहीं होता तो ज्ञान के उदय के पूर्व जैसे अप्रकाशित था—उसी प्रकार उदय होने पर भी अप्रकाशित ही रहता।

अब प्रश्न करते हैं कि ज्ञान को भी अर्थप्रकाशवाला ही मान लिया जाय, वह ज्ञान के उदय और अनुदय होने पर अर्थ की समानता कैसे करता। यदि वह कर सकता था तब तो ठीक ही होता, जवतक अर्थ से भिन्न ज्ञान प्रकाशरूप है तबतक अर्थ के सम्बन्धी होकर कैसे रहेगा। प्रथम पक्ष में यदि अर्थ का प्रकाश होता है, ऐसा ही यदि ज्ञाम का रूप है तो अर्थ और ज्ञान में अभेद ही हो गया; क्योंकि अर्थस्वभाव को ज्ञानत्वरूप से कह दिया है और अर्थस्वभाव में प्रकाश का अर्थरूप हो जाने में भी पूर्वोक्त दोष बता दिया है, तृतीय पक्ष में यदि ज्ञान का स्वरूप अर्थ को प्रकाशित करता है, ज्ञान अर्थं को प्रकाशमान करता है पुनः भी यही दोष आ पड़ेगा और इसका अच्छी तरह विस्तार भी कर दिया है—जो यह प्रकृत्यर्थ और ण्यर्थ [प्रकाशते और प्रकाशयति] का विचार मैंने भेदवाद खण्डन में कर दिया है इसलिए वहाँ पर ही खोजना होगा। अतः भिन्न अर्थ का प्रकाश अर्थ का सम्बन्धी होता है ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए। अतः उपपत्ति से यही सम्पन्न हुआ कि अर्थ का स्वरूप प्रकाशमानत्व प्रकाश से अभिन्न है और प्रकाश यदि घट में दूसरा और पट में दूसरा ही है तो फिर अनुसन्धान योग नहीं बन पायेगा; क्योंकि दोनों प्रकाशों को

'नश्येत् जनस्थितिः' इत्यत्र। तस्मात् एक एव प्रकाशः। एतदेव आवृत्त्या दर्शितं 'न च प्रकाशो भिन्नः स्यात्' इति ॥ २ ॥

व्यतिरिक्तस्य ज्ञानस्य अर्थप्रकाशरूपताम् अभ्युपगम्यापि बाधकान्तरमाह—

भिन्ने प्रकाशे चाभिन्ने संकरो विषयस्य तत्।
प्रकाशात्मा प्रकाश्योऽर्थो नाप्रकाशश्च सिद्ध्यति ॥ ३ ॥

यदि अर्थात् अन्य एव ज्ञानात्मा प्रकाशः अत एव भिन्नोऽर्थतः, तर्हि स्वात्मनि तस्य प्रकाशमात्ररूपत्वात् अभेद एव।

तथाहि नीलस्य प्रकाशः, पीतस्य प्रकाशः इति यो नीलांशः पीतांशश्च, स तावत् ज्ञानस्य स्वरूपम् भेदवादत्यागापत्तेः। अथ विषयः, तदेवेदं विचार्यते—इह प्रकाशबलात् नीलपीतयोः भेदोऽभ्युपगन्तव्यः, येनैव च प्रकाशेन नीलो नील एव इति उपगम्यते, तेनैव च प्रकाशेन पीतः पीत इति कथं संगच्छताम्, नीलेन जनितः, पीतेन जनितः, तेन वा सह एकसामग्रीक इत्यादि यत् उच्यते, तत् सिद्धे नीलपीतयोर्भेदे स्यात्, स एव विचार्यः। अथ

अपने में ही लीन रखते हैं; इसका भी हमने 'नश्येत् जनस्थितिः' में विस्तारपूर्वक कह दिया है। 'न च प्रकाशो भिन्नः स्यात्' इस वचन से इसी बात को बारम्बार ही दिखलाया है ॥ २ ॥

अर्थ से भिन्नज्ञान अर्थप्रकाशरूप ही होता है इस बात को मानकर भी दूसरा बाधक उपस्थित करते हैं—

प्रकाश अर्थ से भिन्न रहने पर यदि तुम अभिन्न मानोगे तो विषय का सांकर्य हो जायेगा। प्रकाशरूप अर्थ प्रकाशित किया जाता है इसीलिए अर्थका प्रकाशित न होना नहीं सिद्ध होता है ॥ ३ ॥

यदि पदार्थ से भिन्न ही ज्ञानरूप प्रकाश है इसलिए अर्थ से भिन्न है, तब तो प्रकाशमात्ररूप होने से ही अपने में उसका अभेद हो जायेगा। जैसे नील का प्रकाश पीत का प्रकाश है उसमें नीलांश और पीतांश है, वही ज्ञान का वास्तविक स्वरूप है, भेदवाद को त्यागना आवश्यक है। अब 'ज्ञान के विषय ऊपर विचार किया जाता है—यहाँ पर प्रकाश के सामर्थ्य से नील और पीत का भेद मानना पड़ेगा और जिस प्रकाश से नील वस्तु नील ही होती है और उसीप्रकार पीत वस्तु पीत ही होती है, यह कैसे मेल खायेगा? [कौमारिल मत यह है कि साकारता के द्वारा किया हुआ ही यह नियम चलता है—

'तत्रानुभवमात्रेण ज्ञानस्य सदृशात्मनः।
भाव्यं तेनात्मना येन प्रतिकर्म विभज्यते ॥'

अनुभव मात्र से अपने सदृश का ज्ञान होना चाहिए। जिससे प्रत्येक कर्म विभाजित हो जाता है।]

यह नील से पैदा हुआ, पीत से पैदा हुआ, जिस सामग्री से पदार्थ का प्रकाश होगा उसी सामग्री से ज्ञान का भी प्रकाश होगा, नील और पीत का भेद जब सिद्ध होगा तभी यह बात घटेगी, नील पीत का भेद ही तो विचारणीय है। सौत्रान्तिकमत से यदि नीलाकार वह प्रकाश

नीलाकारोऽसौ तत् यदि प्रतिबिम्बबलात् तद्द्वितीयबिम्बानवभासात् अयुक्तम्। अथ अभेदः, तर्हि त्यक्तो भेदवादः, तथा कारणतादिवादे शिखरस्थज्ञानं बहुतरनीलादिजन्यम् एकत्र पटु अन्यत्र मन्दम् इति कथं भेदः—प्रकाशशरीरस्य अभेदात्, तथाभूते च अन्यतरदर्शनोद्बोधितेऽपि संस्कारे बलादेव अशेषस्मरणप्रसङ्ग इति भूयान् संकरः। स्यात् एतत्, अर्थ एवास्तु, किमनेन दोषोपपादकेन प्रकाशेन इति। अत्राह—अप्रकाशस्य प्रसिद्धिरेव न काचित्, स्वात्मनि हि नीलं यदि पीतं न किंचित् वा; तत् किं दुष्येत्, अत एव ग्रन्थकृतैव अन्यत्र उक्तम्—

एवमात्मन्यसत्कल्पाः प्रकाशस्यैव सन्त्यमी।
जडाः प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः॥

इति, तत् यदि प्रकाशः तदा भवति अर्थः, प्रकाशश्च असौ कथम्। यदि प्रकाशतैव घटस्य वपुः सैव पटस्य इत्यादि विश्ववपुः प्रकाशः सिद्धः॥ ३॥

एकस्यैव प्रकाशस्य एवंभूतक्रमाक्रमकार्यकारणभावादिविचित्रवैश्वरूप्यप्रदर्शनसामर्थ्यरूपम् ऐश्वर्यम्, इति तावत् पर्यवसाययितव्यम्। तच्चैवं पर्यवस्यति, यदि प्रकाशस्य विचित्रभावे हेत्वन्तरम् अपाकृतम् तत्र प्रकाशस्य अविचित्रस्य क्रमेण विचित्रताकारणं प्रतिबिम्बात्मकं,

प्रतिबिम्ब के बल से होता है तो वह प्रकाश द्वितीय बिम्ब के भाससे नहीं हो सकता, विषय की संकीर्णता आ जायेगी। यदि अभेद कहो, तो फिर भेद छोड़ना पड़ेगा, पाटवादि की संकीर्णता होने से कारणतावाद स्वीकार करने पर चोटी का स्थान अत्यन्त अधिक नीलादि से जन्य होगा, एक जगह पटु है तो दूसरी जगह मन्द है यह भेद कैसे होगा ? प्रकाश शरीर के अभेद होने से। [स्मृति द्वारा संकर दिखाते हैं] स्मृति के द्वारा अभिन्न मानने पर दूसरों को देखने पर संस्कार उद्बुद्ध होगा तो भी एक ही बार सम्पूर्ण = अशेष के स्मरण का प्रसङ्ग आ पड़ेगा इस प्रकार बहुत से संकर पैदा हो जायेंगे। यह भले ही होता हो; नीलादि पदार्थ रहे, दोष को उत्पादन करनेवाले प्रकाश से क्या प्रयोजन है अर्थात् पदार्थ ही रहे प्रकाश न रहे। यहाँ पर स्मृति में कहते हैं कि अप्रकाश की कोई प्रसिद्धि ही नहीं है, यदि अपने स्वरूप में नील या पीत [अनील] कुछ भी न हो तो क्या बिगड़नेवाला है, अत एव स्वयं ग्रन्थकार ने ही दूसरी जगह कहा है—

इस प्रकार आत्मा में नहीं के बराबर रहते हुए भी ये सारे के सारे जड पदार्थ प्रकाश के ही स्वरूप हैं। प्रकाश न तो प्रकाश से भिन्न है और न अर्थ से ही भिन्न है परात्मा के साथ अपना ही प्रकाश है। [स्वयं प्रकाशरूप ज्ञान से अर्थ अभिन्न ही रहता है] यदि वह प्रकाश है तभी अर्थ है, नहीं तो अर्थ कहाँ रहेगा अर्थात् प्रकाश में अर्थ रहता है। यदि प्रकाशता ही घट का स्वरूप है और वही पट का भी है तो फिर विश्व का स्वरूप ही प्रकाश का स्वरूप सिद्ध होगा [इसलिए बोधरूप प्रकाश से अभिन्न ही अर्थ रहता है। यही सिद्धान्त है।]॥ ३॥

इस प्रकार क्रम-अक्रमरूप से, कार्य-कारणभावादिसे विचित्र-चित्र विश्व के रूप को दिखाने का सामर्थ्यवाला यह सारा ऐश्वर्य एक प्रकाश का ही है, [स्वयं अपने आगम शास्त्र की युक्ति से और दूसरों की भी युक्ति से निश्चय होने पर हृदयङ्गम करना चाहिए।]

इस प्रकार वह समाप्त हो जाता है, प्रकाश के विचित्र भाव में सौत्रान्तिक ने दूसरा हेतु दिया था—उसे खण्डित किया, वहाँ पर अविचित्र प्रकाश क्रम से विचित्र बनाने का कारण

तत्प्रतिबिम्बसजातीयं यत् तदेव नीलादिरूपं बाह्यम्, तच्च यद्यपि अनुमेयं, तथापि इदं नीलमिति प्रत्यक्षेण अध्यवसायात् अध्यवसायप्राणितत्वाच्च प्रमाणस्थितेः प्रत्यक्षव्यपदेश्यं भविष्यति। बाह्यार्थवादिकथितमिति हेत्वन्तरम् अनुमीयमानं बाह्यरूपम् आशङ्क्यमानत्वेन प्रदर्शयति—

तत्तदाकस्मिकाभासो बाह्यं चेदनुमापयेत् ।
न ह्यभिन्नस्य बोधस्य विचित्राभासहेतुता ॥ ४ ॥
न वासनाप्रबोधोऽत्र विचित्रो हेतुतामियात् ।
तस्यापि तत्प्रबोधस्य वैचित्र्ये किं निबन्धनम् ॥ ५ ॥

इह बोधः तावत् अभिन्नः, प्रकाशमात्रमेव हि अस्य परमार्थः, प्रकाशाधिकं यदि नीलस्य रूपं, तर्हि तत् अप्रकाशरूपम् इति न प्रकाशेत। अथ तथा प्रकाशत्वमेव अस्य रूपम्, पीतप्रकाशः कथं स्यात्। अथापि क्रमिकनीलपीतादिप्रकाशरूपमेव तस्य रूपम्, नीलाद्याभासशून्योऽहमिति प्रकाशः स्वापाद्यवस्थासु न स्यात्। तस्मात् प्रकाशः प्रकाश एव, अणुमात्रमपि न रूपान्तरम् अस्य अस्ति इति अभिन्नो बोधः, तस्य च अभिन्नस्य कदाचित् नीलाभासता कदाचित् पीताभासता इति ये विचित्राभासाः तत्र कारणत्वम् हि यस्मात् न उपपन्नम्—हेतौ अभिन्ने कार्यभेदस्य असंभवात्, तस्मात् स स विचित्रनीलपीतादिरूप आकस्मिकोऽज्ञातप्रत्यक्षसिद्धहेतुकः सन् बाह्यं विज्ञानगत-

प्रतिबिम्ब रूप था, उस [नीलादिजातीय] प्रतिबिम्ब के समान सजातीय जो बाह्य नीलादि रूप है और वह यद्यपि अनुमान का विषय है, फिर भी यह नील है—ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होने से और अध्यवसाय से जीवित होने के कारण प्रमाण की स्थिति से प्रत्यक्ष कहना पड़ेगा। यही बाह्यर्थ-वादी का कहा हुआ दूसरा हेतु बाह्यरूप से अनुमान किये जानेवाले के प्रति आशङ्का करके प्रदर्शित करते हैं—

वह अज्ञात हेतुक आकस्मिक आभास यदि बाह्य पदार्थ का अनुमान करावें तो उससे अभिन्न ज्ञान का विचित्राभास हेतु नहीं बन सकता है ॥ ४ ॥

इसी ढङ्ग से विचित्र वासना का ज्ञान भी हेतुता को नहीं प्राप्त करेंगा। उस ज्ञान की भी विचित्रता में क्या कारण होगा। इसलिए बाह्य अर्थ ही आभास की भिन्नता में हेतु हैं ॥ ५ ॥

ज्ञान पदार्थ से भिन्न नहीं है, प्रकाश से [विरुद्ध] अधिक नील का स्वरूप होता तो, वह अप्रकाश रूप हो जायेगा और प्रकाशित ही न होगा। नील रूप से ही इसका स्वरूप स्फुरित होता है नील का पीत से भेद होने से पीत का प्रकाश कैसे होगा। क्रम से नील पीतादि प्रकाशरूपता ही इसका स्वरूप है, नीलादि आभास से शून्य जो अहं प्रकाश है वह स्वप्न-मूर्च्छादि अवस्था में रहता है। इसीलिए प्रकाश को प्रकाश ही मानो, थोड़ा-सा भी इसका दूसरा रूप नहीं होता है, अतः पदार्थ प्रकाश से अभिन्न ही ज्ञान प्रकाश है, और उस प्रकाश को अभिन्न ही मान लिया जाय तो कभी नील का होना ये जितने भी विचित्र आभास हैं उन विचित्र आभसों में [प्रकाश की] कारणता का न होना नहीं बनेगा; क्योंकि हेतु के अभिन्न होने पर कार्य का भेद नहीं हो सकता है, इसीलिए वह विचित्र नील-पीतादिरूप जो आकस्मिक अज्ञात प्रत्यक्ष से सिद्ध हेतुवाला होता

प्रतिबिम्बात्मकस्वस्वभावसंपादकम् औचित्यवशात् निजरूपसदृशं क्रमोपनिपतद्रूपबहुतरभेदात्मकं ज्ञानात् सर्वथा पृथग्भूतम् अनुमापयति इति संभावयते बाह्यार्थवादी। न च अस्य इदं संभावनामात्रम् अपि, तु निश्चयपर्यवसायि एव भवति। तथाहि विज्ञानवादिना यो हेतुः वैचित्र्ये वासनाप्रबोधलक्षण उक्तः स न उपपद्यते। 'स्मृतिजनकः संस्कारो वासना' इति तावत् प्रसिद्धम्, इह तु अनुभववैचित्र्ये हेतुः पर्येषणीयो वर्तते। अस्तु वा नीलाद्याभाससंपादनसामर्थ्यरूपा ज्ञानस्य योग्यतात्मिका शक्तिः वासना, तस्याश्च स्वकार्यसंपादनौन्मुख्यं प्रबोधः, ततो बोधेषु आभासवैचित्र्यम् इति। तत्रापि तु ब्रूमः—यद्यपि आभासानां ज्ञानान्तर्वर्तिनाम् अपारमार्थिकं संवृतिसत्त्वम् उच्येतापि, तथापि यत् एषां कारणम् तत् वस्तुसदेव अङ्गीकार्यम्—अवस्तुनः सर्वसामर्थ्यविरहितालक्षणस्य कार्यसंपादनप्राणितसामर्थ्यात्मकस्वभावानुपपत्तेः। एवं-स्थिते या एता वासना आभासकारणत्वेन इष्यन्ते, तासां बोधात् यदि भिन्नं रूपम्, तच्च परमार्थसत्, तत् अयं शब्दान्तरप्रच्छन्नो बाह्यार्थवादप्रकार एव। अथ संवृतिसत्, तर्हि तेन रूपेण कारणतानुपपत्तिः, अथ येन रूपेण आसां पारमार्थिकता तेन कारणता। तत् तर्हि ज्ञानमात्रं, तच्च अभिन्नम्, इति नीलाद्याभासरूपस्य कार्यभेदस्य असिद्धिः। एवं वासनानाम् अविचित्रत्वे तत्प्रबोधो विचित्र इति

हुआ भी अप्रकाशमान बाह्य विज्ञानगत प्रतिबिम्बरूप अपने स्वभाव को स्वतन्त्र बनानेवाला, उचित होने के कारण अपने स्वरूप के सदृश क्रम से आनेवाले बहुत से भेद ज्ञान सर्वथा अलग रखे हुए अपने को अनुमान करावेंगे, बाह्यार्थवादी की यही सम्भावना है और इसकी यह सम्भावना मात्र ही नहीं है—अपितु निश्चय ही पर्यवसाय होता है। विज्ञानवादी के द्वारा जो वासना-प्रबोधरूप हेतु विचित्रता में कहा है वह सङ्गत नहीं बैठता है। 'स्मृति जनकः संस्कारो वासना' स्मृति का जनक संस्कार वासना है, यह तो प्रसिद्ध ही है, यहाँ तो अनुभव की विचित्रता में जो हेतु है उसे खोजना चाहिए। अथवा ज्ञानके नीलादि आभास को सम्पादन करने की सामर्थ्यवाली योग्यतात्मिका-शक्ति वासना है और वह वासना अपने नीलादिरूप का सम्पादन करने की उन्मुखता रखती है यही ज्ञान-शक्तिरूपता है, इसी कारण बोधादि में आभास की विचित्रता दिखायी देती है। सौत्रान्तिकने जो युक्ति दी है, उस पर भी हम कहते हैं—ज्ञान के भीतर आभासित होनेवाले पदार्थों की अपारमार्थिक संवृत्ति-विकल्प बुद्धि है; यदि ऐसा कहते हो, तो भी जिसका जैसा कारण है उस वस्तु का कार्य भी सद्रूप ही स्वीकार करना होगा—अवस्तु तो सामर्थ्य से रहित होती है एवं कार्य साधने की योग्यता उसमें नहीं रहती है। [ऐसी स्थिति में तो हमारे मनोरथरूपी कल्पवृक्ष से यह फलित हुआ कि हमारे हो सिद्धान्त में आप आ गये हो] इस तरह ये वासनाएँ आभास की हेतुता खोजती हैं, उनका यदि ज्ञान से भिन्न रूप होता तो वह वस्तुतः परमार्थ सत् ही है उसको दूसरे शब्दों से यह समझो कि प्रच्छन्न-छिपा हुआ ही बाह्यार्थवाद है। अब कहो कि कारण को भी सद्रूप माना जाय तब तो विकल्प-बुद्धिरूप से कारणता की सिद्धि ही नहीं बन पायेंगी, अब तो यही कहना ठीक होगा कि जिस रूप से इन आभास-पदार्थों की पारमार्थिकता है उसी रूप से आभास पदार्थों की कारणता भी माननी होगी। तब तो ज्ञानमात्र ही रह जायेगा और उसी की अभिन्नता भी रह जायेगी—ऐसा माना जाय, जो नीलादि आभास रूप हैं उनमें कार्य भेद की सिद्धि नहीं हो सकती हैं। एवं वासनाओं की अविचित्रता होने पर उसका बोध विचित्र कैसे होगा अर्थात् कोई आशा भो इसमें नहीं होती है। अथवा भले ही

का प्रत्याशा। भवन्तु वा वासना भिन्नाः, तथापि बोधमात्रातिरिक्तस्य देशकालभावादेः प्रबोधकाभिमतस्य विचित्रस्य कारणस्य अभावात् प्रबोधोऽविचित्र इति एक एव प्रबोधः इति सममेव नीलादिवैचित्र्यं भासेत। अथ स्वसन्तानवर्तीनि बोधान्तराणि विचित्राणि प्रबोधकारणानि इति, तदसत, सुख-दुःख-नील-पीतादि-पूर्वापरादिदेश-कालभेदस्य विज्ञानमात्ररूपत्वे विज्ञानस्य च प्रकाशमात्रपरमार्थतायां स्वरूपभेदासम्भवे बोधवैलक्षण्यानुपपत्तेः। परप्रमातृरूपेषु बोधान्तरेषु सन्तानान्तरशब्दवाच्येष्वपि तुल्योऽयम् अवैलक्षण्यप्रकारः। तत्रापि परकीयाभिमतस्य कृशस्थूलादेः कायस्य, श्वासप्रश्वासादेः प्राणस्य, सुखदुःखादेः धीगुणस्य, अनुमात्रभिमतसंविन्मात्ररूपाभेदे परत्वं कस्य इति न विद्मः। बोधस्य तन्निष्ठस्य इति चेत्, सोऽपि प्रमाणेन यदि न सिद्धः तत् असन् एव, सिद्धोऽपि प्रमेयतया चेत् तत् जड एव, तथापि च कायादिवत् एव ज्ञानमात्रस्वभावः—स्वसंविन्मात्ररूपत्वे परं प्रति अस्य असिद्धेः। ननु व्याहारादिक्रिया स्वात्मनि इच्छया व्याहरेयम् इत्येवंरूपया हेतुभावेन व्याप्ता दृष्टा तत् चैत्रकायेऽपि तया तद्धेतुकया भाव्यम्। न च मत्संततिपतिता समीहा अस्ति इति स्वसंवेदनेन निश्चितम्, ततश्च परसमीहा सिद्धयति, तदेव

वासना भिन्न हो, फिर भी बोधमात्र से अतिरिक्त जो देश-कालादि हैं उसे प्रबोध करनेवाले के माने हुए विचित्र कारण का अभाव होने से बोध अविचित्र ही रहता है एक ही [आभास रूप] प्रबोध नीलादि विचित्रता को युगपत् भासित करेगा। [विज्ञानवादी के मत की आशंका 'अथ' शब्द से करते हैं]

अपने सन्तान 'प्रवाह' में रहनेवाले अन्य-अन्य ज्ञान विचित्र कारण होंगे, ऐसा बाह्यार्थवादी का कहना ठीक नहीं बैठता है, क्योंकि सुख-दुःख नीला-पीतादि, पूर्वोत्तर देश-काल के भेद का विज्ञानमात्र स्वरूपत्वमें और विज्ञान का प्रकाशमात्र परमार्थरूप में स्वरूप भेद सम्भव नहीं होने से बोध की विलक्षणता नहीं बैठ सकती है। इसीमें दूसरे पक्ष से कहते हैं। प्रमातृरूप दूसरे बोध में, दूसरे सन्तान प्रवाह शब्द के वाच्य में बोध की स्वरूपता अभिन्न ही रहती है अर्थात् दूसरे सन्तान में भी समानता का ही समर्थन किया जाता है। अभेदता में भी दूसरे से माना हुआ कृश-स्थूलादि शरीर का श्वास-प्रश्वासादि प्राण का, सुख-दुःखादि बुद्धि के गुण का, अनुमान करनेवाले के अभिज्ञान मात्र से अभेद होनेसे किसको तुम परत्व कहोगे; यह हमारी समझ में नहीं आता है।

यदि बोधको परनिष्ठ मानते हो तो, वह भी प्रत्यक्ष प्रमाण से यदि सिद्ध नहीं है तब तो वह असत् ही है, प्रमेयरूप [बोधरूप] से यदि सिद्ध भी मान लिया जाय तो भी वह जडरूप ही हो जायेगा और जडता होने पर भी शरीरादि के समान ज्ञानमात्र स्वभाववाला परनिष्ठ अर्थात् जडरूप ही होगा, ज्ञानमात्ररूप होनेपर वह दूसरों के प्रति असिद्ध हो जायेगा; क्योंकि ज्ञानोंकी परस्पर संवेदता नहीं बनती है।

'ननु' कहकर [सौगत] बौद्धलोग प्रमाण देते हैं कि व्याहारादि क्रिया [बोलना] अपने आप [स्व सन्तान] में इच्छा से बोलेंगे इस हेतु रूप भाव से व्याप्त देखी गयी है वही चैत्र के शरीर में भी उसी [इच्छारूप हेतु] से होनी चाहिए। क्षण सन्तान में आनेवाली अन्य की इच्छा नहीं है अपने अनुभव ज्ञान से निश्चित होती है इसीलिए दूसरे की इच्छा सिद्ध हो जाती है, वही

संतानान्तरम् इति। अत्रोच्यते—इह अनुमातुः व्याहाराभासो द्विधा भवति—व्याप्तिग्रहण-कालेऽविच्छेदप्राणोऽहं व्याहरामि इत्येवंरूपः। अनुमानावसरे च 'व्याहरति अयम्' इति विच्छेद-जीवित इति अन्यस्य व्याप्तिः गृहीता, अन्यश्च आभासः कथम् इदानीं हेतुः स्यात्, व्याहरति इति आभासस्य च हेतुः अविदित एव इति कथं ततो हेतोः समीहा अनुमीयेत, किं च 'व्याहरति अयम्' इति यः प्रमात्रन्तरेऽनुमातृसंमते विच्छिन्नतया अवभासः सोऽनुमेयसंमतायाः परसमीहायाः कथं कार्यः स्यात्। तस्या हि व्याहरामीत्याभासः कार्यो योऽसौ अविच्छेदजीवितः। न च अविच्छेदमयस्य विच्छेदमयः कार्यम् इति युक्तम्—तथाभूतकार्यकारणभावग्रहणोपायाभावनात्, नहि स्वात्मनि योऽयम् अविच्छिन्नाभासः, स परत्र विच्छिन्नं 'व्याहरति अयम्' इत्येवंरूपम् आभासं जनयति, इति केनचित् प्रमाणेन सिद्धम्—परसिद्धिपूर्वकत्वात् अस्य अर्थस्य, परप्रमातृसिद्धेश्च। एवंभूतार्थसिद्धयधीनत्वेन इतरेतराश्रयात्। न च अवश्यम् अविच्छिन्नात् विच्छिन्नेन भाव्यम् इति नियमोऽस्ति व्यभिचारात्। न च विच्छिन्नोऽपि आभास उत्पद्यताम्, इति तदनुसन्धानात् तदुत्पत्तिः नियता—तत्सद्भावेऽपि अनुत्पत्तेः तदभावे च उत्पत्तेः, विच्छिन्न आभासः परत्र उत्पद्यताम् इति या समीहा तया सह परत्र उत्पन्नस्य विच्छिन्नाभासस्य कार्यकारणभावग्रहणमेव परासिद्धौ न युक्तम्

परकाय चैतन्य है अर्थात् दूसरा सन्तान है। [अब सौत्रान्तिक लोग दूसरे सन्तान अनुमान के विषय में कहते हैं] यहाँ पर अनुमान करनेवाले का व्याहाराभास दो प्रकार का है [दूसरे का व्याहार ही समीहापूर्वक हो सकता है, हमारे व्याहार की तरह] व्याप्ति ग्रहण काल में भिन्न काल न होता हुआ अविच्छेदरूप से मैं बोलता हूँ—ऐसा ही यह होगा और अनुमान काल में 'व्याहरति अयम्' भेद मूलक अन्य की व्याप्ति गृहीत होती है और विच्छेद प्राणवाला आभास कैसे दूसरों की समीहा का गमक [बतानेवाला] होगा, 'बोलता है' इस आभास का इच्छारूप हेतु अविदित ही है कैसे उसकी इच्छा अनुमान करेगी और भी 'व्याहरति अयम्' यह दूसरे प्रमाता में अनुमातृरूप से माना गया भेदपूर्वक अवभास अनुमेयरूप से मानी गयी दूसरे की इच्छा का कैसे कार्य हो सकता है। 'मैं कहता हूँ' यह आभास अपना स्वातम अविच्छेदरूप से प्राणित है और अविच्छेदरूप [व्याहरामि इत्येवं रूपाभासस्य] का विच्छेदरूप [व्याहरति अयम्] से कार्य होना उचित नहीं है, उसी प्रकार होनेवाले कार्य-कारणभाव ग्रहण करने के लिए कोई उपाय नहीं है, अपने में होनेवाला जो 'व्याहरामि' अविच्छेद आभास है वह [अनुमेय] दूसरी जगह में विच्छिन्न होकर 'व्याहरति अयम्' इस रूप में आभास पैदा करता है, किस प्रमाण से सिद्ध होगा, क्योंकि ये अर्थ दूसरे के सिद्ध होने पर ही सिद्ध होते हैं [अविच्छिन्नाभास के रहने पर विच्छिन्नाभास उत्पन्न होता है] इस प्रकार से तो अन्योन्याश्रय दोष आ जायेगा। अविच्छिन्न आभास से कहीं विच्छिन्नभास होता है अर्थात् 'व्याहरामि' की जगह 'व्याहरति अयम्' ऐसा क्या बोला जा सकता है ? नहीं, यह नहीं हो सकता है और ऐसा कोई नियम भी नहीं है जो अविच्छन्ना-भास से विच्छिन्नाभास होता हो, यदि मानते हो, तो इसका व्यभिचार होगा। विच्छिन्नाभास 'व्याहरति अयम्' दूसरे प्रमाता में उत्पन्न नहीं हो सकता है। अविच्छिन्नाभास के अनुसन्धान से ही विच्छिन्नाभास की उत्पत्ति सम्भव है—अविच्छेद के अभाव में उत्पन्न नहीं हो सकता और अविच्छेद के रहने पर उत्पन्न होगा, परप्रमाता में 'व्याहरति अयम्' ऐसा उत्पन्न हो, उसके साथ दूसरे प्रमाता में उत्पन्न विच्छिदाभास परप्रमाता के सिद्ध न होने से कार्य-कारणभावादि का

इति व्याप्तेरेवासिद्धिः। प्रमात्रन्तराणि च यदि भिन्नानि तदा तन्निष्ठानाम् अवभासानां भेद एव, 'ज्ञानादव्यतिरिक्तं च' इति न्यायात्। ततश्च एकाभासनिष्ठत्वाभावात् एकाभासविश्रान्तः सम्भूय प्रमातॄणां व्यवहारो न स्यात्—इति अन्योन्यानुपरक्तं भूतग्रस्तप्रकृतिप्रायं जगत् आपद्येत। अनुमीयमानमपि च बोधान्तरम् अनुमातृसम्मतात् बोधात् यदि भिन्नम्, तद् अस्ति तावत् सम्भवः—यत् प्रमेयं बोधात् भिन्नम् अस्ति इति। सहोपलम्भनियमादेः अनैकान्तिकत्वात् नीलपीतादिनापि प्रमेयराशिना किम् अपकृतम्, येन अस्य स्वरूपविश्रान्तिः न सह्यते, तस्मात् प्रमात्रन्तराणामपि असिद्धिरेव, सिद्धौ वा सर्वप्रमात्रन्तर्गता आभासा एकैकत्र परत्र आभासवैचित्र्यहेतुं वासनोद्बोधवैचित्र्यं जनयेयुः—नियमे हेत्वन्तराभावात् इति, तथापि न नीलादिवैचित्र्यसिद्धिः। एवं वासनानां तदुद्बोधहेतूनां च विचित्राणाम् अनुपपत्तिरेव। ततश्च स्थितमेतत्, अभिन्नो बोधः तस्य आकस्मिकाभासभेदहेतुत्वानुपपत्तेः बाह्योऽर्थोऽनुमेयः सम्भाव्यते—इति यदि बाह्यार्थवादिना उच्यते, इति श्लोकद्वयार्थः। चेच्छब्दः श्लोकद्वयवाक्यार्थशङ्काद्योतकः ॥ ४-५ ॥

एवम् आशङ्क्यमानत्वेन परसम्भावना दृढा दर्शिता, अधुना तु एनां सम्भावनां शिथिलयितुं तावदाह—

स्यादेतदवभासेषु तेष्वेवावसिते सति।
व्यवहारे किमन्येन बाह्येनानुपपत्तिना ॥ ६ ॥

ग्रहण नहीं होगा—यह व्याप्ति ही नहीं बनेगी और यदि अन्य जीव भिन्न हैं तो अन्य प्रमाओं में रहनेवाले आभास का भेद ही रहेगा, ['ज्ञानादव्यतिरिक्तं च' ज्ञान से अभिन्न अर्थान्तर कैसे होगा, यह आचार्य धर्मकीर्ति का कथन है।] इसी कारण एक वस्तु में न रहने के कारण एकाभास में रहकर मिले हुए प्रमाताओं का 'शिविका' पालकी के समान व्यवहार नहीं होगा। इस तरह आपस में न मिलने से भूत से ग्रस्त हो जाने के समान मूर्च्छित ही प्रायः जगत् का व्यवहार हो जायेगा। अनुमान किया जानेवाला दूसरा ज्ञान अनुमाता के सम्मत ज्ञान से यदि भिन्न है, तब तो वह प्रमेय ज्ञान से भिन्न है, यही सम्भव हो सकता है, कर्ता और कर्म का तादात्म्य नहीं होने से।

एक ही साथ ज्ञान और ज्ञेय का बोध हो सकता है, यह कोई निश्चित नहीं है या हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, तो फिर नील-पीतादि समूह ने क्या अपकार किया है, जिस अपकार से प्रमेय के स्वरूप में विश्रान्ति होना तुम विज्ञानवादियों द्वारा नहीं सहन होता है, इससे अन्य प्रमाताओं की असिद्धि ही होगी, सिद्धि मानने पर भी प्रमाताओं के भीतर रहनेवाला आभास ज्ञान प्रत्येक स्थान में आभास की विचित्रता के हेतु वासना में उद्बोध वैचित्र्य पैदा कर देंगे; क्योंकि नियम में कोई हेतु नहीं है, ऐसा यत्न करने पर भी नीलादिकों की विचित्रता में विचित्रताओं की अनुपपत्ति ही होगी। इससे यह बात रह गयी, अभिन्न चिन्मात्र ज्ञान आकस्मिकाभास भेद का हेतु नहीं बन सकता है इसीलिए बाह्यार्थ अनुमेय है यह बात सम्भव है और यही बाह्यार्थवादी का कहना है दोनों श्लोकों का यही अर्थ है। 'चेत्' शब्द दोनों श्लोकों के वाक्यार्थ की शङ्का का द्योतक है ॥ ४-५ ॥

बाह्यार्थवादी द्वारा की हुई आशङ्का को दृढता पूर्वक बतलाया, किन्तु अब उस सम्भावना को शिथिल करने के लिए [इसके बाद में ईश्वर अद्वैतवादी] कहेंगे—

स्यादेतत्—इति पूर्वोक्तसम्भावनाभ्युपगमे यदा व्याख्यायते तदा किं तु इति वाक्यशेषेण तच्छैथिल्यविषयं सम्भावनान्तरं शेषश्लोकेन दर्श्यते इति व्याख्येयम्। यदि तु अध्याहारो न सह्यते तदा स्यादेतदिति इदमपि सम्भावनान्तरं स्यात्, यदनेन श्लोकेन उच्यते इति एकवाक्यतया योज्यम्, अनयापि कष्टकल्पनया बाह्यान् अर्थान् प्रसाधयता भवता तैः न किंचित् कर्तव्यम्, आभासैरेव तैः भवता अभ्युपगतैः व्यवहारसिद्धेः, न हि नित्यानुमेयेन कश्चित् व्यवहार इति किं बाह्येन, यत्र साधकं च नास्ति प्रमाणम्, बाधकं च प्रकाशात् भेदे अनुमेयतयापि प्रकाशनाभाव इति तावत् मुख्यम्। अभ्युच्चयबाधकास्तु अवयविनो वृत्त्यनुपपत्तिः, समवायासिद्धिः, कम्पाकम्पावरणानावरणरक्तारक्तदिग्भागभेदादिविरुद्धधर्मयोगः। अणुसंचयबाह्यवादेऽपि संचयस्य

यह सम्भव हो सकता है उन आभासों की समाप्ति होने पर जिसकी उपपत्ति न बैठती हो। ऐसे व्यवहार में अन्य बाह्य-पदार्थ से क्या क्षति आयेगी॥ ६॥

हो सकता है—पूर्वोक्त सम्भावना को मान लेने पर जब व्याख्यान करोगे तब तो इस वाक्य शेष से उसके शैथिल्य विषय की दूसरी सम्भावना को शेष श्लोक से बताते हैं—ऐसी व्याख्या करना ठीक है। यदि अध्याहार-समुच्चारण सह्य नहीं होता हो, तब तो यह भी दूसरी सम्भावना हो सकती है, जब कि इसी श्लोक से यह कहा जाता है—ऐसी एक वाक्यता जोड़नी चाहिए वाक्य भेद करना समुचित नही होता, [अब दोनों के पक्षों में समान अर्थ हो गया।]

इस कष्टदायी कल्पना से भी बाह्य-अर्थों की सिद्धि करोगे तभी भी उन बाह्य-अर्थों से प्रयोजन कुछ सिद्ध नहीं हो सकता है, क्योंकि जिन आभासों को आपने मान लिया है उन आभासों से ही व्यवहार की सिद्धि हो जायेगी, नित्य अनुमेय से कोई भी व्यवहार नहीं होगा, अप्रकाशमान होने के कारण बाह्यार्थ से क्या उपस्थित है। जहाँ पर साधक कोई प्रमाण नहीं है, और बाधक प्रमाण प्रयोजन है, क्योंकि प्रकाश से भेद होने पर अनुमेय से भी प्रकाशन का अभाव मुख्य रहता है। प्रकाश से भिन्न अप्रकाश होता है तो यही अधिक बाधक प्रमाण हो गया; इस इस विषय में जैसा भी सोचो, किन्तु जब प्रकाश से भिन्न मानोगे तब तो वह अप्रकाश हो ही जायेगा। इसका प्रकाशित न होना ही एकमात्र निष्कर्ष निकलता है अवयवों में अवयवी रहता है तथा अवयवी का अवयवों में नहीं रहना ही अभ्युच्चय बाधक कहलाता है, अर्थात् जब

---

१. पूर्व में तो प्रमाण के व्याज से प्रवृत्त हुए बाधक को कह दिया किन्तु अब अपने आप भी प्रमेय के अपने निरूपण में प्रवृत्त हुए प्रवृत्ति द्वारा प्रवृत्त प्रमेय के स्वरूप का उन्मूलन कर देना ही इसका अधिक बाधकत्व है।

२. हाथ चलता है इसमें केवल हाथ का ही चलन हो रहा है, सारे शरीर का नहीं होता है, तभी अवयव और अवयवी की युतसिद्धि हो जाती है। न्यायकन्दली में इसका प्रतिपादन किया हुआ है। हाथ के कम्पन होने पर हाथ के आश्रयभूत शरीर का कम्पन होता हुआ नहीं देखा जाता अथवा पैर का कम्पन होने पर तद्गत शरीर कम्पित होता नहीं देखा जाता, यही इसमें विरुद्धधर्मता मिलती है। उसी प्रकार एक अवयव के ढक जाने पर उसमें समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले अवयवी का ग्रहण नहीं

अन्यस्य अभावे अणव एव, ते च यदि संयुज्यन्ते निरन्तरतया तत् अवश्यं दिग्भागभेदः, देवनाक्षे षट्सु दिक्षु संचीयमानेषु षट्सु अणुषु मध्यमस्य परमाणोः यत्रैव धाम्नि एको लग्नः तत्रैव यदि अपरः तत् एकपरमाणुमात्रता। अथ अन्यत्र एकः अन्यत्र अपरः तत् अवश्यं भागभेदापत्तिः, इति भाग एव परमार्थसन्, तस्यापि एषैव सरणिः इति न किंचित् अवशिष्यते बाह्यं तत्त्वतः। न चैतत् वाच्यम्—मूर्तानाम् एकदेशत्वायोगात्, संयोगे भिन्नदेशत्वाव्यावृत्तेः तन्निष्ठं द्व्यणुकं नाम कार्यद्रव्यम् अणुपरिमाणम्, तेभ्यः त्रिभ्यो महत्कार्यम् इति। अवयविवादो हि अयम्, स च पूर्वमेव अपबाधितः। यच्च अव्याप्यवृत्तित्वं संयोगस्य उच्यते तन्निरंशे कथं संगच्छताम्। स्वाश्रये हि यदि असौ समवैति किम् अन्यत् अस्य अवशिष्टम् यत् न व्याप्नुयात् इति, अभ्युच्चयबाधकं च इदम्, इति न अत्र अस्माभिः भरः कृतः। विस्तरेण च प्रज्ञालङ्कारे दर्शितम् आचार्यशंकरनन्दनेन ॥ ६ ॥

अवयवी वस्तु ही नहीं है तो अवयव किसमें रहेगा, यही वृत्ति की अनुपपत्ति है, समवाय की भी तो असिद्धि हो जाती है, क्योंकि अवयव अवयवी की सत्ता में ही समवाय की सत्ता रहती है, कम्पन-अकम्पन [स्थैर्य] आवरण-अनावरण, रक्त-अरक्तादि दिशाओं का भेद विरुद्ध धर्मों के संयोग मूर्त्त में बाध माना जाता है। अणु समुदायवाद में भी अणु समुदाय दूसरे परमाणु विलक्षण के अभाव में अणु ही रह जाते हैं और वे यदि निरन्तर संयुक्त होकर मिले रहते हैं तब तो अवश्य ही दिशाओं से उपलक्षित होनेवाले भाग का भेद हैं, ऐसी स्थिति में तो दिशाओं में भी भेद मानना पड़ेगा, षट् कोणवाली दिशाओं का ही भेद होता है, परमाणुओं का संयोग-वियोग भी बन सकता है इसी प्रकार वहाँ पर भी मान लो, इसीलिए यथार्थता में बाह्य कोई पदार्थ नहीं है और वह एक परमाणु मात्र का समर्थन भी नहीं कर सकता है मूर्तों के एक स्थान में रहना असम्भव होने से, संयोग हो जाने पर भिन्न देश में रहना नहीं बनेगा उसमें रहनेवाले दो परमाणु कार्य द्रव्य अणुपरिणाम ही रहेगा तीन परमाणु से महत् कार्य होता है। इस अवयविवाद का तो हमने पूर्व में ही खण्डन कर दिया है।

अव्याप्यवृत्ति संयोग अक्षपाद के मत की आशङ्का कर कहते हैं 'यच्चेति'—संयोग का अव्याप्यवृत्तित्व निरंश में कैसे हो सकेगा। यदि यह कहो कि अपने आश्रय में संयोग रहता है तो कौन वस्तु ऐसी है जहाँ पर संयोग व्याप्त नहीं होता है और यह बाधकों की भरमार है इसलिए हमने कोई जोर नहीं दिया है और इसका सविस्तार प्रतिपादन श्रीआचार्य शङ्करनन्दन ने प्रज्ञालङ्कार में किया भी है ॥ ६ ॥

होगा, आवरण हट जाने से तो ग्रहण होता है, इस प्रकार एक साथ भी ग्रहण होता है। अब कहो कि अवयवी का सम्बन्ध एक-एक अवयवी के साथ रहता है अथवा सम्पूर्णतया रहता है, एक देश से [वृत्ति का] रहना बन नहीं सकता है; अवयव से भिन्न एक देश का अभाव होने से, अथवा सम्पूर्णतया रहता है यह कहो तो भी दूसरे अवयव में वृत्ति नहीं रहती है; क्योंकि एक अवयव के संसर्गावच्छिन्नरूप में दूसरे अवयवों का स्थान न रहने से, उस स्वरूप से अतिरिक्त इसका दूसरा स्वरूप नहीं होने से भी यह बात है।

१. भरः—शब्द अतिशय प्रयत्न—अर्थ में है।

ननु बाधकं नाम प्रमाणसिद्धे वस्तुनि न किंचित् कर्तुं समर्थम्—तेनैव दृढेन प्रमाणेन बाधकाभिमतस्य बाधितस्य अप्रमाणत्वसम्पादनात्। दर्शितं च इह साधकं प्रमाणं कार्यहेतुः 'तत्तदाकस्मिकाभास' इति कारिकया इत्याशङ्क्य आह—

चिदात्मैव हि देवोऽन्तःस्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ।। ७ ।।

इह तावत् स्वप्न-स्मरण-मनोराज्य-संकल्पादिषु नीलाद्याभासवैचित्र्यं बाह्यसमर्पकहेतु-व्यतिरेकेणैव निर्भासते इति यद्यपि अस्ति सम्भवः, तथापि तदाभासवैचित्र्यम् अस्थैर्यात् सर्वप्रमातृसाधारण्यात् पूर्वानुभवसंस्कारजत्वसम्भावनात् अवस्तु इति शङ्क्येत। यत् पुनरिदं योगिनाम् इच्छामात्रेण पुरसेनादिवैचित्र्यनिर्माणं दृष्टम्, तत्र उपादानं प्रसिद्धमृत्काष्ठ-शुक्र-शोणितादिवैचित्र्यमयं न सम्भवत्येव, न हि एवं वक्तुं शक्यम्—सर्वगताः परमाणवो योगीच्छया झटिति संघटिताः कार्यम् आरप्स्यन्ते इति। यत एतत् लोकप्रसिद्धकारणभावानतिक्रमसिद्धये

अब प्रश्न करते हैं कि प्रमाण से सिद्ध वस्तु में बाधक प्रमाण कुछ नहीं कर सकता; क्योंकि उस दृढ प्रमाण से जिसको बाधक माने हुए हो उसमें अप्रमाणत्व सम्पादित हो जाता है और इसमें साधक प्रमाण तो कार्य का हेतु है इसे 'तत्तदाकस्मिकाभासः' इस कारिका में दिखा दिया है; इस प्रकार आशङ्का कर कहते हैं—

चिदात्मा देव ही अपने भीतर स्थित अर्थसमूह को इच्छाबल से बाहर की ओर प्रकाशित करते हैं जैसे योगी उपादान कारणादि के विना भी अर्थसमूह को प्रकाशित करते हैं ।। ७ ।।

स्वप्न, स्मरण, मनोराज्य, संकल्पादि में वाहरी कारणों के विना भी नीलादि पदार्थ चित्र-विचित्र रूपों से भासित होते हैं, यह सब संभव है, उसी प्रकार आभास की विचित्रता अस्थिर होने से सभी प्रमाताओं में असाध्य होने के कारण पूर्वकाल के संस्कार से ही उत्पन्न होती है इसलिए अवस्तु ही है। जो कि यह योगी लोगों की इच्छा मात्र से पुर, सेना, गढ़-किला आदि का विचित्र-चित्र निर्माण देखा जाता है उसमें प्रसिद्ध उपादन [कार्य से अभिन्न रहता है जैसे घट के प्रति मिट्टी उपादान कारण होती है] मिट्टी, काष्ठ, शुक्र, शोणितादि वैचित्र्यमय कारणों को तो संभावना भी नहीं देखी जाती है, ऐसा नहीं कह सकते हो—योगी की इच्छामात्र से सब जगह रहनेवाले व्यापक परमाणु आपस में एक दूसरे से मिलकर शीघ्र ही कार्य संपादन कर देते हैं। जब कि यह लोक प्रसिद्ध कार्य-कारणभाव अनतिक्रम सिद्धि के लिए निरूपण करते हैं। यह प्रसिद्ध

---

१. जिन लोगों ने अपना परम संविद्रूप स्वातन्त्र्य नहीं जाना है उन्हें सदैव संशय-विपर्यय बने ही रहते हैं। जिन्होंने संविद्रूप स्वातन्त्र्य प्राप्त कर लिया है उन्हें तो कभी-कभी दूसरे कारण को खोजने के लिए अन्वेषण नहीं करना पड़ता है। इस विषय में "भट्टदिवाकरवत्स" ने कहा है 'न दृश्यते त्वत्प्रतिभास-शक्तेः स्वप्नेऽर्थवैचित्र्यनिमित्तमन्यत्। तद्दृष्टसामर्थ्यतया सदैषा विश्वप्रपञ्चप्रथनैकहेतुः ।।

हे प्रभो ! आपकी प्रतिभा-शक्ति से भिन्न कोई निमित्त अर्थवैचित्र्य के लिए स्वप्न काल में भी नहीं दिखते हैं। विश्वप्रपञ्च का विस्तार करने में एक मात्र कारण संविद्रूप का सामर्थ्य ही है।

२. घटरूप कार्य से अभिन्न रहनेवाला उपादान कारण कहलाता है जैसे कि घट के प्रति मिट्टी।

निरूप्यते। न च एतत् प्रसिद्धम्—परमाणुभ्य एव स्थूलं घटादि जायते इति, किं तु कपालादिव्यवधानेन, तत्रापि नियतसहकारिसमवलम्बनम् करचरणादिव्यापारो विशिष्टदेशकालधर्माधिपत्ययोगः शिक्षाभ्यासप्रकर्ष इति, इयति च आश्रीयमाणे योगी कुम्भं निर्मिमाणः कुम्भकारप्रसिद्धसमस्तसामग्रीसमर्जनपुरःसरं घटं घटयन् कुम्भकार एव स्यात्, तस्मात् प्रसिद्धकारणोल्लङ्घने किम् असंचेत्यमानपरमाण्वाद्युपादानकारणान्तरचिन्तया इति। तत्र योगिसंविद एव सा तादृशी शक्तिः—यत् आभासवैचित्र्यरूपम् अर्थजातं प्रकाशयति इति। तत् अस्ति सम्भवः—यत् संवित् एव अभ्युपगतस्वातन्त्र्या अप्रतीघातलक्षणात् इच्छाविशेषवशात् संविदोऽनधिकात्मताया अनपायात् अन्तःस्थितमेव सत् भावजातम् इदमित्येवं प्राणबुद्धिदेहादेः वितीर्णकियन्मात्रसंविद्रूपात् बाह्यत्वेन आभासयति इति, तत् इह विश्वरूपाभासवैचित्र्ये चिदात्मन एव स्वातन्त्र्यं किं न अभ्युपगम्यते स्वसंवेदनसिद्धम्, किमिति हेत्वन्तरपर्येषणाप्रयासेन खिद्यते। एवकारेण इदमाह—सर्वेण तावत् वादिना विषयव्यवस्थापनं संविद्रूपम् अनपह्नवनीयम् आदिसिद्धं हि तत् इति उक्तम्। तस्य च स्वातन्त्र्यमेव देवशब्दनिर्दिष्टं चिद्रूपत्वम्, इति किम् अपरकारणान्वेषणव्यसनितया। हि यस्मात् एवं प्रकाशयति देव इति सम्भाव्यते, तस्मात् किं बाह्येन अनुपपत्तिना, इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ७ ॥

नहीं है कि परमाणुओं से ही घटादि की उत्पत्ति होती हो। किन्तु दो कपाल आपस में जब मिलते हैं तभी घट तैयार होता है, उसमें भी नियत सहकारी कारणों [घटरूप कार्य से भिन्न देश में रहनेवाले जैसे चक्र, दण्ड, चीवरादि सहकारी कारण कहलाते हैं] का अवलम्बन करना, हाथ, पैर आदि के व्यापार विशिष्ट देश-काल धर्म का योग होना अपेक्षित है। घट निर्माण के लिए घट सम्बन्धी शिक्षा, ज्ञान एवं अभ्यास का होना आवश्यक होता है। इतनी वस्तु-सामग्री के रहने पर योगी घट बनावे तो कुम्भकार ही सिद्ध हो जायेगा, इसलिए प्रसिद्ध कारण के उल्लंघन करने में जो संभव नहीं है उस परमाणु से भिन्न कारण की चिन्ता करना व्यर्थ है। उसमें तो योगी के ज्ञान की ही वह वैसी शक्ति है—जो आभास वैचित्र्यरूप से अर्थसमूह को प्रकाशित करती है। इसलिए संभव हो सकता है जो कि संवित् ही अपनी मिली हुई स्वतंत्रता से, निर्बाधरूप से, इच्छा विशेष से, अधिक न होनेवाली संवित् का नाश न होने से, भीतर रहनेवाले पदार्थ समूह को ही बाहर में प्राण, वुद्धि, देहादि रूप से, कुछ फैली हुई संविद्रूप से, बाहर में आभासित करती है, इसलिए वाहर के भावपदार्थों की विचित्र-चित्ररूपता में चिदात्मा का ही स्वातन्त्र्य क्यों नहीं मान लेते हो जोकि वह स्वयं संवेदन ज्ञान से सिद्ध है, क्यों दूसरे-दूसरे हेतु के खोजने के परिश्रम से खिन्न होते हो। 'एवकार' शब्द से यह कहते हैं कि सब वादी से विषय की व्यवस्था संविद्रूप मानो जाती है जो कि आदि सिद्ध है उसे हमने पहले ही कह दिया है और उसके स्वातन्त्र्य को 'देव' शब्द से व्यक्त किया है, क्यों दूसरे कारण को खोजने में व्यसनी वनते हो, 'हि' जिससे ऐसा यह देव प्रकाशित होता है, ऐसी संभावना करना संभव हो सकता है। इसलिए बाह्य कारण की क्या आवश्यकता है जवकि वन नहीं सकता ॥ ७ ॥

---

१. 'इति' शब्द वाक्य की समाप्ति अर्थ में दिया गया है।

२. घटरूप कार्य से भिन्न देश में रहनेवाले का नाम सहकारी कारण है। जैसे घट के प्रति दण्ड-चक्रादि।

ननु एवम् उभयथापि सम्भावनानुमानम् उन्मिषति, तत्र किं मुकुरप्रतिबिम्बितघटादि-दृष्टान्तेन ज्ञानप्रतिबिम्बिताभासवैचित्र्ये विज्ञानदर्पणातिरिक्तं तत एव बाह्याभिमतं हेतुं कल्पयेम ? किं वा योगिदृष्टान्तेन संवित्स्वातन्त्र्यमेव हेतुभावेन ब्रूयाम ? तदिदं सांशयिकं वर्तते इति आशङ्क्य बाह्यार्थानुमानसम्भावनां सूत्रद्वयेन अपाकर्तुमाह—

अनुमानमनाभातपूर्वे नैवेष्टमिन्द्रियम् ।
आभातमेव बीजादेराभासाद्धेतुवस्तुनः ॥ ८ ॥
आभासः पुनराभासाद्बाह्यस्यासीत्कथंचन ।
अर्थस्य नैव तेनास्य सिद्धिर्नाप्यनुमानतः ॥ ९ ॥

न केवलम् अनन्तरश्लोकनिर्दिष्टाभिः युक्तिभिः प्रत्यक्षेण बाह्योऽर्थो न आभासते, इयदेव हि प्रत्यक्षं—यत् नीलं भाति इति स्वप्रकाशसंविद्रूपं, नाधिकं किंचित् इति, यावत् अनुमानेनापि न अस्य बाह्यस्य सिद्धिः इति अपिशब्दः। तत्र अनुमानम् अत्र नैव प्रवर्तितुम् उत्सहते। प्रवृत्त-मपि न प्रकृतसिद्धम् आदध्यात् इति अनेन सूत्रद्वयेन दर्श्यते। तत्र अनुमानं—विकल्पः, सर्वश्च अयं विकल्पोऽनुभवमूल इति प्रसिद्धम्। तेन यत् सर्वथा अनाभातपूर्वम्—अननुभूतचरं तत्र

अब शंका करते हैं कि आगे कही जानेवाली दोनों तरह की संभावना से अनुमान निकलता है, [सर्वथा ही दूसरे में रहनेवाले अनुमान को सिद्ध करना होगा और उस संभावनारूप अनुमान से तो दोनों समान ही विकसित होंगे अतः इसमें फिर किसका त्याग किया जाय और किसका ग्रहण किया जाय।] घटादि का दर्पण में पड़े हुए प्रतिबिम्ब के समान अथवा ज्ञान में जो प्रतिबिम्बता का आभास है उसकी विचित्रता में विज्ञान दर्पण से भिन्न और उसीसे बाहर माने हुए [अपने सदृश दूसरे भाव-पदार्थ का संक्रमण होना] हेतु की क्या कल्पना करोगे ? अथवा योगी के दृष्टान्त से ज्ञान की ही स्वतन्त्रता को हेतुभाव से क्या हम कहेंगे ? यही बात सन्देह में पड़ी हुई है ऐसी आशंका कर बाह्यार्थ के अनुमान की सम्भावना को दूर करने के लिए दो श्लोकों से कहते हैं—

पूर्व में जिसका आभास नहीं हुआ है उसका अनुमान नहीं होता, हेतु देने योग्य जो बीजादि वस्तु है उस आभास से इन्द्रियाँ आभासित ही होती हैं ॥ ८ ॥

बाहर के आभास से किसी भी तरह उसका आभास था इसलिए बाहर का अनुमान नहीं हो सकता है, हेतु से अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती और अनुमान से भी नहीं हो सकती ॥ ९ ॥

इसके पूर्व में दिखाये गये श्लोक की युक्तियों से भी नहीं अपितु प्रत्यक्षरूप से भी बाह्य अर्थ नहीं आभासित होता है, इतना ही प्रत्यक्ष है जो नील आभासित होता है—इसे पूर्व में ही कह दिया है, अब कुछ भी अधिक कहना शेष नहीं रह जाता है। 'अपि' शब्द का अर्थ है कि अनुमान से भी इसकी सिद्धि नहीं होगी। अनुमान की भी इसमें प्रवृत्ति नहीं होती है। प्रवृत्त हो भी जाय तो भी बाह्यार्थ की सिद्धि नहीं कर सकता, यह बात दोनों सूत्रों से बतलायी जाती है। अनुमान-विकल्प करना, और समस्त विकल्प अनुभव मूलक ही रहता है यह सर्वजन विदित ही

अनुमानम् अनुमितिव्यापारो विकल्पात्मा नैव केनचित् वादिना इष्यते। ननु भवतु प्रत्यक्षतो दृष्टेऽनुमाने संकथा इयम्, सामान्यतो दृष्टे तु किं वक्ष्यसि यथा अर्थोपलब्ध्या इन्द्रियानुमाने ?, उच्यते—तत्रापि विकल्पेन यथा सोऽर्थः स्पृश्यते तथा अनुमेय इति स्थितः। विकल्पश्च न इन्द्रियादिकम् अर्थं केनचित् संनिवेशविशेषात्मना स्पृशति, अपि तु किंचिदुपलब्धेः कारणम् इति अमुना स्वभावेन, स च स्वभावः कारणतालक्षणः प्रत्यक्षगृहीत एव। तथा च बीजात् अङ्कुरः तन्तुभ्यः पट इत्यादौ कार्यकारणभावः प्रत्यक्षानुपलम्भबलेन तावत् निश्चेयः। तत्र च प्रत्यक्षं प्रत्याभासं प्रामाण्यं भजते, विमर्शलक्षणस्य प्रमितिव्यापारस्य एकैकशब्दवाच्येऽर्थे विश्रान्तेः, तदनुसारित्वाच्च प्रमाणस्य इति वक्ष्यते। 'एकाभिधानविषये मितिर्वस्तुन्यबाधिता।' इति। आभासमात्रं च सामान्यम् इति निर्णेष्यते। अनुपलम्भोऽपि अन्योपलम्भरूप आभासमात्रविश्रान्त एव—इति कारणाभासो विशेषशून्यः परिगृहीत एव बीजात् अङ्कुर इति प्रतीतौ यत् यस्य नियमम् अनुविधत्ते अव्यतिरिक्तम् तत् तस्य कार्यम्, इति प्रतिघटं मृत्तिकादिरूपस्य हेतुतद्धन्मात्रस्य आभासात्, साभासात् बाह्यः पुनरनाभासरूपः, स च आभासते इति विप्रतिषिद्धम्। अनाभाते च नास्ति विकल्परूपस्य अनुमानस्य व्यापारः। ग्रामगृहादेस्तु यत् बाह्यं तत् अग्रामादिरूपं न उच्यते—प्रत्येकं वाटानूपकुड्यतुलादेः बाह्यत्वप्रसङ्गात् अपि तु तत्संनिकृष्टम्, तस्मात् ग्रामबाह्यम् आभासबाह्यम् इति च शब्दसाम्यमात्रम् एतत् न वस्तुसाम्यम्। एवं ये

है। इसलिए जिसका पूर्व में आभास नहीं हुआ है उसमें अनुमान जो अनुमिति का व्यापार है उसका विकल्परूप किसी भी वादी को इष्ट नहीं है, भले ही प्रत्यक्ष से दृष्ट अनुमान के रहने पर हो, किन्तु सामान्यतो दृष्ट में क्या कहोगे, जैसा कि अर्थ उपलब्धि से इन्द्रियों के अनुमान में ? उत्तर देते हैं—सविकल्प और निर्विकल्प का प्रत्यक्ष में भी विकल्प से जैसा अर्थ आभासित होता है वैसा ही अनुमेय भी होता है और विकल्प किसी संनिवेश विशेष से इन्द्रियादि पदार्थ को नहीं स्पर्श [प्रकाशित] करता है, अपि तु किंचित् उपलब्धि के कारण इन्द्रियाँ हैं इसी कारण से, और वह स्वभाव प्रत्यक्ष से ही गृहीत होता है। वैसा ही बीज से अंकुर और तन्तु से पट इत्यादि में कार्य-कारणभाव प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ से निश्चय होता है। और प्रत्यक्ष तो सभी आभास में प्रमाण होता है, विमर्शरूप जो प्रमा का व्यापार है उसके अभिधेय अर्थ में भासित होता है, और तदनुसार प्रमाण कहेंगे। 'एकाभिधानविषये मितिर्वस्तुन्यबाधिता' और आभास मात्र को सामान्य रूप से निर्णय करेंगे। अनुपलम्भ को भी अन्य उपलम्भरूप आभासमात्र में ही विश्रान्त रहेगा, जिसके रहने पर जो नियम से होता है वही उसका कार्य माना जाता है जैसा कि मिट्टी से घट और बीज से अंकुररूप, प्रत्येक घट में मिट्टी का आभास रहता है उसी का हेतुरूप से आभास होता है, जब आभास सहित होने के कारण बाह्य अनाभास रूप है और भासित होता है यह तो परस्पर विरुद्ध है। जब अनाभास होनेसे विकल्परूप अनुमान का व्यापार नहीं बन सकता। ग्राम, गृहादि से जो वस्तु बाह्य है उसे अग्राम, गृहादिरूप नहीं कहा जाता है यदि बाह्यरूप माना जाय, तो फिर प्रत्येक देश में रहनेवाले भीत्तिका अर्थात् दीवाल, तुलादि को भी बाह्य रखना होगा। अपितु उसके भीतर की ही बात कही जाती है ग्राम के बाहर होने पर भी ग्राम की ही ये वस्तुएँ हैं और यह व्यवहार देखा भी जाता है, इसलिए ग्राम से बाह्य और आभास बाह्य मात्र एक कथन ही है वस्तु साम्य नहीं है अर्थात् इसमें दूसरा कोई अभिप्राय नहीं है। एवं विकल्प में वस्तु

विकल्पे वस्तु न आभाति इति मन्यन्ते तेषामपि तावत् अनुमानविकल्पो न बाह्ये उपपन्नः। अस्माभिस्तु उपपादितम्—अध्यवसायस्यापि आभासमानविषयत्वम् 'भ्रान्तित्वे चावसायस्य' इति सूत्रे। तेन अनुमानविकल्पात्मनापि प्रकाशेन यदि अनाविष्टो नीलादिः अर्थः तत् न अनुमित एव स्यात्। अथ आविष्ट एव, तर्हि 'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्' इति न्यायेन प्रकाशमात्रस्वभाव एव, न बाह्यः। तेन बाह्ये साध्ये यत् किंचित् प्रमाणम् आनीयते, तदबाह्यतामेव प्रत्युत प्रसाधयति इति विरुद्धमेव, अत एव आह 'कथंचन' इति, केनापि प्रकारेण प्रत्यक्षात्मना अनुमेयात्मना वा आभासनम् आभासो बाह्यस्य अनाभासस्य न कदाचित् अभूत् इति, तस्मात् सिद्धम् 'चिदात्मैव हि देव' इति ॥ ८-९ ॥

ननु अन्तःस्थितं बहिः प्रकाशयेदित्युक्तं तत् अन्तस्थितत्वम् उपपादनीयम् इति आशङ्क्य आह—

स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य[2] भावजातस्य भासनम्।
अस्त्येव न विना तस्मादिच्छामर्शः प्रवर्तते[3] ॥ १० ॥

आभासित नहीं होती है ऐसा जो बौद्ध मानते हैं, उनका भी अनुमान विकल्प बाह्य में नहीं हो सकता। किन्तु हमने तो इसका 'भ्रान्तित्वे चावसायस्य' सूत्र में प्रतिपादन कर दिया है ['भ्रातित्वे' यह उपलक्षण है, इसलिए 'भासयेच्च स्वकालेऽर्थात्' इत्यादि से कहा है और 'केवलं भिन्नसंवेद्यः' इत्यादि में कहेंगे] इसलिए अनुमान विकल्परूप प्रकाश से यदि नीलादि अर्थ आविष्ट नहीं है तो उसका अनुमान नहीं बनेगा; यदि कहो कि आविष्ट है तो 'प्रागिवार्थोऽप्रकाशः स्यात्' इस युक्ति से प्रकाशमात्र स्वभाव ही होगा, बाह्य नहीं है। बाह्य साध्य में जो कुछ प्रमाण ले आयँगे वह तो अबाह्यत्व को ही सिद्ध करेगा इसमें तो आपको विरुद्ध ही दिखायी पड़ेगा, इसलिए कहते हैं 'कथंचन' किसी प्रकार भी प्रत्यक्षरूप से, अनुमेयरूप से आभासन वा आभास का अनाभास कभी भी नहीं हुआ, इसलिए 'चिदात्मैव हि देवः' चिदात्मा ही देव है—यह सिद्ध हुआ ॥ ८–९ ॥

अब इस पर प्रश्न करते हैं कि अन्तःकरण में अवस्थित रहे हुए का ही बाहर में प्रकाश होता है ऐसा जो कहा गया है उसे ही सिद्ध करना है [यदि चिदात्मा देव में रहनेवाली पदार्थ[1] राशि है तो फिर क्यों नहीं भासित होती है इसे युक्ति द्वारा साधते हैं] इस तरह आशंका कर कहते हैं—

चिदात्मा देव में रहनेवाले ही अर्थ-समूह भासित होते हैं। इसलिए उनमें अर्थराशि तो रहती है किन्तु इच्छा के बिना परामर्श नहीं हो सकता है ॥ १० ॥

---

१. सवेदन ज्ञान के भीतर बाह्य अर्थ का प्रतिबिम्ब रहता है प्रतिबिम्बरूप आभास का उत्थापक है अर्थात् अन्तःकरण में ज्ञान का आभास तभी रहता है जब बाहर में पदार्थ विद्यमान रहता है इसमें कोई प्रमाण नहीं है इससे सिद्ध होता है कि चिदात्मा देव ही सब कुछ है बाह्यरूप कुछ भी नहीं है।

२. बाहर में अवभासित होनेवाले पदार्थ समूह का अवभासन केवल इदन्तारूप से ही होना यह सकल लोक में प्रसिद्ध नहीं है जब कि भगवान् महेश्वर में अन्तःस्थितरूप से भी अवभासन रहता ही है, और बाहर में इदन्ता का उल्लास न होने कारण अहन्तारूप से अन्तर में नहीं है यह भी बात नहीं है अपितु अन्तर में सदैव आभास बना ही रहता है।

३. इसका यह आशय है कि चिदात्मा ईश्वर का जैसे अभेद में आभास होता है वैसे ही समस्त अर्थों में

बहीरूपतयापि आभासने अन्तारूपता न त्रुट्यति 'प्रमात्रैकात्म्यमान्तर्यम्' इति हि वक्ष्यते, तच्च सदैव प्रकाशस्य प्रमातृत्वात्, तदात्मतया च विना प्रकाशमानस्य अवस्तुत्वात्, किं तु तत्र अहम् इति उचिते परामर्शे योऽयम् इदन्तापरामर्शः सैव बाह्यता, तच्च इह अन्तःस्थितत्वम् अहमित्येतावता चित्समुचितेनैव वपुषा परामर्शनम्, तच्च इह नीलादीनामस्त्येव, न तु नास्तिइति, यदि हि न स्यात् कुम्भकृतो 'घटं करवाणि' इति य उत्तरक्रियापेक्षया इच्छाशब्दवाच्यः परामर्शः एषणीयात्मना, स परामृश्येन अनियन्त्रितः चेत् ततः पटेच्छापि सा न कस्मात्इति संकीर्येरन् व्यवहाराः। अथ तत्रापि च एषणीयः तदानीमेव निर्मितः सन् तथा जातः, तर्हि तन्निर्माणं चिदात्मनि विनेच्छया नोपपन्नम् इति। 'तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता।' इत्यत्र वर्णयिष्यते। ततश्च इच्छान्तरमपि विषयनियन्त्रितं ? न वा ? इति विकल्पेऽनवस्था। विषयनियन्त्रितं चेत् स्यात् आत्मतैव जाता, न चेत् घटे पटेच्छा स्यात्। अथ तत्रापि तदानीमेव इति कृत्वा अनवस्था, तस्मात् सर्वोऽयं भावराशिः चिदात्मनि अहम् इत्येव वपुषा सततावभासुरवपुः ऐश्वर्यरूपाच्च स्वातन्त्र्यलक्षणात् स्वामिभावात् विचित्रेण वपुषा क्रमाक्रमाबिना संवित् एनं बहिष्करोति प्रमातृभेदप्रथन-

पदार्थराशि बाहर रूप से प्रकाशित होने पर भी उसका भीतर रहना बना रहता है खण्डित नहीं होता है 'प्रमात्रैकात्म्यमान्तर्यम्' क्योंकि ऐसा आगे कहा जायेगा और वह भीतरी प्रकाश सदेव बाहर में भी प्रकाशित होता रहता है प्रमातारूप होने के कारण और उसके बिना प्रकाशमान न होने से अवस्तु हो जायेगी किन्तु 'अहं' इस समुचित परामर्श में जो यह इदन्ता परामर्श है उसी का नाम बाह्यरूपता है और यहाँ पर भीतर रहनेवाले 'अहम्' इस शब्द से समुचितरूप में परामर्श करना इतना ही माना जाता है वह नीलादि भाव-पदार्थों में रहता ही है, नहीं रहता है, ऐसी बात नहीं है, यदि वह न रहे तो कुम्भकार 'घटं करवाणि' द्वारा घट का निर्माण होना, मैं आज घट बनाउँगा ऐसी आगे की क्रिया को लेकर इच्छा शब्द से कहे जानेवाला परामृश्यमान जो घट है उससे नियन्त्रित नहीं होगा, तब तो अन्तर में स्थित परामर्श को पट इच्छा क्यों न मानी जाय ? इस प्रकार सारा व्यवहार संकीर्ण होकर आपस में मिल जायेगा। अब कहो कि उस समय जो इच्छा का विषय है वह उसी समय उत्पन्न होगा, तब तो चिदात्मा में बिना इच्छा से कोई वस्तु-पदार्थ का निर्माण ही सिद्ध नहीं हो सकेगा 'तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता।' इसका वर्णन किया जायेगा और इससे दूसरी इच्छा भी परामृश्यविषय से नियन्त्रित रहेगी ? या नहीं रहेगी ? ऐसा विकल्प करते करते अनवस्था हो जायेगी। यदि विषय से सम्बद्धता रखती है तो आत्मस्वरूप ही हो गया, यदि घट में पट इच्छा न हो तो दूसरी इच्छा में भी इसी ढङ्ग से अनवस्था हो जायेगी, इसलिए समस्त पदार्थराशि अहंरूप चिदात्मा में निरन्तर भासित होते रहना उसका स्वरूप नहीं है और ऐश्वर्यरूप से, स्वातन्त्र्यरूप से, स्वामी होने से, चित्र विचित्ररूप कार्य-कारणभाव के क्रम से अथवा अक्रम से संवित् ज्ञान ही इस पदार्थ राशि को बाहर की ओर प्रकाशित करता है, प्रमातृभेद के विस्तार के साथ, उसमें भी कहीं पर आभास में प्रमातृवर्ग को एक कर देता है। जैसे नृत्य करनेवाली नर्तकी अपनी भावभङ्गी से

भी अभेद पूर्वक ही आभास होता है—अर्थात् अपने स्वरूप में पदार्थों का भी अभिन्नरूप से ही प्रकाश है, नहीं तो भासमान होनेवाले अर्थरूपी विषय प्रमाता का इच्छारूप विमर्श नहीं हो सकता है।

पूर्वकम्, तत्रापि क्वचित् आभासे प्रमातॄन् एकीकरोति नितम्बिनीनृत्त इव प्रेक्षकान्। तावति हि तेषाम् आभासे ऐक्यम्। शरीरप्राणबुद्धिसुखाद्याभासांशेषु तु भेदस्य अविगलनात् न सर्वथा ऐक्यम्। अत एव प्रतिक्षणं प्रमातृसंयोजनावियोजनावैचित्र्येण परमेश्वरो विश्वं सृष्टिसंहारादिना प्रपञ्चयति। तदुक्तमाचार्येण—'सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने। सदा त्रिभुवनाहार-तृप्ताय भवते नमः ॥' इत्यादि। श्रीभट्टनारायणेनापि—'मुहुर्मुहुरविश्रान्तस्त्रैलोक्यं कल्पनाशतैः। कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः ॥' इति। तस्मात् स्थितम् अन्तःस्थितं भावजातं—तेन विना तद्विषयस्य परामर्शस्य अयोगात् इति ॥ १० ॥

प्रेक्षकवर्ग की दृष्टि को अपनी ओर एक सी कर देती है। उतने अंश में ही उनके आभास में ऐक्य रहता है। शरीर, प्राण, बुद्धि और सुखादि का आभास के भागों में भेद न टूटने से सर्वथा ऐक्य नहीं होता है। इसलिए परमेश्वर प्रतिक्षण प्रतिपल प्रमाताओं के संयोजन [मलप्रेक्षादि में] वियोजन [अन्यत्र] की विचित्रता से सारे विश्वको सृष्टि, स्थिति, संहार-प्रलयादि द्वारा प्रपञ्चित किया करते हैं। आचार्यपाद ने भी कहा है—'सदा-सर्वदा विनोदरूपी सृष्टिकरनेवाले सदा सुखार्थ स्थितिरखनेवाले उसे अपने में लय करके परितृप्त हो जानेवाले ऐसे आपको नमस्कार हो।' इस प्रकार श्री भट्टनारायण ने भी कहा है—'सैकड़ों कल्पनाओं से तीनों लोकों की बारम्बार कल्पना करते हुए भी विश्रान्ति लेनेवाले कोई एक निर्विकल्प अज की जय हो।' इसलिए मानना पड़ेगा कि चिदात्मा के भीतर पदार्थ समूह रहता है उनकी इच्छा के बिना परामर्श नहीं हो सकता ॥ १० ॥

---

१. आशय यह है कि सर्वशक्तिसम्पन्न शिवत्व का विभाग अवस्था में भी वैसा ही स्वरूप रहता है जैसा कि नर्तकी का नृत्याभास प्रेक्षकगण की दृष्टि को एक ही साथ अपने अभिमुख एकत्रित कर लेने में होता है।

श्रीसोमानन्दपादने शिवदृष्टिशास्त्र में सर्वत्र शक्ति पञ्चक स्वभाव का उपसंहार करते हुए कहा है—

'एवं न जातुचित्तस्य वियोगस्त्रितयात्मना।
शक्त्या निर्वृतचित्तस्य तदभागविभागयोः ॥'
तथा च स्फुटमेव तेनैव प्रत्यभिज्ञापितम्, यथा।
'यदा तु तस्य चिद्धर्मप्रभावामोदजृम्भया ॥
विचित्ररचना नानाकार्यसृष्टिप्रवर्तने।
भवत्युन्मुखिता चित्ता सेच्छायाः प्रथमा तुटिः ॥'
इत्यस्य प्रस्तावे
सा च दृश्या हृदुद्देशे कार्यस्मरणकालतः।
प्रहर्षवेगसमये दरसन्दर्शनक्षणे ॥
अनालोचनतो दृष्टे विसर्गप्रसरास्पदे।
विसर्गोक्ति प्रसङ्गे च वाचने धावने तथा ॥
एतेष्वेवप्रसङ्गेषु सर्वशक्तिविलोलता। इति।

ननु परामर्शो नाम विकल्पः, स च अविकल्पशुद्धसंविद्वपुषि भगवति कथं स्यात् इत्याशङ्क्याह—

स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदु¹रन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥ ११ ॥

'एकोऽहं बहुस्याम्' भीतर रहता है तभी इच्छा होती है अन्यथा इच्छा ही नहीं होगी। इस पर कहते हैं कि परामर्श का नाम इच्छा है और वह इच्छा वेद्य की अपेक्षा रखती है। उस विशुद्ध, अविकल्प, संवित्स्वरूप भगवान् में कैसे होगी—ऐसी आशङ्का उठाकर उत्तर में कहते हैं—

इस प्रकार इच्छा, ज्ञान और क्रियारूप शक्ति से जिसका कभी भी वियोग नहीं होता, चिद्रूप की स्थिति अन्तर में एवं बाहर में एक सी ही रहती है।

विभाग में जैसी शक्तिपञ्चक की स्थिति रहती है वैसा ही कहना चाहिए—इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

शुद्ध बोधरूप शिवतत्त्व में शक्तिपञ्चक के ऐक्यभाव का समर्थन कर देने पर और उस प्रसङ्ग के माध्यम से अपर अवस्था में भी चिद्रूप की वैसी ही चिदानन्दमय स्थिति अवस्थित रहती है। शक्तिरूप अवस्था जो परा-अपरा हैं उसमें भी इच्छादि पाँच निहित ही हैं यहाँ इससे द्योतित हो रहा है। चिद्रूप शिवभट्टारक का जो धर्म-स्वभाव है वही तो पञ्चविधकृत्य विभव है जो कि सृष्टि, स्थिति, प्रलय अनुग्रहादि करते रहते हैं। आमोद-प्रमोदरूप तथा स्वरूप परामर्शरूप से चिद्रूप का विकास होता है।

अनेक प्रकार की सृष्टिकार्य की रचना में निरन्तर चिद्रूप की ही तो उन्मुखता झलकती है तब वह तुटि सूक्ष्म काल से परिच्छिन्न होनेवाली इच्छा-शक्ति की प्रथम अवस्था कही जाती है।

वह सूक्ष्म उन्मुख-शक्ति हृदयस्थल में, कार्य के स्मरणकाल में तथा हर्ष के हेतुभूत पुत्रादि के जन्म समय में, भय के प्रथम क्षण में, अकस्मात् किसी को देख लेने पर, धातु के विसर्ग अवस्था के अन्त में तथा विसर्जनीय भाषण के प्रसङ्ग में, त्वरित गति से ग्रन्थ के पठन काल में और दौड़ने में इन्हीं प्रसङ्गों में पूर्वोक्त क्रम से भी शक्तियों की विलोलता अतिसूक्ष्म भावरूपता देखने में आती है स्पन्दन शास्त्र में भी कहा है—

अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोति वा मृशन् ।
धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः ॥ इति ।

अत्यधिक क्रोध की चरम अवस्था पर पहुँचा हुआ अथवा प्रहर्ष की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ [अकस्मात् किसी कारण से मैं क्या करूँ ?] इस किं कर्तव्य विमूढता की स्थिति में पड़ा हुआ व्यक्ति जिस भी अवस्था में प्रविष्ट होता है उसी में स्पन्दता की झलक देखता है।

१. जिन्होंने अपने स्वभाव परामर्श को प्राप्त कर लिया है वे ही विमर्श को अच्छी तरह जानते हैं। विमर्श 'अहम्' ऐसा असांकेतिक, स्वातन्त्र्यरूप, आत्मविश्रान्ति स्वभाववाला है, वेदवेत्ता लोग इन मन्त्रशरीर, श्रीमातृका, श्रीमालिन्यादि तत्त्व को मानते हैं।

२. प्रकाश का मुख्य रूप प्रत्यवमर्श है, उसके बिना अर्थभेद मात्र स्वच्छ ही रहता है किन्तु चेतनता नहीं रहती, क्योंकि चमत्कार का अभाव उसमें होता है।

इह अवभासस्य प्रकाशस्य, अनवभासस्य च प्रकाशस्य घटादेः परस्परपरिहारेण द्वयोः स्वात्मनि चेत् व्यवस्थानं, तत् घटपटयोः इव इदमजडम् इदं जडम् इति दुरुपपादं वैलक्षण्यम्। अथ अवभासो यतोऽर्थस्य सम्बन्धी, ततो नाजडः, तर्हि सम्बन्धमात्रेण मृत् अपि घटस्य इति अजडा स्यात्। अथ न स्वसम्बन्धमात्रम् अपि तु अवभासोऽर्थस्य प्रकाशः, तर्हि अर्थात्मना स प्रकाश इति समापतितम्। न च अन्यात्मना अन्यस्य प्रकाश उपपन्नः। अथ अन्यस्वभावोऽपि घटोऽवभासस्य कारणम्, तर्हि अवभासोऽपि घटस्य कारणम् इति घटोऽपि अजडः स्यात्। अथ अन्येनापि सता घटेन यतोऽवभासस्य प्रतिबिम्बरूपा च्छाया दत्ता, ताम् असौ अवभासो बिभ्रत् घटस्य इति उच्यते, ततश्च अजडः, तर्हि स्फटिकसलिलमकुरादिः अपि एवंभूत एव, इति अजड एव स्यात्। अथ तथाभूतमपि आत्मानं तं च घटादिकं स्फटिकादिः न परामृष्टुं समर्थ इति जडः, तथा परामर्शनमेव अजाड्यजीवितम् अन्तर्बहिष्करणस्वातन्त्र्यस्वरूपं स्वाभाविकम् अवभासस्य स्वात्मविश्रान्तिलक्षणम् अनन्यमुखप्रेक्षित्वं नाम। 'अहमेवं प्रकाशात्मा प्रकाशे' इति हि विमर्शोदये स्वसंविदेव प्रमातृप्रमेयप्रमाणादि चरितार्थम् अभिमन्यते न तु अतिरिक्तं काङ्क्षति, स्फटिकादि हि गृहीतप्रतिबिम्बमपि तथाभावेन सिद्धौ प्रमात्रन्तरम् अपेक्षते, इति निर्विमर्शत्वात् जडम्। सर्वं तु वस्तुतो

अवभास का स्वभाव ही विमर्श है। स्वरूप परामर्श करनेवाले ही इसको जानते हैं और तत्त्ववेत्तालोग विमर्श को अहम्, असांकेतिक, स्वातन्त्र्यरूप, आत्मविश्रान्तिरूप, ज्ञाता, कहते हैं। अन्यथा अर्थ से उपरक्त रहने पर भी विमर्श से शून्य प्रकाश स्फटिकादि के तुल्य जड हो जायेगा॥ ११॥

अवभासरूप प्रकाश का और अनवभासरूप अप्रकाश घटादि का परस्पर परिहार हो जाने से [प्रकाश और घट] इन दोनों का अपने में परिनिष्ठित स्वरूप मानोगे तो यह जड है एवं यह अजड-चेतन है इस प्रकार चेतन और जड के भेद का पता ही नहीं चलेगा। अब यदि दूसरे पक्ष में कहो कि अवभास पदार्थ सम्बन्धी है और सम्बन्धी होने के कारण जड उसे नहीं मानोगे, तब तो मिट्टी भी घट का सम्बन्धी होने से जड नहीं होगी। इसलिए यह कहना पड़ेगा कि केवल सम्बन्ध मात्र नहीं है अपितु अर्थ के प्रकाश का नाम अवभास है, तब तो फिर वही बात आ गयी जो अर्थरूप से प्रकाश होता है और घट का अन्यरूप से प्रकाश उपपन्न नहीं हुआ। प्रकाश से भिन्न स्वभाववाला भी घट अवभास का कारण होता है, तब तो अवभास भी घट का कारण हुआ इस तरह घट भी अजड चेतनरूप हो जायेगा और प्रकाश का सम्बन्धी होने के कारण अजड-चेतनरूप ही हो जाये, अब कहो कि प्रतिबिम्ब को ग्रहण करनेवाला स्फटिकादि अपने को परामर्श करने में समर्थ नहीं हो सकता है इसलिए वह चेतन नहीं है, इससे यह सिद्ध होता है कि परामर्शन ही चेतनता का जीवन है, भीतर में और बाहर में स्वतन्त्र स्वाभाविक, अवभास का स्वात्म-विश्रान्तिरूप किसी अन्य की अपेक्षा न रखनेवाला है इसी को स्वात्मपरामर्श कहा जाता है। 'अहमेव प्रकाशात्मा प्रकाशे' मैं ही प्रकाशरूप में प्रकाशित हो रहा हूँ इस विमर्श के उदय होने पर अपना संवित् ही प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयादि को ठीक-ठीक मानते हैं उससे अतिरिक्त कुछ भी नहीं चाहते हैं और स्फटिकादि तो प्रतिबिम्ब ग्रहण करने पर भी वैसा अपने को सिद्ध करने में अन्य प्रमाता की अपेक्षा रखता है, अतः विमर्श से रहित होना जड ही है, वस्तुतः यह सब

विमर्शात्मकप्रमातृस्वभावतादात्म्याहंपरामर्शविश्रान्तेः अजडमेव पूर्वापरकोट्योः[1]। यदुक्तम्—
'इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता। या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ॥'
इति। मध्यावस्थैव तु इदन्ताविमृश्यमानपूर्वापरकोटिः, विमूढानां मायापदं संसारः, इति विमर्श एव प्रधानं भगवत इति स्थितम् ॥ ११ ॥

न केवलं संवित्तत्त्वस्य अस्माभिः एव विमर्शप्राधान्यम् उक्तम् यावत् आगमान्तरैरपि इति दर्शयति—

आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रिया चितिकर्तृता।
तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्स हि विलक्षणः ॥ १२ ॥

यतो विमर्श एव प्रधानम् आत्मनो रूपम् अमुमेव हेतुं प्रयोजनरूपम् उद्दिश्य आत्मा धर्मिस्वभावो द्रव्यभूतोऽपि, चैतन्यम् इति धर्मिवाचिना शब्देन सामानाधिकरण्यम् आश्रित्य उदितः कथितः, भगवता शिवसूत्रेषु 'चैतन्यमात्मा' (१–१) इति पठितम्, चैतन्यम् इति हि धर्मवाच-

कुछ विमर्शरूप प्रमाता है उसका तादात्म्यरूप अहंपरामर्श में विश्रान्त हो जाने के कारण वह तो आगे या पीछे सर्वदा अजड-चेतनरूप ही रहता है। इस विषय में कहा भी है—

इदम् यह परिच्छिन्न-भिन्न विमर्श की सफलता तभी होती है जबकि अपने स्वरूप में अहं इस रूप से विमर्श करता हुआ विश्राम लेता हो।

वही मायीयरूप में जब आता है तभी इदन्ता के आगे-पीछे कोटिवाला विमूढा को माया पद में रहनेवाले संसारी कहा जाता है, इसलिए विमर्श ही भगवान् का प्रधानरूप है यह सिद्ध हुआ ॥ ११ ॥

केवल हम लोगों ने ही संवित्तत्त्व ज्ञान को विमर्शमय नहीं माना है अपितु हमारे साथ-साथ आगम शास्त्रों [पातंजलन्यायादि] ने भी माना है, इसे दिखाते हैं—

इसलिए आत्मा चैतन्य है चित्तत्त्व क्रिया भी चेतन कर्तावाली होती है। इसी कारण जड से वह चेतन आत्मा एक विलक्षण पदार्थ है ॥ १२ ॥

क्योंकि आत्मा चेतन का प्रधानरूप तो विमर्श ही है इसी को हेतु मानकर आत्मा को धर्मी स्वरूप, द्रव्यरूप, चैतन्य माना जाता है, आत्मा के साथ चैतन्य का सामानाधिकरण्य रूप से उपादान किया है, शिवसूत्र में भगवान् सदाशिव ने भी 'चैतन्यमात्मा' (१-१) चैतन्य को

---

१. पूर्व-अपर कोटि में तो एक विशुद्ध शिवरूपता ही सभी के लिए रहती है इसी का श्रीसोमानन्दपाद ने भी निर्देश किया है—

न परं तदवस्थायां व्यवस्थैषा व्यवस्थिता।
यावत्समग्रज्ञानाग्र ज्ञातृस्पर्शदशास्वपि ॥
स्थितैव लक्ष्यते सा च तद्विश्रान्त्या तथा फले। इति।

वह व्यवस्था उस परमशिवरूप अवस्था में व्यवस्थित होकर रहती है कि उसमें दूसरा कोई नहीं रहता, जैसे सभी ज्ञानों का प्रारम्भ से लेकर वैसा ही फल की परिसमाप्ति तक उसी में विश्रान्त होकर रहता है, उसकी विश्रान्ति के बिना अर्थ का बोध ही नहीं होता, अनेक प्रकार से ज्ञानों की समग्रता मध्य अवस्था में प्रत्यगात्मा के कारण ही लक्षित होती है।

कोपलक्षणम्, 'चितिशक्तिरपरिणामिनी' '·····तद्दृशेः कैवल्यम् ।' (यो० सू० २-२५) 'द्रष्टा दृशिमात्रः·········' (यो० सू० २-२०) इत्यादौ अपि हि धर्मशब्देन सामानाधिकरण्यम् आत्मनो दर्शितं गुरुणा अनन्तेन । द्रव्यं हि तत् उच्यते—यद्विश्रान्तः पदार्थवर्गः सर्वो भाति च अर्थ्यते च अर्थक्रियायै, तत् यदि न कुप्यते तत् सकलोऽयं तत्त्वभूतभावभुवनसंभारः संविदि विश्रान्तः तथा भवति इति । स एव गुणकर्मादिधर्माश्रयभूतपदार्थान्तरस्वभावः तामेव मुख्यद्रव्यरूपाम् आश्रयते इति सैव द्रव्यम्, तत् अनन्तधर्मराशिविश्रमभित्तिभूतायाः तस्याः स एव धर्मः चैतन्यम् इति कर्तृकृदन्तात् उत्पन्नेन भावप्रत्ययेन सम्बन्धाभिधायिनापि प्राधान्येन दर्शितः, तथाहि सम्बन्धस्य सम्बन्धिविश्रान्तस्य प्रतीतेः, द्रव्यरूपस्य च सम्बन्धिनः प्रकृत्या उक्तत्वात् चितिक्रियारूपं धर्मं सम्बद्धम् अवगमयता ष्यञा निष्कृष्ट एव अंशः प्रत्यायितो भवति । चितिक्रिया च चितो कर्तृता, स्वातन्त्र्यं[1] संयोजनवियोजनानुसंधानादिरूपम् आत्ममात्रतायामेव जडवत् अविश्रान्तत्वम् अपरिच्छिन्नप्रकाशसारत्वम् अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् इति, तदेव अनात्मरूपात् जडात् संयोजनवियोजनादिस्वातन्त्र्यविकलात् वैलक्षण्यादायि इति, तदेव परत्वेन प्रधानतया अभिसन्धाय, आत्मा चेतन इति वक्तव्ये धर्मान्तराधरीकरणाय विमर्शधर्मोद्धुरीकरणाय च 'आत्मा चैतन्यम्' इत्युक्तम् । चित्क्रिया चिति-

आत्मतत्त्व कहा हुआ है, क्योंकि चैतन्य धर्मवाचक का उपलक्षण है, 'चितिशक्तिरपरिणामिनी' एक रूप में ही चिति-शक्ति रहती है। पातञ्जलयोग सूत्र भी ' ···'तद्दृशेः केवल्यम्' । (२-२५) वही द्रष्टा का केवल्य है और द्रष्टा ज्ञानरूप है 'द्रष्टा दृशिमात्रः······' (२-२०) महर्षि श्री पतञ्जलि ने भी धर्म शब्द से आत्मा का सामानाधिकरण्य दिखलाया है। वही द्रव्य कहा जाता है जो सभी सिद्ध पदार्थ अर्थक्रिया करने के लिए ही भासित होता है और चाहा जाता है, यहि वह विश्रान्त नहीं होता हो तो ये जो कुछ भावपदार्थ हैं वे सम्पूर्ण जाकर उसी प्रकार संवित् ज्ञान में ही आश्रय पाते हैं। वही तत्त्वादि गुण कर्मादि का आश्रयभूत जितने अन्यपदार्थ हैं वे सभी मुख्य द्रव्यरूप संवित् ज्ञान में ही आश्रय लेते हैं, इसीलिए संवित् ही द्रव्य है, अनन्तधर्मराशि का आश्रय बनी हुई—संवित् ज्ञान का ही धर्म चैतन्य है, 'चेतनस्य भावः चैतन्यम्' चेतन शब्द कर्तारूप कृदन्त है उससे भाव अर्थ में 'ष्यञ्' प्रत्यय करके सम्बन्ध बतानेवाला चैतन्य बन जाता है, क्योंकि सम्बन्ध का सम्बन्धी में 'चित्क्रिया चेतनस्य' विश्रान्तिरूप से प्रतीति होती है और द्रव्यरूप सम्बन्धी चेतन की प्रकृति से कहा गया, चिति क्रियारूपधर्म चेतन में सम्बद्ध है यही 'ष्यञ्' प्रत्यय से ज्ञापित होता है और चितिक्रया चेतन की कर्तृता है, संयोजन-वियोजन अनुसधानरूप स्वातन्त्र्य से रहित है, स्वातन्त्र्य कर्तृता-शक्ति से शून्य अन्य की अपेक्षा रखनेवाला जड होता है, 'यथा स्वात्मभाग-निष्ठः संयोजन-वियोजनादि स्वातन्त्र्य रहितः नैवमात्मा इत्यर्थः' अपने में सीमित मात्र रहनेवाला होने के कारण आत्मा नहीं है, आत्मा तो अनात्मरूप जड से विलक्षण होता है, चेतन को प्रधान मान करके 'आत्मा चैतन्यम्' ऐसा जहाँ पर बोलना चाहिए वहाँ पर धर्मान्तर नित्यत्वादि को दबा करके विमर्शरूप धर्म का उद्धार करने के लिए 'आत्मा चैतन्यम्' ऐसा कहा गया है। चेतन की क्रिया में चेतन आत्मा कर्ता रहता है इसी कारण

---

१. इस प्रकार परम संवित् क स्वातन्त्र्य-शक्ति से युक्त होकर ही यह विधि ठीक बैठती हैं। इसकी बहुत सो शक्तियाँ भी उस संवित्-शक्ति से अवियुक्त होकर प्रकाश करती हैं।

कर्तृता तात्पर्येण इति समासः अर्धयुक् पादविश्रान्तिः इति हि काव्ये समयः, न शास्त्रे। यदि वा चित् क्रिया आत्मा उदितः, चितिकर्तृता च, इति पृथगेव। एवं तु न क्वचित् पठितम् ॥ १२॥

ननु यथा प्रकाशोऽप्रकाशश्च इति उभयमपि स्वात्मनि, ततश्च प्रकाश इति उक्ते जडात् न वैलक्षण्यम् उदितं स्यात्, तद्वत् विमर्शोऽपि अविमर्शोऽपि च स्वात्मनि, इति तेनापि कथं वैलक्षण्यं जड जडयोः इत्याशङ्क्याह—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक्स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं[1] परमात्मनः ॥ १३ ॥

चेतयति इत्यत्र या चितिः चितिक्रिया तस्याः प्रत्यवमर्शः स्वात्मचमत्कारलक्षण आत्मा स्वभावः, तथाहि—घटेन स्वात्मनि न चमत्क्रियते स्वात्मा न परामृश्यते न स्वात्मनि तेन प्रकाश्यते न अपरिच्छिन्नतया भास्यते ततो न चेत्यत इति उच्यते। चैत्रेण नु स्वात्मनि अहमिति संरम्भोद्योगोल्लासविभूतियोगात् चमत्क्रियते, स्वात्मा परामृश्यते स्वात्मन्येव प्रकाश्यते, इदमिति यः परिच्छेद एतावद्रूपतया तद्विलक्षणीभावेन नील-पीत-सुख-दुःख-तच्छून्यताद्यसंख्यावभासयोगेन

इसकी आधे पाद में ही पाद की विश्रान्ति की हुई है काव्यशास्त्र में तो यह नियम चलता भी है किन्तु आगमशास्त्रादि में ऐसा नियम नहीं है एवं ऐसा होना भी चाहिए। अथवा चित् क्रिया को ही आत्मा कहा हो और चिति का कर्तृत्व भी आत्मा में रख दिया हो यह तो कहीं पर भी नहीं पढ़ा गया है। भिन्न रूप से भी जहाँ पर पढ़ा है वहाँ पर 'आत्मा चैतन्यम्' और चिति कर्तृता इसी रूप में पढ़ा गया है ॥ १२ ॥

'ननु' कहकर शंका करते हैं। यदि प्रकाश और अप्रकाश ये दोनों भी आत्मा में ही रहते हैं और आत्मा में रहने के कारण प्रकाश ऐसा मात्र कहने पर जड से विलक्षण कुछ भी नहीं उदित होता है, उसी प्रकार विमर्श और अविमर्श भी तो आत्मा में ही रहते हैं, तब फिर जड और चेतन अजड की विलक्षणता कैसे मालूम पड़ेगी। इस प्रकार आशंका कर उत्तर में कहते हैं—

चिति-चेतन जो प्रत्यवमर्शरूप है—'अहम् अस्मि' यही इसका पारमार्थिक स्वरूप है। अपने ही रस में देदीप्यमान परावाणी के रूप से रहता है। उस परमात्मा का वही मुख्य स्वातन्त्र्यरूप ऐश्वर्य है ॥ १३ ॥

'चेतयति' इस क्रिया में, जो चिति (जानने अर्थ में क्रिया) है उसका परामर्श स्मरणरूप से करना यही इसका अपना चमत्काररूप स्वभाव है, क्योंकि घट अपने आपको प्रकाशित नहीं कर सकता अर्थात् अपरिच्छिन्नरूप में नहीं भासता है, इसी कारण घट स्वयं जानता है—ऐसे कोई नहीं बोलते हैं। चैत्र तो अपने में सर्वदा ज्ञानमय होने के कारण चमत्कृत ही रहता है, एवं अपने में ही प्रकाशित रहता है और सारे विश्व को अपने में किये रहता है। नील-पीत, सुख-दुःखादि से युक्त होकर रहना एवं कभी न रहना ये सारी बातें उसमें होती रहती हैं,

१. यह परावाग्रूपता आद्य-शक्ति अभिन्नरूप से रहती है नित्य संवित् स्वरूप होने के कारण, आदि और अन्त अर्थात् उत्पत्ति और विनाश से रहित है। दूसरे परतन्त्रभाव की अपेक्षा नहीं रखनेवाली, स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य से परिपूर्ण रहती है।

आभास्यते, ततः चैत्रेण चेत्यते इति उच्यते। एवं च विमर्शः स्वात्मनि अविमर्शोऽपि स्वात्मनि इत्यसिद्धमेतत्। विमर्शो हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति, एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं-स्वभावः। प्रत्यवमर्शश्च अन्तरभिलापात्मकशब्दन-स्वभावः, तच्च शब्दनं संकेतनिरपेक्षमेव अविच्छिन्नचमत्कारात्मकम् अन्तर्मुखशिरोनिर्देशप्रख्यम् अकारादिमायीयसांकेतिकशब्दजीवितभूतं, नीलम् इदं, चैत्रोऽहम् इत्यादिप्रत्यवमर्शान्तरभित्ति-भूतत्वात्, पूर्णत्वात् परा[1], वक्ति विश्वम् अपलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक्, अत एव सा स्वरसेन चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्तिवपुषा उदिता सततम् अनस्तमिता[2] नित्या अहमित्येव[3], एतदेव पर-

इसलिए चैत्र जानता है—ऐसा बोला जाता है। इस प्रकार इदन्ता आभास के विमर्श में अपना विमर्श और अविमर्श नहीं हो सकता है—यह बात असिद्ध है। विमर्श तो सब कुछ सहनेवाला होता है इदन्ता को भी अपना बना लेता है और अपने आप को भी देहादिरूप इदन्ता कर लेता है तथा दोनों को सदाशिव भूमि में एक भी कर लेता है एवं एक किये हुए को दो भागों में विभक्त कर देता है। एक को जाग्रत् अवस्था में बढ़ा देता है एवं दूसरे को शून्य अवस्था में दबा देता है—ऐसा स्वभाववाला है। प्रत्यवर्श उसीको कहते हैं—जो भीतर ही भीतर जानना, और उसमें किसी का संकेत भी नहीं रहता, मैं स्वयं इन नीलादिरूप का भोक्ता हूँ—यही चमत्कार रहता है बिना बोले हुए स्वीकार कर लेने के बराबर 'अ० आ० क० ख० ग०' इत्यादि सांकेतिक शब्दों का जीवन है, यह नील है, मैं चैत्र हूँ—इत्यादि सभी परामर्शों के आश्रय होने से, और पूर्ण होने से परावाणी परामर्शरूप द्वारा सारे विश्व को देखती है, इसीलिए परावाणी कही जाती है, वह अपने आपमें स्वात्मविश्रान्तिरूप चिद्रूप से निरन्तर उदित होती रहती है। 'अहं' इस परामर्शरूप में सदैव स्फुरित रहती है। यही परमात्मा का

१. "पॄ पालनपूरणयोः" पालन एवं पोषण अर्थ में पढ़ी गयी "पॄ" धातु से 'परा' शब्द व्युत्पन्न हुआ है।

२. अनस्तमिता का अर्थ है जिसका सदा उदय है। जिसका जगत् में उदय होता देखा जाता है उसका अस्त होना निश्चित है किन्तु जिसका सदा उदय है वह कभी-भी अस्त होता ही नहीं, इसलिए सदोदित कहा जाता है। 'सदोदित' सदा उगी हुई चित्ति-शक्ति है जिसमें निरन्तर क्रिया शीलता और स्पन्द रूपता रहती है।

३. कुछ लोगों का कहना यह है कि पश्यन्ती अवस्था ही मुख्य आनन्दरूप है परा अवस्था नहीं होती, क्योंकि वह तो पररूप रहने के कारण नहीं होती है, इसी को 'एवकार' शब्द से लक्षित करता है, श्री सोमानन्दपाद ने भी इस विषय में कहा है—'विमर्श अनुभव के द्वारा यह वाग्रूपता अनुगत होती है।

इस प्रकार यहाँ से प्रारम्भ कर 'ऐसी भले ही चर्चा करते रहो; जैसे पश्यन्ती अवस्था ही उपयुक्त है।' 'यो हि पश्यति पश्यन्तीं स देवः परमः शिवः।' इत्यादि तक।

'जो लोग पश्यन्ती अवस्था को ही देखते हैं, वही देव परम शिव है। इत्यादि से भगवान् का स्वरूप शब्दरूप है—ऐसा कहा गया है। इसका भट्टनारायण ने भी उल्लेख किया है—

सुगिरा चित्तहारिण्या पश्यन्त्या दृश्यमानया।
जयत्युल्लासितानन्दमहिमा परमेश्वरः॥

चित्त को आकर्षित करनेवाली दृश्यमान पश्यन्तीरूप वाग्रूपता से आनन्दकन्द महिमावाले परमेश्वर का उत्कर्ष उल्लसित होता है।

मात्मनो मुख्यं स्वातन्त्र्यम् ऐश्वर्यम् ईशितृत्वम् अनन्यापेक्षित्वम् उच्यते । परापरं तु इदंभावरूपस्य प्रत्यवमर्शस्य अख्यातिप्राणस्य—उद्बोधमात्रेऽपि अहंभाव एव विश्रान्तेः श्रीसदाशिवादिभूमौ पश्यन्तीदशायाम् । अपरं तु इदंभावस्यैव निरूढौ मायागर्भाधिकृतानामेव विष्णुविरिञ्चेन्द्रादीनाम्, तत्तु एषां परमेश्वरप्रसादजमेव इति । अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्दः, ऐश्वर्यं, स्वातन्त्र्यं, चैतन्यं च । तस्मात् युक्तमुक्तम्—'......तेन जडात्स हि विलक्षणः ।' इति ॥ १३ ॥

प्रधानागमेष्वपि एतत् प्रदर्शितमेव इति निरूपयति—

सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥ १४ ॥

इह घटः कस्मात् अस्ति, खपुष्पं च कस्मात् नास्ति, इति उक्ते वक्तारो भवन्ति, घटो हि

मुख्य स्वातन्त्र्यरूप ऐश्वर्य एवं स्वामीपन है, जिसमें किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती है। अपने में रहना सुख-संपन्नता है और दूसरों के आधीन रहना ही दुःख-दीनता है। अपना स्वरूप नहीं भासित होना ही इदंभाव का परामर्श कहलाता है। केवल उद्बोध हो जाने पर भी सदाशिव भूमिरूप पश्यन्तीदशा में अहंभाव की विश्रान्ति हो जाती है। जब इदंभाव की अभिवृद्धि होती है तो मायागर्भ में रहनेवाले ब्रह्मा, बिष्णु आदि तथा सभी लोकपालों का प्रभाव-प्रताप तो सब का सब महेश्वर के प्रसाद से ही होता है। किसी की अपेक्षा न रखना यही परमार्थतः आनन्द ऐश्वर्य और स्वातन्त्र्य है। इसलिए युक्तियुक्त ही कहा है—'तेन जडात् स हि विलक्षणः।' क्योंकि वह जड से विलक्षण ही है ॥ १३ ॥

[रहस्य आगमों में तथा परमेश्वर भाषितवेदान्तादि में प्रकाश की ही प्रधानता है] इस प्रकार समस्त आगमशास्त्रों में भी विमर्शरूप प्रकाश की ही प्रधानता मानी जाती है। इसका निरुपण करते हैं—

वह देदीप्यमान महा सत्ता है जिसमें देश-काल का 'विच्छेद' स्पर्श नहीं होता, वह परमेश्वर की सारतत्त्ववाली चिति-शक्ति को हृदय अर्थात् प्रतिष्ठा स्थान कहा गया है ॥ १४ ॥

यहाँ पर घट रहता है और आकाशकुसुम नहीं रहता है, इस बात को बोलनेवाले कहते हैं, क्योंकि घट को मैं प्रत्यक्षरूप से देखता हूँ, आकाशकुसुम तो प्रत्यक्ष स्फुरित नहीं होता है, यदि घटत्व ही स्फुरित होता है तो वह प्रत्येक व्यक्ति को स्फुरित होगा। नहीं होता है, तो किसी

आनन्दघन परम स्वातन्त्र्यरूप परमेश्वर का उल्लास परम-महा पश्यन्ती अवस्थाके कारण ही उल्लसित होता रहता है। वह परावाग्रूपता ही भगवान् की शक्ति है—ऐसा दिखा दिया है। आपस में एक-दूसरे से प्रेम प्राप्त करना ही रतिक्रीडा का आनन्द उल्लास है—इस प्रकार लौकिक दृष्टान्त से भी आनन्द ही प्रकट हुआ झलकता है।

१. जबकि मुनि ने कहा है—'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्' पराधीनता में ही दुःख है और अपने में रहना सुख है।

२. ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्रादि देव मायागर्भ के अधिकारी होने के कारण, इनमें अपना कुछ भी करने का सामर्थ्य नहीं होता।

स्फुरति मम, न तु इतरत् इति, तत् एतत् घटत्वमेव यदि स्फुरत्त्वं स्फुरणसम्बन्धः, तत् सर्वस्य स्फुरेत् न कस्यचिद्वा, तस्मात् मम स्फुरति इति कोऽर्थः, मदीयं स्फुरणं स्पन्दनम्, एषैव च किञ्चिद्रूपता—यत् अचलमपि चलम् आभासते इति, प्रकाशस्वरूपं हि मनागपि नातिरिच्यते, अतिरिच्यते इव इति अचलमेव आभासभेदयुक्तमेव च भाति इति। तत उक्तम्—

'आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्वपुः। अनिरुद्धेच्छाप्रसारः प्रसरद्दृक्क्रियः शिवः॥'

इति तथा—

'अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा किं करोमीति वा मृशन्। धावन्वा यत्पदं गच्छेत्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः॥' (स्प० २२) इति। '…………स्पन्दतत्त्वविविक्तये।' (स्प० २१) इति। 'गुणादिस्पन्दनिःष्यन्दाः…………।' (स्प० १९) इति च। लोकेऽपि विविधवैचित्र्ययोगेऽपि स्वरूपात् अचलन् जनो गम्भीरः स्पन्दवान् इति उच्यते। सत्ता च भवनकर्तृता[1] सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम्। सा च खपुष्पादिकमपि व्याप्नोति इति महती, देशकालौ नीलादिवत् सैव सृजति ताभ्यां विशेषणीया न

को भी नहीं होना चाहिए, इसलिए मुझे होता है इसका क्या तात्पर्य है, मेरा ही स्फुरण उसमें लगा हुआ है और स्पन्दन का अर्थ यह है कि कुछ चलनात्मक प्रवृत्ति का होना, एवं यही किञ्चित् झलकना है जो स्वयं अचल रहता हुआ भी द्रष्टा के यहाँ स्फुरित होता है, क्योंकि प्रकाशरूप द्रष्टा से वह थोड़ा सा भी आधक नहीं होता है, [स्वतः] अपने आप अधिक होने के समान, वह अचल रहता हुआ ही आभास भेद से मिला हुआ ही झलकता है। इसी कारण कहा है—

सभी भावों में विज्ञानरूप शरीरवाला आत्मा ही अपनी इच्छा की वृद्धि को न रोककर दृष्टि क्रिया को फैलाता हुआ विश्वरूप ही रहता है और भी सुनो—

अतिक्रोधी अथवा प्रहृष्ट-प्रसन्न रहनेवाला या किंकर्तव्यविमूढ रहनेवाला या दौड़ता हुआ जिस अवस्था में स्थित रहता—वही प्रतिष्ठित स्पन्द कहलाता है। (२२) स्प०

अतः जो कोई अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिए निरन्तर प्रयत्न करता है, वह तो जाग्रत अवस्था में ही अपने भाव-परमानन्दमय तत्त्व की अनुभूति थोड़े ही काल में प्राप्त कर लेता है॥ २१॥

सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के रूप में बहनेवाले जो प्रवाह हैं वे सामान्य स्पन्द का ही आश्रय लेकर फैलता हुआ भी उस योगी के लिए प्रतिद्वन्दी-बाधक नहीं होता है। स्व-स्वभाव का आच्छादक नहीं हो पाता है॥ १९॥

संसार में विविध प्रकार की विचित्रता के रहते हुए भी अपने स्वरूप से पदच्युत न होनेवाले पुरुष को महान् सत्ता भवन कर्तृरूप होने के कारण समस्त क्रियाओं को सम्पादन करने में सर्वतोभावेन स्वतन्त्र रखती है और वह महान् भवन कर्तृता होने के कारण आकाशकुसुमादिकों में भी व्याप्त होकर रहती है, नीलादि की तरह देश-काल का भी वही सृजन करती है देश-काल उसके विशेषण नहीं होते हैं अपितु नीलादि देश-काल के साथ सम्बन्ध रखता है, जो जिसके साथ

---

१. सन्नेव हृदयप्रकाशो भवनक्रियाया भवति क्रिया।
सैव क्रियाविमर्शः स्वस्था क्षुभिता च विश्वविस्तारः॥ इति—

भवन क्रिया का कर्ता विद्यमानरूप में हृदय प्रकाश ही होता है। वही क्रियाविमर्श अपने में स्थित होता हुआ क्षुभित होकर विश्व भर में विस्तीर्ण हो जाता है।

भवति, यत् किल येन तुल्यकक्ष्यतया भाति तत् तस्य विशेषणं—कटक इव चैत्रस्य। न च देश-कालौ विमर्शेन तुल्यकक्ष्यौ भातः—तयोः इदन्तया तस्य च अहन्तया प्रकाशे तुल्यकक्ष्यत्वानुपपत्तेः। एवं देशकालास्पर्शात् विभुत्वं नित्यत्वं च—सकलदेशकालस्पर्शोऽपि तन्निर्माणयोगात् इति, ततोऽपि व्यापकत्वनित्यत्वे। तदुक्तम्—'महासत्ता महादेवो विश्वजीवनमुच्यते।' इति। सारम् इति यत् अतुच्छं रूपं तत् इयमेव विमर्शशक्तिः, ग्राह्यग्राहकाणां यत् प्रकाशात्मकं रूपं तस्यापि अप्रकाशवैलक्षण्याक्षेपिका इयमेव इति, श्रीसारशास्त्रेऽपि निरूपितम्—'यत्सारमस्य जगतः सा शक्तिर्मालिनी परा।' इति। सैषा, इति शक्तिप्रत्यभिज्ञानं दर्शितम्। हृदयं च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते, तच्च उक्तनीत्या जडानां चेतनं, तस्यापि प्रकाशात्मत्वं, तस्यापि विमर्शशक्तिः इति विश्वस्य परमे पदे

बराबर भासता है वही उसका विशेषण होता है जैसे—चैत्र का कुण्डल अर्थात् कुण्डलवाला चैत्र है और विमर्श के साथ देश-काल बराबर रहकर भासित नहीं होते, देश और काल इन दोनों का इदन्ता के साथ सम्बन्ध रहता है और उसकी अहन्तारूप से प्रकाश तुल्यकक्षत्व नहीं बैठता; इस प्रकार देश-काल के अस्पर्श से विभुत्व और नित्यत्व सिद्ध होता है—उसी तरह सकल देश-काल से स्पर्श भी हो सकता है, उसमें भी देश-काल के निर्माण का योग होने से; इसी से भी नित्यत्व और व्यापकत्व सिद्ध हो जाता है, इस विषय में कहा गया है—महासत्ता और महादेवो के रूप में यह सारा का सारा जड-चेतन विचित्र ढङ्ग से भासित होता है उसी का यह सारतत्त्व है—ऐसा कहा जाता है। वही वस्तु सारतत्त्ववाली होती है जो अतुच्छ अविनाशी हो और उसी को विमर्श-शक्ति कहा जाता है। जो ग्राह्य और ग्राहक के प्रकाशात्मक रूप हैं उनकी भी अप्रकाश रूप में विलक्षणता ले आनेवाली यही शक्ति हे, श्रीसारतन्त्र में इसका निरूपण किया है—'इस संसार का जो सारतत्त्व है वह परम मालिनी-शक्ति है।' वही, यह शक्ति प्रत्यभिज्ञान को बताती है और उसीका नाम हृदय है जिसको प्रतिष्ठानरूप से कहा जाता है और वह स्थान "तथाहि जडभूतानाम्" कहे हुए नियम से जड एवं चेतन का है, उसको भी प्रकाशात्मकता है, उसकी भी

---

१. जो जिसके साथ जीता है वही उसका व्यवच्छेदक होता है।

२. दिक्कालादिलक्षणेन व्यापकत्वं विहन्यते।
अवश्यं व्यापको यो हि सर्वदिक्षु स वर्तते॥ इति शिवदृष्टौ—

दिशा-कालादिको लेकर उसका व्यापकत्व बन नहीं पाता है, विशेषण के लग जाने से परिच्छिन्न बन जाता है जो सर्वत्र सभी दिशाओं और कालादि में समानरूप से व्यापक रहता है वही व्यापक है अर्थात् देश-कालादि से अनवच्छिन्न स्वभाववाला ही व्यापक माना जाता है।

३. इसका विवेचन अभिनवगुप्त ने तन्त्रसार में किया है—

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह यद्वद्विचित्ररचना मकुरान्तराले।
बोधः परं निजविमर्शनसारयुक्त्या विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु॥

जैसे दर्पण तल पर पदार्थ चित्र-विचित्र ढंग से भासित होते हैं, वैसे ही परम संविद्रूप में यह सारा का सारा संसार आभासित है। परम संविद्रूप को विमर्श-शक्ति के सामर्थ्य द्वारा उसका बोध रहता है किन्तु दर्पण को उसी प्रकार अपने में प्रतिबिम्बित पदार्थ का बोध नहीं रहता।

४. 'सैषा' क्योंकि तद् और एतद् ये दोनों शब्द परोक्ष और अपरोक्ष के वाचक होकर प्रत्यभिज्ञा सूचित करते हैं।

तिष्ठतो विश्रान्तस्य इदमेव हृदयं विमर्शरूपं परमन्त्रात्मकं तत्र तत्र अभिधीयते। सर्वस्य हि मन्त्र एव हृदयम्, मन्त्रश्च विमर्शनात्मा, विमर्शनं च परावाक्छक्तिमयम्। तत एवोक्तम्—'न तैर्विना भवेच्छब्दो नार्थो नापि चितेर्गतिः।' इति। 'तत्र तावत्समापन्ना मातृभावम्·········।' इत्यादि च,

विमर्श-शक्ति विश्व के परमपद में विश्रान्ति स्थानरूप है और यही विमर्शरूप स्वतन्त्रात्मक है उसे ही तत्-तत् स्थलों में कहा गया है। क्योंकि सब का मन्त्र ही प्रतिष्ठा-स्थान माना जाता है, एवं मन्त्र ही विमर्शात्मा है और विमर्श-शक्ति ही परावाणीरूपी शक्ति से युक्त है। इसी कारण कहा गया है—

उन मन्त्रों के बिना न तो शब्द और अर्थविषयक ज्ञान ही होगा तथा चिति की गति का होना भी असम्भव ही है।

अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त जितने भी वर्ण हैं उन्हें 'शब्दराशि' से पुकारा जाता है। शास्त्रों में इसको मातृका कहा जाता है। सारी की सारी भेदवाली वाचक-वाच्यरूप स्थूल शब्द-राशि को अपने भीतर अभेदरूप में धारण करनेवाली परा-शक्ति ही मातृका-शक्ति है जैसा कि 'सा हि भगवती अशेषवाच्य-वाचकात्मकजगदभेदचमत्कारात्मकशब्दराशिविमर्शपरमार्था·········। [स्व० तन्त्र०] 'स्वातन्त्र्यशक्तिरेवास्य सनातनी पूर्णाहन्तारूपा।' इसकी पूर्णता अहन्तारूप स्वातन्त्र्य-शक्ति से भिन्न और कुछ भी नहीं है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता के बल से ही यह अपने आप अकार से लेकर क्षकार तक के समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म वर्ण समूह के रूप में फैलकर बहुत प्रकार के वाच्यों और वाचकों से विश्व को आभासित कर लेती है यह सारा विश्व प्रमाता के रूप में ही इस से सिद्ध होता है। किन्तु इसकी पहचान ज्ञानी-सिद्धजनों के अतिरिक्त किसी अन्य को नहीं होती। इसलिए कहा है कि 'अज्ञाता माता मातृका विश्व जननी।' जिसको जानकारी न होने से माता ही 'मातृका' कही जाती है। इसका दूसरा अर्थ भी करते हैं—'एतदेव च ब्राह्मादि-मातृणां मातृत्वं तत्तस्य परिवारभावेन तिष्ठन्ति, विकल्पा हि चिद्रूपस्य जीवस्य परितो वारणात् परिवार एव, मातृशब्दो ह्यत्र परिवारवाच्येव न जननी वाचकः'। इसी दर्शन में दिखाया गया है कि 'अ' से लेकर 'क्ष' तक की शब्दराशि चिद्रूप का ही बाहर में फैलाव है। भेद-दृष्टि में परिणत हो जाने पर यह शब्दराशि आठ भागों में विभक्त हो जाती है। ब्राह्मी आदि शक्तियों का परिवार भी पशु भूमिका पर अपनी ही जन्मदात्री चिच्छक्ति को चारों ओर से घेर लेती है जिससे कि पशु-जीवों को इसका बोध नहीं हो पाता है इसलिए आठ शक्तियों के परिवार को 'मातृका' कहते हैं। प्रकाशरूप शिव और विमर्श-शक्ति इन दोनों की एक रसता ही सारे विश्व की आधारता है। 'अहं विमर्श' ही इसका स्वरूप है, जो कि वह महामन्त्र रूप है 'अ' अनुत्तर-तत्त्व एवं 'ह' अनाहत-शक्ति तत्त्व की प्रत्याहारदशा ही 'अहन्ता' है। सारी शब्दराशि उसके भीतर 'मयूर के अण्डरस' न्याय से अभेदपूर्वक रहती है। परावाणी भी कुछ लोग इसको कहते हैं।

---

१. ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥ (गी. १४–२७)

हे अर्जुन! उस अविनाशी पूर्ण ब्रह्म का और अमृत अमरणधर्म का एवं नित्यधर्म का और अखण्ड आनन्द का मैं ही एकमात्र आश्रय हूँ अर्थात् ये सबके सब मेरे ही ऐश्वर्य हैं। इसलिए इन सब का मैं परम आश्रय हूँ।

इत्यागमेषु। तत्रभवद्भर्तृहरिणापि—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते। अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते॥
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती। न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥' इति
'सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते। यदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्॥'

स्थूल वाच्य-वाचकमय विश्व को विस्फुरित करने के लिए यह इच्छा-शक्ति बन जाती है। पश्चात् ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति के रूपों में अङ्कुरित हो जाती है, फिर मायापदवी पर आरूढ होकर विचित्र रूपों में प्रसृत हो जाती है। बाहर की ओर फैलनेवाली प्रक्रिया में यह मातृका शक्ति दो, नव और पचास रूपों में बँट जाती है। बीज और योनि के रूप से दो भेद हो जाते हैं स्वर समूह का नाम तो बीज है और व्यञ्जन समूह का नाम योनि है। १. अवर्ग 'अ' से अः पर्यन्त 'अमा', २. कवर्ग से 'कामा', ३. चवर्ग से 'चार्वङ्गी', ४. टवर्ग से 'टङ्कधारिणी', ५. तवर्ग से 'तारा', ६. पवर्ग से पार्वती', ७. यवर्ग से 'यक्षिणी', ८. शवर्ग से 'शारिका', ९. क्षवर्ग अनूत्तर और अनाहत के संघ को विस्तृत करनेवाली कूटबीज है। इस प्रकार इसका नव भेद हुए। शब्द समूह के प्रत्येक वर्ण-अक्षर को भिन्न-भिन्न शक्तिवाला है—ऐसा मानकर सोलह स्वरों एवं चौंतोस व्यञ्जनों के रूप में पचास भेदों की कल्पना की जाती है। इत्यादि, आगमों में उल्लेख मिलता है।

श्रीभर्तृहरि ने भी अपनी 'वाक्यपदीयम्' में उल्लेख किया है—

प्रत्यय अथवा ज्ञान दो प्रकार का होता है। हमारा वाग् व्यवहार जागृत् दशा का तो शब्दभावना से हो जाता है। भावना का साथ न होने पर अनुभूति में आनेवाले अनेकतथ्य हैं, जिन्हें शब्द से व्यक्त नहीं करते हैं, यद्यपि उन्हीं के साथ अनुभूत अन्य सत्यों को हम शब्द के द्वारा अभिव्यक्त भी करते हैं। सुप्तकाल में भी हम सत्यों अथवा स्वप्नों का अनुभव किये रहते हैं। शब्दों के साथ उनका वर्णन इसलिए नहीं करते हैं कि सूक्ष्मरूप से शब्दभावना के बीज उस काल में ग्रहण हो गये रहते हैं। तामसी अवस्था में पड़े रहने के कारण तमोरूपा दशा ही उसे कहना पड़ता है। किंतु जागृति दशा और सुषुप्ति दशा का जो ज्ञान है वह शब्द भावना के विना कभी भी स्थिर नहीं हो सकेगा और न तो उसके स्वरूप का ही ठीक-ठीक बोध हो पायेगा।

वाक् या शब्द से ही समस्त व्यवहार का बोध होता है और वही आत्माभिव्यक्ति एवं स्मृति अवस्था में भी कारण रहता है। ज्ञान की समस्त आभास शब्द या वाक् के रूप में ही अवस्थिति रहती है। उसीके माध्यम से सब प्रकार का विचार-विमर्श हो सकता है वह फिर किसी भी रूप में रहे, व्यक्त अथवा अव्यक्त। वाक् के न रहने पर तो प्रकाश ही प्रकाशित न हो पायेगा; क्योंकि समस्त व्यवहार ठप हो जायेगा।

सा सर्वविद्याशिल्पनां कलां चोपवंधनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते॥

व्यावहारिक जगत् की समस्त वस्तुओं से वाक्-शब्द का सम्बन्ध निहित रहता है जैसा कि सभी को विद्या, शिल्प और कला आदि से सम्बन्ध प्रतिदिन रहता देखा भी जाता है, इसके द्वारा ही प्रत्येक निर्मित की गयी वस्तु के विषय में प्रयोज्य-प्रयोजक आदि की कल्पना भी की

इत्यादि च। तत् एतेन विदुः इत्येतत् निर्वाहितम्। बौद्धैरपि अध्यवसायापेक्षं प्रकाशस्य प्रामाण्यं वदद्भिः उपगतप्राय एव अयम् अर्थः—अभिलापात्मकत्वात् अध्यवसायस्य इति ॥ १४ ॥

ननु असंख्यशक्तिश्रेणीशोभितवपुषि परमशिवे विमर्शशक्तिरेव इयम् इत्थंकारम् अभिषिच्यते कस्मात् ?, इत्याशङ्क्याह—

आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात्पृथक्स्थिति ।
ज्ञेयं न तु तदौन्मुख्यात्खण्ड्येतास्य स्वतन्त्रता ॥ १५ ॥
स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ।
प्रभुरीशादिसंकल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥ १६ ॥

सर्वाः शक्तीः कर्तृत्वशक्तिः ऐश्वर्यात्मा समाक्षिपति। सा च विमर्शरूपा इति युक्तम् अस्या एव प्राधान्यम् इति तात्पर्येण उत्तरमुक्तम्। शब्दार्थस्तु अयं—प्रकाशात्मा परमेश्वरः स्वात्मानं ज्ञात्रेकरूपत्वात् अज्ञेयमपि ज्ञेयीकरोति इति यत् सम्भाव्यते—कारणान्तरस्य अनुपपत्तेः दर्शितत्वात्

जाती है। इस प्रकार आगे भी कहते हैं कि—

समस्त विद्याकलादि से सम्बन्धित रहनेवाली ही यह देखी जाती है एवं यह संसारी जीवों की चेतनता के समान है। बाह्य जगत् में तो देहधारियों का व्यवहार इसके बिना होना असम्भव सा है, अपने अन्तर में रहनेवाले का भी सहारा किसी न किसी रूप से इस से होता ही है। जैसे चेतन के न रहने पर प्राणी 'विसंज्ञ' ही हो जाता है वैसे वाक्, या शब्द के बिना भी उसकी स्थिति अचेतन के समान ही हो जाती है। वृक्ष-पाषणादि को वाग्रूपता की आवश्यकता नहीं होती है। वाग्रूपता से ग्रहण किया हुआ चैतन्य ही सब प्रकार की सब सार्थक प्रवृत्तियों को प्रवृत्त करता है। यदि यह न रहे, तो प्राणी काठ को तरह निर्जीव ही रह जायेंगे। 'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुः' अवभास के स्वभाव को विमर्श कहते हैं यह बात भी यहाँ पर आ गयी। अध्यवसाय को अपेक्षा रखनेवाले प्रकाश को विश्रान्ति होती है—ऐसा कहनेवाले बौद्धलोग भी प्रायः इसे स्वीकार करते हैं जो कि अध्यवसाय का अभिलाप स्वरूप है ॥ १४ ॥

'ननु' कहकर अब शंका करते हैं कि असंख्य-शक्ति-सम्पन्न शिव में विमर्श-शक्ति ही क्यों इतना महत्त्व पाती है ? इस आशंका का उत्तर देते हैं—

इसी कारण अपने आपको ही यह परमेश्वर अलग करके ज्ञेयरूप बना देता है। नहीं तो, उसकी ओर उन्मुख रहने से शिव की जो स्वतन्त्रता है वह खण्डित हो जाती ॥ १५ ॥

अद्वैतरूप अपनी स्वतन्त्रता से युक्त होकर अपने आप की ईशादि संकल्पों से निर्मित करके प्रभु व्यवहार कराता है ॥ १६ ॥

सारी शक्तियाँ कर्ता की ही शक्ति हैं ऐश्वर्यरूप में वही विमर्श हैं—यह कहना चाहिए। उसकी प्रधानता भी है, इसी तात्पर्य से ये सारी की सारी बातें कही गयी हैं। अब शब्दार्थ बताते हैं—यह प्रकाशरूप परमेश्वर अपने आपको ज्ञाता होने के कारण अज्ञेय होता हुआ भी ज्ञेय कर देता है इसकी जो सम्भावना है—इसमें दूसरा कोई कारण न मिलने से दृढ सम्भावना को

दृढेन सम्भावनानुमानेन, तत एव विमर्शशक्तिलक्षणात् कर्तृत्वात् हेतोः भवति, यतो हि अयम् आत्मानं परामृशति ततो विश्वनिर्भरत्वात् तथा नीलादित्वेन चकास्ति। ननु एषैव कुतः सम्भावना आत्मानं ज्ञेयीकरोति ?, इति आह पृथक् प्रकाशात् बहिर्भूता स्थितिः यस्य तादृक् ज्ञेयं नैव भवति। तुः अवधारणे। तत्र च उक्ता युक्तयः। अभ्युच्चययुक्तिमपि आह—यदि व्यतिरिक्तं ज्ञेयं स्यात् तत् ज्ञातृरूपस्य आत्मनो यत् एतत् ज्ञेयविषयम् औन्मुख्यं स्वसंवेदनसिद्धं दृश्यते तत् न अस्य स्यात्, तेन व्यतिरिक्तविषयौन्मुख्येन अन्याधीनत्वं नाम पारतन्त्र्यम् अस्य आनीयते। पारतन्त्र्यं च स्वातन्त्र्यस्य विरुद्धम्। स्वातन्त्र्यमेव च अनन्यमुखप्रेक्षित्वलक्षणम् आत्मनः स्वरूपम्, इति व्यतिरिक्तोन्मुख आत्मा अनात्मैव स्यात्। अनात्मा च जडो ज्ञेयं प्रति न उन्मुखीभवति इति प्रसङ्गः।

ततः प्रसङ्गविपर्ययात् इदमायातम्—अव्यतिरिक्तोन्मुखः स्वतन्त्रः सन् आत्मानमेव ज्ञेयीकरोति इति। न च केवलं नीलादिरूपमेव ज्ञेयं, यावत् अत्यक्तकर्तृस्वभावं स्वातन्त्र्येण अपरित्यक्तमेव सन्तम् आत्मानं निर्माय व्यवहारेण ध्यानोपासनार्चनोपदेशादिना योजयति इति यत् सम्भाव्यते तदपि अत एव इति सम्बन्धः। ननु स्वातन्त्र्ययुक्तं च निर्मीयते च इति विरुद्धम् इदम् ?, तत्राह—अद्वयात्मनः संविदेकरूपस्य स्वातन्त्र्यात् हेतोः इदं न न युज्यते, यत् किल

अनुमान के द्वारा दिखाया है, इसी कारण विमर्श-शक्तिरूप कर्तृत्व ही इसमें हेतु होता है, क्योंकि यह अपने आप का परामर्श करता है इसलिए परिपूर्ण होने के कारण ठीक वैसा ही नीलत्व पीतत्वादिकों के रूपों में प्रकाशित होता है। अब शङ्का होती है कि सम्भावना अपने को क्यों ज्ञेय बनाती है ?, उत्तर देते हैं—कि प्रकाश से बाहर होकर उसकी स्थिति नहीं होती है वैसा ज्ञेय पदार्थ नहीं रहता है। 'तु' शब्द निश्चित अर्थ के रूप में है। इस प्रकार वहाँ पर युक्तियों को भी कह दिया गया है। और भी अधिक युक्ति देते हैं—यदि ज्ञेय अलग रहता है तो ज्ञातृरूप आत्मा की जो यह ज्ञेयविषयक उन्मुखता है जो कि अपने संवेदन ज्ञान से सिद्ध दिखाई देती है—वह इसकी उन्मुखता नहीं है, इसी कारण कर्ता से विषय भिन्न होने से पारतन्त्र्य उसमें आ जाता है और वह परन्त्रता तो स्वतन्त्रता से विरुद्ध स्वभाववाली होती है। इस प्रकार स्वातन्त्र्य को किसी अन्य की अपेक्षा नहीं होती जबकि यही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है भिन्न वस्तु की ओर उन्मुखता होने से आत्मा अनात्मरूप ही हो जायेगा जबकि यह अभीष्ट नहीं है। और अनात्मरूप होने के कारण जड हुआ वह ज्ञेय के प्रति उन्मुख नहीं होता।

प्रसङ्ग से विपरीत होने के कारण यह सिद्ध हुआ कि—स्वयं उन्मुख स्वतन्त्र होकर अपने को ही ज्ञेय बनाता है और केवल नीलादिरूप को ही ज्ञेय नहीं बनाता है अपितु अपने को भी बनाता है, अपनी स्वतन्त्रता से कर्तृत्व स्वभाव को न छोड़ता हुआ ज्ञेयरूप में अपने को निर्माण करके ध्यान, उपासना, अर्चना और उपदेशादि से जोड़ता है यह जो सम्भव है वह भी 'अत एव का सम्बन्ध है।' अब शङ्का करते हैं कि स्वातन्त्र्य से युक्त भी है और निर्माण भी करता है यह तो परस्पर विरुद्ध दिखाई पड़ता है ? इसके समाधान में कहते हैं कि अद्वैतरूप संवित् मात्र स्वातन्त्र्य हेतु से ऐसा नहीं हो सकता है, यह बात नहीं है अपितु सम्भव हो सकता है, मायामय जगत् में जो अति

१. अतिदुर्घटकारित्वमस्यनुत्तरमेव यत्।

मायापदे अतिदुर्घटं प्रतिभाति, तत्सम्पादने यत् अप्रतिहतं स्वातन्त्र्यं तदेव पुनः स्वातन्त्र्यशब्देन दर्शितम्। अत एव इत्यनेन तु विमर्शशक्तिरूपम् इति अपुनरुक्तम्। अथ वा अत एव स्वातन्त्र्यात् इति सामानाधिकरण्येन श्लोकद्वयेन सम्बन्धनीयम्। उदाहरणम् अत्र अर्थे दर्शयति—नीलादि-निर्माणवत् अस्य स्वतन्त्ररूपनिर्माणस्य अप्रसिद्धत्वात् ईश्वरो-भगवान्-आत्मा-नित्यो-विभुः-स्वतन्त्रः इत्येवमादौ हि प्रमातुः, पूजयितुः, ध्यातुः वा पृथग्भूतं तत् प्रमेयं, पूज्यं, ध्येयं च भाति इति तत् तावत् निर्मितम्, न च अनीश्वररूपम्। एवं हि ईश्वर इति, अनीश्वर इति संकल्प-ध्यानादेः तुल्यत्वं स्यात्, न च एवम्—फलभेदस्य उपलब्धेः इति, तस्मात् स्वातन्त्र्यशून्यता-भासनेन स्वातन्त्र्ययुक्तताभासनेन च यत् इदम् उभयं ज्ञेयम् आत्मरूपमेव परमेश्वरो भासयति तत् विमर्शशक्तिबलात् एव, इति सैव प्रधानम् इति ॥ १५–१६ ॥

ननु प्रकाशबलात् भावव्यवस्था, स च प्रकाशो विमर्शसार इति विमर्शाभेदे तदेव तत् इति वक्तुं युक्तम्, ईश्वर आत्मा इत्यादिसंकल्पेषु च निर्मितस्य इदन्तया परामर्शः, स्वातन्त्र्यं तु

दुर्घटता दिखाई देती है, इसे सम्पादन करने में अप्रतिहत—जो कभी नहीं रुकनेवाला स्वातन्त्र्य है उसको स्वतन्त्र शब्द से बताया है। 'अत एव' शब्द श्लोक में दिया है इससे विमर्श-शक्ति का स्वरूप दिखलाया गया है अथवा इसका दूसरा भी अर्थ करते हैं कि 'अत एव' स्वातन्त्र्य होने के कारण सामानाधिकरण्यरूप से दोनों श्लोकों के साथ सम्बन्ध करना चाहिए। [ईशादिसंकल्पैः] ईश्वरादि के संकल्पों द्वारा उदाहरण अर्थ में बताया जाता है—नीलादि पदार्थों में स्वतन्त्ररूप से निर्माण करने का अभाव होने से स्वयं भगवान् परमेश्वर आत्मा, नित्य, विभु स्वतन्त्र है, इस प्रकार आदि में प्रमाता का, पूजन करनेवाले का, ध्यान करनेवाले का, अलग हुआ वह प्रमेय, पूज्य और ध्येय भासता है यह सब मान लेना है वह ईश्वर का ही रूप है, अनीश्वर का नहीं है। यह ईश्वर है और यह अनीश्वर है इसके संकल्प, ध्यानादि में तो फिर एकता हो जायेगी; ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों के फलों में भेद होता है, इसलिए स्वातन्त्र्यशून्यता का आभास नीलादि में और स्वातन्त्र्य युक्तता का आभास ईश्वरादि में इन दोनों को अपने रूप में परमेश्वर ही भासित करता है और वह भासन विमर्श-शक्ति के कारण ही होता है, इसीसे विमर्श-शक्ति प्रधान है ॥ १५-१६ ॥

अब शङ्का करते हैं कि प्रकाश के सामर्थ्य से भाव-पदर्थों की व्यवस्था होती है और वह प्रकाश का विमर्श ही साररूप है, विमर्श से अभेद होने पर भासन भी विमर्श है ऐसा कहना चाहिये, ईश्वर आत्मा है इसमें जो कुछ निर्मित होगा उसका इदन्तारूप से परामर्श होगा और स्वातन्त्र्य का तो अहं परामर्शरूप से होगा, इदन्ता से निर्मित हुए का अहंतारूप

एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं बोधरूपता ॥

'जो परमेश्वर की लोकोत्तर, अति दुर्घट कार्य करने की सामर्थ्य-शक्ति है इसी को स्वतन्त्रत्व, ऐश्वर्य एवं बोधरूपता कहा जाता है।'

१. श्री सोमानन्दपाद ने इसका विवेचन शिवदृष्टि शास्त्र में किया है।

'गच्छतो निस्तरङ्गस्य जलस्यातितरङ्गिताम्।
आरम्भे दृष्टिमापात्य तदौन्मुख्यं हि गम्यते ॥' इति यथा–

अहंपरामर्शरूपम्, इति निर्मितस्य तद्रूपत्वाभावे कथं स्वातन्त्र्यामुक्तत्वम् इति ?, तत् एतत् परिहर्तुमाह—

नाहन्तादिपरामर्शभेदादस्यान्यतात्मनः ।
अहंमृश्यतयैवास्य सृष्टेस्तिङ्वाच्यकर्मवत् ।। १७ ।।

स्वरूपे भावप्रत्ययः, आदिग्रहणात् आत्मेश्वरादिपरामर्शः, तिङ्ग्रहणं प्रत्ययोपलक्षणम्, कर्मग्रहणं क्रियावाचिसदसत्त्वभूतशक्तिरूपोपलक्षणम्। तत् अयम् अर्थः—अहम् इत्येवंरूपो यः परामर्शो, यच्च ईश्वरः प्रमाता आत्मा शिव इत्यादिः अनन्तप्रकारः परामर्शः, तस्य यद्यपि भेदोऽन्यान्यरूपता, तथापि तद्भेदात् हेतोः अस्य आत्मनो निर्मातृरूपस्य अहंपरामर्शमयस्य निर्मेयरूपस्य च ईश्वरादिपरामर्शास्पदस्य यो भेदः शङ्कितः, स न युक्तः, यत ईश्वर इत्यपि यः

परामर्श में अभाव रहने पर कैसे वह स्वातन्त्र्य से युक्त हुआ ? इस शङ्का को दूर करने के लिए अब कहते हैं—

अहन्ता और इदन्तादि परामर्श के भेद से इस आत्मा में भेद नहीं होता है। जैसे अहं परामर्श से ही सृष्टि में 'तिङ्' वाच्य का कर्म होता है ।। १७ ।।

अहं इस अभिन्न प्रकाशरूप अव्यय में भाव प्रत्यय 'तल्' करके अहन्तारूप बनता है वही प्रकाश का अपना निजी लक्षण है, 'आदि' शब्द जो श्लोक में लिया गया है इससे आत्मा ईश्वरादि का परामर्श ग्रहण करना चाहिए, 'तिङ्' शब्द प्रत्यय का उपलक्षण करता है, कर्म के ग्रहण से क्रियावाची सद्रूप और असद्रूप शक्ति का उपलक्षण है। सब का सारांश यह है कि अहं ऐसा जो परामर्श है और जो ईश्वर प्रमाता है एवं आत्मा शिव है इत्यादि अनन्त प्रकार के जितने भी परामर्श हैं और उन अनन्त परामर्श के जितने भी भिन्न-भिन्नरूपों में भेद प्रतीत होते हैं, इन परामर्शों में भेद हेतु से अहंपरामर्शमय निर्माता को अपेक्षा से निर्मेयरूप ईश्वरादि परामर्श के आश्रयभूत परामर्श के जिस भेद की शङ्का की है—वह ठीक नहीं है, क्योंकि मैं

'बोधस्य स्वात्मनिष्ठस्य रचनां प्रति निर्वृत्तिः ।
तदास्याप्रविकासो यस्तदौन्मुख्यं प्रचक्षते ।।' इति । तथा लोकव्यवहारोऽपि ।
'गोस्तनात्पाततः क्षीरे विकासस्तत एव हि ।
न च न क्षीरमित्येष व्यपदेशोऽस्ति तत्क्षणम् ।।'

[अहं परामर्श ही स्वातन्त्र्य है इदंभाव का परामर्श निर्मित रचना है। निर्मित परामर्श का तो अहं परामर्श में अभाव रहने के कारण परम स्वातन्त्र्य 'इदं' परामर्श कैसे बनेगा ? इसके समाधानमें उत्तर यह है] कि अकुत्सित [गर्हितता से रहित] विषय को ही उन्मुखता मानी है उसे दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं। जैसे निस्तरंग जल का अतितरंग में परिणत हो जाने पर जलगत तरंग में सर्वप्रथम सूक्ष्म कल्पना उठती है वही उन्मुखता है, और हाथ की मुट्ठी बाँधने से पूर्व सुसूक्ष्म खिंचाव-नसोंका देखा जाता है उसी प्रकार अपने स्वरूप में स्थित बोधरूप की विश्व रचना के लिए जो सर्व प्रथम विकास प्रवृत्ति का प्रारम्भ होना, वही उन्मुखता कही जाती है।

गौ के स्तन से निकला हुआ दूध विकार को ही प्राप्त हो जाता है और उस समय यह दुग्ध है—ऐसा क्या बोध नहीं होता है ? जब परामर्श ऐक्य होता है तब सर्वदा ऐक्य हो ही जाता है।

परामर्शः, स ईशनशीले ज्ञातृत्वकर्तृत्वतत्त्वे विश्राम्यति, ज्ञातृत्वादि च ज्ञानादौ, स्वातन्त्र्यम् अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् अविच्छिन्नज्ञानादिशक्तियोगः, अविच्छेदश्च जानामि करोमि इति अस्मदर्थ-विश्रान्तिः इति। अस्य ईश्वरस्य आत्मनः सृष्टेः सृज्यमानस्य अहंविमर्शनीयत्वमेव। सृष्टेः इति वा हेतौ पञ्चमी। अस्य ईश्वरस्य यतः ईश्वरादिसंकल्पेषु अपि अहंपरामर्शनयोग्यस्यैव सृष्टिः। अर्हे कृत्यः। यथा क्रियाकारकसमुच्चयविकल्पादिशक्तयो यथास्वं तिङ् तृतीयादि च वादिप्रयोगा-वसेयपरामर्शपरमार्थाः पाकः कर्ता समुच्चयो विकल्पः इत्यादिशब्दैः अभिधीयमानाः सत्त्वभावम् आपादिता अपि, पचति चैत्रेण च वा इत्येवंभूते मूलपरामर्शे विश्राम्यन्ति। अन्यथा तु ताः प्रतीता नैव भवेयुः। तद्वत् अत्रापि।

एतदुक्तं भवति—परामर्शो नाम विश्रान्तिस्थानम्, पार्यन्तिकमेव तच्च परमार्थिकम्, अह-मित्येवंरूपमेव। मध्यविश्रान्तिपदं तु यत् वृक्षमूलस्थानीयं ग्रामगमने तदपेक्षया सृष्टत्वम् उच्यते,–अनेन नीलादेः अपि, इदं नीलम् इति मध्यपरामर्शेऽपि मूलपरामर्शे अहमित्येव विश्रान्तेः आत्म-इति को विरोधः। मयत्वम् उपपादितम् एव। नीलम् इदम् अहं वेद्मि इति, अहं प्रकाशे इति हि इयत्तत्त्वम्। यथोक्तम् 'इदमित्यस्य' इत्यादि। मूढस्तु नीलादिविमर्शात् एव अर्थक्रियादिपरितोषा-भिमानी, इति नीलादेः स्वातन्त्र्यनिर्मुक्तत्वम् उक्तम्। आत्मादौ तु तन्मूलपरामर्शविश्रान्तिमन्तरेण

ईश्वर हूँ यह परामर्श भी सामर्थ्यशाली ज्ञातृत्व-कर्तृत्व में विश्रान्ति लेता है, और ज्ञातृत्वादि परामर्श ज्ञान में विश्रान्त होता है, स्वातन्त्र्यरूप किसी की भी अपेक्षा न रखनेवाला होता है जिसका अविच्छिन्न ज्ञानादि शक्तियों से सम्बन्ध है, और अविच्छेद 'जानाति'—'करोमि'रूप 'अस्मत्' शब्द के अर्थ में ही विश्रान्त होता है। इस विश्वरूप अपने आत्मा की सृष्टि में सृज्यमानरूप पदार्थों की अहन्ता शब्द से ही विमर्शन के योग्य है। सृष्टि करने के कारण हेतु में पञ्चमी विभक्ति है। क्योंकि इस ईश्वर की ईश्वरादि संकल्पों में भी जबकि अहंपरामर्श के योग्य ही सृष्टि होती है। 'मृश्यतया' इसमें अहं-योग्यता अर्थ में कृत्यप्रत्यय हुआ है। क्रिया कारक समुच्चय विकल्प शक्तियाँ यथाक्रम तिङ और तृतीयादि विभक्ति वादी के प्रयोग से जानने योग्य सिद्ध परामर्श [सत्त्वभूत] पाक हो रहा है और कोई कर्ता कर रहा है जो विकल्प शब्दों से कहे गये सत्त्वभाव को कहनेवाला पचाता है अथवा चैत्र से पचाया जाता है इत्यादि मूल परामर्श में विश्रान्त होते हैं। अन्यथा वे शक्तियाँ प्रतीत ही नहीं होंगी। उसी प्रकार यहाँ पर भी है। इससे यह कहा जाता है कि परामर्श को ही विश्रान्ति का स्थान माना जाता है और वह अन्तिम पारमार्थिक तत्त्व है तथा उसका स्वरूप अहम् है। मध्य में विश्राम लेनेवाला जोकि गाँव को जाते समय वृक्ष के मूल स्थान में बैठना-उठना इत्यादि प्रमाता की अपेक्षा से ही बनाया गया कहा जाता है, इस प्रकार कोई विरोध नहीं होगा। इससे नीलादि परामर्श में भी अहन्तारूप मूल परामर्श में ही विश्रान्त है, इसी कारण आत्ममयत्व कहा है। मैं इसको नील के रूप में जानता हूँ, मैं प्रकाशित होता हूँ यही तो सारतत्त्व है। जिसके लिए कारिका में कहा है—'इदमित्यस्य' इत्यादि। मूढ प्राणी तो नीलादि के विमर्श से ही अर्थक्रियादि परामर्श से संतुष्ट होकर उसका अभिमानी हो जाता है। इसलिए नीलादि को स्वतन्त्रता में सर्वथा भिन्न ही माना गया है। आत्मा आदि के मूल परामर्श में तो बिना विश्रान्त हुए प्रतीति की परिसमाप्ति मानते हैं और अर्थक्रिया को

प्रतीतिपरिसमाप्तिम् अर्थक्रियां च मूढोऽपि न अभिमन्यत इति तस्य निर्मितौ अपि अनुज्झितस्वातन्त्र्यम् उक्तम् ॥ १७ ॥

ननु एवं विश्वपरामर्शानाम् अहम् इत्येव विशुद्धैकपरामर्शविश्रान्तिरेव तत्त्वम् तत् कथम् इदम् उच्यते—ज्ञानस्मृत्यादिका अस्य शक्तय इति, ज्ञानस्य च निर्णयसंशयभेदा नीलादीनां च वैचित्र्यम् ? इति आशङ्कायां परिहारमाह—

मायाशक्त्या विभोः सैव भिन्नसंवेद्यगोचरा ।
कथिता ज्ञानसंकल्पाध्यवसायादिनामभिः ॥ १८ ॥

अनुपपन्नम् अवभासनं माया इति उच्यते, ततश्च भिन्नं प्रकाशात् सर्वम् अवभासजातं माया, तत्र च चित्तत्त्वस्यैव स्वातन्त्र्यं मायाशक्तिः, तया भिन्नं यत् संवेद्यं प्रमातुश्च अन्योन्यतश्च, मायाशक्त्या भिन्नेन प्रमातुः अन्योन्यतो वेद्याच्च करणवर्गेण यत् संवेद्यं स एव गोचरो—विश्रान्तिपदं यस्याः तादृशी सती सैव प्रत्यवमर्शात्मा चितिः परावाग्रूपा, ज्ञानम् इति, संकल्प इति, अध्यवसाय इति च उच्यते, आदिग्रहणात् संशयः स्मृतिः इत्यादि । तथाहि—यत् इन्द्रियेण स्फुटग्राहिणा बाह्येन विषयेण स्फुटेन च नियन्त्रितं संवित्तत्त्वं यत् ज्ञानम् । मनसा विषयेण च अस्फुटेन संकल्पः । बुद्धया विषयेण च विषयत्वपर्यन्तभाजा अध्यवसायो निश्चयः ।

मूढ लोग भी नहीं मानते, इसलिए उसके निर्माण में भी स्वातन्त्र्य को नहीं छोड़ता हुआ कहा गया है ॥ १७ ॥

अब शङ्का करते हैं कि विश्व के समस्त परामर्शों का 'अहम्' इस विशुद्ध परामर्श मात्र में ही विश्रान्ति है तो फिर यह कैसे कहते हैं कि इसकी ज्ञानस्मृत्यादि शक्तियाँ हैं तथा ज्ञान के निर्णय और संशय भेद हैं एवं नीलादि पदार्थों में चित्र-वैचित्र्य रहता है ? यह नहीं बन सकता है इस आशंका का परिहार करते हैं—

विभु परमेश्वर की माया-शक्ति से विमर्श-शक्ति ही भिन्न-भिन्न संवेद्य के विषय करनेवाली, ज्ञान-संकल्प-अध्यवसायादि नामों से कही गयी है ॥ १८ ॥

जो अवभास ठीक न बैठ सकें उसी को तो माया कहा जाता है, इसलिए प्रकाश से भिन्न सभी अवभास समूह माया है और चिदात्मा की स्वतन्त्रता ही माया-शक्ति है, उस माया-शक्ति से भिन्न जो संवेद्य है और प्रमाता के अन्योऽन्य सम्पर्क से और माया-शक्ति से प्रमाता के भिन्न होने से परस्पर वेद्य से भी और करण-वर्ग से जो ज्ञेय होता है वही उसका विषय है—उस संवेद्य में जिसकी विश्रान्ति होती है वैसी ही परामर्शात्मा चिति-शक्ति है वही परावाणी, ज्ञान, अध्यवसाय और संकल्पादि से कही जाती है । आदि ग्रहण से संशय, स्मृति से भी कही जाती है । क्योंकि बाह्य-इन्द्रियों द्वारा स्पष्टरूप से विषय का बोध होना ही ज्ञान है और मन द्वारा विषय का अस्फुटरूप से बोध होना संकल्प कहलाता है । बुद्धि से विषय का दृढरूप से निश्चय ही अध्यव-

१. परमेश्वर विभु ही प्रमाता हैं वे परमेश्वर ही तो माया-शक्ति से संकुचित होकर ग्राहक जैसे हो जाते हैं । उसी प्रकार विमर्श-शक्ति भी माया-शक्ति के द्वारा वेद्य विषय के उपराग से संकुचित हो जाने पर ज्ञान-स्मरण संकल्पादि रूपों में परिणत हो जाती है । वस्तुतः विमर्श-शक्ति से भिन्न दूसरा कुछ भी ज्ञानादि नहीं है ।

विषयस्य च यत् भिन्नत्वं बहिरन्तःकरणानां च तत्प्रकाशाभेदात् अनुपपन्नं चित्तत्त्वेन[1] आभास्यते, इति भेदे यतो विश्रान्तिः, न तु भेदस्य अभेदे ईश्वरसदाशिवादिवत्, ततो ज्ञानसंकल्पादयो भिन्नाः तस्य अप्रध्वस्तस्वस्वभावाभेदस्य[2] संवित्तत्त्वस्य अनुसंधातुः शक्तय इति उक्ताः, संशयादयश्च भिन्ना नीलादिवैचित्र्यं च इति सर्वम् अखण्डितम् ॥ १८ ॥

ननु प्रत्यवमर्शात्मत्वं चितिशक्तेः संकल्पस्मरणादिशक्तिषु सविकल्पात्मिकासु भवतु। या तु निर्विकल्परूपा साक्षात्करणलक्षणा अनुभवशक्तिः, तत्र कथम्। प्रत्यवमर्शो हि अभिलापभेदयोजनामयः, अभिलापविशेषयोजना च संकेतस्मरणम् अपेक्षते। तच्च संस्कारप्रबोधम्। सोऽपि तादृशदृशम्, इति एवं प्रथमसमये कथम् अभिलापयोगः ?, इति परस्य व्यामोहम् अपोहयितुमाह—

साक्षात्कारक्षणेऽप्यस्ति विमर्शः कथमन्यथा।
धावनाद्युपपद्येत प्रतिसन्धानवर्जितम्[3] ॥ १९ ॥

साय है। अन्तःकरणों में उस प्रकाश से अभिन्नता होने के कारण भेद नहीं बैठता, इसी कारण भेद का अभेद में जैसे—ईश्वर का सदाशिव में होता है, इसलिए ज्ञान संकल्पादि भिन्न होते हैं, नहीं विनष्ट हुए प्राण पुर्यष्टक से नियन्त्रित जीव में संवितत्त्व का अनुसन्धान करनेवाले की शक्तियाँ कही गयी हैं, इसलिए संशय, स्मृति, विकल्पादि और नीलादि भिन्न-भिन्न रूपों में रहनेवाले वैचित्र्य भाव सब के सब परमेश्वर में अभिन्नरूप से रहते हैं ॥ १८ ॥

अब प्रश्न उठता है कि जो प्रत्यवमर्शात्मत्व चिदात्मा की शक्ति है वह संकल्प-स्मरणादि के सविकल्पों में भले ही रहे, किन्तु निर्विकल्परूप जो साक्षात्कार करनेवाली अनुभव-शक्ति है उसमें प्रत्यवमर्शात्मत्व किस तरह से है। क्योंकि प्रत्यवमर्श अभिलाप के भेद की योजना से युक्त होता है अभिलाप विशेष की योजना संकेत स्मरण की अपेक्षा रखती है और वह संकेत स्मरण संस्कार के जगने पर होता है। वह भी वैसी दृष्टि होने पर होता है, इस प्रकार साक्षात्कार के समय में कैसे अभिलाप का योग बैठ सकता है ? यह जो दूसरों को मोह-भ्रम हो रहा है उसे दूर करने के लिए कहते हैं—

साक्षात्कार के समय में भी विमर्श रहता ही है, नहीं तो, प्रतिसन्धान से रहित धावन-वाचनादि क्रिया में कैसे परामर्श होता ॥ १९ ॥

---

१. अशुद्ध प्रमाता।

२. पशु, जीव, प्रमाता, देह, प्राण एवं पुर्यष्टकरूप पाश में बद्ध जाने के कारण सीमितरूप में और निश्चितक्रम में कुछ ही इच्छा करता है। जानता है और करता है पतिप्रमाता असीमितरूप में सब कुछ एक साथ ही इच्छा करता है, जानता है और करता है फिर भी पशुप्रमाता की परमात्मा में ही क्रिया शीलता अवस्थित रहती है। पशुप्रमाता की अवस्थिति अपने सीमित स्वरूप में ही है। चितिसत्ता पर ही दोनों रूपों में होनेवाली क्रिया शीलता आधार रखती है।

३. प्रत्यक्ष ज्ञान में भी द्रष्टा को दृश्य का सूक्ष्मरूप में प्रत्यवमर्श होता है, वाचन, धावन इत्यादि में शीघ्र क्रिया के द्वारा उन-उन दृश्यमान् को ग्रहण करने की इच्छा और छोड़ने की इच्छा अनुसंधान से ही होगी।

इह तावत् चैतन्यस्य आत्मभूतोऽङ्गुलिनिर्देशादिप्रख्योऽभिलापयोगः, अन्यथा बालस्य प्रथमं व्यवहारे दृश्यमाने व्युत्पत्तिरेव न स्यात्। निर्विकल्पविज्ञानपम्परया हि तं शब्दं शृणोति, तमर्थं पुरः पश्यति, पुनः तद्विविक्तं भूतलं पश्यति इति, घटम् आनय––नय—इति व्यवहारात् कथम् अस्य अयम् अर्थो हृदि परिस्फुरेत्, घट इति, इदमानय इति, इदं नय इति, इदमिति योजनाप्राणो हि अयमर्थः, योजना च विकल्पव्यापारः। अथ बालस्य प्राग्जन्मानुभूतसंकेतस्मृतेः एवम्, तथापि संकेतकाले स शब्दो विषयत्वेन इदं भावेन अप्रत्यवमृश्यमानत्वात् भेदात् प्रच्युत्य निर्भासमानो विज्ञानशरीरविश्रान्तोकृतो वाचक इति भवति, तत् विज्ञानस्य स्वरूपं चेत् भाति, तत् अभिलापमयमेव इति, यथा विषयस्य सुखरूपत्वाभावेऽपि ज्ञानं सुखात्मकं भाति तथा मा भूत् अभिलापात्मा रूपादिः विषयः, तथापि विज्ञानं तदात्मकं अवभासिष्यते। अत्र तु दर्शने विषयस्यापि विमर्शमयत्वात् अभिलापमयत्वमेव वस्तुतः, स्तैमित्याद्यवस्थापि यदि न परामर्शमयी तर्हि अस्यां विकल्पात्मकप्रमातृव्यापारानुल्लासात् सम्भवः शपथपरमार्थ एव,

निश्चित मायाजन्य विमर्श में चैतन्य का स्वरूपभूत अङ्गुलिनिर्देश के समान अभिलापयोग रहता है, नहीं तो बालक को प्रथम व्यवहारदृष्टि में व्युत्पत्ति [शक्तिग्रह] ही नहीं होगी। क्योंकि बालक निर्विकल्प विज्ञान परम्परा से ही शब्द को सुनता हुआ, उस अर्थ को आगे की ओर सामने देखता है, फिर अर्थशून्य भूतल को देखता है, इसके बाद घट लावो और घट ले जावो—इस व्यवहार से बालक को इसका अर्थ हृदय में प्रतिफलित नहीं होगा, घट का ज्ञान और उसका ले आना फिर उसका ले जाना इत्यादि योजना में मिले रहना ही उसका अर्थ है और योजना ही विकल्प का व्यापार कहलाती है। यदि यह कहें कि बालक को पूर्वजन्म की स्मृति से ऐसा होता है—तो भी संकेत काल में विषयरूप से या इदंभाव से प्रत्यवमर्शन नहीं होने के कारण भेद से हटकर भासित होता हुआ विज्ञान शरीर में विश्राम लेकर यह शब्द वाचक होता है वही विज्ञान का स्वरूप है ऐसा यदि कहो, तो वह अभिलाप ही हो गया, [जैसे माला-चन्दन-वनिता आदि विषयक सुख साधन के सुखरूपता का अभाव रहने पर भी ज्ञान तो सुखरूप से भासता है उसी प्रकार अभिलापभूत रूपादि विषयक न हो तो भी ज्ञान उस रूपत्त्व का भासित होगा] इस प्रकार शब्द को आरोपित करता है जैसे विषय का सूक्ष्मरूप न होने पर भी ज्ञान सूक्ष्म होता है वैसा अभिलापरूपादि विषय सुखरूप नहीं है तब भी अभिलापात्मक विज्ञान को तो अवभासित ही करेगा। हमारे स्वतन्त्र शैवाद्वैत दर्शन में तो विषय भी विमर्शमय होने के कारण वस्तुतः अभिलापमय ही होते हैं, सकल विकल्पों के क्षोभ से शून्य रहना आदि अवस्था भी परामर्शमयी नहीं रहती, तो इस अवस्था में विकल्परूप प्रमाता का

१. सकल विकल्प के क्षोभ से रहित हो जाना ही स्तिमित कहलाता है। बाह्य और आन्तर से प्रसार का रुक जाना स्तैमित्य अर्थात् चांचल्य का अभाव हो जाना है।

२. प्रत्यक्ष विषय के साधन में इन्द्रियाँ कल्पना से रहित हो जाती है—

संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साक्षजा मतिः॥
पुनर्विकल्पयन्किंचिदासीन्मे कल्पनेदृशी।
इति वेत्ति न पूर्वोक्तावस्थायामिन्द्रियाद्गतौ॥

स्मरणं च न स्यात्, रूपविषयाध्यवसायी हि यदि विकल्प उदियात् किमन्यत्, सर्वचिन्तासंहरणेन स्तैमित्यं नाम न स्यात् इति, तत्रापि अस्ति अन्तः परामर्शः सकलेन च शब्दग्रामेण, शब्दनं हि सहन्ते वस्तूनि। तत्र च नियतशब्दयोजनं क्रियते।

तथाहि—बालस्य पुरतः पिण्डे सहजो यः परामर्शः, अहम् इत्यविच्छेदेन इदम् इति विच्छेदेन वा तत्पृष्ठे एव गौर इति गौः इति वा शब्द आरोप्यते, सोऽपि अभ्यासात् प्रमातृमयीभवति, तत्पृष्ठे च अन्यः शुक्ल इति बलीवर्द इति,एवमन्यत् इति संकेततत्त्वम्। तस्मात् अस्ति साक्षात्कारे प्रत्यवमर्शः। अपिशब्दस्य अयमाशयः—इह साक्षात्कारो वस्तुतः 'पश्यामि' इत्येवंभूतविकल्पनव्यापारपर्यन्त एव। विकल्पो हि प्रत्यक्षस्य व्यापार, इति परोऽपि मन्यते। न च व्यापारः तद्वतो भिन्नो युक्तः, तत्स्वरूपभूतो हि सः। भवतु वा क्षणमात्रस्वभावः साक्षात्कारः तत्रापि अस्ति विमर्शः, अवश्यं चैतत्—अन्यथा इति यदि स न स्यात् एकाभिसंधानेन जवात् गच्छन् त्वरितं, च वर्णान् पठन्, द्रुतं च मन्त्रपुस्तकं वाचयन्, न अभिमतमेव गच्छेत्, उच्चारयेत,

व्यापार न होने से किसी की कल्पना भी नहीं हो सकती है और स्मरण भी नहीं हो सकता है, रूपविषयक ज्ञान ही यदि विकल्परूप से उदित हो तो फिर क्या कहना है, सब प्रकार की चिन्ता का संहार करके शान्त चुप-चाप बैठे रहना भी तो नहीं बनता है; क्योंकि वहाँ पर भी अन्तःकरण में परामर्श रहता ही है और सम्पूर्ण शब्दसमूह से विमर्श करते रहना सभी वस्तु-पदार्थ सह लेते हैं अब उसमें नियत शब्दों की योजना बनाते हैं, इसीको दिखाते हैं—जैसे कि बालक की अभिमुख अवस्थित वस्तु में सहज जो परामर्श होता है 'अहम्' इस अनवच्छिन्न प्रकाशरूप से, 'इदम्' इस परिच्छेद-परिमितरूप से भासता है अथवा उसी के पश्चात् ही 'अहम्' इस रूप में प्रकाशित होता है, गौ 'इदम्' इस रूप में भासता है—ऐसा शब्द का आरोप होता है, वह भी अभ्यास द्वारा प्रमाता से युक्त होकर होता है और उसी के पश्चात् दूसरा शुक्ल है, यह बैल है, इस प्रकार दूसरा ऐसा संकेतत्त्व है। इसलिए साक्षात्कार होने पर प्रत्यवमर्श ज्ञान होता है। 'अपि' शब्द का यह अभिप्राय है कि यहाँ पर साक्षात्कार परमार्थतः 'पश्यामि' में देखता हूँ—ऐसा विकल्प करनेवाले का व्यापार पर्यन्त ही रहता है। क्योंकि विकल्प ही प्रत्यक्ष का व्यापार माना जाता है, ऐसा सौगतादि का मानना है। व्यापार कोई व्यापारवाले से भिन्न नहीं होता और ऐसा मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि वह तो उसका स्वरूपभूत होकर रहता है। भले ही क्षणभर रहे, क्षणमात्र स्वभाववाला साक्षात्कार होकर रहे किन्तु उसमें भी विमर्श ज्ञान रहता है और यह आवश्यक भी है—यदि वह उसमें नहीं रहेगा, तो एक अनुसन्धान से वेगपूर्वक गमन करते हुए, त्वरित गति से वर्णों को पढ़ते हुए, शीघ्रता से मन्त्र-पुस्तक को बाँचते हुए, अपने अभीष्ट वस्तु को भी नहीं

नित्य-स्तिमित अन्तरात्मा के माध्यम से चारो ओर से चिन्ता को समटे कर स्थिर रहता हुआ भी चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा रूप ग्रहण कर लेता है। वही प्रत्यक्ष बुद्धि कही जाती है। मेरी कुछ ऐसी ही कल्पना थी फिर ऐसा विकल्प करता हुआ, जो जानता है उसकी पूर्वोक्त अवस्था में इन्द्रियों की गति नहीं देखी जाती।

१. मैं अपने में स्थिर हो गया हूँ। इस स्थिति में संकल्प, विकल्प एवं स्मरण इत्यादि का अपने आप अवरोध हो जाता है।

वाचयेत् वा। तथाहि—तस्मिन् देशे ज्ञानम् आचिक्रमिषा-आक्रमणम्-आक्रान्तता-ज्ञानं प्रयोजनान्तरानुसंधानम्-तित्यक्षा-देशान्तरानुसंधिः, तत्रापि आचिक्रमिषा इत्यादिना संयोजनवियोजनरूपेण परामर्शेन विना अभिमतदेशावाप्तिः कथं भवेत्। एवं त्वरितोद्ग्रहणवाचनादौ मन्तव्यम्। तत्र विशेषतः स्थानकरणाक्रमणादियोगः। अत्र च यतः पश्चाद्भाविस्थूलविकल्पकल्पना न संवेद्यते, तत एव त्वरितत्वम् इति सूक्ष्मेण प्रत्यवमर्शेन संवर्तितशब्दभावनामयेन भाव्यमेव। संवर्तितता हि शब्दभावना प्रसारणेन विवर्त्यमाना—स्थूलो विकल्पः यथा इदमित्यस्य प्रसारणा घटः शुक्ल इत्यादिः, तस्यापि पृथुबुध्नोदराकारः शुक्लत्वजातियुक्तगुणसमवायी इत्यादिः। धावु गतिशुद्धौ इति पाठात् धाविस्त्वरितगतौ स्वशक्तिवशात् वर्तत इति ॥ १९ ॥

भवतु एवं सूक्ष्मो विमर्शः प्रकाशशरीरावेशी, यत्र तु स्थूलत्वेन विकल्परूपता स्फुटा, तत्र शब्दो नीलादिवत् एव पृथक् प्रतिभासते—नीलम् इदम् इति, स कथं प्रकाशस्वरूपात् अपृथग्भूतः

प्राप्त कर सकेगा, अथवा उच्चारण एवं बाँच भी नहीं पायेंगे। देखिये—उस देश में ज्ञान है आक्रमण करने की इच्छा का नया आक्रमण, आक्रान्त का ज्ञान होना दूसरे प्रयोजन का अनुसन्धान करना है, त्याग करने की इच्छा देशान्तर की इच्छा का अनुसन्धान करना है, उसमें भी 'आचिक्रमिषा' इत्यादि वाक्यों से संयोजन-वियोजनरूप परामर्श विना अभिमत देश की प्राप्ति कैसे होगी। इस प्रकार शीघ्रगति में ग्रहण करने और बाँचने इत्यादि में मानना होगा। यहाँ पर विशेषरूप से स्थान-मूर्ध, ताल्वादि, करण, आक्रमण आदि का योग रहता है। [यदि सर्वत्र नीलादि] ज्ञान में शब्द है तो किञ्चित भी निर्विकल्पक सिद्ध हुआ, वैसा ही क्यों अवतरिका में दिया है? [या तु निर्विकल्पक रूपा] इत्यादि वाक्य से जो यह निर्विकल्पकरूप है इत्यादि कहा जाता है, वह तो दूसरे का ही ज्ञान है, उसके न रहने पर भी हमारा कुछ भी अनिष्ट होनेवाला नहीं होगा देखिये—इसीको मैं अब भली भाँति जानता हूँ एवं मैं करता हूँ, इसका यही संकुचित स्वरूप है जबकि नियति, काल, राग, अशुद्ध विद्या, कला, माया उन छः कंचुकों से भरा हुआ, प्रकाश स्वभाव उस पुरुष नाम धारी माया प्रमाता का है। 'सब कुछ देखता हूँ इस प्रकार का बुद्धि-इन्द्रिय विशेष व्यापार वर्ग में जो अनुयायी है' मैं जानता हूँ, व्यापाररूप उसमें जो करण सामान्य रूप अशुद्ध विद्यावत्त्व है वह किञ्चित् भी स्वतन्त्र नहीं है अपि तु वह तो परमेश्वर की ही शक्ति है। जब कि उसके पीछे होनेवाली भावी स्थूल विकल्प की कल्पना ज्ञात नहीं होती है, इसलिए त्वरितत्त्व यह सूक्ष्म विमर्श से संवर्तित शब्द भावना से युक्त होना चाहिए। वह संवर्तितता ही शब्दता है जब कि प्रसारण = फैलने से स्थूल-विकल्प बन जाती है, जैसे 'इदम्' इसका फैलाव घट शुक्ल है इत्यादि रूपों में हो जाता है, उस घटादि का भी फैलाव पृथुबुध्नोदर आकार शुक्लत्व जाति से युक्त होकर गुण-समवायरूप हो जाना इत्यादि। यहाँ पर धावु-धातु गति की शक्ति अर्थ में पढ़ी गयी है। इसलिए धावु धातु त्वरित गति में अपनी शक्ति सामर्थ्य से प्रवृत्त होती है ॥ १९ ॥

ठीक है, इस प्रकार सूक्ष्म विमर्श प्रकाश शरीर में आविष्ट होकर रहता है। जहाँ पर स्थूल [अध्यवसाय] रूप से विकल्परूपता प्रस्फुट होती है वहाँ पर शब्द नीलादि पदार्थ की भाँति ही भिन्नरूप में प्रतिभासित होने लगता है—जैसा कि यह नील है, वह प्रकाश स्वरूप से अभिन्नरूप

१. मूर्ध, ताल्वादि स्थान और जिह्वाग्रादि भाग करणेन्द्रिय इन दोनों के परस्पर संस्पर्श हो जाने पर ही वर्णों की निष्पत्ति होती है।

स्यात्, शब्दात्मा च विमर्शः, स च तत्र मायात्मके भेदपदेऽपि प्रकाशापृथग्भूतो भवद्भिः इष्टः, तत् एतत् कथं प्रतिपत्तव्यम् ?, इत्याशङ्क्याह—

घटोऽयमित्यध्यवसा नामरूपातिरेकिणी[1] ।
परेशशक्तिरात्मेव भासते न त्विदन्तया ।। २० ।।

केन एतत् उक्तम्—घट इति यः स्थूलः शब्दः स प्रकाशजीवितस्वभावो विमर्श इति । सोऽपि हि स्थूलः शब्दोऽर्थवत् पृथग्भूत एव भाति । तौ नामरूपलक्षणौ शब्दार्थौ एकरूपतया 'सोऽयम्' इत्येवंरूपत्वेन परामृशन्ती अध्यवसायशक्तिः या, सा परमेश्वरशक्तिः विमर्शरूपा आत्मवत् एव अहमित्यनवच्छिन्नत्वेन भाति, न तु कदाचित् इदन्तया—विच्छिन्नत्वेन भाति, विच्छिन्नत्वेन अवभासे परप्रतिष्ठत्वात् पुनर्विमर्शान्तरेण भाव्यम्, तत्रापि एवम् इति अनवस्था, अतो नीलस्य प्रकाशनमेव न स्यात्—प्रतिष्ठालाभाभावात् । तस्मात् 'सर्व एव विमर्शः प्रकाशात् अविच्छिन्न एव' इति । अध्यवसा इति, 'आतश्चोपसर्गे (पा० अ० ३-३-१६) इत्यङन्तः स्त्रियाम् ।। २० ।।

में कैसे भासित होगा, और वह शब्द विमर्शरूप में भासता है तो इसका मायात्मक भेदवाले संसार में भी प्रकाश से अभिन्नरूप में होकर भासना आपको भी अभीष्ट है, इसको कैसे जानना चाहिए ? इस प्रकार आशंका कर उत्तर देते हैं—

वही यह घट है ऐसा जो अध्यवसाय [ज्ञान] नाम [घट] एवं रूप [पृथुबुघ्नोदर आकार] से व्यतिरिक्त है। वही परमेश्वरकी शक्ति आत्मा के समान 'अहम्' इस अनवच्छिन्नरूप से भासती है 'इदम्' परिच्छिन्नरूप से नहीं भासती ।। २० ।।

यह किसने कहा है—जो यह 'घट' स्थूल शब्द है वह प्रकाश जीवित स्वभाववाला विमर्श है। वह भी स्थूल शब्द के अर्थ की भाँति भिन्नरूप से ही भासता है उन नाम एवं रूप लक्षणवाले शब्दार्थ को जो एक [सोऽयम्] रूप से परामर्श न करनेवाली अध्यवसाय-शक्ति है, वह विमर्शरूप परमेश्वर की शक्ति आत्मा की जैसी अभेदभावपूर्वक 'अहम्' अनवच्छिन्नरूप से भासती है, वह कभी भी 'इदन्तया' अर्थात् विच्छिन्नरूप से नहीं भासती है। विच्छिन्नरूप से आभासित होनेपर तो अन्य प्रकाश की अपेक्षा रखनी पड़ती है दूसरे के प्रकाश से प्रकाशित होनेवाला अप्रतिष्ठित कहलाता है, विच्छिन्न स्वतः प्रकाशित न होने के कारण अप्रतिष्ठित है, विमर्श के बिना होना असम्भव ही है वह भी किसी अन्य से, इस प्रकार अनवस्था हो जायेगी, इसलिए नील का प्रकाशन ही नहीं होगा, क्योंकि प्रतिष्ठान = सभी संवेदन ज्ञानों को प्रकाशित करने का सामर्थ्य नील में नहीं है। इसी कारण सब विमर्श प्रकाश से अविच्छिन्न ही है। 'अध्यवसा' यह प्रयोग 'आतश्चोपसर्गे' [३-३-१०६] इस पाणिनीय सूत्र के द्वारा 'अङ' स्त्रीलिङ की विवक्षा में 'टाप्' होकर निष्पन्न हुआ है ।। २० ।।

---

१. अध्यवसायरूप ज्ञान ही भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकाशमान होनेवाले [घटादि] नाम एवं रूपादि से व्यतिरिक्त चिति-शक्ति ही आत्मरूप में अभिन्न होकर भासती है।

ननु एवं सर्वस्यैव ज्ञानकलापस्य अहमित्येव प्रतिष्ठाने वेद्यभूमिस्पर्शो नास्ति वेद्यभुवि च देशकालयोगः न तु वेदकांशे देशकालयोगाभावे च यत् इदं ज्ञानानां स्वांशापेक्षया ज्ञानान्तरापेक्षया च सक्रमत्वं लक्ष्यते तत् कथं स्यात्, क्रमाभावे च एकत्वमेव वस्तुतो भवेत्, ततश्च 'ज्ञानस्मृत्यादिशक्तिभिस्तद्वान् परमेश्वरः' इति यत् उक्तं तत् कथं निर्वहेत् ? इत्याशङ्कां शमयन् पूर्वोक्तमुपसंहरति—

केवलं भिन्नसंवेद्यदेशकालानुरोधतः ।
ज्ञानस्मृत्यवसायादि सक्रमं प्रतिभासते ॥ २१ ॥

सत्यम् एवम्—अक्रममेव संवित्तत्वम्, किन्तु स्वशक्तिवशात् भिन्नत्वेन भासितानि यानि वेद्यानि[2] तेषां मूर्तिभेदकृतो यो दूरादूरवैतत्यावैतत्यादिः देशः, क्रियाभेदकृतश्च चिरशीघ्रक्रमादिरूपः कालः, तौ अनुरुध्य—च्छायामात्रेण अवलम्ब्य, ज्ञान-स्मरणाध्यवसायानां स्वांशा इव भान्ति, निरंशानामपि तद्भासमानांशकृतश्च सक्रमत्वावभासः परस्परापेक्षया स्वांशापेक्षया च, यद्यपि

अब प्रश्न करते हैं कि सब ज्ञान का यह 'अहम्' परामर्शन ही जीवन है और जब वेद्यभूमि से उस परामर्श का स्पर्श ही नहीं है एवं देश-काल का योग वेद्यभूमि में रहता है, इस प्रकार वेदक के अंश में देश-काल का योग न रहने से तो ज्ञानों का अपने अंश की अपेक्षा से अथवा अन्य ज्ञानों की अपेक्षा से सक्रमता दीख पड़ती है वह कैसे बैठेगी ? क्रम के अभाव में वस्तुतः एकत्व ही रहेगा। 'ज्ञान स्मृत्यादि शक्तिभिस्तद्वान् परमेश्वरः' अर्थात् ज्ञान, स्मृति आदि शक्तियों से युक्त परमेश्वर कैसे होगा ? इस शंका का समाधान करते हुए पूर्वमें कहे गये का ही उपसंहार करते हैं—

केवल भिन्न-भिन्न देश एवं काल के संवेद्य के अनुरोध से ज्ञान, स्मृति, अध्यवसायादि क्रम से प्रतिभासित होते हैं ॥ २१ ॥

ठीक ही है, संवितत्त्व अक्रम ही रहता है, किन्तु अपनी माया-शक्ति के बल से भिन्न-भिन्न रूपों में भासित होनेवाले जितने भी वेद्य पदार्थ हैं उनके मूर्त्ति भेदकृत् जो दूर-समीप और संकुचित-विस्तृत-विशाल इत्यादि देश भेद और क्रिया भेद से होनेवाले शीघ्र-विलम्ब इत्यादि जो काल-भेदादि इन्हीं दोनों भेदों को छायामात्र मान लेने पर ज्ञान, स्मृति एवं अध्यवसाय इनके अपने-अपने अंश मालूम होते हैं, निरंशों में भी आभास अंश से सक्रमत्व का अवभास परस्पर

१. चिद्रूप की माया-शक्ति के द्वारा घटादि संवेद्य विषय उस-उस देश-कालादि से भिन्न होकर प्रकाशित होते हैं। जिसका अभेद से आक्रान्त होने पर विभिन्न देश कालादिरूप से ज्ञान, स्मृति-शक्ति इत्यादि अवभासित होने लगती है।

२. चिति-शक्ति से वेद्य विषय भिन्नरूप में भासते हैं। देश-काल को लेकर उपलक्षण कहा गया है। स्फुट और अस्फुटरूप से सम्बन्ध का ज्ञान, स्मरण, संकल्पादि भेद अन्तरंग कहलाते हैं उसमें भी नील ज्ञान, पीत ज्ञान यह उस से भी अन्तरंगतर है, नील ज्ञान में भी सुख, दुःख, संवदेन इत्यादि का भेद अन्तरंगतर है। यह चिरकालीन ज्ञान एवं त्वरित ज्ञान यह बहिरंग है। यह पूर्व में ज्ञान हुआ, यह बाद में ज्ञान हुआ यह बहिरंगतर है, मच्छर का ज्ञान सूक्ष्म है हाथी का ज्ञान स्थूल होता है, यह बहिरंगतर भेद कहलाता है। अतः प्रधान वस्तु के कारण ज्ञान का भेद हो जाता है।

कालक्रम एव स्फुटो विज्ञानेषु भाति न देशक्रमः, तथापि विमूढस्य पर्वतसंवेदनं विततमिव बदरसंवेदनं च सूक्ष्ममिव भाति—इति देशक्रमोऽपि दर्शितः, तेन वेद्यगतक्रमस्वीकाराभासात् सक्रमत्वम् आभासमानमपि न अपारमार्थिकम्—आभासमानस्य परमार्थत्वात्, ततश्च युक्तमुक्तम् 'ज्ञानादयोऽस्य भगवतः शक्तय' इति। 'मायाशक्त्या विभोः'। इति श्लोकेन स्वरूपवैचित्र्यं ज्ञानानां दर्शितम्। अनेन तु देशकालवैचित्र्यम्—इति विशेषः। इति शिवम्॥ २१॥

इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तविरचितायामीश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्रविमर्शिन्यां
प्रथमे ज्ञानाधिकारे ज्ञानशक्तिनिरूपणं नाम पञ्चममाह्निकम्।

•

अथ प्रथमे ज्ञानाधिकारे ज्ञानशक्तिनिरूपणाख्यं
षष्ठमाह्निकम्

स्वात्माभेदघनान्भावांस्तदपोहनटङ्कतः ।
छिन्दन्यः स्वेच्छया चित्ररूपकृत्तं स्तुमः शिवम्॥

एवं स्मृतिशक्तिर्ज्ञानशक्तिश्च निरूपिता। अथ तदुभयानुग्राहिणी अपोहनशक्तिर्वितत्य श्लोकैकादशकेन 'अहं प्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मा' इत्यादिना 'सिद्धे सर्वस्य जीवतः' इत्यन्तेन निर्णीयते। तत्र श्लोकेन 'प्रत्यवमर्शे अविकल्पो विशेष' इति सूच्यते। ततः श्लोकेन। 'शुद्धेऽहं-प्रत्यवमर्शेऽपोहनव्यापारासंभव' उच्यते। ततः 'स्वदृष्टावेव तदुपपत्तिः' इति श्लोकेन। ततोऽपि

अपेक्षा से और अपने अंश की अपेक्षा से होते हैं, यद्यपि कालक्रम ही स्पष्टरूप से विज्ञानों में भासता है, देशक्रम नहीं भासता, फिर भी विमूढ लोगों को पर्वत का संवेदन-ज्ञान विस्तृत = विशाल सा लगता है और बेर-फल का ज्ञान सूक्ष्म-छोटा सा लगता है, इस प्रकार देशक्रम भी बता दिया, इसलिए वेद्यगत क्रम के स्वीकार के अभ्यास से सक्रमत्व होता है, आभासित होने-वाले पदार्थ भी अपारमार्थिक नहीं है किन्तु आभासमान का स्वरूप पारमार्थिक ही है, इसीलिए सत्य ही कहा है कि 'ज्ञानादयोऽस्य भगवतः शक्तयः' अर्थात् ज्ञान, स्मृति, अध्यवसायादि भगवान् की ही शक्तियाँ है। 'मायाशक्त्या विभोः।' प्रभु की माया-शक्ति से भेद होता है इस प्रकार श्लोक से ज्ञान, स्मृति, संकल्प, अध्यवसायादि के स्वरूप वैचित्र्य दिखा दिये और इससे देश-काल का वैचित्र्य भी ज्ञात हो जाता है॥ २१॥

पञ्चम आह्निक समाप्त

जो अपने आत्मा में अभिन्नरूप से रहनेवाले पदार्थ-भावों को लुप्त होने से रोकते हुए अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा चित्र-विचित्ररूप बनाते हैं, ऐसे शिव की हम स्तुति करते हैं।

इस प्रकार स्मृति-शक्ति और ज्ञान-शक्ति का निरूपण कर दिया गया। अब उन दोनों पर अनुग्रह करनेवाली अपोहन-शक्ति का विस्तारपूर्वक ग्यारह श्लोकों से 'अहं प्रत्यवमर्शो यः प्रका-शात्मा' इत्यादि से लेकर 'सिद्धे सर्वस्य जीवतः' यहाँ तक निर्णय करते हैं। प्रथम श्लोक से 'प्रत्यवमर्शे अविकल्पो विशेषः' प्रत्यवमर्श में विकल्प नहीं होता है यही विशेषता सूचित होती है। उसके पश्चात् 'शुद्धेऽहं प्रत्यवमर्शेऽपोहनव्यापारसम्भवः' अर्थात् 'अहम्' इस शुद्धप्रत्यवमर्श में व्यापार का होना संभव नहीं है यह कहा जाता है। अनन्तर एक श्लोक से 'स्वदृष्टावेव तदुपपत्तिः'

द्वयेन। 'अशुद्धस्याहमित्यवमर्शस्य विकल्परूपता'। ततः श्लोकेन 'अनुसंधानस्यापि विकल्परूपता'। एवं 'भूतानुसंधानादिरूपमेव परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वम्' इति श्लोकेन। ततः 'प्रकृते चिदात्मन्यर्थावभासस्य सत्तोपसंह्रियते' श्लोकेन। ततो द्वयेन 'तस्यैवार्थावभासस्यानुभवस्मरणादौ वैचित्र्यमुच्यते, तदुक्तिश्च प्रकृतायामीश्वररूपस्वात्मप्रत्यभिज्ञायामुपयुज्यते' इति श्लोकेन। इत्याह्निकस्य तात्पर्यार्थः।

अथ ग्रन्थार्थो व्याख्यायते—उक्तमिदं 'स्वभावमवभासस्य विमर्शं……।' इति, तत्र विमर्शोऽभिलापात्मना शब्देन योजित एव, तद्योजनाकृतं च विकल्परूपत्वं शुद्धेऽपि परमेश्वरे प्राप्तं, न चैतदिष्टं—तस्य संसारपदे मायात्मन्युपपत्तेः—इत्याशङ्क्याह—

अहं प्रत्यवमर्शो यः प्रकाशात्मापि वाग्वपुः।
नासौ विकल्पः स ह्युक्तो द्वयाक्षेपी विनिश्चयः॥ १॥

प्रकाशस्य विशुद्धसंविद्रूपस्य देहादिसंस्पर्शैरनाबिलीभूतस्य यः आत्मा जीवितभूतः सारस्वभावो विच्छेदशून्योऽन्तरभ्युपगमकल्पोऽनन्यमुखप्रेक्षित्वस्वातन्त्र्यविश्रान्तिरूपः 'अहमिति' प्रत्यवमर्शः असौ विकल्पो न भवति, विकल्पत्वाशङ्कायां बीजं दर्शयति—वाग्वपुरपीति। विषयरूपात्

कहेंगे। फिर दो श्लोकों से 'अशुद्धस्याहमित्यवमर्शस्य विकल्परूपता' अपने दर्शन का सिद्धान्त स्थिर करेंगे। तब एक श्लोक से 'अनुसंधानस्यापि विकल्परूपता' एवंभूतानुसंधानरूपमेव परमेश्वरस्य सृष्टृत्वम्' यह कहेंगे कि तरह-तरह के अनुसन्धान करना—यही परमेश्वर की सृष्टि है। उसके बाद 'प्रकृते चिदात्मन्यर्थावभासस्य सत्तोपसह्रियते' इसी प्रसंग के अन्तर्गत चिदात्मा में अर्थावभास की सत्ता का उपसंहार करेंगे। तब दो श्लोकों से 'तस्यैवार्थावभासानुभव स्मरणादौ वैचित्र्यमुच्यते, तदुक्तिश्च प्रकृतायामीश्वररूपस्वात्मप्रत्यभिज्ञायामुपयुज्यते' उसीका अर्थ अवभास के अनुभव, स्मरण आदि में विचित्रता बतायेंगे और प्रसंग से प्राप्त अपनी ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा में उसकी उक्ति का उपयोग होता है—यह श्लोक से कहेंगे। यही इस आह्निक का अभिप्राय है।

अब ग्रन्थ के अर्थ की व्याख्या करते हैं—यह कहा गया है कि 'स्वभावमवभासस्य विमर्श……।' अर्थात् विमर्श को अभिलापरूप शब्द से जोड़ दिया गया है, उस योजना से प्राप्त विकल्परूप शुद्ध परमेश्वर में भी मिलता है किन्तु यह ठीक नहीं है; क्योंकि मायामय संसार में उसकी उपपत्ति बैठती है, इस प्रकार आशङ्का कर उत्तर में कहते हैं—

जो अहं प्रत्यवमर्श प्रकाशरूप वाणी का स्वरूप है। वह विकल्प नहीं है, वह तो द्वित्व की अपेक्षा रखनेवाला आत्मसाररूप निश्चय है॥ १॥

जो विशुद्ध संविद्रूप प्रकाश है उसका देहादि संस्पर्श-सम्पर्क से नहीं बिगड़नेवाला जीवन है; आत्मा के सारस्वभाव, विच्छेदशून्य, भीतरी प्राप्ति के समान, किसी अन्य की अपेक्षा न रखनेवाला, अपसे में विश्रान्ति लेनेवाला अहं इस रूप का परामर्श है—वह विकल्पित नहीं होता है, अर्थात् अहं प्रत्यवमर्श में विकल्प नहीं होता है; विकल्परूप की शङ्का में बीज का अभाव दिखाते हैं—'वाग्वपुरिति'। क्योंकि श्रोत्र के द्वारा ग्रहण होनेवाला शब्दरूप विषय से दूसरा ही अन्तः-

श्रोत्रग्राह्यात् शब्दादन्य एव अन्तरवभासमानः संविद्रूपावेशी शब्दनात्माभिलापोवागित्यनेनोक्तः–वक्ति अर्थं स्वाध्यासेन सोऽयमित्यभिसम्बन्धेन, यदि वाग्वपुः—कस्मान्न विकल्पः ? आह—नह्यस्य विकल्पलक्षणमस्ति, तथाहि—विविधा कल्पना विविधत्वेन च शङ्कितस्य कल्पोऽन्यव्यवच्छेदनं विकल्पः, विविधत्वं च वह्नावनग्निसंभावनासमारोपनिरासे सति भवत्, द्वयं वह्न्यवह्निरूपमाक्षिपति, तेन विकल्पेऽवश्यं तच्च निश्चेतव्यम्—अतश्च व्यपोहितव्यं भवति ॥ १ ॥

तथा च—

भिन्नयोरवभासो हि स्याद्घटाघटयोर्द्वयो ।
प्रकाशस्येव नान्यस्य भेदनस्त्ववभासनम् ॥ २ ॥

घटे हि दृष्टे घटस्थान एवाघटोऽपि योग्यदेशाभिमतस्थानाक्रमणशीलो विज्ञानजनकः स्वकारणोपनीतः संभाव्यते पटादिस्वभावः, अतो घटाघटयोर्द्वयोरवभासस्य संभावनात् समारोपः सावकाशीभवति, अघटस्य सत्यारोपे निषेधलक्षणोऽपोहनव्यापारः—इति तदनुप्राणिता विकल्परूता घट इत्येतस्य निश्चियस्य, 'लिङ् संभावनायाम्'। यस्त्वयं प्रकाशो नाम तस्य स्थाने यः संभाव्यते स तावदप्रकाशरूपो न भवति—तुल्यकक्ष्यस्य हि संभावनं भवति, न च यत्प्रकाशेन कर्तव्यं तदप्रकाशस्य कदाचित् दृष्टं—संभावनारोपणादिबलादेव च अस्याप्रकाशरूपत्वं विघटेत,

करण में भासता हुआ, संविद्रूप में बैठा हुआ शब्दनारूप अभिलाप वाणी शब्द से कहा गया है अपने अध्यास से वही यह है—इस सम्बन्ध से यदि वचन = वाणी का स्वरूप है तो क्यों नहीं विकल्प होगा ? उत्तर देते हैं—इसका विकल्परूप नहीं है, क्योंकि अनेकरूप से अनेक प्रकार की कल्पना और शङ्का से युक्त कल्पना मान लेने पर दूसरे से व्यवच्छेद करना विकल्प कहलाता है, और विविधता क्या वस्तु है ? उसे कहते हैं—अग्नि में यह अग्नि नहीं है, इस सन्देह को दूर कर देने पर वह्नि-अवह्निरूप द्वित्व को आक्षेप करना और उस हेतु से विकल्प में द्वित्वरूप का निश्चय करना होगा। इससे क्या जोड़ेंगे और क्या विभक्त करेंगे एवं क्या हटायेंगे और क्या शङ्का करेंगे—यही कहना पड़ेगा। विकल्प में द्वित्व का समर्थन करता है ॥ १ ॥

जब घट और घट से भिन्न इन दो भिन्न पदार्थों का अवभास होता है। तब प्रकाश के जैसा अन्य भेद करनेवाले पदार्थ का अवभासन नहीं होता है ॥ २ ॥

जबकि घट के दर्शन होने पर उसी की जगह घट से भिन्न योग्य देश के अभिमत स्थान को आक्रमण करनेवाला विज्ञानजनक अपने कारण से प्राप्त किया गया पटादि स्वभावक आलोक भी सम्भव रहता है, इसलिए घट और अघट दोनों के अवभास की सम्भावना घट में घटभिन्न के आरोप की सम्भावना उपस्थित हो जाती है, घट से भिन्न का आरोप होने पर निषेधरूप अपोहन व्यापार होता है इस प्रकार अपोहन व्यापार से अनुप्राणित होकर घट की विकल्परूपता का निश्चय हो जाता है, 'स्यात्' इस वाक्य में जो 'लिङ्' लकार किया है वह सम्भावना अर्थ में है। किन्तु जिसको आप प्रकाश करते हैं उसके स्थान पर जिसकी सम्भावना की जाती है, वह अप्रकाश नहीं हो सकता; क्योंकि समान स्वरूपवाले की ही सम्भावना होती है, प्रकाश जिस कार्य को करता है वह अप्रकाश भी करे ऐसा कहीं देखा गया है ? सम्भावना के आरोपण के बल से ही इस अप्रकाश का विघटन हो सकता है, इसलिए प्रकाश के तुल्य अप्रकाशरूप उसी के सदृश

अतः प्रकाशतुल्यस्यान्यस्याप्रकाशरूपस्य भेदिनस्तत्तुल्यकक्ष्यस्यापोहनात्मकभेदनव्यापारासहिष्णोरवभासनमेव नास्ति, तदभावे कस्यापोहनम् ? अवभाससंभवेऽपि प्रकाशरूपत्वमेव । न च प्रकाशस्य स्वरूपदेशकालभेदो—येन द्वितीयः प्रकाश एकस्मादपोह्येतेति, हीति—यस्मात् एवं, ततो द्वयाभावादपोहासंभवे विकल्परूपत्वाभावात् चिन्मात्रे परामर्शात्मनि अहमिति प्रत्यवमर्श एव, न तु विकल्पः ॥ २ ॥

ननु घटे परिनिष्ठितरूपे दृष्टे तद्दर्शनमुपजीवता विकल्पेन कथमघटस्य निषेधनं क्रियते, न ह्यघटस्य केनचिन्नामापि गृहीतम्, अघटवासनापि घटे दृष्टे कथंकारं प्रबुध्यताम् ? सत्यम्—एवं शाक्यः पर्यनुयोज्यो, न सु वयम्, यतः —

तदतत्प्रतिभाभाजा मात्रैवातद्व्यपोहनात् ।
तन्निश्चयनमुक्तो हि विकल्पो घट इत्ययम् ॥ ३ ॥

इह प्रमाता नाम प्रमाणादतिरिक्तः प्रमासु स्वतन्त्रः संयोजनवियोजनाद्याधारवशात् कर्ता दर्शितः, तस्य च प्रमातुरन्तः सर्वार्थावभासः, चिन्मात्रशरीरोऽपि तत्सामानाधिकरण्यवृत्तिरपि दर्पणनगरन्यायेनास्ति—इत्यपि उक्तम् । एवं च तत्प्रतिभां घटाभासम्, अतत्प्रतिभां च अघटाभासं प्रमाता भजते—सेवते तावत्, तदविकल्पदशायां चित्स्वभावोऽसौ घटः चिद्वदेव विश्वशरीरः पूर्णः,

भेद करनेवाला अपोहनरूप भेदन व्यापार को नहीं सहनेवाले का अवभासन नहीं होता है, उसके अभाव में किस का अपोहन होगा ? अवभास की सम्भावना होने पर भी प्रकाशरूपता ही रहती है और प्रकाश के स्वरूप में कोई देश-काल का भेद नहीं रहता है जिससे दूसरा प्रकाश एक से हटाया जा सके, 'हि' शब्द का अर्थ है कि जिससे ऐसा हो रहा है इसी कारण द्वित्व के अभाव से अपोहन की असम्भावना में विकल्परूप के अभाव से चिन्मात्र परामर्श में 'अहम्' यही परामर्श होता है, विकल्परूप से नहीं होता ॥ २ ॥

अब शङ्का करते हैं कि परिनिष्ठित, संकुचितरूप निर्विकल्प घट दशा के देखने पर उसके उपजीवित विकल्प के दर्शन से घट से भिन्न की निषेधता किस प्रकार करते हैं किसी ने अघट का नाम भी तो नहीं लिया है, घट से भिन्न की वासना के देखने पर कैसे प्रबुद्ध होगी ? ठीक है—इस विषय में बौद्धलोगों से ही पूछना चाहिए; हमसे मत प्रश्न करो, क्योंकि—

उसकी प्रतिभा को नहीं प्राप्त करनेवाले, प्रमाता के द्वारा ही उससे भिन्न को ओझल कर देने पर उससे निश्चय छूटा हुआ 'घटोऽयम्' ऐसा कहना ही विकल्प है ॥ ३ ॥

यहाँ पर प्रमाण से अतिरिक्त विषयों में जो स्वतन्त्र रहता है उसी को प्रमाता शब्द से कहा जाता है जो कि संयोजन-वियोजनादि के आधारभूत होने से कर्ता भी कहा गया है और उस प्रमाता के भीतर सम्पूर्ण अर्थ का अवभास होता रहता है, चेतन शरीरवाला होता हुआ भी दर्पण में प्रतिबिम्बित होनेवाली नगरी के समान चेतन आत्मा में सभी पदार्थ प्रतिबिम्बित रहते हैं—इस विषय में विचार हो गया है और ऐसी परिस्थिति में उसकी प्रतिभा घटाभास है और जिसमें उसकी प्रतिभा नहीं है उस अघटाभास को प्रमाता प्राप्त करता है अर्थात् घटाभास और घट से भिन्न पटादि के आभास को प्रमाता प्राप्त कर लेता है, आभास की अविकल्प दशा में

१. सदृश आदि की वासना ही कारण होती है ।

न च तेन केचिद्व्यवहाराः, तत् मायाव्यापारमुल्लासयन्पूर्णमपि खण्डयति भावं, तेनाघटस्यात्मनः पटादेश्चापोहनं क्रियते निषेधनरूपं, तदेव व्यपोहनमाश्रित्य तस्य घटस्य निश्चयनमुच्यते 'घट एव' इति—एवार्थस्य संभाव्यमानापरवस्तुनिषेधरूपत्वात्, एष एव परितश्छेदात्तक्षणकल्पात् परिच्छेदः, हीति—यत एवं, तस्मात् युक्तं 'द्वयाक्षेपी विकल्प' इति पूर्वश्लोकोक्ते वस्तुद्वये श्लोकद्वयेन हेतू क्रमेणोक्तौ, यस्मादेवं विकल्पः ततोऽहमिति शुद्धो विमर्शः न विकल्पः—इति श्लोकत्रयेण महावाक्यार्थः। शाक्यैरपि प्रमातुरेवायं व्यापार उक्तः 'एकप्रत्यवमर्शाख्य' इत्यत्र 'प्रपत्तेति स्वयमिति' च वदद्भिः, स त्वेतैः कथं समर्थ्यः—इत्यास्तामेतत् ॥ ३ ॥

नन्वेवमहमित्यपि प्रत्यवमर्शेऽनहंरूपस्य घटादेः प्रतियोगिनोऽपोहनीयस्यापोहे विकल्परूपता कथं न स्यात्? इत्याशयेनाह—

चित्तत्त्वं मायया हित्वा भिन्न एवावभाति यः।
देहे बुद्धावथ प्राणे कल्पिते नभसीव वा ॥ ४ ॥
प्रमातृत्वेनाहमिति विमर्शोऽन्यव्यपोहनात्।
विकल्प एव स परप्रतियोग्यवभासजः ॥ ५ ॥

चित्स्वभाववाले चिदात्मा के जैसा विश्वशरीररूप होता हुआ भी पूर्ण रूप में रहता है और उसके विकल्परूप होने के कारण कोई भी व्यवहार नहीं होते हैं इसी कारण मायाव्यापार को उद्वुद्ध करते हुए विश्वशरीर भी प्रमाता पदार्थ को खण्डित कर देते हैं, अघट का जो स्वरूप पटादि है उसका अपोहन अर्थात् निषेध कर देना, उसी निषेधरूप पट को आश्रय करके घट का 'घट एव' शब्द से निश्चयन कहा जाता है। यही अपट वस्तु का निषेधरूप होने से 'एवं' अर्थ की सम्भाव्यमानता कही जाती है, चारों तरफ से हटा देने के कारण परिच्छेद कहा जाता है, 'हि' शब्द हेतु अर्थ में है, इसलिए पूर्व श्लोक से प्रत्यवमर्श विकल्परूप में कहा गया है 'द्वयापेक्षी विकल्पः' दो वस्तुओं की अपेक्षा रखनेवाला विकल्प होता है। दो श्लोकों के क्रम से दो हेतु कहे गये हैं, क्योंकि ऐसा विकल्प है इसलिए अहं यह विमर्श है, विकल्प नहीं है—तीन श्लोकों से महावाक्यार्थ लक्षित होता है। बौद्धों द्वारा भी यही कहा गया है कि यह प्रमाता का ही व्यवहार है 'एकप्रत्यवमर्शाख्यः' [एक प्रत्यवमर्शाख्ये ज्ञाने एकत्र हि स्थितः। प्रपत्ता तदतद्धेतून् भावान् विभजते स्वयम् ॥ आचार्य धर्म कीर्ति का कथन है कि "एक परामर्श संज्ञक ज्ञान में एक जगह ही स्थित हुआ प्रमाता उस हेतु के और उससे भिन्न पदार्थ भावों को स्वयं विभक्त करता है।"] उसका ये लोग कैसे समर्थन करेंगे इसलिए इसे छोड़ दो, अप्रासङ्गिक है ॥ ३ ॥

अब शंका करते हैं कि अहं इस परामर्श में अनहंरूप घटादि प्रतियोगीरूप अपोहनीय है इसके अपोहन में विकल्परूपता क्यों नहीं होगी? इस अभिप्राय से कहते हैं—

माया-शक्ति के द्वारा चित्तत्त्व को छिपा करके जो भिन्न-भिन्न रूपों से देह, बुद्धि और प्राण में आकाश के समान कल्पित होते हैं ॥ ४ ॥

ऐसा होने पर दूसरों को हटाने के कारण प्रमातारूप से अहं यह विमर्श अन्यप्रतियोगी के अवभास से उत्पन्न हुआ विकल्प ही है ॥ ५ ॥

अहमित्यवमर्शो द्विधा—शुद्धो मायीयश्च, तत्र शुद्धो यः संविन्मात्रे विश्वाभिन्ने विश्वच्छायाच्छुरितस्वच्छात्मनि वा। अशुद्धस्तु वेद्यरूपे शरीरादौ। तत्र शुद्धेऽहं-प्रत्यवमर्शे प्रतियोगी न कश्चिदपोहितव्यः संभवति—घटादेरपि प्रकाशसारत्वेनाप्रतियोगित्वेनानपोह्यत्वात्, इत्यपोह्यत्वाभावे कथं तत्र विकल्परूपता। अशुद्धस्तु वेद्यरूपे शरीरादौ अन्यस्माद् देहादेर्घटादेश्च व्यवच्छेदेन भवन् विकल्प एव–इति वाक्यार्थः। अक्षरार्थस्तु—चित्तत्त्वं प्रकाशमात्ररूपं हित्वा सदप्यपहस्तनया अप्रधानीकृत्य भिन्ने देहादावहमेव देहादिः नीलादौ प्रमेये प्रमाता—इत्यभिमानेन 'योऽहं स्थूल' इत्यादिविमर्शः स विकल्प एव, न तु शुद्धं प्रत्यवमर्शमात्रम्। अत्र हेतुः—परो द्वितीयो देहादिघंटादिश्च यः प्रतियोगी तुल्यकक्ष्योऽन्योन्यपरिहाराच्च विरुद्धस्तस्य योऽवभासः–समारोपणलक्षणः, तस्माद्यतोऽसौ तन्निषेधानुप्राणितोऽहमित्यवमर्शो जातः 'अहं स्थूलो, न कृशो, न घटादिः' इति शुद्धप्रकाशरूपस्य अपहस्तनमेव देहादेर्भेदे हेतुः, तदपहस्तने तु परमेश्वरस्य स्वात्मप्रच्छादनेच्छारूपाभेदाप्रकाशनं भ्रान्तिरूपं प्रति स्वातन्त्र्यरूपा मायाशक्तिर्हेतुः, चिद्रूपस्य चापहस्तनं देहादेरेव अत्यक्तवेद्यभावस्य भिन्नस्यैव उपपत्तिशून्यतयैव प्रमातृताभिमानः।

अहम् विमर्श दो प्रकार का है—एक तो शुद्ध है दूसरा मायीय है, इसमें शुद्ध विमर्श यह है कि जिस ज्ञानरूप चिन्मात्र में अभिन्न एकरूप से सारा विश्व प्रतिफलित होता है अथवा स्वच्छ सदाशिव चिदात्मा की दशा में झलकता रहता है। अशुद्ध मायीय विमर्श वेद्यरूप शरीरादि में रहता है। जो शुद्ध अहम् विमर्श है उसमें तो कुछ हटाने योग्य नहीं रहता है और घटादि के प्रतियोगी न होने से कोई अपोह्य का विषय भी नहीं रहता, जब अपोह्य ही नहीं रहेगा तो विकल्परूपता कैसे बनेंगी? किन्तु अशुद्ध मायीय वेद्यरूप देहादि में तो परस्पर एक दूसरे से भिन्न होने के कारण विकल्पता वनी ही रहती है। यह तो वाक्यार्थ हुआ अब अक्षरार्थ बतलाते हैं—जो प्रकाश मात्ररूप चित्तत्त्व है उसे छोडकर प्राणादि पुर्यंष्टक में रखता हुआ अपने को अप्रधान बनाकर अपने से भिन्न देह, बुद्धि और प्राणादि में, 'मैं' ही देहादि एवं नीलादि विषय का प्रमाता हूँ इस प्रकार अभिमान करता हुआ, स्थूलरूप में मेरा ही रूप है, इस प्रकार का विमर्श ही विकल्प कहलाता है, शुद्ध परामर्श में ऐसा नहीं होता है। क्यों नहीं है? इसमें हेतु बताते हैं—दूसरा देहादि एवं घटादि बराबर के प्रतियोगी आपस में एक-दूसरे का परिहार करने से विरुद्ध है उसका जो अवभास समारोपरूप है, उससे जो भिन्न निषेध करनेवाला अहंविमर्श उत्पन्न होता है। जिसका शुद्ध स्वरूप है कि मैं स्थूल हूँ, मैं कृश नहीं हूँ, मैं घटादि भी नहीं हूँ इत्यादि, शुद्ध प्रकाशरूप का हटा देना ही देहादि के भेद में हेतु है, उससे हटा देने में तो अपने स्वरूप को छिपाने की इच्छा होने से अभेद का प्रकाशन नहीं करने देने में भ्रान्तिवाले पदार्थों के विषय में तो भगवान् की अपनी स्वातन्त्र्यरूप माया-शक्ति ही मुख्य कारण है, चिद्रूप को छिपाना एवं देहादि अत्यक्त वेद्यभाव के भिन्न को उपपत्ति की शून्यतारूप से प्रमातृता का अभिमान करना है।

१. देहादि की वासना की अपेक्षा से प्राण श्रेष्ठ होता है, संकल्प-विकल्प करना अन्तःकरण का धर्म है, जिसके अनुग्रह से चित्तत्व की प्राप्ति हो जाती है, उसका प्राण अधिष्ठेय बन जाता है, उसी प्रकार संवितत्त्व अधिष्ठित प्राण के द्वारा बुद्धिरूप पुर्यष्टक के सहारे शरीर अधिष्ठित रहता है। इसलिए चेतना स्वातन्त्र्य-शक्ति ही इसकी अधिष्ठातृ है, इस विषय में कहा भी है—

तथा च—देहाभिमानभूमिकायां स्थिताश्चार्वाकाः 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' इति कायमेव प्राधान्येनाहुः—स्त्रीबालमूर्खाणां तथाभिमानात्। ततोऽपि विवेकवन्तः पाकजोत्पत्ति-परिणामादिबलादस्थिरं शरीरं मन्वानाः प्राणशक्तिसमधिष्ठानेन च विना विकारशतावेशं

जैसा कि—चार्वाकादि नास्तिक लोग देहाभिमान भूमिका में रहते हैं। अलग-अलग मदिरा सम्बन्धी द्रव्य जबतक एक दूसरे से नहीं मिलते हैं तबतक उसमें मद-शक्ति नहीं आती है मिलते ही मदिरा में मद-शक्ति उत्पन्न हो जाती है, उसी प्रकार अलग-अलग भूत चैतन्य से रहित हैं वे जब आपस में एक दूसरे से मिल जाते हैं तब स्वाभाविक उसमें हलन-चलन करने की शक्ति आ जाती है, इसलिए चैतन्य की कल्पना केवल भ्रान्ति ही है। 'चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः' यही चार्वाकों का सिद्धान्त है। शरीर को ही प्रधानता देते हैं। स्त्री, बालक और मूर्ख लोगों का भी वैसा ही अभिमान होता है। कुछ वेदान्ती लोग शरीर का उत्पन्न होना, बढ़ना-घटना एवं विनष्ट हो जानेवाले दोषों से शरीर का अस्थिर मानते हुए तथा प्राण-शक्ति के न रहने के

प्रकाशरूपो भगवान्प्राणाधिष्ठान उच्यते।
प्राण एवाधरो धर्मो हंसश्चेति त्रिवाहनः॥

भगवान् प्रकाशात्मा ही प्राण का अधिष्ठान है—ऐसा कहा जाता है। अधिष्ठान का अधिष्ठेय प्राण ही आत्मा का धर्म है अर्थात् अधिष्ठान और अधिष्ठेय तथा इन दोनों का जो ज्ञान है वही त्रिवाहन है।

अत एव गीता में भी भगवान् ने इसका उल्लेख किया है—

शरीरं यद्वाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयत्॥

जैसे वायु सूक्ष्म गन्ध के परमाणु-रेणुको गन्ध के स्थान से ग्रहण कर ले जाता है, उसी प्रकार शरीर धारियों का स्वामी जीवात्मा भी जिस शरीर को पहले त्यागता है, उससे मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके दूसरे नये शरीर में ले जाता है।

संविद्रूप ईश्वर प्राण-पुर्यष्टक के अधिष्ठान द्वारा शरीर को धारण किये रखते हैं—यह बात स्पन्दशास्त्र में भी श्री गुरुवर्यने कही है—

यतः करणवर्गोऽयं विमूढोऽमूढवत्स्वयम्।
......................प्रवृत्तिस्थितिसंहृतीः॥
लभते.................................... । इत्यत्र
संहान्तरेण चक्रेणेति...................... ।

जिसके सामर्थ्य बल से ही, अनन्त-शक्ति चक्र के साथ-साथ उस बाह्य जड इन्द्रियों को भी चेतन की जैसी शक्ति सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है जिससे स्वतन्त्र होकर सृष्टि, स्थिति और संहारादि करने में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए उस तत्त्व को जानने के लिए योगी को यत्न करना चाहिए। क्योंकि उसकी यह अकृत्रिम स्वभाववाली स्वतन्त्रता रोम-रोम में भरी हुई है।

इसलिए देहाभाव के भस्मीभूत हो जानेपर, स्वप्न अवस्था को जैसा निद्रा में डुबे हुए मोह-आवरण की स्थिति रहने पर भी चेतन में अधिष्ठित प्राण को अपनी गोद में रखनेवाले पुर्यष्टक की वैसी स्थिति परलोक में भी रहती है। फिर दूसरे देह के अधिष्ठान से भोगों को भोगने में कोई

शरीरस्य पश्यन्तो बुभुक्षापिपासायोगयोग्यं प्राणमेवात्मानं केचन श्रुत्यन्तविदो मन्यन्ते। ततोऽपि समधिकविवेकभाजः प्राणस्यापि अनित्यत्वादनुसंधानयोग्यतामपश्यन्तो ज्ञानसुखाद्याश्रयभूतां बुद्धिमेव काणादप्रभृतय आत्मानमाहुः। अपरे तु तस्या अपि योगिदशायां वेद्यभावादपरत्वं मन्यमानाः असंवेद्यपर्वरूपं यन्न किंचिद्रूपं सकलवेद्यराशिविनिर्मुक्तं शून्यत्वान्नभस्तुल्यं न तु महाभूताकाशस्वभावं प्रमातृतत्त्वं शून्यब्रह्मवादिनः सांख्यप्रभृतय आहुः। तस्मिन्नपि वेद्ये शून्यान्तरं तत्रापि शून्यान्तरम्—इति यावद्भेदः तावत्कल्पना न त्रुट्यति, तदर्थमाह 'कल्पिते' इति। न चानवस्था परमार्थप्रकाशबलेन यतः सर्वस्य प्रकाशो न तु देहादिवशात्, तथात्वा-

कारण असंख्य प्रकार से शरीर का विनाश देखते हुए प्राण को ही बुभुक्षा-पिपासा से सम्बन्धि होने से आत्मा मानते हैं। उससे भी अधिक विचार-विमर्श करनेवाले प्राण को भी अनित्य समझकर अनुसन्धान की योग्यता न देखते हुए ज्ञान-सुखादि के आश्रयभूत बुद्धि को ही काणादादि लोग आत्मा समझते हैं। दूसरे सांख्य सिद्धान्ती उसको भी योगी दशा में वेद्यरूप न होने के कारण असंवेद्य ग्रन्थिरूप जिसका कि कोई स्वरूप नहीं है; सम्पूर्ण वेद्यराशि से भिन्न होने के कारण महाभूत जो आकाश है उसके बराबर नहीं, बल्कि शून्य ब्रह्म को प्रमाता मानते हैं। उस वेद्य में भी शून्यता एवं उसमें दूसरी शून्यता, इस प्रकार कभी भी समाप्ति नहीं होती है, इसलिए कहा है कि 'कल्पिते' कल्पना करने पर इत्यादि। वहाँ अनवस्था भी नहीं होती है; क्योंकि परमार्थ प्रकाश के बल से सभी का प्रकाश होता है वहाँ पर देहादि की कल्पना नहीं होती है, देहादि को प्रमाता मानना

दुस्तरता नहीं पड़ती और बहुत प्रकार से देखा भी जाता है कि योगिनी अपने ही शरीररूप गृह में अवस्थित होकर स्वतन्त्ररूप से, प्राण को भेजना और वापस बुला लेनारूप क्रिया से दूसरे शरीर में जाकर वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर लेती है, और स्वतन्त्रीकरण में हमने युक्तियों को बता ही दिया है। जिसका उल्लेख शिवसूत्र के माध्यम से हुआ है—

ब्रह्मपदे कमलशरीरस्तदुत्थप्राणिरूपेण सर्वत्र विचारी।

ब्रह्मपद में जो कमल शरीर है उससे उठकर प्राणी सर्वत्र विचरण करता है सर्वथा देह और प्राण की तो स्थिति भिन्न-भिन्न ही है। इस विषय में मुनि ने कहा है।

सहवर्धितयोर्नास्ति सम्बन्धः प्राण काययोः। इति

एक साथ में संवर्धित होनेवाले देह और प्राण का कोई सम्बन्ध ही नहीं बैठता है।

सम्बन्ध तो उसी का नाम है जो अत्यन्त अवियोग रखता हो। उसी प्रकार कक्ष्या स्तोत्र कहता है—

भग्नो भ्रमोऽयं भवता विचित्रां स्वप्ने विदेहादिगतिं प्रदर्श्य।
देहे गते भस्ममये परत्र कीदृक्…………………… ॥ इति

विचित्र देहादि नश्वर वस्तुओं की गति-स्थिति है उसे आपने स्वप्न अवस्था में बताकर मेरे भ्रम को दूर कर दिया, देह के भस्मीभूत हो जाने पर दूसरे में कैसा होगा।

भिमानमात्रं—देहादिः प्रमातेति, संकोचमात्ररूपं चित्तत्त्वं शून्यं भूतलं, यथा घटाभावः, संकोचः– अपरवेद्यांशच्छायाच्छुरितं तु चित्तत्त्वमेव बुद्धिप्राणदेहादि इति। अमी एव भूमिकाविशेषा उत्तरोत्तरमारोहतां योगिनां जाग्रदादितया पिण्डस्थादितया चागमेषु भण्यन्ते, अपहस्तनं च व्याख्यास्यते 'कलोद्वलितमेतचच चित्तत्त्वं कर्तृतामयम्। अचिद्रूपस्य शून्यादेर्मितं गुणतया स्थितम् ॥' इति, तत्स्थितम्—अशुद्धः 'अहम्' इत्यवमर्शो विकल्प एव ॥ ४–५ ॥

अभिमान मात्र है, संकोचमात्र चिदात्मरूप तो शून्य भूतल है। जैसे घट का अभाव भूतलरूप होता है, दूसरे वेद्य अंश की छाया से मिलता हुआ चित्तत्त्व ही तो बुद्धि, प्राण, देहादि है। यही भूमिका विशेष ऊपर-ऊपर चढनेवाले योगी लोगों के जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्था होने से पिण्ड शरीर में रहने के कारण भी आगमों में कहा गया है, अब अभाव की व्याख्या करते हैं—'चेतन-रूपी कला से उद्बुद्ध चित्तत्त्व कर्तृता से युक्त होकर अचिद्रूपशून्यादि के गुणरूप से परिमित परिच्छिन्नभाव को प्राप्त करके रहता है।' इससे यह सिद्ध हुआ कि अशुद्ध अहंविमर्श विकल्प ही रहता है ॥ ५ ॥

---

१. शनैःशनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ क्रम-क्रम से अभ्यासयोग करता हुआ उपरामता को प्राप्त करें तथा धैर्य युक्त बुद्धि द्वारा मन को स्वरूप आत्मा में स्थिर करके परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी चिन्तन न करे। 'अभावं भावयेत्तावद्यावत्तन्मयतां व्रजेत्।' तब तक अभाव को ही देखे जब तक तन्मयता को न प्राप्त होवे और भी 'यद्यत्संवेद्यते किंचिन्न च तद्रूपमिष्यते। जो-जो जानता है उसमें तो थोड़ा सा भी इसका स्वरूप नहीं है।

२. आगमशास्त्र में आचार्य अभिनवगुप्त ने जाग्रत्-स्वप्न और सुषुप्तादि अवस्थाओं के उल्लेख किये हैं। इन चारों अवस्थाओं का पिण्ड, पद, रूप और रूपातीत शब्दों से योगीलोग व्यवहार करते हैं—

भूततत्त्वाभिधानानां योंऽशोऽधिष्ठेय उच्यते।
पिण्डस्थ इति तं प्राहुः पदस्थमपरं विदुः ॥
मन्त्रास्तत्पतयः सैषारूपस्थमिति कीर्त्यते।
रूपातीता पराशक्तिः स व्यापाराप्यनामया ॥
निष्प्रपञ्चो निराभासः शुद्धः स्वात्मन्यवस्थितः।
सर्वातीतो शिवो ज्ञेयो यं विदित्वा विमुच्यते ॥ इति

पिण्डे मुक्ताः पदेः मुक्ता रूपे मुक्ताः षडानन। रूपातीते तु ये मुक्तास्ते मुक्ता नात्र संशयः ॥
इति तत्त्वसंग्रहे।

पिण्डं कुण्डलिनी शक्तिः पदं हंसः प्रकीर्तितः। रूपं चिद्बिन्दुरित्युक्तो रूपातीतः परः शिवः ॥

भूत तत्त्व के अभिधानों में जो अंश अधिष्ठेय कहा जाता है उसे कोई लोग पिण्ड कहते हैं। अन्य को पद शब्द से समझते हैं। मन्त्र, मन्त्रेश्वर और मन्त्र महेश्वर को रूप शब्द से कहा जाता है। जो परा-शक्ति है वह तो विमर्श व्यापार क्रिया का सम्पादन करती हुई भी अनामय संविद्रूप ही रहती है इसलिए परा-शक्ति रूपातीता कही जाती है।

अपने आप में अवस्थित रहनेवाले जो शुद्ध, निराभास, निष्प्रपञ्च सब से अतीत शिवरूप ज्ञेय है, उसे जानकर विमुक्त हो जाते हैं।

द्विविधोऽपि चायम् 'अहं-प्रत्ययो' द्विधा—अनुभवमात्ररूपश्चानुसंधानात्मा च, शिवात्मनि 'अहमिति' सदाशिवात्मनि 'अहमिदमिति' शुद्धो द्विधा। अशुद्धोऽपि 'अहं स्थूल' इति, योऽहं स्थूलोऽभवं, सोऽहं कृशो, बालो, युवा, स्थविरः, स एव 'अहम्' इति च अशुद्धो द्विविधः। तत्र शुद्धे विकल्परूपत्वमप्रतिष्ठमेव इत्युक्तम्, अशुद्धे तु अनुभवरूपे विकल्पत्वमुपपादितम्, अशुद्धेऽपि तु अनुसंधानात्मकतया अभेदस्य प्रस्फुरणात् कश्चिदविकल्पकत्वं शङ्केत तस्य व्यामोहं व्यपोहयितुमाह—

कादाचित्कावभासे या पूर्वाभासादियोजना।
संस्कारात्कल्पना प्रोक्ता सापि भिन्नावभासिनि ॥ ६ ॥

देह इत्यादि वर्तते, कादाचित्कः कदाचिद्भवोऽनियतदेशकालाकारोऽवभासो यस्य देहादेः स्वलक्षणरूपस्य, तत्र या पूर्वाभासेन बालादि-शरीरावभासेन योजना 'योऽहं बालः' स एवाद्य 'युवा' इत्यनुसंधानम्, आदिग्रहणादुत्तरेण भाविना आभासेन सह योजना 'स्थविरो भवितास्मि'

शुद्ध और अशुद्धरूप से यह अहंप्रत्यय दो प्रकार का है—एक अनुभवमात्ररूप से है दूसरा अनुसन्धानरूप से है, अनुभव स्वभाववाला तो शिवरूप में 'अहं' इस प्रकार से रहता है और सदाशिवरूप [अनुसन्धिरूप] में 'अहमिदम्' मैं यह हूँ इस रूप से रहता है, इस प्रकार 'अहम्' और 'अहमिदम्' के भेद से दो प्रकार के शुद्ध अहंप्रत्यय हुए। 'अहं स्थूलः' मैं स्थूल हूँ, इस अनुभव स्वभाववाले प्रत्यय में तो अशुद्ध रहता है, जो मैं स्थूल था, वही मैं कृश हो रहा हूँ, मैं बालक हूँ, मैं युवक हूँ और मैं वृद्ध हूँ, वही मैं हूँ, ये ही दो प्रकार के अशुद्ध प्रत्यय होते हैं। शुद्ध अहं में विकल्परूपता अप्रतिष्ठित रहती है, यह हम कह आये हैं, किन्तु अशुद्ध अनुभवरूपवाले 'अहं स्थूलः' इत्यादि में विकल्परूपत्व को हमने सिद्ध कर बता दिया है, अशुद्ध में भी अनुसन्धान करने से अभेदभाव के जग जाने पर कोई अविकल्प की शङ्का कर सकता है, अतः उसके व्यामोह को दूर करने के लिए कहते हैं—

जो अशुद्ध अहं की भावना में भी कभी अभेद अवभास हो जाने पर शुद्ध अहं की योजना लगा देना संस्कार से वह कल्पना कही जाती है, उसमें भी भेद रहता ही है ॥ ६ ॥

[देहादि अनुभव से युक्त ही अहं विमर्श विकल्पमात्र नहीं है, किन्तु अनुसन्धिवाला भी विमर्श होता है, यह श्लोक में दिया गया 'अपि' शब्द द्योतित करता है]

देह इत्यादि यह पूर्वसूत्र की अनुवृत्ति आती है, कभी-कभी होनेवाला अनियत देश-काल के आकारवाला जो देहादि का अपना अनुभव है, उसमें जो पहले होनेवाला बालक आदि शरीर की मिलावट जैसा 'योऽहं बालः' मैं कभी बालक था, वही मैं आज 'युवा' युवावस्था में स्थित हूँ, ऐसा अनुसन्धान करता है और आदि शब्द से आगे होनेवाले आभास के साथ योजना कर लेना। जैसा कि 'स्थविरो भविताऽस्मि' मैं वृद्ध होऊँगा, ये सभी योजनाएँ विकल्परूप हैं, शुद्ध अहं

हे षडानन ! जो लोग पिण्ड से, पद से और रूपातीत से मुक्त हैं, वे ही सचमुच मुक्त गिने जाते हैं इसमें सन्देह करने की कोई बात नहीं। तत्त्व संग्रह में भी कहा गया है—पिण्ड को कुण्डलिनी-शक्ति, पद को आत्मा और रूप को चेतन चिद्रूप-शक्ति कहा गया है तथा परम शिव रूपातीत है।

इति सा योजना सर्वा कल्पना-विकल्प एव, न तु शुद्धः प्रत्यवमर्शः। अत्र देहादेर्विशेषणं हेतुत्वाशयेन—यतो भिन्नावभासित्वमेव देहादेस्तदानीमपि अविच्छिन्नं, यदि हि तस्य देहादेः सर्वतः पूर्णत्वम्—अवच्छेदहीनत्वं पश्यन् अनुसंधानम्—'अहमिदम्' इति विदध्यात् तदियं सदाशिवभूः केन विकल्पास्पदत्वेन भण्यते—यावता विच्छिन्ने एव सोऽनुसंधिः, भिन्ने हि कथमनुसंधानम्? इति चेदाह 'संस्कारात्'—प्राक्तनानुभवकृतवासनाप्रबोधजस्मृतिवशात् इति यावत्, प्राणे बलाबलवशादनुसंधिः, बुद्धौ ज्ञानसुखादितारतम्यात्, शून्ये वैतत्यावैतत्ययोगात्, अयमपि विकल्प एव, एवं 'स एवायं घट' इति घटाद्यनुसंधानेऽपि विकल्पत्वं मन्तव्यं, किन्तु एतासु अनुसंधानभूमिषु विद्याशक्तिराधिक्येन अचिरद्युतिवदुद्द्योत्यते इति तासां परपदपरिशीलदप्रथमकल्पाभ्युपायत्वमभ्युपागमन् गुरवः ॥ ६ ॥

न च देहादीनां पूर्वपूर्वप्रमातृवेद्यता—येन प्रमातुरप्रकाशे प्रमेयं न भाति तत्प्रकाशश्च न पूर्वप्रकाशं विना, सोऽपि न प्रमात्रन्तरप्रकाशं विना—इत्यनवस्था स्यात्, अपि तु विशुद्ध-प्रकाश एव विश्वस्य प्रकाश, इति निरूपयन् उक्तयुक्त्या सदैव सृष्ट्यादिशक्तिवियोगोऽपि भगवत उक्तो भवति, इति दर्शयति—

प्रत्यवमर्शरूप नहीं हैं। इसमें देहादि का विशेषण हेतुरूप आशय से कहा है—क्योंकि भिन्नरूप से अवभासित होनेवाले देहादि योजना के काल [अनुसन्धि] में भी अविच्छिन्न पूर्णभाव से रहता है, यदि उन देहादि में सर्वतः अर्थात् परिपूर्णरूपता से [चिद्रूपविश्रान्तत्व] अविच्छेद शून्यत्व को देखते हुए 'अहमिदम्' का अनुसन्धान करना ही सदाशिव भूमि है, इसी कारण इसको विकल्प का आधार कहा जाता है—विच्छिन्न में ही 'योऽहं बालः' ऐसा अनुसन्धान होता है, इस प्रकार भिन्न में कैसे अनुसन्धान होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि—'संस्कारात्' संस्कार से अनुसन्धान होता है पूर्वजन्म में किये हुए अनुभव के वासना-संस्कार बीज से उत्पन्न होनेवाली स्मृति के कारण अनुसन्धान तब तक ही होता रहेगा, प्राण में तो क्षुधा-पिपासादि के आभास से अनुसन्धान होता है और बुद्धि में ज्ञान सुखादि के तारतम्य से अनुसन्धान होगा, शून्य में मूर्च्छा-समाधि आदि के आभास से अनुसन्धान होता है, यह सब भी विकल्प ही है, इस प्रकार 'स एवायं घटः' घटादि के अनुसन्धान में भी विकल्परूपता माननी चाहिए। किन्तु इन अनुसन्धान भूमिकाओं में विद्या-शक्ति अधिकतया विद्युत् के समान कुछ देर के लिए चमक उठती है, इन सभी योजनाओं को गुरुवर्यों ने परमपदरूपी भुवन पर चढ़ने के लिए प्रथम सोपान के रूप में माना है ॥ ६ ॥

बालपन, युवापन एवं वृद्धापन आदि में इन पूर्व-पूर्व प्रमाताओं से देहादि का ज्ञान नहीं होता है जिससे कि प्रमाता का प्रकाश न होने से प्रमेय विषय नहीं भासता है, देहादि प्रमाता का प्रकाश पूर्व प्रमाता के प्रकाश बिना नहीं होता है, वह भी पूर्वतर-पूर्वतम प्रकाश के बिना नहीं होता है इसीलिए अनवस्था हो जायेगी, अपितु विशुद्ध प्रकाश ही देहादि प्रमाता का प्रकाश है, यह निरूपण करते हुए कही हुई युक्ति के द्वारा सदैव व्यवहारदशा में भी भगवान् की सृष्टि आदि शक्ति से वियोग रहता है यह कहा गया है, इस विषय में कहते हैं—

तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः ॥ ७ ॥

यत् पूर्वं दर्शितं 'देहे बुद्धौ' इत्यादि तत् एवम् उपपद्यते, कथम् ? यदि व्यवहारे मायापदे देहप्राणादिमपि प्रभुरेव प्रकाशपरमार्थं इच्छया—मायाशक्तिरूपया, आविशन्—देहप्राणादि-प्राधान्येन स्वरूपं प्रदर्शयन्, अन्तः—संविन्मात्रे, भान्तम्—अहमित्येवंरूपम् अर्थौघम् इच्छयैव बहिः इदमिति भासयति तत एतदुपपद्यते, अन्यथा तु अनवस्था स्यात्, हेतौ लिङ् । अपि-शब्द एव-शब्दश्च भिन्नक्रमौ, यत् एतावत् उक्तं, तदिति—तस्मात् हेतोः, एवं जातं वक्ष्यमाणरूपम्, किं तत् ? यत् किल प्रभुः परस्परं व्यवहारकाले क्रेयविक्रेयप्रेक्षाव्याख्यादौ चैत्रमैत्रादिसंबन्धिनो देहप्राणादीन् एकतया तावति आभासे आविशन् अन्तर्भान्तमेव अनुज्झितान्तः-प्रकाशमेव सन्तं बहिः एकाभासतया भासयति ? इति संभाव्यते—इत्येतज्जातम्, [इति संभावनायां लिङ्], तेन तेन प्रमात्रा सह ऐक्यं सृज्यते, अन्येन प्रमात्रा ऐक्यं संह्रियते, घटादिमात्ररूपे स्थितिः क्रियते,

इस प्रकार व्यवहार काल में भी ईश्वर देहादि अवस्थाओं में प्रवेश करते हुए अन्तःस्थित अर्थसमूह को ही अपनी इच्छा से बाहर की ओर भासित करते हैं ॥ ७ ॥

जिसको पूर्व में दिखा दिया है 'देहे बुद्धौ' अर्थात् देह, बुद्धि और प्राण इत्यादि प्रमातृरूप में अहं विमर्श किस युक्ति से सिद्ध होगा ?

यदि मायीय जगत् के व्यवहार करने में देह, प्राणादि को भी प्रभु ही प्रकाश परमार्थ की इच्छा से अर्थात् जब माया-शक्ति से उसको प्रमाता के रूप में स्वीकार करता हुआ देह, प्राणादि की प्रधानता से अपना स्वरूप दिखाता हुआ अन्तःकरण में अवस्थित संवित् मात्र में भासित होता हुआ 'अहम्' इस परामर्शरूप में अर्थसमूह की इच्छा से बाहर 'इदम्' इस रूप से भासित करता है । इसीसे यह सिद्ध होता है, नहीं तो, प्रमातृगत वेद्यता में आवेश न करने पर अनवस्था दोष से ग्रस्त हो जायेगा । 'भासयेत्' इसमें हेतु के अर्थ में 'लिङ्' लकार है । 'अपि' शब्द और 'एव' शब्द का भिन्न क्रम है, इतना ही अपोहन का स्वरूप कह दिया, तदिति—इसलिए इस हेतु से, 'एव' शब्द का स्वरूप आगे कहेंगे, वह क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि प्रभु परस्पर क्रय-विक्रय, देखना-सुनना, व्याख्या करना आदि व्यवहारकाल में चैत्र-मैत्रादि सम्बन्धियों के एकरूप से उतने ही आभास में प्रवेश कराता हुआ, भीतर भासित होनेवाले को न छोड़ता हुआ बाहर में एकरूप से प्रकाशित होता है अर्थात् क्या बाहर एवं भीतर दोनों एकरूप होकर भासित हुआ करता है ? यह संभव है ऐसा सिद्ध हुआ [इसलिए संभावना में लिङ् लकार है] उस-उस प्रमाता के साथ में एकता का सर्जन करता है, दूसरे प्रमाता के साथ एकरूप में बाँध देता है, एवं घटादिरूप में स्थिति कर देता है, परिपूर्ण स्वरूप को बद्ध कर देने से तिरोभाव रख

---

१. सृष्टि में परमेश्वर का यही परमार्थ है—परमेश्वर प्राण शरीरादि में कर्तृरूप से प्रवेश कर बाहरी पदार्थों को पराधीनता को जड सी सम्पादन करते हुए सर्गादि सृष्टि करते हैं, जब देह प्राणादि उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं तब विश्वरूप से सदैव अपने अंगरूप अर्थराशि को प्रकाशित करते हैं, उसमें कोई देशक्रम और कालक्रम भी नहीं है इसी से व्यवहार में 'मायापदे' ऐसा कहा गया है ।

पूर्णस्वरूपनिमीलनात् तिरोभाव आधीयते, तावति आभासे ऐक्यावभासनपूर्णत्ववितरणात् अनुग्रहः क्रियते, तेन न केवलं महासृष्टिषु महास्थितिषु महाप्रलयेषु प्रकोपतिरोधानेषु दीक्षाज्ञानाद्यनुग्रहेषु भगवतः कृत्यपञ्चकयोगः यावत् सततमेव व्यवहारेऽपि । यदुक्तम्—सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने । सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः ॥' इति । 'प्रतिक्षणमविश्रान्तस्त्रैलोक्यं कल्पनाशतैः । कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः ॥' इत्यादि च । तथा '.........प्राकाम्यमात्मनि यदा प्रकटीकरोषि । व्यक्तीः............ ॥' इति च ॥ ७ ॥

देता है, उतने आभास में ऐक्य अवभासन को परिपूर्णता कर देने के कारण अनुग्रह करता है, इसीसे केवल महासृष्टि में, महास्थिति में, महाप्रलय में, क्रोध के रोक देने में, दीक्षा ज्ञानादिरूप अनुग्रह करने में भगवान् के कृत्य पञ्चक का योग नहीं होता है, ऐसी बात नहीं है अपितु सर्वदा व्यवहार काल में भी होता है । जबकि आचार्य ने इस विषय में कहा है—सर्वदा विनोद के लिए ही मात्र सृष्टि करनेवाले, सदा सुख-आनन्द के लिए हो स्थिति-पालन करनेवाले और सदैव अपने स्वरूप में तीनों लोकों को लय करके परितृप्त हो जानेवाले ऐसे प्रत्यक्षरूप स्वामी को नमस्कार हो । सैकड़ों कल्पनाओं से तीनों लोकों की प्रतिक्षण-प्रतिपल कल्पना करते हुए भी, कोई एक अजन्मा निर्विकल्प की जय हो । तथा '...... प्रकाम्यमात्मनि यदा प्रकटीकरोषि ।' व्यक्तीः........ । [स्वामी के भीतर ही ये भाव-पदार्थ रहते हैं वह प्रत्यक्ष घटित होता है, सृष्टि काल में और व्यवहार काल में उनकी इच्छा से ही अन्तर में अवस्थित पदार्थ-राशि बाहर में भासित होती है—ऐसा कहा गया है]॥ ७ ॥

१. इस प्रकार स्वामी अपने में रहनेवाले अर्थ समूह का आभास करते हैं—ऐसा जो कहा गया है, उसीको घटाते हैं, सृष्टि काल में और व्यवहार काल में अपनी इच्छा से ही अपने में रहे हुए पदार्थ वर्ग को बाहर प्रकट करते हैं । जिसका विवेचन श्री सोमानन्दपाद ने किया है—

कुत्सिते कुत्सितस्य स्यात्कथमुन्मुखतेति चेत् ।
रूपप्रसाररसतो गर्हितत्वमयुक्तिमत् ॥
पञ्चप्रकारकृत्योक्तिशिवत्वान्निजकर्मणे ।
प्रवृत्तस्य निमित्तानामपरेषां क्व मार्गणम् ॥

चेतन वही है जो प्रसरणशील है रूप प्रसार का रसिक है । वह स्वयं विश्वरूप में अवभासमान है और विश्व भी मिथ्या या गर्हित नहीं है; क्योंकि ऊपर से नीचे अगल-बगल चारों ओर से ठसा-ठस शिवरूप ही भरा पड़ा है, सर्वत्र शिव की सत्ता होने के कारण इसके कुत्सित-गर्हित होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है । गर्हित तो उसी को कहते हैं जो भेद दृष्टि से शिवरूप में देखता है । भगवान् परमेश्वर के सर्ग, स्थिति, प्रलय, अनुग्रह और तिरोधान ये पाँच प्रकार के कृत्य हैं अपने निज तत्त्वादिरूप प्रसरणार्थ ही प्रसर होता है । उसमें दूसरे निमित्त कहाँ ढूँढोगे । किन्तु कोई तो कहते हैं कि 'ईश्वरः स्वात्मन्यवास-सर्वकामः' ये तो अपने में पूर्ण हैं फिर इनको सृष्ट्यादि से क्या फल मिलनेवाला है ? 'क्योंकि जो कोई भी कार्य में प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है वह कुछ न कुछ प्रयोजन को लेकर ही प्रवृत्त होता हुआ देखा जाता है ।' प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते । अर्थात् मतिमूढ भी उद्देश्य को आगे रखकर ही कार्य में प्रवृत्त होता है । भगवान् में तो यह संभव नहीं होता । लोक अनुग्रहार्थ ही प्रवृत्त होते हैं ।

इह अन्तरर्थावभासः स्थित एव, तत् किं तत्र कारणान्तरचिन्तया इति प्रकृतं प्रमेयं, तत्सिद्धये उपपत्तिः उक्ता, तेन विना इच्छारूपः प्रत्यवमर्शो न स्यात् इति, तत्प्रसङ्गात् प्रत्यवमर्श-विकल्पादिस्वरूपम् उपपादितम्, इति शिष्याणां धियं समाधातुं प्रकृतं प्रमेयम् उपपादयन् उपसंहरति—

एवं स्मृतौ विकल्पे वाप्यपोहनपरायणे ।
ज्ञाने वाप्यन्तराभासः स्थित एवेति निश्चितम् ॥ ८ ॥

प्रकाशात्मा परमेश्वर एव यतो देहादिप्रमातृताभिमानदशायामपि वस्तुतः प्रमाता, एवम् इति अतो हेतोः इदं सिद्धं भवति—स्मरणे अपोहनजीविते च विकल्पे अनुभवज्ञाने च अन्तराभासः प्रकाशविश्रान्तः स्थित एव, नात्र संशयः कश्चित्, यदि हि देहादिरेव परमार्थप्रमाता स्यात् तत् शरीरस्य प्राणस्य धियः शून्यस्य वा अन्तर्घटादि इति न किंचित् एतत्—घटादिपरि-हारेण देहादेः स्थितत्वात् । परमार्थप्रकाशस्तु सर्वसहः इति तत्रान्तर्विश्वम्, इति अनायास-सिद्धमेतत् ॥ ८ ॥

अपने स्वरूप में अर्थ का अवभास स्वसंवित् साक्षिरूप से रहता ही है, उसमें फिर दूसरे बाह्यार्थ वासना इत्यादि कारणों को खोजना व्यर्थ है । इसलिए प्रस्तुत प्रमेयरूप साध्य की सिद्धि के लिये युक्ति दे दी गई हैं, इसी कारण इच्छा के बिना प्रत्यवमर्श नहीं हो सकता है, भीतर अर्थ का अवभास अवश्य ही रहता है, इसका समर्थन के प्रसङ्ग से प्रत्यवमर्श के विकल्पादि स्वरूप को युक्ति द्वारा सिद्ध किया है; इस प्रकार शिष्यों की बुद्धि के समाधानार्थ भीतर अर्थो के अवभासतत्त्व का निगम रीति से उपपादन करते हुए उपसंहार करते हैं—

इस तरह स्मृति और विकल्प में अथवा अपोहन प्रधान ज्ञान में या भीतर में भी पदार्थों का अवभास अवस्थित ही होता है—यह तो निश्चित्त है ॥ ८ ॥

जबकि देह, बुद्धि, प्राणादि प्रमातृगत अभिमान अवस्था में भी वस्तुतः प्रकाशात्मा परमेश्वर ही प्रमाता रहते हैं । इस हेतु से सिद्ध हो जाता है कि [प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ही सब का जीवन है] स्मरण और अपोहन प्रधान विकल्प में अनुभव ज्ञान में, अन्तर में पदार्थों का अवभास प्रकाशरूप से ही रहता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं होता है, यदि देहादिरूप की सत्य-प्रमाता होता तो शरीर, बुद्धि, प्राण, शून्यादि का अन्तःकरण में रहनेवाले घटादि पदार्थ किससे मेल करेगा, क्योंकि घटादि को छोड़कर देहादिरूपों में ही विद्यमान रहता है । परमार्थ प्रकाशरूप परमेश्वर तो सब कुछ रहनेवाले होते हैं इसलिए उनमें सारे विश्व की अन्तर्लीनता हो सकती है, यह बात तो अनायास ही सिद्ध है ॥ ८ ॥

---

१. उन दोनों का भी स्वरूप वैसा ही होने के कारण । क्योंकि अन्तःस्थित रहनेवाले का ही सर्वथा समर्थन करना होगा—उसके बिना बाहर में इच्छा-विमर्श नहीं हो सकता है और वह शुद्ध प्रकाश प्रमाता में अन्तर्लीनभाव हुए बिना थोड़ा सा भी नहीं घटता है । यद्यपि स्मृति इत्यादि देहादि प्रमाता के विषय हैं तथापि उन परमेश्वर-प्रकाश से ही प्रमातृरूपता होने के कारण उनमें ही तादात्म्यरूप से अवस्थित भाव-पदार्थ रहते हैं ।

ननु अन्तराभासवर्गस्य बहिराभासनं यदि सर्वत्रास्ति कस्तर्हि स्मरणादौ आभासभेदः, न च असौ न संवेद्यते—स्फुटास्फुटतादिप्रस्फुरणस्य अनपह्नवनीयत्वात् ? इत्याशङ्क्याह—

किन्तु नैसर्गिको ज्ञाने बहिराभासनात्मनि ।
पूर्वानुभवरूपस्तु स्थितः स स्मरणादिषु ॥ ९ ॥

अनुभवज्ञानस्य 'इदं नीलम्' इति अन्तराभासं बहिराभासयतः सोऽन्तर्भावाभासो नैसर्गिको—निसृष्टेः स्वातन्त्र्यात् आयातो,न तु स्मरणादेरिव अन्यज्ञानकृतवासनादिबलात्, स्मरणे उत्प्रेक्षणे प्रत्यक्षपृष्ठभाविनि अध्यवसाये च योऽन्तर्नीलाद्यवभासो बाह्यतया अवभासयितव्यः नासौ स्वात्मीयः अपि तु पूर्वानुभवसंस्कारजोऽसौ, तत्र संस्कारो नाम अनुभवस्य कालान्तरेऽपि

अब प्रश्न किया जाता है कि यदि अन्तर में अवभासमान पदार्थ-समूह का सर्वत्र बाहर में आभास होता है, तो स्मरणादि में अन्तर के आभास का भेद कैसे होगा ? किन्तु यह [भेद] नहीं जाना जा सकता है यह बात नहीं है, अवश्य जाना जाता है—स्फुटरूप से अथवा अस्फुटरूप से इसका स्फुरण अवश्य कुछ न कुछ रहता है। इसको छिपा नहीं सकते हैं ? इस पर आशंका कर कहते हैं—

बाहर की तरफ आभासमान होनेवाले ज्ञान में अन्तराभास स्वाभाविक रहता है। वह स्मरणादि में पूर्व के अनुभवरूप से रहता है ॥ ९ ॥

'इदं नीलम्' यह नील है, वह निर्विकल्परूप अनुभवज्ञान का अन्तर में होनेवाला आभास है जोकि बाहर में भासित करता है वह आभास स्वाभाविक होता है, अपने अवभास से स्वतन्त्र होने के कारण आया हुआ रहता है; स्मरणादि के जैसा अन्य ज्ञान से किये गये वासनादि के बल से नहीं होता है, स्मरण, उत्प्रेक्षा, प्रत्यक्ष के अनन्तर अध्यवसाय में होनेवाले जो भीतर नीलादि का अवभास है वह बाह्यरूप से भासित होना चाहिए, वह अपना स्मरणकालीन नहीं है अपितु अनुभवपूर्वक है उसके संस्कार से उत्पन्न हुआ होता है, उसमें संस्कार क्या चीज है ? इसका समाधान करते हैं कि उसका आगे बने रहना यही संस्कार का स्वरूप है अर्थात् कालान्तर में भी उसका बना रहना ही संस्कार कहा जाता है वह जो आता हुआ अनुभव है

१. यदि अन्तराभास पदार्थों का बाहर में आभासन ज्ञान, स्मृति और विकल्प में होता है तो कौन स्मरणादि में अन्तराभास का सर्वसाधरण भाव होने के कारण भेद विभाजन करेगा ?

२. आभास भेद का स्फुरण ज्ञान में तो स्फुटरूप से रहता है और स्मृति आदि में अस्फुटरूप से रहता है।

३. क्योंकि दूरत्व और समीपत्व को लेकर प्रत्यक्ष के संस्कार से उत्पन्न होनेवाली दोनों स्मृति में भी पूर्व का अनुभूत ही अर्थ अन्तर में अवस्थित होकर संस्कार शब्द का वाच्य होता है इसीको क्षेत्रज्ञ अपनी इच्छा के द्वारा पूर्व काल से अवच्छिन्न करता हुआ मनोयोगपूर्वक देखता है इसमें कुछ अपूर्व सर्जन नहीं करता है।

४. पूर्व अनुभूत आभास का पृथक्-करण करना ही स्मृति का नया व्यापार नहीं है। किन्तु भिन्न किये हुए को ही अन्धकार से वह आवृत करने के बराबर है उसमें तो संस्काररूप से अवस्थित उस काल में भी रहता है। प्रतिबोधक अनुसन्धान दशामें आवरण के हट जाने से वही प्रकाशित होता है इसीका नाम अप्रमुषित [न छोड़ना रूप है] अत एव अनुभूत विषय का असंप्रमोष होना ही स्मृति है यह कुछ भी अपूर्व वस्तु की सृष्टि नहीं करती है अर्थात् इससे कोई अपूर्व पदार्थ का निर्माण नहीं होता है।

इह अन्तरर्थावभासः स्थित एव, तत् किं तत्र कारणान्तरचिन्तया इति प्रकृतं प्रमेयं, तत्सिद्धये उपपत्तिः उक्ता, तेन विना इच्छारूपः प्रत्यवमर्शो न स्यात् इति, तत्प्रसङ्गात् प्रत्यवमर्श-विकल्पादिस्वरूपम् उपपादितम्, इति शिष्याणां धियं समाधातुं प्रकृतं प्रमेयम् उपपादयन् उपसंहरति—

एवं स्मृतौ विकल्पे वाप्यपोहनपरायणे ।
ज्ञाने वाप्यन्तराभासः स्थित एवेति निश्चितम् ।। ८ ।।

प्रकाशात्मा परमेश्वर एव यतो देहादिप्रमातृताभिमानदशायामपि वस्तुतः प्रमाता, एवम् इति अतो हेतोः इदं सिद्धं भवति—स्मरणे अपोहनजीविते च विकल्पे अनुभवज्ञाने च अन्तराभासः प्रकाशविश्रान्तः स्थित एव, नात्र संशयः कश्चित्, यदि हि देहादिरेव परमार्थप्रमाता स्यात् तत् शरीरस्य प्राणस्य धियः शून्यस्य वा अन्तर्घटादि इति न किंचित् एतत्—घटादिपरिहारेण देहादेः स्थितत्वात् । परमार्थप्रकाशस्तु सर्वसहः इति तत्रान्तर्विश्वम्, इति अनायास-सिद्धमेतत् ।। ८ ।।

अपने स्वरूप में अर्थ का अवभास स्वसंवित् साक्षिरूप से रहता ही है, उसमें फिर दूसरे बाह्यार्थ वासना इत्यादि कारणों को खोजना व्यर्थ है। इसलिए प्रस्तुत प्रमेयरूप साध्य की सिद्धि के लिये युक्ति दे दी गई हैं, इसी कारण इच्छा के बिना प्रत्यवमर्श नहीं हो सकता है, भीतर अर्थ का अवभास अवश्य ही रहता है, इसका समर्थन के प्रसङ्ग से प्रत्यवमर्श के विकल्पादि स्वरूप को युक्ति द्वारा सिद्ध किया है; इस प्रकार शिष्यों की बुद्धि के समाधानार्थ भीतर अर्थों के अवभासतत्त्व का निगम रीति से उपपादन करते हुए उपसंहार करते हैं—

इस तरह स्मृति और विकल्प में अथवा अपोहन प्रधान ज्ञान में या भीतर में भी पदार्थों का अवभास अवस्थित ही होता है—यह तो निश्चित है ।। ८ ।।

जबकि देह, बुद्धि, प्राणादि प्रमातृगत अभिमान अवस्था में भी वस्तुतः प्रकाशात्मा परमेश्वर ही प्रमाता रहते हैं। इस हेतु से सिद्ध हो जाता है कि [प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ही सब का जीवन है] स्मरण और अपोहन प्रधान विकल्प में अनुभव ज्ञान में, अन्तर में पदार्थों का अवभास प्रकाशरूप से ही रहता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं होता है, यदि देहादिरूप की सत्य-प्रमाता होता तो शरीर, बुद्धि, प्राण, शून्यादि का अन्तःकरण में रहनेवाले घटादि पदार्थ किससे मेल करेगा, क्योंकि घटादि को छोड़कर देहादिरूपों में ही विद्यमान रहता है। परमार्थ प्रकाशरूप परमेश्वर तो सब कुछ रहनेवाले होते हैं इसलिए उनमें सारे विश्व की अन्तर्लीनता हो सकती है, यह बात तो अनायास ही सिद्ध है ।। ८ ।।

---

१. उन दोनों का भी स्वरूप वैसा ही होने के कारण। क्योंकि अन्तःस्थित रहनेवाले का ही सर्वथा समर्थन करना होगा—उसके बिना बाहर में इच्छा-विमर्श नहीं हो सकता है और वह शुद्ध प्रकाश प्रमाता में अन्तर्लीनभाव हुए बिना थोड़ा सा भी नहीं घटता है। यद्यपि स्मृति इत्यादि देहादि प्रमाता के विषय हैं तथापि उन परमेश्वर-प्रकाश से ही प्रमातृरूपता होने के कारण उनमें ही तादात्म्यरूप से अवस्थित भाव-पदार्थ रहते हैं।

ननु अन्तराभासवर्गस्य बहिराभासनं यदि सर्वत्रास्ति[1] कस्तर्हि स्मरणादौ आभासभेदः, न च असौ न संवेद्यते—स्फुटास्फुटतादिप्रस्फुरणस्य[2] अनपह्नवनीयत्वात् ? इत्याशङ्क्याह—

किन्तु नैसर्गिको ज्ञाने बहिराभासनात्मनि ।
पूर्वानुभवरूपस्तु स्थितः स स्मरणादिषु ॥ ९ ॥

अनुभवज्ञानस्य 'इदं नीलम्' इति अन्तराभासं बहिराभासयतः सोऽन्तर्भावाभासो नैसर्गिको—निसृष्टेः स्वातन्त्र्यात् आयातो,न तु स्मरणादेरिव अन्यज्ञानकृतवासनादिबलात्, स्मरणे उत्प्रेक्षणे प्रत्यक्षपृष्ठभाविनि अध्यवसाये च योऽन्तर्नीलाद्यवभासो बाह्यतया अवभासयितव्यः नासौ स्वात्मीयः अपि तु पूर्वानुभवसंस्कारजोऽसौ,[3] तत्र संस्कारो[4] नाम अनुभवस्य कालान्तरेऽपि

अब प्रश्न किया जाता है कि यदि अन्तर में अवभासमान पदार्थ-समूह का सर्वत्र बाहर में आभास होता है, तो स्मरणादि में अन्तर के आभास का भेद कैसे होगा ? किन्तु यह [भेद] नहीं जाना जा सकता है यह बात नहीं है, अवश्य जाना जाता है—स्फुटरूप से अथवा अस्फुटरूप से इसका स्फुरण अवश्य कुछ न कुछ रहता है। इसको छिपा नहीं सकते हैं ? इस पर आशंका कर कहते हैं—

बाहर की तरफ आभासमान होनेवाले ज्ञान में अन्तराभास स्वाभाविक रहता है। वह स्मरणादि में पूर्व के अनुभवरूप से रहता है ॥ ९ ॥

'इदं नीलम्' यह नील है, वह निर्विकल्परूप अनुभवज्ञान का अन्तर में होनेवाला आभास है जोकि बाहर में भासित करता है वह आभास स्वाभाविक होता है, अपने अवभास से स्वतन्त्र होने के कारण आया हुआ रहता है; स्मरणादि के जैसा अन्य ज्ञान से किये गये वासनादि के बल से नहीं होता है, स्मरण, उत्प्रेक्षा, प्रत्यक्ष के अनन्तर अध्यवसाय में होनेवाले जो भीतर नीलादि का अवभास है वह बाह्यरूप से भासित होना चाहिए, वह अपना स्मरणकालीन नहीं है अपितु अनुभवपूर्वक है उसके संस्कार से उत्पन्न हुआ होता है, उसमें संस्कार क्या चीज है ? इसका समाधान करते हैं कि उसका आगे बने रहना यही संस्कार का स्वरूप है अर्थात् कालान्तर में भी उसका बना रहना ही संस्कार कहा जाता है वह जो आता हुआ अनुभव है

१. यदि अन्तराभास पदार्थों का बाहर में आभासन ज्ञान, स्मृति और विकल्प में होता है तो कौन स्मरणादि में अन्तराभास का सर्वसाधरण भाव होने के कारण भेद विभाजन करेगा ?

२. आभास भेद का स्फुरण ज्ञान में तो स्फुटरूप से रहता है और स्मृति आदि में अस्फुटरूप से रहता है।

३. क्योंकि दूरत्व और समीपत्व को लेकर प्रत्यक्ष के संस्कार से उत्पन्न होनेवाली दोनों स्मृति में भी पूर्व का अनुभूत ही अर्थ अन्तर में अवस्थित होकर संस्कार शब्द का वाच्य होता है इसीको क्षेत्रज्ञ अपनी इच्छा के द्वारा पूर्व काल से अवच्छिन्न करता हुआ मनोयोगपूर्वक देखता है इसमें कुछ अपूर्व सर्जन नहीं करता है।

४. पूर्व अनुभूत आभास का पृथक्-करण करना ही स्मृति का नया व्यापार नहीं है। किन्तु भिन्न किये हुए को ही अन्धकार से वह आवृत करने के बराबर है उसमें तो संस्काररूप से अवस्थित उस काल में भी रहता है। प्रतिबोधक अनुसन्धान दशामें आवरण के हट जाने से वही प्रकाशित होता है इसीका नाम अप्रमुषित [न छोड़ना रूप है] अत एव अनुभूत विषय का असंप्रमोष होना ही स्मृति है यह कुछ भी अपूर्व वस्तु की सृष्टि नहीं करती है अर्थात् इससे कोई अपूर्व पदार्थ का निर्माण नहीं होता है।

अनुवर्तमानता, अतोऽसावनुवर्तमानोऽनुभवो यतो नीलाद्याभाससंभिन्नः ततः तत्तादात्म्यापन्नं स्मरणाद्यपि तथा निर्भासते, तत एव स्मरणकालासम्भवी आभासः तदनुभवपूर्वकालकलित एव, इति स्वयं स्मरणादेर्निर्विषयत्वं गृहीतग्राहित्वं च उद्घोष्यते । एतदेव अस्फुटत्वम्, इति सिद्धोऽनुभवस्मरणादौ आभासभेदः, अन्तराभासवर्गस्य बहिराभासनम् अव्यवधानेन स्फुटता, व्यवधानेन तु तात्कालिकत्वाभावात् अस्फुटता इति ॥ ९ ॥

ननु अनुभवज्ञानात् ऐन्द्रियकात् अन्यत् सर्वं ज्ञानं व्यवधानेन बहिराभासनरूपं प्राप्तम्? इत्याशङ्क्य प्रविभागमाह—

स नैसर्गिक एवास्ति विकल्पे स्वैरचारिणि ।
यथाभिमतसंस्थानाभासनाद्बुद्धिगोचरे ॥१०॥

यः प्रत्यक्षव्यापारम् अनुपजीवन् व्याक्षेपसारतया मनोराज्यसंकल्पादिविकल्पः स स्वैरं कृत्वा—स्वप्रेरणेन परप्रेरणनैरपेक्ष्येण स्वातन्त्र्येण चरति उदेति व्ययते च, तत्र यो बहिरवभासो नीलादेः अन्तराभासमयस्य स नैसर्गिक एव, तथाहि अपरिदृष्टपूर्वमपि श्वेतं दशनशतकलितकर-

जिस कारण नीलादि आभास से भिन्न है इसलिए उस नीलादि से तादात्म्यभाव को प्राप्त स्मरणादि भी वैसा ही भासित होता है, इसी से स्मरणकाल में न होनेवाला स्मर्यमाण संस्कार से उत्पन्न आभास उसके पूर्वकालीन अनुभव से ही मिला रहता है, इसीलिए स्मरणादि का निर्विषयत्व और गृहीत-ग्राहित्व को ऊँचे स्वर से घोषित किया जाता है। इसीको अस्फुटत्व अर्थात् मन्दपना कहा जाता है, इसीलिए अनुभव-स्मरणादि में आभास भेद सिद्ध होता है, अन्तर के आभासवर्ग का बाहर में अव्यवधानरूप से स्फुटतापूर्वक भासना है, व्यवधान हो जाने पर तो उसके काल में न रहने के कारण अस्फुटता प्रकट होतो है ॥ ९ ॥

अब शंका करते हैं कि इन्द्रिय से उत्पन्न अनुभवरूप ज्ञान से भिन्न सब ज्ञान व्यवधान के कारण बाहर में अवभासरूप को प्राप्त करता है? ऐसी आशंका कर स्मरण ज्ञान का और अनुभव ज्ञान का विभाग बताते हैं [यदि कहो कि अव्यवधान से स्फुटता और व्यवधान से अस्फुटता तथा अनुभव से व्यतिरिक्त सब ज्ञान विकल्पादिरूप अस्फुटता के कारण ही आया हुआ है? यह कहना सत्य है, किन्तु यह बात ऐसी है कि 'किन्तु नैसर्गिको ज्ञाने बहिराभासनात्मनि।' इससे ही सिद्ध है। पुनः उत्तरार्ध से बताते हैं 'पूर्वानुभवरूपस्तु स्थितः स स्मरणादिषु।' पूर्व का अनुभव ही तो स्मरणादि में स्थिर रहता है।]

जो अन्तर का आभास है वह किसी दूसरे की अपेक्षा न रखनेवाला स्वभावसिद्ध स्वैरचारी विकल्प में भी रहता है, जैसे बुद्धि से होनेवाले ज्ञान में अपने अभीष्ट ज्ञान का आभास होता है ॥ १० ॥

जो मनोराज्य संकल्पादि विकल्प है वह प्रत्यक्ष व्यापार का आधार लेकर मन के विक्षेप से दूसरे की प्रेरणा की आकांक्षा न रखता हुआ अपनी स्वतन्त्र प्रेरणा से चलाता है, उदित होता है और समाप्त होता है, उसमें जो बाहर की ओर नीलादि का आभास हो रहा है, वह अन्तर में होनेवाल स्वाभाविक ही आभास है, जैसा कि पूर्व में नहीं देखा हुआ भी असंख्य दाँतों-

युगलयुक्तं दन्तिनम् अन्तः प्रमातृभूमौ स्थितं बहिः अन्तःकरणभूमौ स्वच्छधीदर्पणात्मिकायां स विकल्पः तात्कालिकमेव आभासयति ॥ १० ॥

अस्माच्च अन्तराभाससम्भवसमर्थनप्रसङ्गागतात् आभासभेदविचारात् शास्त्रे यत् प्रयोजनं मुख्यतया अभिसंहितं स्वात्मनि ईश्वरप्रत्यभिज्ञानरूपं तदधिकरणसिद्धान्तनीत्या अनायाससिद्धम्, इति दर्शयति—

अत एव यथाभीष्टसमुल्लेखावभासनात् ।
ज्ञानक्रिये स्फुटे एव सिद्धे सर्वस्य जीवतः ॥११॥

यत् इदं यथाभीष्टस्य बहिरसत्त्वात् अननुभूतस्यापि सम्यक् उल्लेखनम्, अवभासनं च विकल्पस्य प्रसङ्गात् दर्शितम् अस्मादेव हेतोः इदमपि सिद्धचति—यः कश्चित् कीटो वा ब्रह्मा

वाला और दो सूँड से युक्त हाथी को देखता है, इस प्रकार प्रमाता के अन्तर में विद्यमान था वही बाहर की ओर अन्तःकरण भूमि में आकर स्वच्छ बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर विकल्प के रूप में उसी काल पर्यन्त भासित होता है ॥ १० ॥

यह अन्तर के आभास का समर्थन है उसी के प्रसङ्ग से आभासभेद के विचार से शास्त्र में जो मुख्यरूप से प्रयोजन कहा गया है वह अपनी आत्मा में ईश्वर प्रत्यभिज्ञारूप से अधिकरण सिद्धान्त की नीति के द्वारा अनायास ही सिद्ध हो जाता है, इसे बताते हैं—

अन्तःस्थित आभास को ही बाहर की ओर निकालते हैं इसलिए सभी जीवों में ज्ञान और क्रिया स्पष्ट सिद्ध हो जाती हैं ॥ ११ ॥

यह अपने अभोष्ट के लिए बाहर में न रहने पर भी नहीं अनुभव हुए का भी सम्यक् उल्लेख करना और अवभासन विकल्प के प्रसंग से दिखाया गया है, इसी हेतु से यह भी सिद्ध होता है कि जो कोई कीट-पतंग, प्राणी अथवा ब्रह्मादि देव जब तक जीवित रहते हैं उनमें अवभासनरूप ज्ञान-शक्ति और उल्लेखनरूप क्रिया-शक्ति स्वाभाविक ही रहती हैं, इसीसे मनोराज्य,

---

१. ईश्वर की पहचान शक्ति के द्वारा आविष्कार करने पर ही होती है और वह शक्ति ज्ञानरूप एवं क्रियारूप ही है। इस प्रकार ज्ञानरूप और क्रियारूप शक्ति से आविष्कार होने पर अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा सिद्ध हो जाती है। जिस अर्थ के सिद्ध हो जाने पर उनके अनुयायी दूसरे अर्थों की भी सिद्धि हो जाती है, इसीको अधिकरण सिद्धान्त कहते हैं। जैसे कि न्याय दर्शनमें बताया है—'दर्शन स्पार्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणादिति।' नेत्रेन्द्रिय से देखने एवं त्वगिन्द्रिय से स्पर्श करने से इन्द्रियों से भिन्न एक आत्मरूप पदार्थ का ज्ञान न होने के कारण। जिस वस्तु को मैंने आँखों से देखा था, उसी वस्तु को त्वगिन्द्रिय से स्पर्श भी करता हूँ। इस प्रकार जिसका नेत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है, उसी को—त्वगिन्द्रिय से भी ग्रहण होता है और जिसका मैंने त्वचा से स्पर्श किया था उसी को देखता भी हूँ। एक ही पदार्थ के रूप तथा स्पर्श गुणों को ग्रहण करने वाले दोनों ज्ञानों का एक ही उन इन्द्रियों से कर्ता है—जो ऐसा प्रतिसंधान करता है उन दोनों इन्द्रिय जन्य ज्ञानों का अनुसन्धान करनेवाले अथवा शरीरादिकों के समुदाय हैं, इन्द्रिय वर्ग नहीं है। इसलिए जो चक्षु से एवं त्वचा से एक ही पदार्थ को ग्रहण करता है वह इन्द्रियों से व्यतिरिक्त आत्मा है। जिससे अनेक नेत्र, त्वचा आदि इन्द्रियों रूप कारणोंवाला एवं रूपादि अनेक विषयों को देखनेवाला कोई संविद्रूप चेतन है।

वा जीवनक्रियाविष्टः तस्य अवभासनरूपा ज्ञानशक्तिः उल्लेखनरूपा च क्रियाशक्तिः नैसर्गिकी, ततः तस्यां भूमौ व्यतिरिक्तेश्वरोपकल्पितपूर्वसिद्धसृष्ट्युपजीवनसम्भावनापि नास्ति, इति स्वमेव ऐश्वर्यं स्फुटं प्रत्यभिज्ञेयं जानाति करोति च—इति ज्ञानक्रियास्वातन्त्र्यलक्षणम् एकवचनेन सर्वस्य जीवजातस्य वस्तुत एकेश्वररूपतां सूचयति । इति शिवम् ॥ ११ ॥ आदितः ॥ ६३ ॥

इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तविरचितायामीश्वरप्रत्यभिज्ञासूत्रविमर्शिन्यां प्रथमे ज्ञानाधिकारे ज्ञानशक्तिनिरूपणं नाम षष्ठमाह्निकम् ॥ ६ ॥

●

अथ प्रथमे ज्ञानाधिकारे एकाश्रयनिरूपणाख्यं

सप्तममाह्निकम्

अनन्तशक्तिरत्नानां यदेकाश्रयसंश्रयात् ।
विचित्रचन्द्रिकोल्लाससंसिद्धिस्तं स्तुमः शिवम् ॥

एवं स्मृत्यादिशक्तीनां वितत्य स्वरूपमियता दर्शितम्, यत्तु अत्र प्रमातुरपि स्वरूपम् उन्मीलितम् तत्तासामेव शक्तित्वं समर्थयितुम् 'न हि स्वतन्त्रं शक्तिस्वरूपं भवितुमर्हति' इति, अधुना तु तासां शक्तीनाम् एक आश्रयः, स च तच्छक्तिसंयोजनवियोजनादिस्वाच्छन्द्ययोगात् महेश्वरः न तु जडस्वरूपवह्न्यादिवत् दाहकपाचकादिशक्त्याश्रयमात्रम्—इति यत् उभयम्

सङ्कल्पादि भूमि में अपने से भिन्न उपर्युक्त ईश्वर द्वारा कल्पित सृष्टि होने की संभावना भी नहीं है, इससे सिद्ध होता है कि अपना ही ऐश्वर्य स्फुटरूप से पहचान करने योग्य है, इसी को जानता है और करता भी है, यही ज्ञान क्रिया की स्वतन्त्रता है 'जीवतः' इसमें जो एकवचन दिया है वह सारे जीव समुदाय की वस्तुतः एक ईश्वररूपता सूचित करता है ॥ ११ ॥

षष्ठ आह्निक समाप्त

जो अनन्त शक्तिरूपी रत्नों के एकमात्र आश्रय का स्थान होने के कारण, विचित्र-चित्ररूप से चन्द्रिका के उल्लास की सिद्धि देते हैं, उस शिव का हम स्तवन करते हैं।

[यह सारा का सारा संसार उस परमेश्वर ही शक्ति से अवस्थित है जैसे हिम से अलग शीतलता नहीं रहती और अग्नि से अलग ऊष्णता नहीं होती, इसी न्याय से, शक्तिमान् से शक्ति कहीं भिन्न उसे छोड़कर नहीं रहती है, धर्मी को धर्म से नहीं पुकारा जाता है। जैसा कि कहा भी गया है शिव शक्ति को रखने के कारण ही शक्त कहा जाता है, इसलिए शिव शक्ति से अभिन्न ही है 'शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।' शक्तयोऽस्य जगत् कृत्स्नम्' यह युक्ति है। वस्तुतस्तु भगवान् शिवरूप ही यह सब है 'यदेकाश्रयेत्यादिना' इसलिए कहा गया है कि स्वतन्त्र-शक्ति नहीं होती है और न तो उसका स्वरूप ही हो सकता है।]

इस प्रकार स्मृति आदि शक्तियों के स्वरूप को इतने ग्रन्थांश से विस्तारपूर्वक बता दिया है किन्तु जिस शक्ति निरूपण में प्रमाता का स्वरूप उन्मीलित था, वह उन्हीं शक्तियों का ही शक्तित्वरूप है, इसी के समर्थन के लिए कह रहे हैं—'शक्ति का स्वरूप भिन्न स्वतन्त्र नहीं होता है।' इस समय तो उन शक्तियों के एक मात्र आश्रय शक्तिमान् को ही दिखाना है और वह महेश्वर उन शक्तियों के संयोजन-वियोजन करने में स्वतन्त्र होने से जड स्वरूप वह्नि आदि के

उपक्षिप्तम् 'न चेत् अन्तःकृतानन्तविश्वरूप····।' इत्यत्र सूत्रे, तत् वितत्य निर्णेतव्यम्। तत्र एकमाश्रयं निर्णेतुम् 'या चैषा प्रतिभा····।' इत्यादि '····व्यवहारोऽनुभूयते ॥' इत्यन्तं चतुर्दशभिः श्लोकैः आह्निकं प्रस्तूयते। तत्र श्लोकेन एक आश्रयः स्वरूपत उपक्षिप्यते। ततोऽपि द्वयेन— व्यवहारः सर्वः सति एकस्मिन् आश्रये युज्यते न असति, इति अन्वयव्यतिरेकात्मा युक्तिः उच्यते। ततो व्यवहारस्वरूपं कार्यकारणभावतः, स्मरणतः, सत्यासत्यप्रविभागतश्च इति संक्षिप्य श्लोकेन श्लोकाष्टकेन च प्रतिपाद्यते। ततः श्लोकेन सर्वोऽर्थो निगम्यते, इति—आह्निकार्थसंक्षेपः। अथ श्लोकार्थो व्याख्यायते यदुक्तम्—'सर्वस्य सिद्धे ज्ञानक्रिये जीवत' इति तत् कथम्? यावता ज्ञानादिव्यतिरिक्तः कोऽसौ अन्यो? यस्य ते स्याताम्, काणाददिशा हि दूषितः तदाश्रयः 'ततो भिन्नेषु धर्मेषु····।' इत्यादिना? तत् एतत् आशङ्क्य स्वदर्शनदिशा तमेकं स्वरूपत उपक्षिपति—

या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥ १ ॥

'प्रतिभाति घट' इति यद्यपि विषयोपश्लिष्टमेव प्रतिभानं भाति तथापि न तद्विषयस्य स्वकं वपुः, अपि तु संवेदनमेव तत् तथा चकास्ति 'मां प्रति भाति' इति प्रमातृलग्नत्वात्। तथा च वेदः —

समान दाहक, पाचक आदि शक्तिभाग का आश्रय नहीं है—अपितु शक्ति और शक्तिमान् इन दोनों को कह दिया। 'नहीं तो, अपने में अनन्त विश्व को कैसे रख पायेगा।' इस बात का सूत्र में विस्तारपूर्वक निर्णय करना है। वहाँ पर एक आश्रय का निर्णय करने के लिए—'या चैषा प्रतिभा·····।' इत्यादि से लेकर '······व्यवहारोऽनुभूयते।' तक चौदह श्लोकों से एक आश्रय रहने पर ही समस्त व्यवहार हो सकता है, एवं न रहने पर नहीं हो सकता; यह अन्वय-व्यतिरेकभाव द्वारा युक्ति दिखायेंगे। उसके अनन्तर कार्य-कारणभाव से, स्मरण से सत्य और असत्य के विभाग से, संक्षेपीकरण करके एक श्लोक से और आठ श्लोकों से भी प्रतिपादन करेंगे। तब फिर एक श्लोक से समस्त अर्थों का शास्त्रीय पद्धति से व्यवस्थापन करेंगे, इतना ही इस आह्निक का संक्षेप में अर्थ है। अब श्लोक के अर्थ का व्याख्यान करते हैं—जिसके विषय में कहा गया था कि 'सर्वस्य सिद्धे ज्ञानक्रिये जीवतः, अर्थात् 'सब जीवों के लिए ज्ञान और क्रिया सिद्ध हैं' यह कैसे हो सकता है? जबकि ज्ञानादि से भिन्न दूसरा कौन है? जिसके वे होंगे, क्योंकि काणादादि के सिद्धान्त से उसका आश्रय दूषित है 'ततो भिन्नेषु धर्मेषु·······।' इत्यादि श्लोक से कहा है? इसकी आशङ्का करके अपने दर्शन की दृष्टि से उस के आश्रय के स्वरूप का उपदेश करते हैं—

उन-उन पदार्थों में क्रम से यह जो घटादि की प्रतिभा मिली हुई है। वह अनन्त अक्रमरूप चिदात्मा महेश्वर ही प्रमाता हैं ॥ १ ॥

'घटः प्रतिभाति' अर्थात् घट का बोध होता है। यद्यपि यह विषय से मिला हुआ आभास झलकता है, तो भी, वह विषय का अपना स्वरूप नहीं है, अपितु इसका ज्ञान ही वैसा भासित होता है, 'मां प्रति भाति' मुझे यह भासता है—ऐसा प्रमाता भी कहता है। इस प्रकार प्रमाता में मिला हुआ स्पष्ट मालूम होता है और उसी प्रकार वेद भी कहता है—

'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनु भाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥' इति। शत्रा अविरतस्फुरणत्वं, कर्मप्रवचनीयेन तदीयस्वातन्त्र्योपकल्पितनिर्माणक्रियाजनितो वेद्यवेदकभावरूपो लक्षणात्मा सम्बन्धो द्योतितः, केवलं विषयोल्लेखनबलात् बहिः क्रमावभासः समर्थितः, स—सक्रमयौगपद्यादिविचित्ररूपो, यः—पदार्थानां वक्ष्यमाणेश्वरस्वातन्त्र्यरूपदेशकालशक्त्युपकल्पितः, क्रमः—देशकालपरिपाटी, तेन रूषिता—प्रतिबिम्बकल्पतया उपरक्ता या प्रतिभा उक्ता—'केवलं भिन्नसंवेद्य····।' इत्यादिना। एषा इति च—सर्वस्य स्वप्रकाशरूपा, परमार्थतश्च अन्तर्मुखत्वेन प्रकाशमात्रपरमार्थतया भेदाभावात् अक्रमा, सैव महेश्वरः, अविद्यमानोऽन्तः—परिच्छेदो देशतः कालतः स्वरूपतश्च यस्याः चितः संविदः तदेव रूपं यस्य इति, अत एव बहिर्मुखप्रकाशात्मकविज्ञानस्वभावस्य प्रमाणवर्गस्य योऽन्तः प्रत्याभासम् 'इदम् इदम्' इति अनन्तो विकल्पमयो विमर्शात्मा प्रमासमूहः, तत्र संयोजनवियोजनविश्रमणाद्यनेकप्रकारस्वातन्त्र्यपरिपूर्णः शुद्धः 'अहंप्रत्यवमर्शमयः प्रमाता' स भण्यते, अतश्च बहिर्घटप्रकाशः 'अयं घट' इति अन्तर्विकल्पः स्वीकृतपूर्वरूपः 'अहमिति' तदुभय-

उस प्रकाशरूप को न सूर्य प्रकाशित करता है और न तो चन्द्र एवं नक्षत्र गण, न तो विद्युत ही प्रकाशित करती है—यह अग्नि कैसे कर सकेगी ? उस पूर्ण ब्रह्म के प्रकाश से यह सारा का सारा संसार भासित होता है।

शतृ प्रत्यय से निरन्तर भासना सूचित होता है, जो कर्मप्रवचनीय 'भान्तं' द्वितीया विभक्ति है, उसके स्वातन्त्र्य से, प्रकल्पित निर्माण क्रिया से उत्पन्न वेद्य-वेद्यकभावरूप सम्बन्ध झलकता है और केवल विषय के उल्लेखन वशात् बाहर में क्रमपूर्वक आभास का समर्थन हुआ है, वह सक्रम एकबार ही होना, विचित्ररूप पदार्थों के लिए कहे जानेवाले ईश्वर के देश-कालरूप शक्ति से उपस्थापित है, देश-काल की परिपाटी ही क्रम कहलाती है, इसलिए मिली हुई प्रतिबिम्बतुल्य प्रतिभा कही गयी है 'केवलं भिन्नसंवेद्य ·····।' इत्यादि पद से। इस प्रकार 'एषा' शब्द से सब का अपना ही प्रकाशरूप है और परमार्थरूप से अन्र्मुख होने के कारण यथार्थ प्रकाश भाग से भेदभाव न रहने के कारण वह अक्रमरूप भी है, वही महेश्वर है, जिसका विनाश कभी न होता हो अपरिच्छिन्न निरन्तर रहनेवाले देश-काल के स्वरूप से शून्य संविद्रूप ही वस्तुतः स्वरूप माना गया है, इसलिए वह पदार्थ क्रम भी दो प्रकार का है, एक बाह्यरूप और दूसरा आन्तररूप है, उसमें बाहरी प्रकाशात्मक विज्ञान स्वभाववाले प्रमाणवर्ग का प्रमाता में प्रत्याभास 'इदम्-इदम्' इसरूप में अनन्त विकल्पमय प्रकाशरूप प्रमासमूह होता है। संयोजन-वियोजन आदि में अक्रमरूप स्वतन्त्र प्रमाता क्रमिकरूप में बाहरी पदार्थ से युक्त रहता है, बाहर में विमर्शात्मक विज्ञान स्वभाववाले प्रमाता में 'इदम्-इदम्' ऐसा प्रत्याभास प्रमाणवर्ग का होता हैं, अन्तर्मुख में विकल्प युक्त विमर्शात्मा का प्रमासमूह क्रमपूर्वक ही होता है और उसमें वह 'अहंप्रत्यवमर्शमय प्रमाता' 'संयोजन-वियोजन के विश्रान्तिरूप आदि अनेक प्रकार के स्वातन्त्र्य से पूर्ण शुद्धप्रमाता ही कहा जाता है और इसलिए बाहर में 'अयं घटः' इस प्रकार जो घट का

१. बाह्य और आभ्यन्तररूप से पदार्थ क्रम दो प्रकार के हैं। इदम्, इदम्, यह प्रमाणवर्ग बहिर्मुखी प्रकाश है। प्रभा समूह विमर्शरूप अन्तर्मुखी है और क्रमिक है, संयोजन एवं वियोजन आदि में स्वतन्त्र प्रमाता का अक्रम ही रहता है ओर बाह्य पदार्थवाला तो क्रमिक ही होता है।

विश्रान्तिस्थानम्, इति—इयत् पूर्णं प्रकाशस्य स्वरूपम् ॥ १ ॥

अत्रैव उपपत्तिं प्रदर्शयितुमन्वयं तावदाह—

तत्तद्विभिन्नसंवित्तिमुखैरेकप्रमातरि ।
प्रतितिष्ठत्सु भावेषु ज्ञातेयमुपपद्यते ॥ २ ॥

'संविन्निष्ठा हि विषयव्यवस्थितयः' इति यत् उच्यते तत् न भिन्नरूपप्रमात्मकसंविन्मात्र-विश्रान्त्या सिद्ध्यति, अपि तु तास्ता विभिन्नाः संविदो निश्चयरूपाः प्रमात्मानो याः तानि एव मुखानि द्वाराणि उपाया मार्गाः तैः मुखैः नदीस्रोतः स्थानीयैः यदि अमी भाव नीलसुखादय उह्यमाना एकस्मिन् 'अहमिति' प्रमातृरूपे महासंवित्समुद्रे प्रतितिष्ठन्ति—आभिमुख्येन विश्रान्ति भजन्ते, तत एषु परस्परं समन्वयरूपं यत् ज्ञातेयं तत् उपपत्त्या घटते, ज्ञातीनां भावः तच्छब्द-प्रवृत्तिनिमित्तं परस्परं जानीयुः इति, कर्म च अन्योन्ययोगक्षेमोद्वहनात्मकं ज्ञातेयम्, तच्च समन्वयाभिप्रायेण इह दर्शितम्—न जडानां स्वतः समन्वयः कदाचिदपि, इति प्रतिपादयितुम् ॥२॥

प्रकाश है—वह क्रमिक ही होता है एवं अन्तर में भी तो पहले स्वीकार किये हुए 'अहम्' का ही क्रमिक बाहर में आभास होता है। बाह्यरूप और आन्तररूप ये दोनों ही प्रमाताओं की विश्रान्ति का स्थान हैं इतना प्रकाश का पूर्णस्वरूप है ॥ १ ॥

'अत्रैव' अनन्त-शक्तिवाले स्वरूप में जो 'अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः' चिद्रूप महेश्वर प्रमाता है उसी में उपपत्ति बताने के लिए सर्वप्रथम अन्वय कहते हैं—

एक ही प्रमाता में उन-उन विभिन्न प्रधान ज्ञानों से प्रतिष्ठित होनेवाले पदार्थ-भावों में यही संवित् ज्ञात होती है ॥ २ ॥

'सारे के सारे विषयों की स्थिति संवित् में ही रहती है'—जो यह कहा जाता है वह भिन्नरूप प्रमातावाले संविद्रूप मात्र में विश्रान्त होने से नहीं सिद्ध हो सकती, किन्तु उन-उन विभिन्न संविद्रूप का जो निश्चय प्रमारूप है उन्हीं को उपाय बनाकर नदी के प्रवाह के समान ये नील-सुखादिभाव यदि बहाये जायें और एक अहम् प्रमातारूप महासागर में बैठा दिये जायें और उसीसे इन नील-सुखादि भावों में परस्पर समन्वयरूप ज्ञान उन-उन उपपत्तियों से घट सकता है, अर्थात् ज्ञातियों के भाव उन-उन शब्द के निमित्त से परस्पर जाने जा सकेंगे और यहाँ पर कर्म अन्योऽन्य क्षेमरूप निबाहना ज्ञातेय है उन्हीं दोनों को समन्वयरूप से बताया गया है। जड-पदार्थों का स्वतः समन्वय कभी भी नहीं हो सकता, इस बात को दिखाने के लिए ही यह प्रयोग किया जाता है ॥ २ ॥

अब शङ्का करते हैं कि सभी समन्वय कार्य-कारणभाव में विश्रान्त होकर समाप्त भी हो जाते हैं, जैसा कि बीज से अङ्कुर और अग्नि से धूमादि भिन्न-भिन्न कार्य-कारणभाव, इस पर शङ्का करके, पूर्व अग्नि और बाद में होनेवाले जो धूमादि का सम्बन्ध है, इन सभी का एक साथ अवभास किसी प्रकार भी देश-काल से भिन्न होनेवाले का एक में आभास नहीं होगा, एक बार

१. अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ।

यह चिद्रूप प्रतिभा जो भिन्न-भिन्न पदार्थों में क्रमशः प्रकाशित हो रही है, वह अक्रम [देश-कालादि से शून्य] अनन्त प्रमाता महेश्वर है ।

तथा च व्यतिरेकमुखेन एतदेवाह—

देशकालक्रमजुषामर्थानां स्वसमापिनाम् ।
सकृदाभाससाध्योऽसावन्यथा कः समन्वयः ॥ ३ ॥

अर्थानां जडानां, तज्ज्ञानानां तद्विकल्पानां तन्निश्चयानां च देशक्रमं कालक्रमं च अत्यजतां, स्वसमापिनां—स्वरूपमात्रप्रतिष्ठानां, कः समन्वयः—न कश्चित् इत्यर्थः, यतो हि असौ समन्वयः सकृदाभासेन देशकालाकारमिश्रीकरणात्मना योजनाभासेन साधयितुं शक्यः नान्यथा, न हि पृथक्पृथक् परिक्षीणेषु स्रोतःसु तदुह्यमानाः तृणोलपादयः समन्वयं कञ्चित् यान्ति इति । अनेकत्वेन देशादिभेद इत्याशयेन सकृच्छब्दः तन्निषेधतात्पर्येण प्रयुक्तः ॥ ३ ॥

तत्र कोऽसौ समन्वयः ? इत्याशङ्क्य, बहुतरव्यापकं कार्यकारणभावं तावत् दर्शयति—

प्रत्यक्षानुपलम्भानां तत्तद्भिन्नांशपातिनाम् ।
कार्यकारणतासिद्धिहेतुतैकप्रमातृजा ॥ ४ ॥

इह अग्नौ प्रत्यक्षे धूमं न उपलभते, ततो धूमं प्रत्यक्षेण पश्यति, अग्निं तु यदि न उपलभते धूममपि न उपलभते—इति प्रत्यक्षाभ्याम् अनुपलम्भैश्च इति पञ्चकात् 'कार्यकारणभावो

मिलकर भासित होने से एक ही प्रमातावाले हो जायेंगे—तब तो, इनका स्वरूप ही नहीं रहेगा इसी कारण 'तथा च' अर्थात् व्यतिरेकरूप से व्याप्ति कहते हैं—

देश, काल और क्रम को रखनेवाले भाव-पदार्थ अपने [देश-काल] में मिलकर रहनेवाले, एक प्रमाता में ही विश्रान्त होते हैं। यदि ऐसा न हो तो फिर समन्वय क्या कहलायेगा ? ॥ ३ ॥

नील-सुखादि जड-पदार्थों का, उनके ज्ञानों का, उनके विकल्पों का और उनके निश्चयों का, देशक्रम और कालक्रम नहीं छोड़नेवाले अपने स्वरूप में रहनेवाले, उन पदार्थ-भावों का क्या समन्वय हो सकेगा ? अर्थात् कुछ भी समन्वय नहीं बैठ सकता है। क्योंकि वह समन्वय एक बार आभासित हो जाने से देश, काल और आकारों के आपस में मिल जाने पर योजना के आभास से साध्य बन सकता है, अन्य प्रकार से नहीं हो सकता अर्थात् एक आभास में मिलाये बिना नहीं हो सकता है जैसा कि अलग-अलग जल के प्रवाहों में बहते हुए तृण-उपलादि कोई क्या आपस में समन्वित हो सकते हैं ? जैसे वे आपस में समन्वित नहीं होते हैं—वैसे ही ये भी नहीं होते हैं। इसलिए 'सकृत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है; क्योंकि अनेकत्व से देशादि का भेद हो जाता है ॥ ३ ॥

नहीं तो, समन्वय हो नहीं सकता है 'अन्यथा कः समन्वयः ।' कौन सा वह समन्वय है ? इस पर आशङ्का कर बहुत प्रकार से व्याप्त कार्य-कारणभाव को ही सर्वप्रथम दिखाते हैं—

प्रत्यक्ष से नहीं उपलब्ध होनेवाले; उन-उन भिन्न-भिन्न अंशों में रहनेवाले; कार्य-कारणभाव की सिद्धि के लिए एक ही प्रमाता से उत्पन्न हेतु साधक होगा ॥ ४ ॥

जिस समय अग्नि प्रत्यक्ष होती है, उस समय धूम का प्रत्यक्ष नहीं होता है। उसके बाद धूम को प्रत्यक्ष प्रमाण से देखा जाता है, यदि अग्नि प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं होती तो फिर धूम का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा। इस प्रकार धूम और अग्नि इन दोनों के प्रत्यक्ष होने से और न होने से

धूमाग्न्योः सिद्ध्यति' इति यत् उक्तं तत् कथम् ? अग्निप्रत्यक्षेण हि धूमेन किञ्चित् उद्व्यूढम्—अग्निलक्षणे धूमात् भिन्ने अंशे तस्य अवगमहेतुत्वात्, स्वस्वभावरूपे भिन्ने अंशे विश्रान्तत्वाच्च, परविषयानवगाहनात् ज्ञानान्तरस्वरूपानावेशाच्च इति। पातिः ज्ञापनवाची पतिश्च विश्रान्तिवाची प्रयुक्तस्तन्त्रेण। एवं धूमानुपलम्भादौ चतुष्टये वाच्यम्। ततश्च अग्निः, धूम, अग्न्यभावो, धूमाभावः इति एतानि वस्तूनि यथा पृथक् प्रमातृसंवेद्यानि धूमाग्न्योः कार्यकारणतां न गमयन्ति तथा एकप्रमातृवेद्यान्यपि, विकल्पोऽपि अनुभवातिरिक्तं ज्ञापयन् न प्रमाणमेव। यदा तु प्रत्यक्षानुपलम्भस्रोतःपञ्चकेन तानि पञ्च वस्तूनि एकसंवित्समुद्रविश्रान्तानि कृतानि तदा एकीभूतानि प्रमात्रा स्वतन्त्रतया अन्योन्यसापेक्षाणि न तु घटपटादिवत् भास्यन्ते, स[1] एव एक आभासः कार्यकारणभावावभास इति न किञ्चत् अवद्यम् ॥ ४ ॥

ननु प्रत्यक्षानुपलम्भैः यत् कृतं तत् स्मरणबलात् एकीकरिष्यति, उक्तं तावत् अत्र—स्मृतिरपि अनुभूतातिरिक्तेऽर्थे न व्याप्रियते, सापि च विज्ञानसमन्वयरूपा एकप्रमातृसद्भावं विना कथं स्यात् ? इति दर्शयति—

धूम और अग्नि का कार्य-कारणभाव सिद्ध होता है, यह जो पहले कहा है वह कैसे सम्भव होगा ? अग्नि के प्रत्यक्ष से धूम ने कौन सा उपकार कर दिया—अग्नि तो धूम से भिन्न है, अग्नि तो प्रत्यक्षरूप से धूम से भिन्न भी दिखाई देती है और इसकी प्राप्ति का हेतु भी भिन्न ही है एवं अपने-अपने भिन्न अंश में दोनों ही विश्रान्त है, एक-दूसरे के विषय को नहीं पा सकेगा और दूसरे के ज्ञान का स्वरूप भी उसमें नहीं प्रविष्ट होगा। 'तत्तद्भिन्नांशपातिनाम्' इसमें 'ण्यन्त' जो पाति है वह ज्ञानवाची है और पाति केवल विश्रान्तवाची है इसलिए दोनों का स्वतन्त्ररूप से प्रयोग है अर्थात् एक ही से दोनों का अर्थ निकलता है इस ढङ्ग से अग्नि और धूम का एवं बीज और अङ्कुर का कार्य-कारणशाव समझना चाहिए। अग्नि है तो अवश्य धूम है, अन्यथा अग्नि का अभाव है इन सभी वस्तुओं के अलग-अलग प्रमाताओं से ज्ञान होने पर धूम और अग्नि का कार्य-कारणभाव नहों बन सकता है उसी प्रकार कार्य-कारणभाव एक प्रमाता से वेद्य होने के कारण विकल्प भी अनुभव से अतिरिक्त जनाता हुआ प्रमाण नहीं बन सकता। जब वेद्य होने पर प्रत्यक्ष से नहीं उपलब्ध होनेवाले पाँचो प्रवाह [अग्नि-धूम और बीज-अङ्कुर एवं उनके अभाव] एक संविद्रूपी समुद्र में जाकर एकरूप से भासित होते हैं, तब वे घट-पटादि के समान भिन्न नहीं भासित होते हैं, वही सागर में जाकर एक हुआ आभास कार्य-कारणभाव का अवभास कहलाता है, इस प्रकार इसमें कोई विरोध नहीं है ॥ ४ ॥

अब शंका करते हैं कि प्रत्यक्ष से जिसकी उपलब्धि नहीं हो सकती है उसका स्मरण के बल से एकीकरण हो जायेगा ? इस प्रश्न का तो उत्तर दे दिया है कि अनुभव से अतिरिक्त अर्थ में स्मृति का व्यापार नहीं बन सकता; क्योंकि वह भी तो ज्ञान के समन्वयरूप होती है एक प्रमाता के सद्भाव के बिना कैसे हो सकती है ? उसे दिखाया जाता है—

---

१. इसलिए भास्यमानता ही कार्यता और कारणता है, और वैसा भासना ही कार्य-कारणभाव का अवभास कहलाता है।

स्मृतौ यैव स्वसंवित्तिः प्रमाणं स्वात्मसंभवे ।
पूर्वानुभवसद्भावे साधनं सैव नापरम् ॥ ५ ॥

इह अनुभूतो विषयः प्रकाशते स्मृतौ, तत्र विषयस्य सा स्मृतिः न नूतनः प्रकाशः अपि तु अस्य स प्राच्य एव अनुभवप्रकाशः, चानुभवो ज्ञानरूपत्वेन ज्ञेयरूपत्वाभावात् न ज्ञानान्तरसंवेद्यः अपि तु स्वप्रकाशः, स च स्मृतिकाले यदि असन् तत् कथं प्रकाशताम्, भवतु वा असौ तथापि स्मृतिप्रकाशोऽनुभवप्रकाश इति अन्योन्यभिन्नं युगलम् इति न कदाचित् स्मृतिः स्यात्, तस्मात् एतत् एवमुपपद्यते, यदेव स्मृतिस्वसंवेदनम् तदेव अनुभवस्य स्वसंवेदनम्, न तु अपरं स्वसंवेदन-व्यतिरिक्तं प्रत्यक्षम् अनुमानादिकं वा तत्र क्रमते, ततश्च तावत्कालव्यापि अविच्छिन्नमेकं यत् स्वसंवेदनं तदेव 'प्रमातृतत्त्वम्' इति सिद्धम् । अन्यत्र अनुभवितरि स्मर्ता अन्यो न उपपद्यते, इति अनया च्छायया स्मृत्या प्रमातृसिद्धिः पूर्वमुक्ता, इदानीं तु स्वसंवेदनैकीभावेन भङ्ग्यन्तरेण इति विशेषः ॥ ५ ॥

ननु अनुभवातिरिक्तेऽपि अर्थे सन्तु विकल्पाः प्रमाणम्, अप्रामाण्यं हि बाधबलात् भवति, बाधाभावे तत् कथं स्यात् ? इति आशङ्क्य, सोऽपि अयं बाध्यबाधकभावः सत्यासत्यप्रविभाजनाय विश्वेषां व्यवहाराणां जीवितभूतो, न एकेन प्रमातृतत्त्वेन विना घटत इति वितत्य दर्शयति—

स्मृति में अपना संवित्तिज्ञान है—वही अपनी सत्ता में प्रमाणित होता है । पूर्व के अनुभव की सत्ता में भी वही संवित्ति-साधन होती है, दूसरा कोई भी नहीं बन सकता ॥ ५ ॥

अनुभव किये हुए विषय का ही स्मृति में प्रकाश होता है और उसमें विषय की जो स्मृति है उसका कोई नूतन प्रकाश नहीं है किन्तु वही स्मृति का प्रकाश ही है—जिसका पूर्व में अनुभव प्रकाश हुआ था और वह ज्ञानरूप होने से ज्ञेयरूप का उसमें अभाव मिलेगा । इसीलिए वह दूसरे ज्ञान से वेद्य नहीं हो सकता । अपितु स्वयं प्रकाशरूप है और यदि वह अनुभव स्मरण काल में नहीं है तो कैसे प्रकाशित होगा ? यदि मान लो कि उसका प्रकाश है तो भी स्मृतिप्रकाश और अनुभवप्रकाश ये दोनों भिन्न-भिन्न [संवेदन द्वय] ज्ञान हैं, इस प्रकार स्मृति कभी भी नहीं हो सकेगी । इसलिए यह सिद्ध होता है कि—जो स्मृति का संवेदन है—वही अनुभव का भी संवेदन है, वहाँ पर कोई दूसरा स्वसंवेदन से अतिरिक्त प्रत्यक्ष या अनुमान नहीं आ सकता और इससे सिद्ध हुआ कि उस काल पर्यन्त रहनेवाला अविच्छिन्न एकसंवेदन ही प्रमातृतत्त्व है । दूसरे अनुभव करनेवाले में दूसरा स्मरण करनेवाला नहीं होता है, इस छायारूपी स्मृति से प्रमाता की सिद्धि का पूर्व में प्रतिपादन किया गया है, उसी को इस समय स्वसंवेदनात्मक एकोभावरूप दूसरे प्रकार से ही कहा जाता है—यही इसकी विशेषता है ॥ ५ ॥

अब शंका करते हैं कि अनुभव से अतिरिक्त कार्य-कारणभाव आदि अर्थ में विकल्प भले ही प्रमाण हो; क्योंकि अप्रामाण्य तो बाध के बल से ही होता है जब बाध नहीं है—तो, अप्रामाण्य कैसे बन सकेगा ? ऐसी आशंका कर, उत्तर देते हैं कि वह बाध्य-बाधकभाव भी जब कि सत्य और असत्य के विभाग करने के लिए सभी व्यवहारों का जीवन है, वह प्रमाता के बिना नहीं घट सकता है—इसी को विस्तारपूर्वक दिखाते हैं—

बाध्यबाधकभावोऽपि स्वात्मनिष्ठाविरोधिनाम् ।
ज्ञानानामुदियादेकप्रमातृपरिनिष्ठितेः ॥ ६ ॥

'बाधाभावे प्रामाण्यम्' इत्येतदर्थम् अवश्यसमर्थ्यो यो बाधव्यवहारः सोऽपि कथम् इति अपि-शब्दस्यार्थः, इह शुक्त्या तावत् रजतस्य न काचित् बाधा नाम क्रियमाणा दृश्यते, शुक्तिज्ञानेन रजतज्ञानं बाध्यते इत्यपि न युक्तम्—स्वस्मिन् विषये आत्मनि च स्वरूपे द्वयोः ज्ञानयोः परिनिष्ठितयोः विश्रान्तयोः अन्योन्यं विरोधस्य अभावात् । अथ अयमेव विरोधः परस्परपरिहाररूपः तर्हि सर्वेषां ज्ञानानां विरोधात् बाध्यबाधकभावस्य परिनिष्ठैव न लभ्या—इति सुतरां विघटेत सत्येतरप्रविभागः । नञपि अत्र तन्त्रेण व्याख्येयः । एतदुक्तं भवति—यदि ज्ञानं स्वयं नश्यति तदा किं ज्ञानान्तरेण अस्य कृतं, न हि तेन तत्कालेऽसंभवता तस्य विषयापहारः कर्तुं शक्यः; न रजतम् इत्यपि ज्ञानं स्वं रजताभावं विषयीकुर्वत् न विषयम् अपहरेत् रजतज्ञानस्य । अथापि ज्ञानं ज्ञानान्तरेण नाश्यते इत्यपि पक्षः, तत्रापि सर्वेषां ज्ञानानाम् इयमेव सरणिः—इति किंचिदेव बाध्यम् इति कथं स्यात् ? यदा तु रजतज्ञानं शुक्तिज्ञानं च एकत्र स्वसंवेदने विश्राम्यतः तदा एतत् उपपद्यते । तथाहि—एकत्रापि प्रमातृतत्त्वे विश्राम्यतां ज्ञानानां नैकप्रकारैव विश्रान्तिः अपि तु विचित्रतयैव सा संवेद्यते, तथाहि—नीलम् इति उत्पलम् इति ज्ञाने प्रमातरि विश्राम्यन्ती परस्प-

बाध्य-बाधकभाव भी एकमात्र प्रमाता में परिनिष्ठित होने से अपने में रहनेवाले अविरोधी ज्ञानों का उदय होता है ॥ ६ ॥

'बाध्यभावे प्रामाण्यम्' बाध का नहीं रहना यह अवश्य समर्थन करनेयोग्य बाध व्यवहार है—वह भी कैसे होगा, यह 'अपि' शब्द का अर्थ है, पहले शुक्तिका से रजत का कोई बाध किया जाता हो—ऐसा नहीं देखने में आता है, शुक्तिज्ञान से रजतज्ञान बाधित होता हो यह भी बात नहीं है; क्योंकि अपने विषय में तथा आत्मा और अपने स्वरूप में ये दोनों ज्ञान परिनिष्ठित रहने के कारण विश्रान्त रहते हैं, इन दोनों में परस्पर कोई विरोध नहीं है । यदि अब कहो कि यह विरोध परस्पर परिहाररूप है—तब तो, सभी ज्ञानों के विरोध से बाध्य-बाधकभाव की सत्ता ही नहीं मिलेगी; क्योंकि मिथ्या बुद्धि ही सत्य बुद्धि का तिरस्कार कर देगी । यहाँ 'नञ्' शब्द का भी तन्त्र से व्याख्यान करना होगा अर्थात् यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञान अपने से विनष्ट हो जाता है—तो, दूसरा ज्ञान उसका क्या कर सकता हैं; क्योंकि वह दूसरा ज्ञान तो उस समय नहीं है । अतः उसके विषय [रजत] का अपहार कर सकें, रजतज्ञान रजत के अभावज्ञान को विषय नहीं कर सकता है और रजतज्ञान के विषय को भी अपहरण नहीं कर सकता । यदि मान लो कि एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से विनष्ट किया जाता है, यह पक्ष है—तो, वहाँ पर भी ज्ञानों का यही बाध्य-बाधकभाव प्रकार है, यही एक मार्ग सभी ज्ञानों का है । तब फिर कुछ ज्ञान ही बाधित होता है—यह कैसे बनेगा ? जब कि एक ही संवेदन में रजतज्ञान और शुक्तिज्ञान विश्राम लेते हैं—तब तो, किञ्चित् बाधित हो सकता है, जैसे एक ही प्रमाता में विश्राम लेनेवाले ज्ञानों के एक प्रकार से विश्रान्ति सब स्थलों में नहीं होती है किन्तु विचित्ररूप से ही उनका ज्ञान होता है, जैसा कि यह नील है और यह उत्पल है—ये दोनों ज्ञान प्रमाता में विश्राम लेते हुए परस्पर

रोपरागाभासेन विश्राम्यतः। घट इति पट इति परस्परानाश्लेषेण शुक्तिका इति न रजतम् इति वा ज्ञानं रजतम् इति ज्ञानस्य उन्मूलनं तदीयविमर्शात्मकप्रमारूपव्यापारानुवर्तनविध्वंसं कुर्वत् प्रमातरि प्रतिष्ठां भजते। एवं कार्यकारणभावादौ विश्रान्तिवैचित्र्यं प्रमेयासंभवि प्रमात्रा स्वातन्त्र्येण निर्मितं तत एव अस्य प्रमास्वतन्त्रतादायि वाच्यम्। एवमेकत्र प्रमातरि पूर्वज्ञानस्य परिवर्जनेन यतो निश्चिता स्थितिः, अतो बाध्यबाधकव्यवहार उपपन्नः, नीला[1]दिवत् किल तानपि व्यवहारान् स एव परमेश्वरः स्वातन्त्र्यात् आभासयति तत् तेऽपि सत्या एवेति ॥ ६ ॥

विशेषण और विशेष्यभाव से विश्रान्त हो जाते हैं। यह घट है और यह पट है—यह ज्ञान परस्पर पृथक् ही होता है; यह शुक्ति है, रजत नहीं है यह ज्ञान रजतज्ञान का उन्मूलन करता हुआ, उसके विमर्शरूप प्रमाव्यापार को भी विध्वंस करता हुआ प्रमाता में स्थिर होकर रहता है। इसी ढंग से कार्य-कारणभाव आदि में भी विश्रान्ति की विचित्रता, प्रमेय को असंभवता, प्रमाता की स्वतन्त्रता से निर्मित होता है, इसीलिए यह ज्ञान प्रमा को स्वातन्त्र्य देनेवाला कहा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि एक प्रमाता में रजतज्ञान को हटाकर शुक्तिज्ञान की निश्चित स्थिति हो जाती है, अतः बाध्य-बाधक व्यवहार भी सिद्ध हो जाता है, नीलादि पदार्थों के समान उन रजत द्विचन्द्रादि के व्यवहार को परमेश्वर अपनी स्वतन्त्रता से भासित करते हैं; इसलिए वे असत्य होते हुए भी सत्य ही भासित होते हैं ॥ ६ ॥

---

१. जो ये असत्यरूप से कहे गये रजत, द्विचन्द्रादि के व्यवहार आभासित हो रहे हैं वे सभी परमेश्वर चिद्रूप की स्वातन्त्र्य-शक्ति से ही प्रतिभासित होते हैं और वे सभी सत्य ही हैं।

इसलिए स यरूप ही कहे हुए हैं उनमें मिथ्यात्व थोड़ा भी नहीं होगा—

या सैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥

यह जो संविद्रूप प्रतिभा-शक्ति भिन्न-भिन्न पदार्थों में क्रम से अनुरंजित है वह क्रम से शून्य [देश-कालादि के स्पर्श से रहित] अनन्त चिद्रूप प्रमाता महेश्वर ही है। और इस विषय में पूर्व गुरुजनों के द्वारा भी कहा गया है।

तस्मादनेकभावाभिः शक्तिभिस्तदभेदतः।
एक एव स्थितः शक्तः शिव एव तथा तथा ॥
तथा यत्र सदित्येवं प्रतीतिस्तदसत्कथम्।
यत्सत्तत्परमार्थो हि परमार्थस्ततः शिवः ॥
सर्वभावेषु चिद्व्यक्तेः स्थितैव परमार्थतः।
मिथ्याज्ञानविकल्प्यानां सत्त्वं चिद्व्यक्ति व्यक्तिता ॥
विद्यते तत्तदत्रापि शिवत्वं केन वार्यते।
इति चेदेषु सत्यत्वं स्थितमेव चिदुद्गमात् ॥
तथा शिवोदयादेव भेदो मिथ्यादिकः कथम्।
व्यवहाराय सत्यत्वं न च वा व्यावहारिकम् ॥ इत्यादि

अनेक स्वभाव वाली शक्तियों के द्वारा व्यवहार करते हुए भी उस-उस शक्ति के अभेदभाव से शक्तिमान् होने के कारण उस-उस प्रकार से शिवत्व की स्थिति रहने से एक शिव ही सर्वत्र रहता है।

अत्र परकीयं मतम् आशङ्कते—दूषयिष्यामीति—

विविक्तभूतलज्ञानं घटाभावमतिर्यथा ।
तथा चेच्छुक्तिकाज्ञानं रूप्यज्ञानाप्रमात्ववित् ॥ ७ ॥

इह शुक्तिकाज्ञानं स्वात्मानं संविदत् स्वात्माभिन्नं प्रमाणं बुध्यते, 'तत्परिच्छिनत्ति' इति न्यायात्, तत्परिच्छेदनान्तरीयकश्च अन्यव्यवच्छेद इत्यशुक्तिज्ञानरूपस्य रजतज्ञानस्यअप्रमाणत्ववेदनं तदेव उच्यते—यत् एतत् शुक्तिकासंवेदनाभिन्नप्रमाणत्ववेदनम्, न च एतत् अपूर्वं—यत् वस्त्वन्तरज्ञानमेव वस्त्वराभावज्ञानम् इति, शुद्धभूभागग्रहणमेव हि घटाभावज्ञानम् इति प्रसिद्धमेतत् । एवम् अप्रमाणतासंवेदनमेव रजतज्ञानस्य बाध्यत्वम् उच्यते, अतश्च बाध्यबाधकत्वम् एवं सिद्धम्, इति चेत् अस्माभिः उच्यते—तत् किं प्रमात्रैक्येनेति ॥ ७ ॥

अत्र प्रसङ्गात् अभावव्यवहारस्य सिद्धौ तत्त्वमुपपादयिष्यन् दृष्टान्तमेव तावत् परदर्शने दूषयति—

अब बाध्य-बाधकभाव में दूसरे के मत की आशंका करते हुए उसका खण्डन करेंगे—

घटादि के अभावरूप शुद्ध भूतल में जैसे घटाभाव बुद्धि होती है उसी प्रकार रजतज्ञान के अप्रमाज्ञान में शुक्तिका का ज्ञान होता है ॥ ७ ॥

भूतल में शुक्तिका सम्बन्धी ज्ञान होता है उस शुक्तिका ज्ञान को अपने स्वरूप से अभिन्न जानता हुआ परिच्छिन्न अर्थात् स्वल्परूप प्रमाण मानता हुआ जिसको जानता है उससे जो भिन्न है—उसे दूर कर देता है, 'तत्परिच्छिनत्ति' इस युक्ति द्वारा और उससे भिन्न का परिच्छेद करना आवश्यक होता है इसलिए यहाँ अन्यव्यवच्छेद [रूप्य व्यवच्छेद] इस अशुक्ति ज्ञानरूप रजतज्ञान की अप्रमाणता का ज्ञान करना इसी को कहा जाता है जो यह शुक्तिज्ञान का अभेदरूप प्रमाण जानता है और यह कोई नयी बात नहीं है, जो कि दूसरी वस्तु का ज्ञान ही उससे भिन्न वस्तु के अभाव का ज्ञान कराता हो, जैसा कि शुद्ध भूतल का ज्ञान करना ही घटाभाव ज्ञान है—यह प्रसिद्ध है । इस प्रकार अप्रमाणरूप ज्ञान ही रजतज्ञान को बाधित करता है, इसलिए ऐसा बाध्य-बाधकभाव भी सिद्ध हो जाता है, यदि बाध्य-बाधकभाव भी सिद्ध हो जाता है, यदि दूसरे लोग कहते हो तो हमने भी कहा है कि प्रमाता के ऐक्य ज्ञान से क्या लाभ होगा ? ॥ ७ ॥

इस प्रसंग से अभाव व्यवहार सिद्ध हो जाने पर यथार्थता सिद्ध करते हुए दूसरों के दर्शन में दृष्टान्त [विविक्त भूतल ज्ञान] को ही दूषित करते हैं—

इस प्रकार मिथ्या ज्ञानों के विकल्परूप जो रजत-सर्पादि हैं उनका व्यवहार नीलादि पदार्थों के समान होता है और इन सबों में चिद्रूप की प्रकाश मानता विद्यमान रहती है, वही उनका परमार्थत्व माना जाता है; क्योंकि वह चिद्रूप की अभिव्यक्ति है इसलिए यह फैलाव-विस्तार उस-उस रूप से शिव का ही है ठीक-ठीक रूप से तो मात्र मिथ्यात्व का भेद ही व्यवहार का प्रयोजक होता है जिससे घट ज्ञान और रजत ज्ञान इन दोनों में भेद देखा जाता है किन्तु परमार्थतः नहीं के बराबर है और व्यवहार को सत्यता से परमार्थ की सत्यता बाधित भी नहीं होती, सर्वत्र व्यवहार वैसा ही होता है ।

नैवं शुद्धस्थलज्ञानातिसिद्धचेत्तस्याघटात्मता ।
न तूपलब्धियोग्यस्याप्यत्राभावो घटात्मनः ॥ ८ ॥

यो दृष्टान्त उक्तः स एव न, कुतः ? इति चेत् उच्यते—इह भूतलं न घट इति तादात्म्येन अभावो व्यवहर्तव्यः कदाचित्, कदाचित् व्यतिरेकेण 'इह भूतले घटो न' इति । तत्र शुद्धभूतलज्ञानात् आद्योऽयं व्यवहारः सिध्यति, यत्र दृश्यत्वं न उपयोगि, उपलब्धिलक्षणप्राप्तिरपि हि यस्य नास्ति पिशाचादेः—स्वभावबलात्, यस्य वा शब्दादेः तद्ग्राहकश्रोत्रादिसामग्रीसाकल्यस्य, तत्र एकज्ञानसंसर्गिवस्त्वन्तरप्रतिपत्त्यभावेनापि निश्चयात् तस्यापि तादात्म्येन अभावो व्यवहार्यः—भूतलं न पिशाचो न शब्दः इति, यत्र तु दृश्यत्वं विशेषणम् अवश्यम् उपयोगि तत्र व्यतिरेकेण अभावे व्यवहर्तव्ये न एषोऽभ्युपायः ॥ ८ ॥

कुतः ? इति चेत्—अतिप्रसङ्गात् इति ब्रूमः, तमेव दर्शयति—

विविक्तं भूतलं शश्वद्भावानां स्वात्मनिष्ठितेः ।
तत्कथं जातु तज्ज्ञानं भिन्नस्याभावसाधनम् ॥ ९ ॥

विद्यमानेऽपि घटे भूतलं शुद्धमेव, नहि भावा मिश्रीभवन्ति ततश्च तदापि शुद्धभूतलज्ञानम् अस्ति, इति सत्यपि घटे कथम् अभावो व्यतिरेकेण न व्यवह्रियते—अत्र भूतले घटो नास्ति इति,

शुद्ध भूतल ज्ञान से उसका घटाभावरूप नहीं सिद्ध हो सकता। वहाँ पर घटरूप योग्य प्रतियोगी की उपलब्धि का भी अभाव है ॥ ८ ॥

जहाँ पर घटाभाव रहता है वही अधिकरणरूप ही घटाभाव माना जाता है, इसमें दृष्टान्त दिया है सो नहीं हो सकता ? क्योंकि यहाँ भूतल है, घट नहीं है, घटाभाव को भूतलरूप ही समझो, भूतल में घटाभाव है तो वह भूतलरूप है। जैसा कि वृक्ष में पिशाचाभाव है तो वृक्षरूप ही है 'इह भूतले घटो न' अर्थात् यहाँ पर भूतल में घट नहीं है। शुद्ध भूतल ज्ञान होने से तादात्म्य का ही व्यवहार सिद्ध होता है, जहाँ पर प्रतियोगी की दृश्यता उपयोगी नहीं है, वहाँ पर उसकी प्राप्ति भी तो नहीं हो सकती हैं; क्योंकि उसका वैसा स्वभाव ही है, जैसा कि शब्दादि को ग्रहण करने में श्रोत्रादि सामग्री की सफलता होती है, उस [शब्दादि] में एक ज्ञान के सम्बन्धि दूसरी वस्तु को सफलता रहती है, एकज्ञान संसर्गी दूसरो वस्तु में ज्ञान का अभाव रहने से भी निश्चय उस [पिशाच शब्दादि] को भी रूप से अभाव व्यवहृत होता है—जैसे भूतल न तो पिशाच है और न शब्द है, जहाँ पर दृश्यत्व विशेषण होगा वहाँ पर ही इसका उपयोग घट सकता है। यदि वहाँ व्यतिरेक से व्यवहार करना हो तो, यह उपाय नहीं हो सकता है ॥ ८ ॥

किस से ? यह यदि कहो तो, अत्यन्त आसक्तिपूर्वक हम कहते हुए उसी को दिखाते हैं—

पदार्थों का स्वरूप अपने में परिनिष्ठित होने से भूतल तो सर्वदा शुद्ध ही रहता है। कभी भी शुद्ध भूतल का ज्ञान घट से भिन्न अभाव का साधन घट के रहते हुए नहीं हो सकता है ॥ ९ ॥

घट के विद्यमान रहने पर भी भूतल शुद्ध ही रहता है, भाव-पदार्थ किसी में मिलकर नहीं रहते हैं—तो फिर, घट के रहने के समय में भी शुद्ध भूतल का ही ज्ञान रहता है, इस प्रकार

'तज्ज्ञानमिति' विविक्तभूतलभागज्ञानं 'जातु इति' कस्यांचिदेव दशायां घटासंनिधानरूपायां, भिन्नस्य घटस्य अभावं साधयति न तु सर्वदा—इति केन प्रकारेण भवेत्, एतेन अत्र भूतले पिशाचो नास्ति इत्यपि स्यात्—इति आपतितं मन्तव्यम् ॥ ९ ॥

ननु एवं व्यतिरेकाभावनिष्ठो व्यवहारो लोके तावत् अविगीतः कस्यांचित् एव दशायां दृष्टः, तत्र का गतिः ? इत्याशङ्क्य चिरन्तनैरपरिदृष्टं तत्सिद्धिप्रकारं दर्शयति—

किं त्वालोकचयोऽन्धस्य स्पर्शो वोष्णादिको मृदुः ।
तत्रास्ति साधयेत्तस्य स्वज्ञानमघटात्मताम् ॥ १० ॥

इह भाव एव भावान्तरस्य 'अभाव' इति व्यवहर्तव्यः इति अयं तावत् अपरित्याज्यः प्रातीतिकः पन्थाः, तत्र भावस्य भावान्तरेण य आधार्याधारभावः स एव भावतदभावयोः, ततश्च भूतले घटव्यतिरिक्तं वस्त्वन्तरं शिलादिकम् आलोकपुञ्जादिकं वा यत् चाक्षुषे ज्ञाने भाति तदेव व्यवह्रियते—भूतले घटाभावो भूतले घटो नास्ति इति वा, यत्रापि नास्ति चक्षुर्व्यापारो नेत्रनिमीलनसंतमसादौ तत्रापि भूतले घटोचितकठिनस्पर्शविविक्तं मृदुम् उष्णं शीतम् अनुष्णाशीतं वा गृह्णन् तमेव अत्र घटाभाव इति व्यवहरति–वायुस्पर्शस्य सर्वगस्य अवश्यं भावात्, इति वाक्यार्थः ।

घट के रहने पर भी व्यतिरेक बुद्धि से अभाव का व्यवहार क्यों नहीं होता है ? ऐसा व्यवहार क्यों नहीं बनता है कि भूतल में घट नहीं है, 'तज्ज्ञानमिति' शुद्ध भूतल का ज्ञान 'जातु' किसी भी अवस्था में घट के असन्निधान दशा में, घट के रहने की दशा में ही घट से भिन्न अभाव को साधते हैं, सर्वदा नहीं—इसलिए 'जातु' शब्द का प्रयोग किया गया है, किस प्रकार से होगा, इस व्यतिरेक अभाव से भूतल में पिशाच नहीं है–यह भी ज्ञान हो सकता है, ऐसा मानना पड़ेगा ॥ ९ ॥

अब शंका करते हैं कि व्यतिरेक अभाव से होनेवाला व्यवहार लोक में प्रसिद्ध है, किसी-किसी घट के असन्निधान दशा में देखा जाता है—सर्वदा नहीं, वहाँ पर फिर क्या करोगे ? ऐसी आशङ्का करके पूर्व के लोगों द्वारा नहीं देखा गया अभाव व्यवहार की सिद्धि के प्रकार को दिखाते हैं—

अन्धे व्यक्ति को आलोकपुंज का अनुभव नहीं होता है, किन्तु शीत-ऊष्ण के स्पर्श का भान मृदु-कठिन के रूप में अवश्य होता है । इसी प्रकार भूतल में आलोकादि के समान घटाभाव का अज्ञान सिद्ध करता है ॥ १० ॥

इस प्रस्तुत भाव-शीलादि में भाव ही दूसरे भाव का 'अभाव' ऐसा व्यवहार कराता है, यह स्वाभाविक मार्ग अपरित्याज्य है, एक भाव का दूसरे भाव से आधार-आधेयभाव सम्बन्ध होता है—वही भाव अभाव का भी सम्बन्ध रखता है और इससे भूतल में घट से भिन्न कोई दूसरी वस्तु शिलादि घटरूप स्पर्श विलक्षण का आलोक पुञ्जादि जो चाक्षुष ज्ञान में भासित होता है—उसी का व्यवहार होता है । जैसा कि भूतल में घट विद्यमान है अथवा नहीं है इत्यादि । जहाँ पर चाक्षुष व्यापार नहीं होता है जैसा कि नेत्र के बंद कर लेने पर अथवा गाढे अन्धकार में वहाँ पर भी भूतल में घटादिकों का मृदु-कठिन, शीत-ऊष्ण अथवा अनुष्ण-शीत ग्रहण करते हुए इसमें घटाभाव का व्यवहार होता है, जैसा कि वायु का स्पर्श सर्वत्र व्याप्त रहता ही है उसी प्रकार अन्धे व्यक्ति भी अपना सब व्यवहार किसी-न-किसी प्रकार सम्पादन कर ही लेते हैं ।

पदार्थस्तु—'किं तु' इति स्वमतोपक्षेपाय प्रतिभाप्रश्नपरामर्शः, किं पुनरत्र न्याय्यमिति तत्राह 'तत्र' भूतले 'आलोकचयः' तावत् अस्ति ज्ञेयः 'अन्धस्य उष्णादिकः स्पर्शः' अस्ति 'तस्य' आलोकचयस्य स्पर्शस्य वा यत् 'स्वज्ञानम् अन्यघटादिविविक्तेन स्वेन रूपेण ज्ञानं, तत् कर्तृ, 'तस्य' आलोकादेः अघटरूपतां घटाभावरूपतां 'तत्र' भूतले साधयति इति शक्योऽयमर्थः। 'शकि लिङ् च' (पा० सू० ३–३–१७२) इति लिङ्। आन्तरप्राणस्पन्दनजनितसूक्ष्मशब्दाकर्णनाच्च श्रोत्रादिसाकल्यं सम्भावयमानः तमेव शब्दम् एकज्ञानसंसर्गिणं शृण्वन् शब्दान्तरं निषेधयति 'न इह अन्यः शब्द' इति। तत् सूक्ष्मशब्दाभावमपि सूक्ष्मतमान्तर्नादावहितश्रोत्रो वेदयते, रसगन्धस्पर्शाभावोऽपि दन्तोदकरसं त्रिपुटिकागन्धं कायीयं च स्पर्शं संवेदयमानेनैव संवेद्यः, नहि एकज्ञानसंसर्गयोग्यवस्त्वन्तरोपलम्भेन विना उपलब्धिकारणसाकल्यनिश्चयोऽस्ति, इति एकान्त एषः अचिरप्रवृत्तितत्तद्विषयानुभवकल्पितस्य तदैव ध्वंसानाशङ्कनात् करणस्य कारणसाकल्यनिश्चयः किम् एकज्ञानसंसर्गितया ? इति चेत् न—तत्तदभावोपलिप्सुः हि प्रयत्नेन तत्तदिन्द्रियाधिष्ठानं व्यापारयन् एव लक्ष्यते ॥ १० ॥

ननु एवम् अदृश्यस्यापि पिशाचादेः निषेधव्यवहारो व्यतिरेकेणापि प्राप्नोति, स हि आलोकपुञ्जो यथा घटात् अन्यः तद्वत् पिशाचादेरपि ? तदेतत् आशङ्क्याह—

अब पद के अर्थ को कहते हैं—'किन्तु' इससे अपने मत का उपक्षेप करने के लिए प्रतिभा अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धिरूपी प्रश्न का परामर्श करती है, यहाँ पर न्याय करना चाहिए, इसके लिए कहते हैं—'तत्र' भूतल में 'आलोकचयः' प्रकाशपुञ्ज ज्ञेयरूप है 'अन्धस्य उष्णादिकः स्पर्शः' अर्थात् ऊष्णादि का स्पर्श अन्धे व्यक्ति को होता है 'तस्य' उस प्रकाशपुञ्ज के स्पर्श का तो ज्ञान अन्य घटादि के ज्ञान से भिन्न अपने स्वरूप में होता है। वह ज्ञान तो किसी कर्ता के माध्यम से हो सकता है, 'तस्य' उस आलोकादि का तो अघटरूप हो अथवा घटाभावरूप हो 'तत्र' उस भूतल में जाना जा सकता है। यहाँ 'शकि लिङ् च' पाणिनीय सूत्र (३-३-१७२) से शक्त अर्थ में लिङ् लकार हुआ है। शरीर के भीतर स्पन्दन से उत्पन्न हुआ सूक्ष्म शब्दों के सुनने से श्रोत्रादि-इन्द्रियों की सफलता संभाव्य है, वही शब्द किसी एक ज्ञान से संपर्क करके सुनाते हुए दूसरे शब्द का निषेध करते हैं 'न इह अन्यः शब्दः' यहाँ पर कोई अन्य शब्द नहीं है। इसी प्रकार से सूक्ष्म-सूक्ष्मतर शब्दों को भी श्रोत्र-इन्द्रिय व्यक्त करती हैं, इस प्रकार रस-गन्ध-स्पर्श और उनके अभाव को भी रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, और स्पर्श के लिए त्वगिन्द्रिय से संविदित होता है, एक ज्ञान के संसर्ग के योग्य दूसरी वस्तु के ज्ञान बिना उपलब्धि का निश्चय नहीं होता है—यही एकान्त निश्चय है, एक कारण के साथ दूसरे कारण का ज्ञान संसर्ग के बिना नहीं होता है, इसलिए उन-उन अभावों का भी ज्ञान उन-उन इन्द्रियों के अधिष्ठान के व्यापार से ही उपलक्षित होता है ॥ १० ॥

अब शंका करते हैं कि अदृश्य [इह भूतले पिशाचो नास्ति तादात्म्याभावस्तु स्वसिद्ध एव इत्यपि शब्दस्य अर्थः] जो इस भूतल में पिशाच नहीं है—ऐसा तादात्म्य अभाव तो 'स्वतः' अपने से ही सिद्ध है और निषेध व्यवहार 'अभाव व्यवहार' व्यतिरेक से भी तो प्राप्त होता है, वही प्रकाशपुञ्ज है। जैसा कि घटाभावरूप व्यवहार अर्थात् घट से भिन्न उसी प्रकार पिशाचादि का भी व्यवहार होगा। उसी की आशङ्का करके कहते हैं—

पिशाचः स्यादनालोकोऽप्यालोकाभ्यन्तरे यथा ।
अदृश्यो भूतलस्यान्तर्न निषेध्यः स सर्वथा ॥ ११ ॥

आलोकपुञ्जो यद्यपि पिशाचात् व्यतिरिक्तो यद्यपि च आलोकोऽस्ति अपिशाचात्मा इत्येतावत् सिद्धयति तथापि अत्र 'पिशाचो नास्ति' इत्येतत् अशक्यम् अध्यवसातुम्, घटो हि आलोकपूरमध्येऽपि असम्भाव्यः—अघटसंनिधौ तत्र आलोकपूरापसर्पणात्, अतश्च सिद्धयतीदम्—अत्र घटो नास्ति इति, पिशाचस्तु तादृक्स्वभावो—यो भूतलमध्येऽपि आलोकमध्येऽपि वा भवन् भूतलस्य आलोकस्य वा तां निबिडतां न प्रतिहन्ति, अतश्च आलोकमध्ये तस्य सम्भावनात् कथं व्यतिरेकेण निषेधव्यवहारः, एवं रूपमध्ये रसादेः सम्भावनात् तस्यापि अनिषेधः यद्यपि अनालोकः आलोकात् अन्यः पिशाचः तथापि असौ भूतलस्य अन्तर्मध्येऽदृश्यो भवति इति सम्भाव्यते यथा, तद्वत् एव आलोकस्याभ्यन्तरे सोऽस्ति इति सम्भाव्यत एव, ततश्च यद्यपि आलोकस्ततोऽन्यः इत्यनेन पथा निषिद्धः पिशाचः तथापि सर्वप्रकारेण न निषिद्धः इति तदभावनिबन्धनाः कथं तत्र व्यवहाराः प्रवर्तन्ताम् इति श्लोकार्थः ॥ ११ ॥

एवं प्रसङ्गात् अभावव्यवहारस्य तत्त्वम् उपदर्श्य प्रकृते योजयति—

आलोक के रहते हुए भी पिशाच का ज्ञान नहीं होता है और आलोक के न रहने पर भी नहीं होगा; क्योंकि पिशाच भूतल में भी अदृश्य है और आलोक में भी अदृश्य है—इसलिए पिशाच का निषेध सर्वथा असम्भव है ॥ ११ ॥

यद्यपि आलोकपुञ्ज पिशाच से भिन्न है और अपिशाचरूप आलोक हैं—तो भी, यहाँ पर भूतल में 'पिशाचो नास्ति' पिशाच नहीं है—यह निश्चय करना अशक्य है; क्योंकि घट तो आलोक के बीच में भी, घटाभाव की सन्निधि में, पूरे आलोक का समर्पण नहीं होता है, इससे यह सिद्ध होता है कि यहाँ पर घट नहीं है, पिशाच तो वैसा ही स्वभाव का है जो कि भूतल के मध्य में या आलोक के मध्य में भी रहता हुआ भूतल की या आलोक की सघनता को रोक सकता है और इसीलिए आलोक के बीच में उसकी सम्भावना होने से उसके अभाव का व्यवहार कैसे हो सकता है ? इस प्रकार से रूप के बीच में रस इत्यादि की सम्भावना से उसका भी निषेध नहीं हो सकता है ।

पदार्थ के विषय में कह दिया गया । अब वाक्य का अर्थ कहते हैं—अनालोक आलोक से भिन्न ही है तो भी, वह भूतल से अदृश्य रह सकता है—जैसे यह सम्भव है, उसी प्रकार से आलोक के भीतर भी पिशाच है—यह सम्भव हो ही सकता है । इससे यह सिद्ध होता है कि आलोक पिशाच से भिन्न है, इसीलिए जैसे पिशाच का निषेध किया गया है—तो भी, सब प्रकार से उसका निषेध करना असम्भव है । इसलिए इसमें अभावमूलक व्यवहार कैसे प्रवर्तित होंगे, यही श्लोक का अर्थ है ॥ ११ ॥

[सब सत्य है; क्योंकि भूतल घटादि से शून्य है इस वाक्य से धर्मोत्तर उपाध्याय के मत का अच्छी तरह निर्णय कर उसमें असत्यरूप दिखा दिया है । अब सत्यरूप की दृढता सिद्ध करने के लिए कहते हैं] इस प्रकार प्रसंग से अभाव व्यवहार के तत्त्व को बताकर उपस्थित विषय को बताते हैं।

एवं रूप्यविदाभावरूपा शुक्तिमतिर्भवेत् ।
न त्वाद्यरजतज्ञप्तेः स्यादप्रामाण्यवेदिका ॥ १२ ॥

यथा आलोको घटाभाव इति आलोके गृहीते प्राक् गृहीतस्य घटस्य न किञ्चित् आयातम् तथैव शुक्तिज्ञानं रूप्यज्ञानाभाव इति इयत् सम्भाव्यते यथा घटज्ञानं घटज्ञानप्रामाण्यसंवित् पटज्ञानाभावः पटज्ञानाभावप्रामाण्यसंवित् इयता च न पूर्वप्रवृत्तं पटज्ञानम् अप्रमाणीभवति, एषा हि तस्य घटज्ञानस्य स्वरूपचिन्ता सर्वा न ज्ञानान्तरस्य आद्यस्य किमपि अतो जातम् । एवं शुक्तिरियम् इति, न रजतम् इदम् इति च ज्ञानमेव स्वात्मना प्रकाशताम्, अहं शुक्तौ रजताभावे च प्रमाणं न तु रजते इति, तावता तु प्राक्तनस्य रजतज्ञानस्य न किञ्चित् वृत्तम्, इति तद्विषयीकृतं रजतं कथम् असत्यं स्यात् ॥ १२ ॥

ननु इदमित्यनेन तदेव परामृश्यते—यत्र रजतज्ञानम् अभूत् तत्रैव इदानीं 'न रजतम् इति, शुक्तिः इति' च ज्ञानं प्रमाणभूतं जातं, तत् अतोऽनुमीयते—यत् 'प्राच्यं रजतज्ञानम् अप्रमाणम्' इति, नहि एतत् सम्भवति—विरुद्धविषयावगाहि ज्ञानद्वयं प्रमाणम् एकत्र विषयीभवति इति, तत् अयम् आनुमानिको बाधव्यवहारो भविष्यति ? इत्याशङ्क्याह—

इस तरह रजत ज्ञान की अभावरूपी शुक्तिका बुद्धि भले ही होवे । किन्तु पहले रजत ज्ञान के अप्रामाण्य को जाननेवाली शुक्ति बुद्धि नहीं हो सकती है ॥ १२ ॥

जैसे आलोक घटाभाव है, उसी प्रकार आलोक के ग्रहण हो जाने पर पूर्व में ग्रहण किये गये घट का कुछ भी नहीं बिगड़ता, इसी प्रकार शुक्ति ज्ञान रजत ज्ञान का अभाव है—ऐसी सम्भावना की जा सकती है । जैसा कि घटज्ञान पटज्ञान की प्रामाणिकता को भी ग्रहण करता है—इसी प्रकार पटज्ञानाभाव पटज्ञानाभाव की प्रामाणिकता का ज्ञान करता है इतने से पूर्व में प्रवृत्त हुए पटज्ञान को अप्रमाण नहीं बना सकता है, यही घटज्ञान का घटसम्बन्धी ही सब प्रकार की स्वरूप चिन्ता करता है, इससे पूर्व में हुए दूसरे ज्ञान का कुछ भी नहीं बिगड़ता है अर्थात् शुक्तिज्ञान का कुछ भी नहीं बिगड़ता है । इस प्रकार यह शुक्ति है; रजत नहीं और यह ज्ञान ही अपने आप रजतरूप से प्रकाशित होता है । मैं स्वयं शुक्तिका में और रजताभाव में प्रमाण हूँ, रजत में नहीं हूँ, इतने से पूर्व में हुए रजतज्ञान का कुछ भी तो नहीं बिगड़ता है। इसलिए उस ज्ञान को विषय मानता हुआ रजत कैसे असत्य हो सकेगा ? ॥ १२ ॥

[यह जो कहा गया है कि यह शुक्ति है, रजत नहीं है—इस प्रकार अपने से हुए ज्ञान की प्रकाशरूपता है, मैं स्वयं शुक्ति में और रजताभाव में प्रमाण हूँ, रजत में प्रमाणभूत नहीं हूँ—इतने से पूर्व में हुए रजतज्ञान का कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं; अवसर ढूँढ़कर आक्षेप करते हैं ।]

'ननु' कहकर प्रश्न करते हैं कि 'इदम्' इससे उसीका परामर्श होता है, जहाँ पर रजतज्ञान हुआ था, वहाँ पर ही इस समय रजत नहीं, किन्तु शुक्ति है—यह ज्ञान प्रमाणभूत हो गया, इससे उसका अनुमान होता है जोकि पूर्व में रजतज्ञान अप्रमाणित था, यह संभव नहीं हो सकता है कि विरुद्ध में दो विषयों का अवगाहन करनेवाला जो ज्ञान है एक जगह ज्ञानरूप होकर प्रमाणभूत हो सके, सो यह अनुमानजन्य बाध का व्यवहार होगा ? इस प्रकार आशंका कर कहते हैं—

धर्म्यसिद्धेरपि भवेद्बाधा नैवानुमानतः ।
स्वसंवेदनसिद्धा तु युक्ता सैकप्रमातृजा ॥ १३ ॥

न केवलं स्वसंवेदनात् न सिद्धयति बाधा, यावत् अनुमानतोऽपि न सिद्धयति—धर्मिणोऽसिद्धेः, अपिशब्दात् हेतोः व्याप्तेश्च, अपिः उभयत्र नेयः, इह धर्मिणि सिद्धे सिद्धेन हेतुना स्मर्यमाणव्याप्तिकेन साध्यधर्मायोगव्यवच्छेदकोऽनुमानव्यापारः इह च प्राच्ये रूप्यज्ञाने धर्मिणि अप्रामाण्यं साध्यो धर्मः तत्र शुक्तिकाज्ञानं वा, न रजतम् इति ज्ञानं वा, तज्ज्ञानविषयीकार्यत्वं वा विषयगतं हेतूक्रियते, न च एतत् युक्तम्—तत्काले प्राच्यरूप्यबोधस्य धर्मिणोऽभावात्, न चापि तस्य शुक्तिज्ञानादयो धर्माः, न च अपक्षधर्मात् साध्यसिद्धिः, अतः स्मर्यमाणं तद्धर्मि स्यात् इत्यपि असत्, अथ शुक्तिः न रजतज्ञानस्य विषय इति साध्यते शुक्तिकाज्ञानविषयत्वात् इति, तत् यदि इदानीम् तत्सिद्धसाधनम्, अथ पूर्वम् तदा तत्पूर्वस्वसंवेदनेन बाध्यविषयता केन चैवं व्याप्तिर्गृहीता—यत्र इदानीम् अन्यत् ज्ञानम् तत्र पूर्वम् अन्यत् न भवति इति, अनुमानान्तरेण इति चेत् अनवस्था, एतेन एतत् प्रत्युक्तम्—एकस्मिन् विषये कथं ज्ञानद्वयं स्यात् इति, को हि एकविषयतां द्वयोः ज्ञानयोः जानीयात्, ते हि तावत् स्वात्मनि स्वविषये च विश्राम्यत इति

धर्मी की असिद्धि से भी बाधा नहीं होती है और अनुमान से भी नहीं हो सकती है, किन्तु अपने संवेदन ज्ञान से युक्त एवं प्रमाता से जन्य होकर बाधा का होना सम्भव है ॥ १३ ॥

विशुद्ध भूतल जो कह आये हैं, वहाँ पर केवल स्वसंवेदन से ही बाधा सिद्ध नहीं होती किन्तु अनुमान से भी बाध का सिद्ध होना एक प्रकार से असंभव सा ही होगा। धर्मी की असिद्धि में हेतु और व्याप्तिज्ञान दोनों ही कारण हैं। यहाँ पर 'अपि' शब्द दोनों स्थानों में अन्वित होता है, जो कि यहाँ पर धर्मी की सिद्धि में सिद्ध हेतु से स्मर्यमाण व्याप्तिवाला है उससे साध्यधर्म का अयोगव्यवच्छेदक अनुमान का व्यापार होता है। पूर्व का रजतज्ञान धर्मी में अप्रामाण्य साध्य धर्म है, उसके साध्य धर्मी में शुक्ति का ज्ञान है या रजत का ज्ञान नहीं है, इस ज्ञान का विषय बनानेवाला हेतु बनाया जा रहा है, यह उचित नहीं है—क्योंकि उस समय [शुक्तिका ज्ञान काल] में पूर्व के जो रजतज्ञान धर्मी है उसका अभाव रहता है और उस रजतज्ञान का शुक्ति ज्ञानादि धर्म नहीं है और जिस पक्ष का धर्म नहीं है उससे साध्य की सिद्धि नहीं बन सकती है। इसीलिए स्मरण किये जानेवाला रजतज्ञान का धर्मी है यह भी कहना ठीक नहीं है; क्योंकि वह पक्ष का धर्म नहीं है, यदि शुक्ति रजतज्ञान का विषय नहीं है, तो यह सिद्ध नहीं हो सकता है, शुक्तिज्ञान उसका विषय है रजत नहीं है, इस शुक्तिज्ञान के अवसर में सिद्ध-साधन [विफल] हो जाता है, दूसरे प्रकार से अब यदि कहो कि पूर्व के ज्ञान से बाध्य-विषयता की सिद्धि होगी इसमें कौन-सी व्याप्ति है जो कि इस समय दूसरा ज्ञान हुआ है। वह पूर्व में नहीं होगा यदि दूसरे अनुमान से होगा—ऐसा मानते हो तो, अनवस्था हो जायेगी, इससे यह खण्डित हो जाता है कि एक विषय में दो ज्ञान कैसे संभव होंगे, कौन व्यक्ति दो ज्ञान की एक विषयता को मानने के लिए तैयार है, पहले तो अपने में और अपने विषय में विश्राम लेता है—यह कहा है। इसी-

---

१. सति धर्मिणि धर्मचिन्ता। इस प्रकार धर्मी के रहने पर ही धर्म का विचार करना युक्त बैठता है।

उक्तम्, इति अनुमानतोऽपि न बाधा, न च तथाभूतमपि व्यवधानम् अत्र प्रतीतौ संवेद्यते—स्वसंवेदनसिद्धतया झटिति भासनात्, अत एव एतदपि अशक्यं वक्तुम्—माभूत् बाधा नाम इति। एवं परपक्षेऽनुपपत्तिं प्रदर्श्य स्वपक्षे एकप्रमातृपरिनिष्ठितेः उदियात् बाध्यबाधकभाव इति वाक्येन प्रतिज्ञातं निगमयति—युक्ता सा एकस्मात् प्रमातुः यदि जायेत इति, स एव हि तथा निर्माता इति व्याख्यातमेव, स्थिते चैवं यदि व्यवहारसिद्धयेऽन्यथानुपपत्तिरप्युच्यते तत् उच्यतां कामम् 'अधुना सर्वं सिद्धयति' इति ॥ १३ ॥

न केवलमेते कार्यकारणभावस्मरणबाधाव्यवहाराः सकललोकयात्रासामान्यव्यवहारभूता एकप्रमातृप्रतिष्ठा, यावत् अवान्तरव्यवहारा अपि ये क्रयविक्रयादयः समलाः, उपदेश्योपदेशभावादयश्च निर्मलाः, तेऽपि एकप्रमातृनिष्ठा एव भवन्ति—व्यवहारो हि सर्वः समन्वयप्राणः इति उपसंहारक्रमेण दर्शयति—

लिए अनुमान से भी वहाँ पर कोई बाधा नहीं होगी और वैसा व्यवधान भी इस प्रतीति में ज्ञात नहीं होता है; क्योंकि वह स्वसंवेदन से सिद्ध होने के कारण शीघ्र ही भासित हो जाता है, इसीलिए यह भी कहना अशक्य है कि बाधा न हो। इस प्रकार दूसरे के पक्ष में अनुपपत्ति दिखा करके अपने पक्ष में भी 'एकप्रमातृपरिनिष्ठितेः उदियात् बाध्यबाधकभावः' इस वाक्य से अपनी प्रतिज्ञा का उपसंहार करते हैं-यदि एक प्रमाता से बाधा होतो है, तो समुचित ही है, वह चिद्रूप ही वैसा निर्माण करनेवाला है इसकी व्याख्या पूर्व में हो चुकी है, ऐसी स्थिति होने पर यदि व्यवहार की सिद्धि के लिए अन्यथा बाध्य-बाधकभाव सिद्ध करते हो तो किया करो, 'अधुना सर्वं सिद्धयति' किन्तु अब तो सब कुछ सिद्ध हो हो गया है। ॥ १३ ॥

[पूर्वोक्त अनुवादपूर्वक ही वर्तन किया जायेगा एवं अभेदात्मक ज्ञान के लिए हो होगा] ये कार्य-कारणभाव स्मरण बाधरूप व्यवहार हैं—वे सभो लोक में सामान्य व्यवहार के कारण माने जाते हैं, इसलिए वे एक हो प्रमाता में प्रतिष्ठित रहते हैं, इसके भीतर जितने भी व्यवहार हैं—क्रय-विक्रयरूपादि, वे सब के सब मल से युक्त मायीय प्रमाताओं के और निर्मल उपदेश्य-उपदेशभाव आदि के एक प्रमातृगत ही होते हैं; क्योंकि सभी व्यवहार समन्वय जीवनवाले होते हैं उसे उपसंहार क्रम से दिखाते हैं—

---

१. निर्मल और समल भेद से व्यवहार दो प्रकार के होते हैं। माया से अन्धे हुए सकल, प्रलयाकल, विज्ञानाकलों का समल व्यवहार होता है, जिसका आगम में उल्लेख किया गया है—

अवस्थात्रितयेऽप्यस्मिंस्तिरोभावनलीलया ।
शिवशक्त्या समाक्रान्ताः प्रकुर्वन्ति विचेष्टितम् ॥

सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल इनकी तीनों अवस्था में भी छिपा देने की लीला करनेवाली शिव-शक्ति से आक्रान्त होने के कारण सारी चेष्टाएँ किया करते हैं।

क्रय-विक्रय विवादादि का व्यवहार समल से होता है और जिन लोगों ने अपने स्वरूप को पहचान लिया है तथा परमेश्वररूप बन गये हैं उनका व्यवहार निर्मल होता है। यद्यपि पशु आदि एवं विद्येश्वर आदि दीक्षित पर्यन्त लोगों में उपदेश, दीक्षा, नित्य-नैमित्तिकादि अनुष्ठान, ध्यान, समाधानादि व्यवहार होता है वह समल से ही होता है, उनमें भी कुछ मल शेषरूप में रह जाता है; क्योंकि माया का व्यवहार विगलित न होने से यह होता रहता है इसलिए जिस कारण से व्यवहार-

इत्थमत्यर्थभिन्नार्थावभासखचिते विभौ ।
समलो विमलो वापि व्यवहारोऽनुभूयते ॥ १४ ॥

'तत्तद्विभिन्नेति' श्लोकद्वयोक्तेन अनेन उपपत्तिप्रकारेण, अन्वयव्यतिरेकात्मना, तथा श्लोकान्तरैरुक्तेन व्यवहारोदाहरणप्रकारेण इदमपि मन्तव्यम्—यत् विभौ देशकालानवच्छिन्ने, अत एव अत्यर्थभिन्नैः—मायाबलात् भेदैकप्राणितैः नीलसुखाद्याभासैः प्रतिबिम्बकल्पैः अनतिरिक्ततया वर्तमानैः, खचिते—स्वरूपानन्यथाभावेन उपरक्ते, विश्रान्तः सर्वो व्यवहारोऽनुभूयते—अनुभव एव अत्र दृढतमं प्रमाणम् इति यावत्, अनुभूयते च सोपदेशैः अवधानधनैः—येन एषां यैव संसारसंमता व्यवहारदशा सैव प्रमातृतत्त्वप्रख्यात्मिका शिवभूमिः । यदुक्तम्—'""""सम्बन्धे सावधानता ॥' इति अप्रत्यभिज्ञातात्मपरमार्थानां समलो व्यवहारः, अन्येषां स एव निर्मलः ।

इस प्रकार अत्यन्त भिन्न विषयों के अवभास से युक्त विभु में समल अथवा विमल भी व्यवहार देखा जाता है ॥ १४ ॥

'तत्तद्विभिन्नेति' इत्यादि दो श्लोकों से उपपत्तिपूर्वक व्यवहार के उदाहरण देने से यह भी मानना होगा कि देश-काल से अनवच्छिन्न विभु में माया-शक्ति के बल से अत्यन्त भिन्न अनेक भेदों से युक्त प्रतिबिम्बतुल्य नील-सुखादि के आभासों से जो कि तद्रूप ही रहते हैं, उनसे युक्त अन्यरूप न होने के कारण रंगे हुए विभु में सभी व्यवहार विश्रान्त होकर अनुभूत होते हैं; क्योंकि अनुभव ही यहाँ पर दृढ प्रमाण है और देनेवाले लोगों से जो उपदेश के पात्र हैं उनसे अनुभव किया भी जाता है । [मूढानां झटिति तथाभिमानाभावेऽपि उक्तोपदेशपरिशीलनदिशा प्रकाशत एवार्थ इत्यर्थः ।] अर्थात् मूढप्राणियों को भी वैसा अभिमान का अभाव हो जाने पर शीघ्र ही कहे हुए उपदेश को दिशा से प्रकाश होता है । जिस कारण से इन लोगों के संसार मान्य व्यवहार दशा [अनवहित अभीष्ट] है वही प्रमातृतत्त्व को बतानेवाली शिवभूमि [शुद्ध सर्वज्ञ सर्वकर्तृत्वमयात्मक] है और इस विषय में कहा भी गया है—

ग्राह्यग्राहकसंवित्तिः सामान्या सर्वदेहिनाम् ।
योगिनां तु विशेषोऽयं सम्बन्धे सावधानता ॥

जिन लोगों को अपने स्व-स्वरूप की पहचान नहीं है उनमें मायीय समल व्यवहार भी देखा जाता है और जिनको स्व-स्वरूप का पूर्णरूप से बोध है उनका व्यवहार निर्मल होता है ।

रूपता रहती है, वह तो भेद एवं अभेद प्राणित समन्वयरूप सर्वथा भेद के छिप जान पर भी मल का व्यवहार करती ही है फिर भी जिनको अपने स्वरूप का ज्ञान हो चुका है उनको अपने में और परमातमा में मल का शोधना-समझना आदि एक ही मात्र व्यापार होने से प्रायः मुक्त ही होते हैं ।

१. मूढजनों में द्रुतगति से वैसा अभिमान का अभाव रहने पर भी कहे गये उपदेश का परिशीलन करने से अर्थ प्रकाशित होता है ।

२. समस्त शरीरधारियों के लिए ज्ञाता और ज्ञेय का ज्ञान करना सामान्यरूप से कठिन होता है, किन्तु योगियों में तो यह विशेषता देखी भी जाती है कि वह इस विषय में जाग्रत ही रहते हैं अर्थात् ज्ञेय सर्वदा ज्ञाता से सम्बद्ध रखता है । बिना ज्ञाता से सम्बद्ध रखे हुए कोई ज्ञेय माना नहीं जाता, जहाँ से ज्ञाता का उदय होता है और जिसमें ज्ञेय की विश्रान्ति होती है उसका योगी को बोध रहता है ।

इति शिवम् ॥ १४ ॥ अदितः ॥ ७७ ॥

इति श्रीमन्माहेश्वराचार्यवर्योत्पलदेवपादविरचितायामीश्वरप्रत्यभिज्ञायां श्रीमदाचार्यभिनवगुप्तकृतविमर्शिन्याख्यव्याख्योपेतायां प्रथमे ज्ञानाधिकारे एकाश्रयनिरूपणं नाम सप्तममाह्निकम् ॥ ७ ॥

अथ प्रथमे ज्ञानाधिकारे माहेश्वर्यनिरूपणाख्यं

अष्टममाह्निकम्

स्वसंवेदनसंसिद्धव्यवहारवशेन　　　यः ।
नित्यं महेश्वरः सिद्धः सिद्धानां तं स्तुमः शिवम् ॥

एवं ज्ञानस्मरणापोहनानि व्युत्पाद्य तेषाम् 'एकमाश्रयं विना व्यवहारो न युक्तः' इति निरूपितम् एतावता, 'न चेदन्तः कृता……।' इत्यत्र यत् उक्तम् 'एक' इति तत् परिघटितम्। अन्तराभाससमर्थनेन 'अन्तःकृतानन्तविश्वरूप' इत्यपि निरूपितम्। यत् तत्रैव 'महेश्वर' इति उक्तम् तन्माहेश्वर्यं स्वातन्त्र्यरूपम् उपपादयितव्यम्, तच्च ज्ञानविषयं क्रियाविषयं च इति उभयप्रकारम्,

यह कल्याणकारी भाव है ॥ १४ ॥

सप्तम आह्निक समाप्त

जो महेश्वर सिद्धजनों के लिए अपने ज्ञान के संसिद्ध व्यवहार के बल से नित्य ही सिद्ध है, उस शिव का हम स्तवन करते हैं।

इस प्रकार ज्ञान-शक्ति, स्मरण-शक्ति और अपोहन-शक्ति का प्रतिपादन कर, अब उन सभी का 'एकमाश्रयं विना व्यवहारो न युक्तः' अर्थात् एक आश्रय के बिना व्यवहार का होना असंभव है—इतने से यह विषय सिद्ध किया गया है।

न चेदन्तःकृतानन्तविश्वरूपो महेश्वरः ।
स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान् ॥

इस कारिका में जो कहा गया है 'एकः' एक शब्द से उसको घटा दिया गया है। अन्तर के आभास के समर्थन से 'अन्तःकृतानन्तविश्वरूपो' अपने भीतर अनन्त-असंख्य विश्वरूप भरा पड़ा है इसका भी निरूपण कर दिया गया है। वहाँ पर ही 'महेश्वरः' महेश्वर ऐसा शब्द कहा है इससे माहेश्वर्य की स्वतन्त्रता को सिद्ध करना है और वह स्वातन्त्र्य ही ज्ञान का विषय है एवं क्रिया का भी विषय है।

१.　　कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे ।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः ॥

स्वयं महेश्वर ही तो कर्ता और ज्ञाता के रूप में सिद्ध है उनकी अजडरूप में निषेध अथवा सिद्धि कौन कर सकता है ? उसका यही परम स्वातन्त्र्य है।

२.　　शक्त्या गर्भान्तर्वर्तिन्या शक्तिगर्भं परं महः ।

परमेश्वर के भीतर शक्तिरूप से परम तेज रहता है।

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
न हिमस्य पृथक् शैत्यं नोष्ण्यं वह्नेः पृथग्भवेत् ॥

ततो भगवान् ज्ञाता कर्ता च, यद्यपि च प्रकाशविमर्शात्मकं चिदेकघनम् एकमेव संविद्रूपम्, तथापि व्युत्पादनाय तत्परिघटित एव अयं विभागः, तेन ज्ञानात्मकक्रियाविषयं स्वातन्त्र्यं यद्यपि क्रियाशक्तिरूपम् तथापि ज्ञानाधिकार एव निर्णेतव्यं—तद्विषयत्वात्। एवं च ज्ञातृशब्दार्थः प्रकृतितः प्रत्ययतश्च सम्पूर्णतया निर्णीतो भवति। तत्र ज्ञानं नाम स्वयं भेदिताभासभेदोपाश्रय-नियन्त्रणासङ्कुचितम् 'अहमिति' संवेदनम्। तत्र आभासेषु यत् स्वातन्त्र्यं, तदेव ज्ञानशक्तिविषयं स्वातन्त्र्यं सम्पद्यते इति। 'तात्कालिकाक्षसामक्ष्य……।' इत्यादिना '………शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।' इत्यन्तेन श्लोकैकादशकेन तत् निरूप्यते। तत्र आभासान्तरापेक्षी च आभासोऽन्यथा वा इति श्लोकेन उक्त्वा, स एव आभास एक इति श्लोकान्तरेण उच्यते। अर्थक्रियाभासोऽपि तथैव आभासनियत इति श्लोकद्वयेन उक्त्वा कस्मिन् आभासे सा अर्थक्रिया इति पुनः श्लोकद्वयेन। आभासान्तरविचित्रस्य भित्तिस्थानीयम् आन्तरत्वम् इति श्लोकेन। ततो बाह्यत्वं स्वरूपतो

इससे सिद्ध होता है कि भगवान् महेश्वर ही स्वयं ज्ञाता और कर्ता है और इनका स्वरूप प्रकाश विमर्शात्मक एकमात्र संविद्रूप ही है, फिर भी दूसरों को इनका बोध हो जायें, इसलिए ज्ञान और क्रियारूप में विभाग किया गया है, ज्ञानात्मक क्रिया के विषय का स्वातन्त्र्य 'आभासवैचित्र्य' यद्यपि क्रिया-शक्तिरूप होने के कारण 'क्रियाधिकार' में ही इसका प्रस्ताव करने योग्य है तथापि ज्ञानविषयक होने से भी 'ज्ञानाधिकार' में इसका विवेचन करना दोष जनक नहीं माना जाता है; क्योंकि इन दोनों का विषय एक है इस प्रकार ज्ञातृ शब्द का अर्थ होता है कि—ज्ञातृ में 'ज्ञाधातु' से 'तृच्' प्रत्यय हुआ है इसीलिए प्रकृति और प्रत्यय मिल कर पूरा का पूरा ज्ञान करनेवाला अर्थ निर्णित होता है। [ज्ञान और क्रिया की परस्पर एकरूपता होने के कारण आचार्य हंसरूप होकर जल और दूध के समान विषय को भिन्नतापूर्वक ज्ञानस्वरूप के क्रिया से अलग ही विवेचन कर देते हैं] ज्ञान क्या चीज है ? स्वयं भेद करनेवाले का आभास से भेद के आधार को नियन्त्रित करके विस्तार कर देना जिसका अहं यह परामर्श होता है। प्रकृति के अर्थ से ज्ञान के स्वरूप का भेद कर देने पर, प्रत्ययार्थं के साथ आभास होने पर, जो स्वातन्त्र्य है वही ज्ञान-शक्ति का विषयरूप स्वातन्त्र्य कहलाता है।

'तात्कालिकाक्षसामक्ष्य ……। ' इत्यादि से लेकर '………शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः।' यहाँ तक ग्यारह श्लोकों से निरूपण करेंगे। जैसे आभास किसी दूसरे आभास की अपेक्षा रखता है, दूसरा कोई नहीं भी रखता है यह प्रथम श्लोक से कह कर, वही आभास एक है ऐसा दूसरे श्लोक से कहेंगे। अर्थक्रिया का आभास भी उसी प्रकार आभास में नियत रहता है, यह दो श्लोकों से कहेंगे। आभासान्तर की विचित्रता में भित्ति स्थानीय सदृश आन्तरत्व है, यह एक श्लोक से कहेंगे। उसके बाद स्वरूप से और विभाग से बाह्यत्व की सिद्धि बतायेंगे, दो श्लोकों

शिव से शक्ति अलग नहीं है और शक्ति से शिव भिन्न नहीं है; क्योंकि हिम से व्यतिरिक्त शीतलता नहीं रहती एवं वह्नि से अलग ऊष्णता-दाहकता नहीं रहती है।

इस युक्ति से तो एक ही प्रकाश विमर्शात्मक संविद्रूप है किन्तु यह ज्ञान और क्रिया दो क्या चीज है ? जबकि ज्ञान और क्रिया में स्वातन्त्र्य ही परमार्थतः चित्तत्व कहलाता है ज्ञातृ सत्ता ही क्रिया है और क्रिया स्वरूप ही ज्ञान है, दूसरों को इसका बोध हो जायें इसी वास्ते ज्ञान और क्रिया की विवक्षा की गयी है।

विभागतश्च श्लोकयुग्मेन। ततः श्लोकेन ज्ञानादिशक्त्याश्रयस्य एकस्य उपसंहारः। श्लोकान्तरेण महेश्वरत्वम् उपसंहरता भाविनः क्रियाधिकारस्य उपक्षेप इति संक्षेपार्थ आह्निकस्य। अथ श्लोकार्थो निरूप्यते।

ननु यदि परमेश्वरनिष्ठतयैव समस्तोऽयं व्यवहारः तत् अस्य स्फुटत्वास्फुटत्वप्रायप्रसिद्ध-वैचित्र्यानुपपत्तिः—येन किल अयम् अनुप्राणितः स एक एव भगवान्, न च तद्व्यतिरेकेण व्यवहारनिजं किंचन तत्त्वम् उत्पश्यामः ? इत्याशङ्क्याह—

तात्कालिकाक्षसामक्ष्यसापेक्षाः केवलं क्वचित्।
आभासा अन्यथान्यत्र त्वन्धान्धतमसादिषु ॥ १ ॥
विशेषो[1]ऽर्थावभासस्य सत्तायां न पुनः क्वचित्।
विकल्पेषु भवेद्भाविभवद्भूतार्थगामिषु ॥ २ ॥

केवलम् एतावता आभासानां भेदो, न पुनरर्थावभासस्य स्वात्मगतः क्वचिदपि भेद इति श्लोकद्वयस्य संमेलितस्य सम्बन्धः, यस्मिन् एव काले स आभास आभाति तत्काले एव भवति, यत् अक्षसामक्ष्यं—बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वं नाम आभासान्तरं पश्यामीत्येवंरूपम् तत्सापेक्षाः—तद्व्यामिश्राः क्वचित् आभासा भवन्ति, यत्र स्फुटताव्यवहारः अन्धविषयः

से। पश्चात् एक श्लोक से ज्ञानादि-शक्ति के एक आश्रय का उपसंहार करेंगे। दूसरे श्लोक से महेशता का उपसंहार करते हुए आगे आनेवाले क्रियाधिकार का उपक्षेप करेंगे, यही इस आह्निक का संक्षेप अर्थ है। अनन्तर श्लोक के अर्थ का निरूपण किया जाता है।

अब शङ्का करते हैं कि यदि सारा का सारा व्यवहार परमेश्वर के ही आधार से होता है—तब तो, इस [व्यवहार] का प्रत्यक्ष रहना और दबे रहना इत्यादि प्रसिद्ध विचित्रता कैसे बन सकती है ? जिससे यह व्यवहार जीवित होता है—वह तो, एक ही भगवान् परमेश्वर का है, और उस परमेश्वर के बिना व्यवहार का अपना निजी तत्त्व स्वरूप हम क्या नहीं देखते हैं ? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—

कहीं-कहीं केवल उस काल में होनेवाले इन्द्रियों की समक्षता की अपेक्षा करके आभास होते हैं। अन्यत्र तो अन्धे को अन्धकार में जैसा ज्ञान होता है वैसा ही ज्ञान अर्थात् शून्य रहता है ॥ १ ॥

पदार्थं अवभास की सत्ता में कोई विशेषता नहीं होती आगे होनेवाले अथवा वर्तमानकाल में होनेवाले या बीते हुए काल में पदार्थों के विकल्पों में कुछ ज्ञान हो तो, हो सकता है ॥ २ ॥

सापेक्ष और निरपेक्ष के कारण ही पदार्थों में केवल भेद होता है, पदार्थों के आभासों में स्वयं अपने से भेद नहीं होता है। यह सम्मिलित दोनों श्लोकों का सम्बन्ध है, जिस तात्कालिक आकांक्षा के काल में आभास भासित होता है तभी वह उस काल में रहता है, जिसको इन्द्रियों से समक्ष में वाह्य-इन्द्रियों से प्रत्यक्ष कहा जाता है, इसी से दूसरे आभास को देखता हूँ—इस

१. 'आभास की विचित्रता को कहकर अपने स्वरूप में आभास की एकता बनाये रखना ही यहाँ पर विशेषता मानी गयी है।

अन्धकारस्थप्रमातृविषयः पुनः योऽन्यो व्यवहारोऽस्फुटतामयः तत्र ते आभासा अन्यथा, तथाहि—जात्यन्धस्य बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वलक्षणम् आभासान्तरं नैव अस्ति, दृष्टवतस्तु अन्धीभूतस्य संतमसस्थितस्य च तात्कालिकं तत् वास्ति अपि तु प्राक्तनमेव बाह्येन्द्रियप्रत्यक्षत्वम् अनुसन्धत्ते, तस्मात् अर्थावभासस्य केषुचिदपि विकल्पेषु सत्तायां—स्वरूपे विशेषोऽस्ति इति सम्भावना न कर्तव्या, ते हि विकल्पा भाविवस्तुगामिनो वा भविष्यन्निष्ठा भवन्तु वर्तमाननिष्ठा वा अतीतवस्तुविश्रान्ता वा, एतदुक्तं भवति—नीलमिदं पश्यामि, संकल्पयामि, उत्प्रेक्षे, स्मरामि, करोमि, वेद्मि इत्यादौ नीलाभासोऽसौ स्वरूपतोऽन्यूनाधिकः एवं पश्यामीत्येवं यः पोत्तादिषु ते पुनराभासाः स्वातन्त्र्येण यदा भगवता संयोज्यन्ते वियोज्यन्ते च तदा अयं स्फुटत्वास्फुटत्वादिव्यवहारः, नीलमित्याभासस्य उत्प्रेक्षे इत्याद्याभासान्तरव्यवच्छेदेन पश्यामीति आभासव्यामिश्रणायां स्फुटताव्यवहारः। एवं त्रैकालिकव्यवहारवैचित्र्योपपत्तिः। परमेश्वरस्वरूपान्तर्भूतत्वे पुनराभासानां न कुतश्चित् व्यवच्छेदः—न केनचित् व्यामिश्रणा इति ॥ १-२ ॥

ननु एतत् नीलादिषु उपपद्यताम् यत्र बाह्येन्द्रियव्यापारोऽस्ति, सुखादौ तु तदभावात् कथं

रूप में दूसरे आभास की अपेक्षा रखनेवाले उससे मिले हुए, आभास कहीं-कहीं हो जाते हैं, जहाँ पर स्फुटरूप से व्यवहार होता है और अन्ध विषयक व्यवहार अन्धकार में रहनेवाला प्रमातृगत विषयक व्यवहार होता है, वही आभास 'मंद' अस्फुट कहलाता है; क्योंकि उसका इन्द्रियों से सम्बन्ध नहीं है। जैसा कि जन्मना अन्धे व्यक्ति को बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होनेवाला दूसरा आभास नहीं होता, जिसने कभी वस्तु को देख लिया और बाद में अन्धापन आ गया है उसका और अन्धकार में बैठे हुए व्यक्ति का तात्कालिक आभास नहीं होता है, किन्तु वह पूर्व कालिक इन्द्रियों के प्रत्यक्ष का ही अनुसन्धान [स्मरण] करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि किन्हीं-किन्हीं विकल्पों की सत्ता में विशेषताएँ होती हैं—ऐसी संभावना नहीं करनी चाहिए, वे विकल्प भविष्यनिष्ठ अतीत वस्तुओं में होते हैं या वर्तमान में रहते हैं या काल में विश्रान्त हो जाते हैं, यह कहा जाता है कि मैं इस नील को देखता हूँ, [यह भाव सापेक्ष है] मैं संकल्प करता हूँ [यह निरपेक्ष है] मैं उत्प्रेक्षा करता हूँ, मैं स्मरण करता हूँ, मैं जानता हूँ, [यह बाह्य निरपेक्ष है] मैं करता हूँ, [यह क्रिया प्रधान है] इत्यादि विकल्पों में नीलाभास स्वरूपतः सारा का सारा रहता ही है, इसी प्रकार से मैं देखता हूँ—ऐसा जो पीतादि पदार्थों के आभास हैं उन्हें स्वातन्त्र्यरूप से जब भगवान् संयोजन-वियोजन आदि करते हैं तभी इसमें स्फुटत्व और अस्फुटत्व का व्यवहार होता है। नील उत्प्रेक्षा में आभास का दूसरे आभास के साथ मिला देने पर स्फुटता का व्यवहार होता है—इस प्रकार तीनों कालों में भी व्यवहार की विचित्रता सिद्ध होती है, परमेश्वर के स्वरूप में अन्तर्भूत होने पर तो परमार्थ प्रमाता के आधीन होनेवाले आभासों का किसी से न व्यवच्छेद होता है और न किसी से मेल ही होता है ॥ १-२ ॥

अब शङ्का करते हैं कि नीलादि-पदार्थों के आभासों में जहाँ पर बाह्येन्द्रियों के व्यापार हैं, वहाँ पर तो—यह बात घट सकती है, किन्तु सुखादि में तो, बाह्येन्द्रियों के व्यापार न होने

---

१. यह स्फुटकत्व और अस्फुटकत्व आदि का व्यवहार भी सकल, प्रलयाकल आदि प्रमाताओं में विश्रान्त होता है किन्तु परमार्थ प्रमाता में नहीं होता, इसी कारण उन्हें परमेश्वर कहा जाता है।

वैचित्र्यम् ? इत्याशङ्क्याह—

सुखादिषु च सौख्यादिहेतुष्वपि च वस्तुषु ।
अवभासस्य सद्भावेऽप्यतीतत्वात्तथा स्थितिः ॥ ३ ॥
गाढमुल्लिख्यमाने तु विकल्पेन सुखादिके ।
तथा स्थितिस्तथैव स्यात्स्फुटमस्योपलक्षणात् ॥ ४ ॥

सुखे स्रक्चन्दनादिके च तत्कारणे, दुःखे अहिकण्टकादौ च तद्धेतौ अतीतेऽनागते वा यद्यपि आभासः स एव तथापि अतीतमिदम् अनागतमिदम् इति आभासान्तरेण यतो व्यामिश्रणा अनुभवामीति आभासाच्च यतो व्यवच्छेदः तेन विद्यमानेष्वपि तेषु तस्य प्रमातुः तेन प्रकारेण स्थितिः न भवति, यथा पूर्वम् अभूत् अहम् अधुना सुखी दुःखीति समर्जिततत्तन्निमित्तसामग्रीको वा इति, यदा तु विकल्पेन तानि वस्तूनि गाढम् उल्लिखति तदा पौनःपुन्यविशिष्टसुखतद्धेतूल्लेखनाभिधानकारणाभासानुप्रवेशात् आभासान्तरव्यामिश्रणात्मना तेनैव अस्मदुक्तेन प्रकारेण न पुनरन्येन तथा इति सुखी अहमित्यादिकेन स्थितिः भवति इति सम्भाव्यम्, उचितमेतत्— यतस्तदानीं स्फुटत्वाभासमिश्रं सुखाभासम् उपलक्षयति असौ। अतीतग्रहणं भाविनोऽपि उपलक्षणम् ॥ ३-४ ॥

के कारण विचित्रता कैसे बन सकेगी ? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—

सुखादि में और सुखादि के जनक वस्तुओं में आभास की सत्ता रहने पर भी अतीत होने से,—ऐसी स्थिति होती है ॥ ३ ॥

वर्तमानकाल में तो प्रत्यक्षरूप से दृश्यमान आभास में विकल्प होने के कारण सुख-दुःखादि विकल्पों की जैसी स्थिति रहती है वैसी ही रहेगी; क्योंकि वही स्फुटता प्रत्यक्ष दीखती है ॥ ४ ॥

जो साध्य सुख है उसमें और उसके कारण [साधन माला, स्त्री चन्दनादि है उनमें और दुःख में एवं दुःख के [साधन] कारण सर्प, कंटकादि में यद्यपि अतीत या अनागत में सुख-दुःख का ही आभास होता है, तो भी यह अतीत है और यह अनागत है;—ऐसा दूसरे आभास से जो भेद होता है—उससे विद्यमान रहने पर भी उन अतीत-अनागत आभासों में प्रमाता का मैं अनुभव करता हूँ; इस प्रकार की स्थिति नहीं बनती है, जैसा कि मैं पूर्व में सुखी-दुःखी था। इस काल में सुखी-दुःखी हूँ या उसके कारणों को प्राप्त किया है—ऐसा होता है। दूसरे श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है—जब विकल्प के द्वारा उन वस्तुओं को बहुत सूक्ष्मता से विमर्श करता है उसी स्थिति में बारम्बार विशिष्ट सुख और दुःख अथवा उसमें हेतु के कथन के कारण आभास के प्रवेश से दूसरे आभास का मिलनारूप उसी हमारे कहे हुए प्रकार से वैसी स्थिति होती है। मैं सुखी-दुःखी हूँ, इस रूप में संभावना हो सकती है और यह उचित भी है; क्योंकि उस समय स्फुटता के आभास से मिला हुआ सुखाभास को वह प्राप्त करता है। यह अतीतकाल का ग्रहण आगामिकाल की स्थिति का भी उपलक्षण है ॥ ३-४ ॥

ननु इयता किमुक्तम् भवति—बाह्यरूपाः स्रगादयः सुखादिहेतवो बाह्यजनिताश्च सुखादयः सुख्यहमिति अभिमानहेतवः इति, ततश्च बाह्यत्वाभावे तज्जन्यत्वाभावे च न तथा इति उक्तं स्यात्, तत्र च त एव न केचित्, ततश्च कथमुक्तम् 'अर्थावभासस्य सत्तायां न क्वापि विशेषः' इति—सत्ताया एव अभावात् ? इत्याशङ्क्याह—

भावाभावावभासाना बाह्यतोपाधिरिष्यते ।
नात्मा सत्ता ततस्तेषामान्तराणां सतां सदा ॥ ५ ॥

इह सुखमस्ति मम, दुःखं नास्ति ममेति ये भावाभासा अभावाभासाश्च तेषां बाह्यत्वं नाम आत्मा—स्वरूपं न भवति, नहि सुखमित्यस्य स्वरूपं 'बाह्यम्' इति वपुषा भाति, सुखस्य हि सुखमेव स्वरूपम् केवलं बाह्यत्वं नाम आभासान्तरम् ईश्वरेण स्वातन्त्र्यबलादेव यदा तत्र सुखाभासे मिश्रतया भास्यते तदा तत् तस्य उपाधिरूपताम् उपरञ्जकतां विशेषणत्वं गच्छति, ततश्च यथा नीलाभासाभावे उत्पलाभासस्य न किञ्चित् वृत्तं स्वरूपतो, राजाभासाभावे वा पुरुषाभासस्य, तथा बाह्यत्वाभासाभावेऽपि सुखाभासस्य दुःखाभावाभासस्य कान्ताभासस्य च न स्वरूपतः काचन म्लानता इति आन्तराणां सदैव स्थितिः एषाम् ॥ ५ ॥

अब शङ्का करते हैं कि इतने का क्या निष्कर्ष है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि बाह्यरूप जो सुखादि के हेतु स्त्री, चन्दन, माला आदि हैं और बाहर में होनेवाले सुखादि हैं जिनका विमर्श होता कि मैं सुखी हूँ, यह अभिमान का हेतु है जो कुछ होता है, उन सभी के बाह्य हेतुओं के भाव में और उससे पैदा हुए सुखादि हेतुओं के अभाव में वैसा परामर्श नहीं होगा—यही परिणाम निकलेगा। बाह्यत्व के अभाव में यही रहेगा, दूसरा कोई नहीं होगा। तब कैसे कहा आपने कि 'अर्थावभासस्य सत्तायां न क्वापि विशेषः, अर्थात् अर्थविभास की सत्ता [स्वरूप] में कहीं भी विशेषता क्या नहीं होती ? क्योंकि सुख की सत्ता का अभाव होता है, ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—

सुख या सुखाभाव के आभासों में बाह्य हेतु की ही उपाधि होती है। अपने स्वरूप की सत्ता या उसकी आन्तरिक सत्ता ही सदा भासित होती है ॥ ५ ॥

मुझे सुख है, [यह भाव अवभास है] और मुझे दुःख नहीं है, [यह अभाव अवभास है] ये सुख के भाव अवभास और दुःख के अभाव अवभास हैं। इनमें से किसी का भी बाहर में कोई स्वरूप नहीं होता है। सुख का स्वरूप 'बाह्य' किसी स्वरूप से नहीं भासता है, सुख का सुख ही स्वरूप है। बाहर में तो दूसरे आभास भी भूमि में होता, जब ईश्वर के द्वारा स्वातन्त्र्य बल से सुखाभास में मिश्रभाव से भासित होता है तब सुखादि को बाह्यता उपाधिरूप में मिली हुई भासती है और विशेषणता को भी प्राप्त करती है। जैसा कि नीलाभास के अभाव में उत्पलाभास का कुछ स्वरूप नहीं रहता है अथवा राजाभास के अभाव में पुरुषाभास का और बाह्यत्व आभास के अभाव में भी सुखाभास का और दुःखाभाव के आभास का और उसके हेतु कान्ताभास के स्वरूप में कोई मलिनता नहीं आती; क्योंकि उनमें आन्तरिक सुख और दुःखाभाव की स्थिति सदैव बनी रहती है ॥ ५ ॥

इह अन्तःकरणे बुद्धिदर्पणात्मनि नीलादीनामवभासानाम् आन्तरत्वमप्यस्ति—अन्तःकरणमध्येभवत्वात्, बाह्यत्वमपि ग्राह्यतारूपं—प्रमातुः विच्छेदेन अवभासात्, बाह्यत्वं च केवलं बाह्यप्रत्यक्षता, अत्र च अवस्थाद्वयेऽपि अर्थक्रियाम् अमी कुर्वन्त्येव, अन्ततो ज्ञानं स्वविषयम्। यत् पुनः प्रमातृतादात्म्यलक्षणम् आन्तरत्वं, तत्र अमी कस्मात् न काञ्चित् अर्थक्रियां विदधीरन्? इत्याशङ्क्याह—

आन्तरत्वात्प्रमात्रैक्ये नैषां भेदनिबन्धना ।
अर्थक्रियापि बाह्यत्वे सा भिन्नाभासभेदतः ॥ ६ ॥

प्रमात्रैक्य इति—तन्निमित्तकं यत् आन्तरत्वं तस्मात् हेतोः, एषाम् आभासानाम् अर्थक्रिया न काचित् अस्ति, सा हि अर्थक्रिया भेदे सति भवति, स हि नीलाभासः पीताभासात् यतो भिद्यते यतश्च प्रमातुर्भिद्यते ततः स्वसाध्यां नियतां भिन्नाम् अर्थक्रियां तस्य प्रमातुः कुर्यात्, न च एष तदा भेदोऽस्ति—प्रमात्रैक्यात्, सा हि अर्थक्रियाभासभेदनियता, तथा च कान्ताभासस्य बाह्यत्वेऽपि सति आभासान्तरस्य आलिङ्गनलक्षणस्य व्यपगमे दूरीभवति, इयम् इति च आभासान्तरस्य उपगमेऽन्यैव प्राक्तनाह्लादविपरीता दृश्यते अर्थक्रिया, अत आभासभेदाभावः – यतः प्रमात्रैक्यकृते

बुद्धिरूप दर्पणात्मक अन्तःकरण में नीलादि-पदार्थों के अवभासों की आन्तरिक सत्ता भी रहती हैं—क्योंकि वे अन्तःकरण में विद्यमान रहने के कारण ही भासते हैं, बाह्यता भी इदन्ता के विभाग से ग्रहण किये जानेवाले प्रमाता के रह-रहकर भासित होने से होती है और बाह्यत्व तो केवल बाह्य-इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होने का नाम है, यहाँ पर दोनों अवस्थाओं में ये नीलादि आभास अर्थक्रिया को करते रहते ही हैं तब फिर अर्थक्रियाकारिता क्या वस्तु है ? इन आभासों का स्वविषयक ज्ञान ही तो है। जो कि प्रमाता के साथ में तादात्म्यरूप से रहना आन्तरत्व कहलाता है. वहाँ पर ये नीलादि-पदार्थं क्यों नहीं कोई अर्थक्रिया करते रहें ? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—

प्रमाता के ऐक्यरूप में अन्तःस्थित होने के कारण पदार्थों का भेद नहीं होता है। बाहर में अर्थक्रिया भी आभास के भेद से ही भिन्न-भिन्न रूपों में भासती है ॥ ६ ॥

'प्रमात्रैक्य'—इसका अर्थ यह है कि प्रमाता निमित्तक अर्थात् कारणक जो आन्तरत्व है—उसी हेतु से समझना चाहिये, इन आभासों की कोई अर्थक्रिया नहीं है; [अर्थक्रिया का आशय यह है कि अर्थ अशुद्ध प्रयोजन उसकी जो क्रिया निष्पत्ति] क्योंकि वह अर्थक्रिया तो भेद रहने पर ही भासती है, नीलाभास पीताभास से भिन्न है; क्योंकि वह प्रमाता से भिन्न है इसलिए वह इस प्रमाता की अर्थक्रिया को कैसे करेगा ? प्रमाता के तादात्म्यरूप आन्तरत्व में यह भेद नहीं रहता; उसमें प्रमाता की ऐक्यरूपता होने के कारण वह अर्थक्रिया आभास तो भेदमूलक ही होती है और कान्ताभास के बाहर होने पर भी आलिङ्गनरूप अन्य आभास तो हटाने से दूर हो जाता है, यह अर्थक्रिया तो दूसरे आभास के आने पर पूर्व आह्लाद से भिन्न दीखती है,

१. जिसको आर्य बौद्धों ने कहा है कि अर्थ क्रियाकारित्व ही सत्त्व है, प्रमाता के रूप से पदार्थों की सत्ता मानी है, इन पदार्थों की बाह्यरूप से कोई स्थिति नहीं होती है। ये आभास प्रमाता के आभ्यन्तर में रहने से बराबर कहे गये हैं, इस समय उसमें भी दूसरी विशेषता को अपने सिद्धान्त में निरूपण करते हुए उन लोगों के प्रति आशङ्कापूर्वक कहते हैं 'इह' इत्यादि से।

आन्तरत्वे तस्मात् न अर्थक्रिया इति, अर्थक्रियाभासोऽपि च आभासान्तरमेव इति अर्थक्रियाकारित्वमपि न भावानां सत्त्वम्, येन तदभावे स्वरूपत एव अभावः स्यात् ॥ ६ ॥

ननु च बाह्याभासव्यतिभेदनकाले आन्तराभासो विरोधात् विच्छिन्न इति कथम् इदम् उक्तम् 'आन्तराणां य आभासः स सदा' इति ? एतत् परिहरति—

चिन्मयत्वेऽवभासानामन्तरेव स्थितिः सदा ।
मायया भासमानानां बाह्यत्वाद्बहिरप्यसौ ॥ ७ ॥

इह अवभासानां सदैव बाह्यताभासतदभावयोः अपि अन्तरेव प्रमातृप्रकाश एव स्थितिः, यत एते चिन्मयाः, अन्यथा नैव प्रकाशेरन् इति उक्तं यतः, यदा तु मायाशक्त्या विच्छेदनावभासनस्वातन्त्र्यरूपया बाह्यत्वम् एषाम् आभास्यते तदा तत् अवलम्ब्य अवभासमानानाम् असौ स्थितिः बहिरपि अन्तरपि, नायम् अन्तराभासो बाह्यत्वस्य विरोधी प्रत्युत सर्वभासभित्तिभूतोऽसौ, तत् कथं विरोधः ? इति युक्तमुक्तम्—'सदैव आन्तराणां सत्ता' इति ॥ ७ ॥

ननु बाह्यत्वे सति अर्थक्रिया, तच्च बाह्येन्द्रियगम्यत्वम्, न च विकल्पोल्लिखितानां तत्

इसीलिए पूर्व आभास के भेद का अभाव रहता है—जिस हेतु से प्रमाता के आन्तर में ऐक्यरूप होने से अर्थक्रिया नहीं होती और अर्थक्रिया का आभास भी नहीं होता है किन्तु दूसरा ही आभास रहता है। इस प्रकार अर्थक्रियाकारिता भी पदार्थ-भावों की सिद्धि नहीं करती है, जबकि उसका अभाव हो जाने पर अपने आप ही दूसरे का अभाव हो जायेगा ॥ ६ ॥

अब शङ्का उठाते हैं कि बाहरी आभास के संभेदन काल में विरोध होने के कारण [एक का ही आन्तरत्व और बाह्यत्वरूप न होने से] आन्तराभास विच्छिन्न होता है, यह आपने कैसे कहा है ? 'आन्तराणां य आभासः स सदा [······सत्ता त।स्तेषामान्तराणां सतां सदा इत्यत्र] इसका परिहार करते हैं—

आभासों के चिन्मय प्रमाता में लीन हो जाने पर निरन्तर आन्तर स्थिति बनी रहती है। माया के द्वारा भासित होने पर बाहर में आ जाने के कारण बाह्यस्थिति भी रहती है ॥ ७ ॥

अवभासों के बाहर की ओर भासना अथवा उसके अभाव का भासना ये दोनों भीतर ही प्रमाता के प्रकाश में रहते हैं, जिससे ये भाव में और अभाव में भी चिन्मय ही रहते हैं [चिन्मयरूप न होने से प्रकाशित नहीं हो सकता है 'नाप्रकाशः प्रकाशते'] अन्यथा इनका प्रकाश ही नहीं होगा; क्योंकि हमने इस विषय में पहले ही कह दिया है, किन्तु जब माया-शक्ति के द्वारा विच्छेदन अवभास में स्वातन्त्र्यरूप से रहता है उसके माध्यम से ही इसका बाहर में भासित होना संभव है, तब उस समय बाह्यत्व का अवलम्बन करके अवभासों की स्थिति बाहर और भीतर दोनों में भी रहती है, यह अन्तराभास बाह्यत्व का विरोधी नहीं है प्रत्युत प्रमाता के प्रकाश में विश्रान्ति को पा लेने के कारण सब आभासों का मूल अन्तराभास होता है, इसलिए वह कैसे विरोध करेगा ? इसी कारण उचित ही कहा है—'सदैव आन्तराणां सत्ता' अर्थात् आन्तर आभासों की सत्ता सर्वदा बनी रहती है ॥ ७ ॥

अब शंका करते हैं कि बाह्यता का ज्ञान रहने पर ही पदार्थों की अर्थक्रिया बनती है और बाह्यत्व का ज्ञान बाह्येन्द्रियों के द्वारा ही हो सकता है, इस प्रकार विकल्पों से होनेवाले

संभवति, तत् कथम् अमीषाम् अर्थक्रिया स्यात्, दृश्यते च विकल्पोल्लिखितः पिशाचादिः त्रासादिविधायी ? इत्याशङ्क्याह—

विकल्पे योऽयमुल्लेखः सोऽपि बाह्यः पृथक्प्रथः ।
प्रमात्रैकात्म्यमान्तर्यं ततो भेदो हि बाह्यता ॥ ८ ॥

विमर्शविशेषरूपे विकल्पज्ञाने य उल्लिख्यमानः कान्ताचौरादिः अर्थः सोपि बाह्यः, न केवलं बहिरवलोक्यमानः, यस्मात् सोऽपि प्रमातुः सकाशात् पृथगेव प्रथते 'अयमिति' यच्च प्रमातरि अहमित्येव विश्रान्तत्वं, तत् आन्तरत्वम्, अन्तरिति निकटम्, तच्च किंचित् अपेक्ष्य, अपेक्षणीयश्च सर्वत्र प्रमातैव अपेक्षणीयान्तराभावे, ततश्च प्रमातरि निकटं तादात्म्यं प्राप्तमेव इति, ततो यत् भिन्नं तत् बाह्यमेव इति युक्ता—उल्लेखस्यापि अर्थक्रिया ॥ ८ ॥

ननु कुम्भकारादिव्यापारेण घटादेः अस्तु बाह्यत्वम्, अन्तःकरणगोचरस्य तु किं कृतं तत् ? इत्याशङ्क्य आह—

उल्लेखस्य सुखादेश्च प्रकाशो बहिरात्मना ।
इच्छातो[1] भर्तुरध्यक्षरूपोऽक्षादिभुवां[2] यथा ॥ ९ ॥

पिशाचादि का ज्ञान संभव नहीं हो सकता है; क्योंकि बाह्येन्द्रियों से पिशाचादि का ज्ञान होना असंभव है, तब विकल्पों से होनेवाले पिशाचादि के ज्ञान से अर्थक्रिया कैसे होगी ? और विकल्पों से उठे हुए पिशाचादि त्रास आदि देनेवाले देखे जाते हैं—ऐसी आशंका कर कहते हैं—

जो यह विकल्प में उल्लेख होता है, वह भी पृथक्-पृथक् फैलनेवाला बाहरी है । एक प्रमाता में होनेवाला अन्तर का ही प्रकाश होता है; क्योंकि उससे भिन्न होना ही बाहरी प्रकाश है ॥ ८ ॥

स्थूल विमर्श के विशेषरूप विकल्पज्ञान में जो कहे गये कान्ता, चोरादि पदार्थों के अर्थ [आकार] हैं वे भी बाहरी हैं, केवल बाहर में देखा भी नहीं जाता है; क्योंकि वह तो बाहर की चीज है, जिस कारण से वह भी प्रमाता से भिन्न ही भासता है । इसलिए 'अयमिति' ऐसा कहा जाता है इस प्रकार प्रमाता में अहं शब्द से विश्रान्त रहता है, उसे आन्तर में रहनेवाला कहा जाता है । यहाँ पर अन्तर शब्द का 'समीप' निकट अर्थ है, वह किसी को अपेक्षा करके होता है और अपेक्षणीय वस्तु-पदार्थ सर्वत्र प्रमाता ही माना जाता है; क्योंकि कोई दूसरा अपेक्षणीय नहीं रहता है, इसलिए प्रमाता के समीप तादात्म्य प्राप्त किये ही रहता है । इसलिए उससे जो भिन्न है, वह बाहरी है—यह अर्थक्रिया का उल्लेख युक्त ही है ॥ ८ ॥

अत्र शंका करते हैं कि कुंभकार के व्यापार के द्वारा उत्पन्न होनेवाले घटादि का बाहरीपन भले ही हो, किन्तु अन्तःकरण में होनेवाले जो नील-सुखादि है, उसे किस हेतु द्वारा आपने बाहर में मान लिया है ? ऐसी आशंका कर कहते हैं—

जो अन्तःकरण में विषय नील-सुखादि का बाहर प्रकाश आता है वह ईश्वर की इच्छा से होता है । जैसा कि चक्षु-इन्द्रियों से होनेवाले विषयों का प्रत्यक्ष प्रकाश बाहर में होता है ॥ ९ ॥

१. इच्छातः इसमें तसिलः सार्वविभक्तिकत्वात् तृतीयार्थे तसिः
तृतीया विभक्ति में तसिल् प्रत्यय हुआ है—ऐसा अर्थ अभिव्यक्त होता है ।

२. अक्षादिभूवां विषयाणाम् यथा प्रकाशः । अक्षादि-इन्द्रियों के विषयों का जैसा प्रकाश होता है ।

अन्तर्विकल्पप्रतिबिम्बितस्य नीलादेः यो बहिरात्मना प्रमातृविच्छिन्नेन स्वभावेन प्रकाशः, स भर्तुः अन्तराभासान् बिभ्रतो बहिःसृष्टिं च पुष्णतः ईश्वरस्यैव इच्छया, यथैव चक्षुरादिविषयभूतानां प्रत्यक्षज्ञानशब्दवाच्यो बाह्यात्मना प्रकाशो नीलादीनाम्। एतदुक्तं भवति—कुम्भकारव्यापारो नाम परमार्थतः ईश्वरेच्छैव तदवभासितकायस्पन्दपर्यन्ता, न पुनरन्यः कश्चन सः, ततश्च यथा ईश्वरेच्छया प्रकाशात् अबहिर्भूता अपि नीलाद्या बाह्यकरणगोचरीभूताः कल्पितात् प्रमातुः विच्छिन्नरूपेण बाह्यत्वेन भासन्ते, तथा अन्तःकरणगोचरीभूता अपि—इति को विशेषः। सुखदुःखप्रायास्तु भरताद्युक्तरूपाः स्थायिव्यभिचारिरूपा रतिनिर्वेदादयोऽन्तःकरणैकगोचरा बहिरात्मना भान्ति, संकल्पेषु यद्यपि क्षेत्रज्ञस्यैव स्वातन्त्र्यम् तथापि चित्परमार्थताया न्यग्भावयितुम् अशक्यत्वात् ईश्वरस्यैव तत् वस्तुतः, यथोक्तं ग्रन्थकृतैव—

'यद्यप्यर्थस्थितिः प्राणपुर्यष्टकनियन्त्रिते। जीवे निरुद्धा तत्रापि परमात्मनि सा स्थिता॥

बुद्धिरूपी भूमि में प्रतिबिम्बित नील-सुखादि का जो बाहर प्रमातृ-विच्छिन्न स्वभाव से प्रकाश होता है, वे भर्ता अर्थात् परमेश्वर की इच्छा से ही अन्तराभास पदार्थ बाहर में प्रकाशित होते रहते हैं, ['भर्तुः' भर्ता शब्द 'डुभृञ्' 'धारण-पोषणयोः' धातु के अर्थ में है और उससे ही निष्पत्ति हुई है] जैसा कि चक्षु-इद्रिय आदि के विषय होनेवाले नील-सुखादि पदार्थ के प्रत्यक्ष-ज्ञान शब्द के वाच्य बाह्यरूप से होनेवाला प्रकाश है। यह कहा गया है कि कुंभकार का व्यापार वस्तुतः परमेश्वर की इच्छा से ही होता है। वह इच्छा कैसी होती है ? ईश्वर की इच्छा से अवभासित विशिष्ट बुद्धि-प्राण-काय इत्यादि के स्पन्दन से मृत्पिण्ड-दण्ड-चक्रादि के अवभासरूप ये सारे के सारे हैं—ऐसी ईश्वर की इच्छा है जिससे कि दण्ड, चक्रादि के व्यापार से घट की उत्पत्ति हो, इससे अतिरिक्त कोई दूसरा व्यापार वहाँ पर नहीं है, इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर की इच्छा के द्वारा होनेवाले प्रकाश से बाहर में नहीं जानेवाले नील-सुखादि जो बाह्येन्द्रियों के विषय हैं, मायीय कुंभकारादि से कल्पित प्रमाता से विच्छिन्न होकर बाहर में भासते हैं, इसी प्रकार अन्तःकरण के विषयरूप होकर भी भासते हैं। इन दोनों में कौन सी विशेषता है ? क्योंकि इन दोनों का भासना तो बराबर एक सा ही है। सुख-दुःखादि तो प्रायः भरतमुनि से कहे गये रति और वैराग्यादि स्थायी व्यभिचारी भावों के रूप में उत्पन्न होते हैं और वे अन्तःकरण के ही विषय होकर बाहर में भासते हैं, यद्यपि संकल्प-विकल्पों में क्षेत्रज्ञ-जीव की ही स्वतन्त्रता रहती है—तो भी, चेतन की परमार्थता को दबाने के लिए, असमर्थ होने के कारण, वस्तुतः उस ईश्वर को ही स्वतन्त्रता रहती है। जिसके विषय में ग्रन्थकार ने स्वयं कह दिया है कि—यद्यपि प्राण और पुर्यष्टक से नियन्त्रित जीव में पदार्थों की स्थिति रहती है। फिर भी परमात्मा में उसकी स्थिति

१. धारण एवं पोषण अर्थ में 'डुभृञ्' धातु से निष्पन्न भर्तृ शब्द है इसका षष्ठी विभक्ति में भर्तुः = ईश्वरस्य रूप बनता है।

२. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥

नाटच-शास्त्र के प्रणेता भरत मुनि ने कहा है कि रति, हास्य अर्थात् मनोविनोद, शोक, क्रोध, उत्साह, साहस, घृणा और विस्मय ये सब स्थायी भाव हैं।

तदात्मनैव तस्य स्यात्कथं प्राणेन यन्त्रणा ।' इति । यत्र तु अनिच्छोरेव क्षेत्रज्ञस्य स्वरसवाहिव्याक्षेपसारा सांकल्पिकी सृष्टिः तत्र स्फुटः ईश्वरस्यैव व्यापारः, तस्मात् सांकल्पिकानामपि बहिर्भावे परमेश्वरेच्छैव हेतुः—इति सिद्धान्तः ॥ ९ ॥

आधुना पूर्वोक्तम् ऐक्यं माहेश्वर्यं च निगमयति—

तदैक्येन विना न स्यात्संविदां लोकपद्धतिः ।
प्रकाशैक्यात्तदेकत्वं मातैकः स इति स्थितम् ॥ १० ॥
स एव विमृशत्त्वेन नियतेन महेश्वरः ।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः ॥ ११ ॥

यत् एतत् पूर्वोक्तेन ग्रन्थेन उपपादितम्, तत् इति—तस्मात् हेतोः, संविदां—ज्ञानानाम् ऐक्येन विना, लोकपद्धतिः लोकमार्गः—सर्वो व्यवहारो न संभवेत्, संभवति च अयम्, तस्मात् ऐक्यम् आसाम् । न चैतत् दुर्घटम् यतो—विषयप्रकाश एव संवित् उच्यते, केवलं विषयोपरागमहिम्ना बहिर्मुखतया नीलप्रकाशोऽन्यः, पीतप्रकाशश्चान्यः, परमार्थतस्तु प्रकाशस्य देशकालाकारसंकोचवैकल्यात् एकत्वमेव इति एक एव प्रकाशोऽन्तर्विश्रान्तः, स एव च प्रमाता उच्यते इति स्थितम् इदानीम् उपपत्तितः, न च अस्य असौ प्रकाशलक्षणः स्वात्मा नीलाद्युपरागश्च परामर्शन-

बनी रहती है; क्योंकि वह जीव उसमें परमात्म-स्वरूप से ही रहता है, अन्यथा जीवों के प्राण से उसका नियन्त्रण होना असम्भव है ।

जहाँ पर नहीं चाहनेवाले क्षेत्रज्ञ की अपने होनेवाले विक्षेप-मूलक संकल्प जन्य सृष्टि होती है उसमें प्रत्यक्षरूप से ईश्वर का ही व्यापार रहता है, इस कारण संकल्प द्वारा होनेवाले प्रमाता से बाहरी व्यवहारों में ईश्वर की इच्छा ही हेतु होती है—यह सिद्धान्त है ॥ ९ ॥

अब पूर्वोक्त एकता का और महेश्वर की महिमा का उपसंहार करते हैं—

ग्रन्थ में प्रतिपादित एकता के बिना संविद्रूप ज्ञानों का लोक-व्यवहार नहीं हो सकता है। प्रकाश की एकता से ज्ञानों की एकता है और वह एक-प्रकाश प्रमाता है—यह सिद्ध हुआ ॥१०॥

वही महेश्वर नियत विमर्श से लोकमार्ग को चलाता है; क्योंकि देव का शुद्ध ज्ञान और क्रिया ही विमर्श है ॥ ११ ॥

यह जो पूर्वोक्त ग्रन्थ से सिद्ध किया है, उसी हेतु से ज्ञानों का ऐक्य नहीं होने के कारण सब लोक-व्यवहार नहीं सम्भव हो सकता है, किन्तु यह व्यवहार होता हुआ दिखायी देता भी है, इसीलिए मानना पड़ेगा कि ज्ञानों का ऐक्यरूप है और यह ऐक्य कोई दुर्घट नहीं है, जो कि न हो सके । क्योंकि विषय प्रकाश ही संवित् कहा जाता है, केवल विषय के मिले रहने से बहिर्मुख होकर नीलप्रकाश अन्य है और पीतप्रकाश अन्य है—ऐसा बोध हुआ करता है । परमार्थरूप से तो प्रकाश का देश, काल और आकार के संकोच न होने से एक ही रूप रहता है । वही प्रकाश अन्तःकरण में विश्रान्त होने से अहं शब्द का वाच्य है, वही प्रकाश प्रमाता है—ऐसा कहा जाता है । यही उपपत्ति से इस समय दृढ सिद्ध हो गया, ['न च' इससे द्वितीय श्लोक की व्याख्या करते हैं] प्रमाता का यह प्रकाशरूप अपना स्वरूप नीलादि से उपरक्त होकर भी परमार्थ शून्य

शून्य एव आस्ते—स्फटिकमणेरिव, अपि तु सदैव विमृश्यमानरूपः, इति विमृशद्रूपत्वम्—अनवच्छिन्नविमर्शता अनन्योन्मुखत्वम् आनन्दैकघनत्वमेव अस्य माहेश्वर्यम्, स एव हि अहंभावात्मा विमर्शो, देवस्य—क्रीडादिमयस्य, शुद्धे—पारमार्थिक्यौ ज्ञानक्रिये, प्रकाशरूपता ज्ञानं, तत्रैव स्वातन्त्र्यात्मा विमर्शः क्रिया, विमर्शश्च अन्तःकृतप्रकाशः इति विमर्श एव परावस्थायां ज्ञानक्रिये, परापरावस्थायां तु भगवत्सदाशिवभुवि इदन्तासामानाधिकरण्यापन्नाहंताविमर्शस्वभावे, अपरावस्थायां च मायापदे इदंभावप्राधान्येन वर्तमाने इति विशेषः। सर्वथा तु विमर्श एव ज्ञानं, तेन विना हि जडभावोऽस्य स्यात् इति उक्तम् 'स एव च क्रिया' इति—भाविनः क्रियाधिकारस्य उपक्षेपं करोति इति शिवम् ॥ १०-११ ॥ आदितः ॥ ८९ ॥

इति श्रीमन्माहेश्वराचार्यवर्योत्पलदेवपादविरचितायामीश्वरप्रत्यभिज्ञायां,
श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तकृतविमर्शिन्याख्यव्याख्योपेतायां
माहेश्वर्यनिरूपणाख्यमष्टममाह्निकम् ॥ ८ ॥

ही रहता है [अब वैधर्म्य से दृष्टान्त दिया जाता है] जैसा कि स्फटिकमणि विमर्श शून्य रहती है इसलिए जडरूप मानी जाती है, अपितु यह सदैव विमृश्यमानरूप रहता है और अपने को विमर्श करता हुआ—निरन्तर अनवच्छिन्नरूप से विमर्श करने के कारण अपने स्वरूप में ही लीन रहना तथा आनन्दघन में बने रहना इसकी महेश्वरता है। वही परमेश्वर का अहंभावरूप विमर्श है, जो कि क्रीडादि में निमग्न रहते हैं, उनका शुद्ध पारमार्थिक ज्ञान और क्रिया हैं प्रकाशरूप ज्ञान है, उन्हीं में विमर्शात्मक स्वातन्त्र्यरूपी क्रिया भी रहती है, तब फिर, विमर्श क्या वस्तु है ? विमर्श को ही अन्तःकरणकृत प्रकाश करते हैं और वही आगे चल कर परमशिव अवस्था में ज्ञान और क्रिया हो जाता है। शिव अवस्था एवं जीव अवस्था तो भगवान् सदाशिव की भूमि में 'इदन्ता' से मिली हुई 'अहन्ता' इन दोनों में समानरूप से एकतापूर्वक होकर रहती है और वही अपर-जीवावस्था आगे चल कर मायामय पद में 'इदन्ता' की प्रधानता को ग्रहण कर वर्तमानरूप में रहती है। यही इसकी विशेषता है। इसलिए सब प्रकार से विमर्श ही ज्ञान है, यदि वह न हो तो यह प्रकाश भी जडरूप ही हो जायेगा, इसीलिए कहा है कि 'स एव च क्रिया' वही क्रिया है—इस प्रकार आगे होनेवाले क्रियाधिकार का प्रसंग भी सूचित होता है ॥ १०-११ ॥

अष्टम आह्निक समाप्त

इति सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरविरचिता
प्रथमज्ञानाधिकारहिन्दीव्याख्या
शिवरञ्जनी

इति प्रथमः ज्ञानाधिकारः समाप्तः

अथ द्वितीयः क्रियाधिकारः

अथ द्वितीये क्रियाधिकारे क्रियाशक्तिनिरूपणाख्यं

प्रथममाह्निकम्

वितत[1]विशदस्वात्मादर्शे स्वशक्तिरसोज्ज्वलां
प्रकटयति यो मातृस्वांशप्रमेयतटद्वये ।
बहुतरभवद्भङ्गीभूमिं क्रियासरितं परां
प्रकटयतु नः श्रीमान्गौरीपतिः[2] स ऋतं परम् ॥ १ ॥
यत्र[3] विश्रान्तिमासाद्य चित्रं क्रीडाविजृम्भितम् ।
क्रियाशक्तिः प्रियात्यन्तं दर्शयेत्तं स्तुमः शिवम् ॥ २ ॥

अथ क्रियाशक्तिस्वरूपं विततय निर्णेतुम् अधिकारान्तरम् आरभ्यते, तत्र श्लोकाष्टकेन 'अत एव.........' इत्यादिना 'यदवभास्यते.........' इत्यन्तेन परमेश्वरे परमार्थतोऽक्रमा क्रिया, परिमितसांसारिकप्रमातृगतक्रमावभासनयोगात् सक्रमापि च, इति—उपपाद्यते, तथाहि श्लोकेन उक्तपूर्वपक्षप्रतिक्षेपः । ततः श्लोकेन सक्रमत्वाक्रमत्वविवेकः । ततः श्लोकत्रयेण क्रमस्वरूपनिरू-

जो परम शक्तिरूप अम्बिका है, उसका स्वामी परमेश्वर बड़ा ही व्यापक स्वरूपवाला है; जो कि अपने आदर्शरूप दर्पण में स्वशक्तिरूपी रस से उज्ज्वल विविध प्रकार की भूमिका को प्रकट करता है, क्रियारूपी उत्कृष्ट सरिता को प्रमाता अपने ही अंश से उद्भूत प्रमेय तटों में बहाता है, वही भगवान् परमेश्वर उस सत्य को हम लोगों के प्रति प्रकट करें ॥ १ ॥

जिसमें विश्रान्ति लेकर यह क्रीडा-क्षेत्ररूप जगत् विचित्र होकर फैलता है; जिसको क्रिया-शक्ति अत्यन्त प्रिय है उसका दर्शन करावें, हम उस शिव की स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

अब क्रिया-शक्ति के स्वरूप का विस्तारपूर्वक निर्णय करने के लिए दूसरा क्रिया अधिकार आरम्भ किया जाता है, आठ श्लोकों से 'अत एव......' इत्यादि से लेकर 'यदवभास्यते......' यहाँ तक । परमेश्वर में वस्तुतः क्रिया अक्रमरूप से रहती है और परिमित सांसारिक प्रमाताओं में भेदतः क्रम से युक्त भी हो जाती है, इसीको सिद्ध करते हैं, देखिये—एक श्लोक से कहे हुए पूर्वपक्ष का निराकरण किया जायेगा । इसके पश्चात् एक श्लोक से सक्रमत्व का और अक्रमत्व का विचार किया जायेगा । अनन्तर तीन श्लोकों से क्रम के स्वरूप का निरूपण होगा । इसके

---

१. 'वितत' इत्यादि से स्तुति के ब्याज से अधिकार्थ सूचित हो रहा है । विमर्श-शक्ति स्वातन्त्र्यरूप का रस चमत्कार के द्वारा उज्ज्वल स्वरूप है ।

२. वह परा-शक्तिरूप अम्बिका का ईश्वर अर्थात् पति हम लोगों के लिए परम सत्यप्रकाश [अन्तःकरण में] प्रकट करें ।

३. यत्र = अक्रमपूर्वक क्रिया चिद्रूप में रहती है । इस श्लोक से आह्निक का अर्थ सूचित होता है ।

पणम्। ततः श्लोकद्वयेन सक्रमत्वाक्रमत्वयोर्विषयविभागः, विषयविभागे च सति वस्तुतः एकत्रैव तयोः विश्रान्तिः, इति श्लोकेन निरूप्यते, इति—तात्पर्यम् आह्निकस्य।

श्लोकार्थस्तु निरूप्यते—तत्र पूर्वोक्ते ज्ञानशक्तिसमर्थनोपयोगि[1]नि प्रमेये सिद्धे[2] प्रमेयान्तरमपि अयत्नतः सिद्धम्[3], इति अधिकरण[4]सिद्धान्तदिशा दर्शयति—

अत एव यदप्युक्तं क्रिया नैकस्य सक्रमा।
एकेत्यादि प्रतिक्षिप्तं तदेकस्य समर्थनात्॥ १॥

यत् तावत् उक्तं—ज्ञानान्येव अनुभवविक[5]ल्परूपादिभिन्नानि न तेषाम् आश्रयोऽस्ति कश्चित्, संस्काराच्च[6] स्मृतिः सिद्धा, ज्ञानं च जडं चेत् न अर्थस्य प्रकाशः, अजडं चेत् देशकाल-सङ्कोचवैकल्यात् आत्मतत्त्वात् अभिन्नमिति, तत् तावत् प्रतिक्षिप्तं—भिन्नानामनुभवादीनामनुपपत्तेः वितत्य दर्शितत्वात्। न च संस्कारमात्रात् स्मृतिः—इत्येतदप्युक्तम्, अजडमेव च

बाद दो श्लोकों से सक्रमत्व और अक्रमत्व के विषय का विभाग किया जायेगा और विषय का विभाग हो जाने पर परमार्थतः एक जगह ही दोनों की विश्रान्ति हो जाती है—यह एक श्लोक से निरूपण किया जायेगा। इस आह्निक का इतना ही तात्पर्य है। किन्तु अब श्लोक के अर्थं का निरूपण किया जाता है—पूर्व में कही हुई ज्ञान-शक्ति का समर्थन एवं उसमें उपयोगी प्रमेय तत्त्व के सिद्ध हो जाने पर दूसरा प्रमेय भी तो बिना यत्न से ही सिद्ध हो जाता है, इस अधिकरण सिद्धान्त के अनुसार अर्थात् एक के सिद्ध हो जाने पर दूसरा स्वयं सिद्ध हो जाता है। जैसा कि परमाणु का नित्यत्व, इसी बात को दिखाते हैं—

इसलिए जो भी कहा गया है, इस विषय में कि एक की क्रिया क्रमवाली नहीं होती, एक के सिद्ध हो जाने पर दूसरे का स्वयं सिद्ध हो जाना इत्यादि दिखाने से॥ १॥

जब कि पहले कहा गया है कि अनुभव-विकल्परूप से संतानरूप ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं उनका कोई आश्रय नहीं है। संस्कार से स्मृति की सिद्धि होती है और यदि ज्ञान को जडरूप मानोगे तो अर्थ का प्रकाश नहीं होगा, यदि अजडरूप कहते हो तो उसमें देश-काल का सङ्कोच न होने से वह आत्मतत्त्व से अभिन्न हो जाता है। पहले वह पूर्वपक्ष में आ गया है इसलिए भिन्न-भिन्न अनुभवों की उपपत्ति नहीं बैठती है, इसको विस्तारपूर्वक दिखा दिया है। इस प्रकार संस्कार मात्र से

---

१. प्रमेय का विचार करने पर तो ज्ञान-शक्ति का समर्थन उस पति प्रमाता में अयत्न सिद्ध हो जाता है।
२. एक प्रमाता में सिद्ध हो जाना।
३. जिस एक प्रमाता की पुष्टि हो जाने से ज्ञान-शक्ति का समर्थन हो जाता है और उसी से क्रिया-शक्ति की भी पुष्टि हो जाती है।
४. अधिकरण सिद्धान्त उसी का नाम है जो एक अर्थ के सिद्ध हो जाने पर उसके अनुयायी दूसरे अर्थ की भी सिद्धि हो जाती है। जैसे परमाणु की सिद्धि हो जाने पर उसका नित्यत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है।
५. अनुभव विकल्परूप से सन्तानवृत्ति ज्ञानों को ही प्रकाशित करती है।
६. संस्कार से ही स्मृति की सिद्धि होती है। इससे अतिरिक्त स्मृति में कोई हेतु नहीं है। यहाँ पर 'चकार' शब्द का 'एव' अर्थ है।

असंकुचितरूपं ज्ञानं—तत्स्वातन्त्र्यावभासितज्ञेयोपरागवशात् तु अस्य सङ्कोचावभास इत्यपि दर्शितं यतः, न केवलम् अतो हेतुकलापात् ज्ञानशक्तिचोद्यानि निवारितानि, यावत् क्रियाशक्तिविषयाण्यपि दूषणानि, अत एव हेतुजातात् अपसारितानि, इति अपिशब्दार्थः। एका क्रिया क्रमिका कथम् आश्रयस्य एकस्वभावत्वे सति घटते ? इति यदुक्तं, तथा 'तत्र तत्र स्थिते.......' इति, 'द्विष्ठस्यानेकरूपत्वात्.......' इति च यदुक्तं तदपि प्रतिक्षिप्तमेव, यत इयति पूर्वपक्षे इयदेव जीवितम्—एकमनेकस्वभावं कथं स्यात् इति। तत्र च उक्तं चित्स्वभावस्य दर्पणस्येव एकतानपबाधनेन आभासभेदसम्भवे क इव विरोध इति, तस्मात् प्रत्यभिज्ञानबलात् एकोऽपि असौ पदार्थात्मा स्वभावभेदान् विरुद्धान् यावत् अङ्गीकुरुते तावत् ते विरोधादेव क्रमरूपतया निर्भासमानाः तमेकं क्रियाश्रयं सम्पादयन्ति इति, ततश्च सम्बन्धादीनामपि उपपत्तिरिति ॥ १ ॥

ननु च क्रमिकत्वमेव क्रियायाः स्वरूपं, क्रमश्च कालकलनाहीने चिन्मये भगवति नास्ति; इति कथम् अस्य सा भवेत् ? इत्याशङ्क्याह—

ही स्मृति नहीं हो जाती है, इसे भी हम कह आये हैं; इसीलिए ज्ञान अजड एवं असंकुचितरूप है उसकी स्वतन्त्रता अवभासित होनेवाले ज्ञेय के संमिलित हो जाने के कारण इसके संकोच का अवभास मालूम होता है; क्योंकि यह भी दिखा दिया है, इसलिए न केवल हेतु समुदाय के द्वारा ज्ञान-शक्ति से प्रकाशित होनेवाले पदार्थों का निवारण कर दिया है, किन्तु क्रिया-शक्ति के विषयों में भी दोष दिया है, इसलिए हेतु समूह से हटा दिया गया, 'अपि' शब्द का यह भी अर्थ होता है। एक क्रिया क्रमवाली कैसे हो सकती है ? आश्रय की एक स्वभावता रहने पर घटती है।

इस विषय में कहा गया है, 'तत्र तत्र स्थिते.....।' इत्यादि बाते कही हुई हैं; क्योंकि दो वस्तुओं में जो रहेगा वह अनेकरूपों में रहेगा। इसका भी खण्डन हो चुका है, पूर्वपक्ष का इतना ही जीवन है—जो एक है वह अनेक स्वभाववाला कैसे होगा ? इस प्रकार वहाँ पर हमने इसका उत्तर दे दिया है कि चेतन का स्वभाव दर्पण के तुल्य है। इसलिए एकता को बाधित न करते हुए आभासों का भेद होना सिद्ध ही है, इसमें कोई विरोध भी नहीं मालूम होता, इसीलिए प्रत्यभिज्ञान के बल से यह एक ही पदार्थरूप स्वभावभेद जितने भी विरुद्ध-विरुद्ध स्वीकार करोगे उतने ही विरोध से क्रमरूप द्वारा निर्भासित होते हुए उस एक क्रिया के आश्रय को सम्पादन करेंगे, आश्रय एकत्व के समर्थन से सम्बन्धादि की उपपत्ति बैठा लेनी चाहिए ॥ १ ॥

अब शंका करते हैं कि क्रमिकत्व ही क्रिया का स्वरूप है, और काल की गति से शून्य भगवान् चिन्मय है उसमें तो क्रम नहीं रहता, इसलिए क्रिया का होना उसमें कैसे घट सकता है ? अर्थात् अक्रमवाले में क्रमरूप क्रिया कैसे संभव होगी ? ऐसी शंका कर उत्तर देते हैं—

---

१. सम्बन्ध तो दो वस्तुओं में रहता है एक में कैसे रहेगा ? इसका आशय यह है कि एक का स्वभाव एक ही होता है, दो नहीं हो सकते और व्यापाररूप क्रिया तो समवायी के बल से अविभक्त रूप में दिखायी देती है, लोग उसे पदार्थ का स्वभाव कहते हैं तथा क्रिया भेदवादियों की भी यही सम्मति है, यहाँ पर आभाससार वस्तुवाद में भेद प्रतीति से जो एक सम्बन्धरूप एक सम्बन्धित्व को लेकर क्रिया का बोध होता है, वह तो एकता से युक्त रहता है, यदि वह पदार्थ प्रतीति को छोड़कर सैकड़ों शपथ खाने पर भी भेद से कैसे व्यवस्थापित हो सकता है।

सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः ।
घटते न तु शाश्वत्याः प्रभव्याः स्यात्प्रभोरिव ॥ २ ॥

उत्क्षिपति अपक्षिपति हस्तम् इति ये पूर्वोत्तरे[1] क्षणाः ते क्रमवन्तः, तत्र येषां त एव 'क्रिया काणादानामिव' तेषां सा सक्रमा प्रत्यक्षेणैव भाति। ये तु मन्यन्ते तथाभूतपरिदृश्यमानभेद-सम्पादिका[2] या असौ काचित् अतीन्द्रिया हस्तगता शक्तिर्व्यापारोद्बोधरूपा नित्यानुमेया तस्याः केवलं पूर्वापरीभूतत्वम् अनुमीयते, इति लौकिक्याः क्रियायाः सक्रमत्वं कालशक्तेः आभास-विच्छेदनप्रदर्शनसामर्थ्यरूपात् पारमेश्वरात् शक्तिविशेषात्[3] घटते उपपद्यते, या तु प्रभोः सम्बन्धिनी तदव्यतिरिक्ता क्रियाशक्तिः शाश्वती कालेन अस्पृष्टा तस्याः सक्रमत्वम् अस्ति, इति—सम्भाव-[4]नापि नास्ति, यथा प्रभोः सक्रमत्वमसम्भाव्यं तथा तस्या अपि। उक्तं हि—

'हस्तस्य सक्रमत्वे, तद्गतापि क्रिया तथा स्यात्' इति ॥ २ ॥

ननु कालो विशेषणभावम् उपगच्छन् भावं स्वेन रूपेण अवच्छिनत्ति, तत्र कोऽसौ कालो

काल-शक्ति के द्वारा लौकिक क्रिया में ही सक्रमत्व घटता है। सदा-सर्वदा होनेवाली प्रभु की क्रिया में क्रम नहीं होता। जैसा कि प्रभु में क्रम का अभाव रहता है ॥ २ ॥

हाथ उठाता है एवं गिराता है इस प्रकार पूर्वोत्तर [आगे-पीछे] होनेवाले क्षणों में ही क्रमरूपता होती हैं, जिस काणाद प्रभृति के मत में तो वे क्षण ही क्रिया हैं और वह सक्रमवाली क्रिया प्रत्यक्षरूप से ही दिखायी पड़ती हैं। किन्तु कुछ लोग पूर्वोत्तर क्षणरूप संयोग-विभाग से होनेवाली क्रिया को मानते हैं वह तो कोई अतीन्द्रिय ही क्रिया है जो कि हाथ में व्यापार लाती है और वह कार्यरूप अनुमान से ही जानी जाती है उसका केवल पूर्वोत्तररूपत्व ही अनुमित किया जाता है। इस प्रकार लौकिक क्रिया का सक्रमत्व काल-शक्ति के आभास विच्छेदन के सामर्थ्य का प्रदर्शन ही परमेश्वर की शक्ति विशेष से मात्र कर सकती है। किन्तु प्रभु से सम्बन्ध रखनेवाली अभिन्नरूप शाश्वत क्रिया-शक्ति को काल स्पर्श भी नहीं करता, उसका सक्रमत्व होता है, ऐसी संभावना भी नहीं करनी चाहिए। जैसे प्रभु में सक्रमत्व का होना संभव नहीं होता, वैसे उसकी क्रिया में भी नहीं होता; क्योंकि इस विषय में कहा गया भी है—

जब हाथ क्रमवाला है तो हस्तगत क्रिया भी सक्रमरूप ही होगी; प्रभु तो काल से अनवच्छिन्न स्वरूपवाले होने से उसकी क्रिया भी काल से अनवच्छिन्नरूप ही होती है; क्योंकि वह प्रभु की जैसी शाश्वत् होती है ॥ २ ॥

अब शंका करते हैं कि काल विशेषणरूप होता हुआ पदार्थों में अपने रूप से भेद करता

---

१. क्रिया को प्रत्यक्ष प्रमाण से ग्राह्य काणाद आदि लोग मानते हैं।
२. सयोग और विभाग करने में निमित्तभूत पूर्वोत्तरक्षणरूप हस्तगत भेद का सम्पादन करनेवाली 'उत्क्षिपति' क्रिया कहलाती है।
३. नीलादि-पदार्थों में भेद दिखानेवाली काल-शक्ति है जिस शक्ति विशेष के द्वारा आभास भेद दिखायी देता हो वही शक्ति-विशेष काल कहलाता है।
४. जो क्रिया प्रभु-परमात्मा में रहनेवाली है, वह क्रिया तो काल से अनवच्छिन्न होती है।

नाम ? इत्याशङ्क्याह—

काल: सूर्यादिसञ्चारस्तत्तत्पुष्पादिजन्म वा।
शीतोष्णे वाथ तल्लक्ष्य: क्रम एव स तत्त्वत: ॥ ३ ॥

ये इयत्तया परिनिष्ठिता आभासा: सिद्धा, तद्यथा चन्द्रसूर्यादीनां[1] सहकारमल्लिका कुटजादीनां शीतोष्णादे: परभृतमदविलासादे: त एव 'काल:' यतोऽपरिनिष्ठितं गमनपठनादि तैरियत्तया परिनिष्ठीयते परिवर्तकैरिव कनकं, स एव च सूर्यादीनां स्वभावविशेषस्तत्त्वत: परमार्थत: क्रमो, न अन्य: कश्चित् क्रमो नाम, क्रम एव च कालो, न अन्योऽसौ[2] कश्चित्, इति एवकारो भिन्नाभिन्नक्रमो योज्य:, यौगपद्यमपि आभासयो: अपराभासापेक्षया क्रम[3] एव, चिरक्षिप्रादिधीरपि विततान्यत्ववशात् आभासभेदे क्रमरूप एव, परत्वापरत्वबुद्धिरपि स्फुटत्वादिना तत्रैव, इति तेन तेन प्रतिमानवर्तकतुल्येन सूर्यसञ्चारादिना सह मीयमानो हेमस्थानीयो देवदत्ताभासस्य वैचित्र्यभेद इत्थम् उच्यते—'दिवसं गच्छति' इति ॥ ३ ॥

है, ऐसी स्थिति में काल किसको कहा जाय ? इस शंका का उत्तर देते हैं—

सूर्यादि ग्रहों की गति ही काल है अथवा उन-उन पुष्प-लतादि की उत्पत्ति ही काल है। सूर्यादि ग्रहों के द्वारा शीत-ऊष्ण होता है, वस्तुत: वही क्रम कहलाता है ॥ ३ ॥

ये ही मात्र परिमित सिद्ध आभास हैं सूर्यादि ग्रहों का आम्र, जूही, कुटजादि पुष्पों की उत्पत्ति और शीत, ऊष्णादि का होना तथा कोकिलों के मद-विलासादि का जो ज्ञान होता है वही तो काल है; क्योंकि अपरिमित का ज्ञान गमन-पठनादि के द्वारा ही सीमित ज्ञान होता है। जैसा कि स्वर्णकार स्वर्ण का परिमित भिन्न-भिन्न नाम एवं रूपवाले आभूषण गहने बना देता है और वही परमार्थत: सूर्यादि के स्वभाव की विशेषता है। उसी का नाम क्रम है, उससे भिन्न कोई क्रम नहीं है, क्रम ही काल है, दूसरा यह कोई नहीं है। इस प्रकार भिन्न-अभिन्न क्रम लगा लेना चाहिए, अर्थात् काल ही क्रम है एवं क्रम ही काल है। इसीको भेद एवं अभेद भी कहा जाता है, आभासों का एकी साथ होना दूसरे आभासों की अपेक्षा से वही क्रम है। विलम्ब से होना और शीघ्रता से होना यह बुद्धि भी विस्तारवाली दूसरी बुद्धि को अपेक्षा से वही आभास भेद हो जाने पर क्रमरूप हो जाती है, छोटेपन और बड़ेपन की बुद्धि भी स्पष्टरूप से उसी में भासती है, इसलिए उस-उस नाप में आनेवाले सूर्य संचारादि का साथ में अनुमान किया हुआ हेम स्थानीय देवदत्त के आभास का विचित्ररूप से भेद हो जाता है। जैसे 'दिवसं गच्छति' इस प्रकार से कहा जाता है ॥३॥

१. आदि शब्द से अन्य ग्रहों को ग्रहण करना होगा। जैसे—मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि इत्यादि।

२. वैशेषिकों का आत्मा से भिन्न काल द्रव्यरूप है। सांख्यों का कारण स्वभाववाला है। वैयाकरणों का काल नित्य 'शब्दादि' रूप में रहता हुआ अनाश्रित प्रवृत्ति स्वभाववाला है। बौद्धों का काल क्षणों की धारावाला होने के कारण परमार्थरूप है वस्तुत: वह कभी भी क्रमरूपता का अतिक्रमण नहीं करता, क्रम ही बाहर में कालरूप से व्यक्त होता है।

३. क्रम ही विशिष्ट है, परत्व एवं अपरत्वरूप नूतन स्थिति को दिखानेवाला, पुरातन क्रम सतत होनेवाले परत्व और अपरत्व के द्वारा बड़ी देरतक व्यवहार होते रहना, नहीं तो, बहुत शीघ्र व्यवहार के स्वरूप से, क्रम स्थिति को दूसरे पदार्थ के आभास से, अनेकरूप में परिच्छेद के द्वारा मूर्त्तिकृत दूरत्व एवं अदूरत्व से होनेवाले परत्व और अपरत्व इन दोनों का संकीर्ण होकर पदार्थों में अवस्थित रहना ही काल कहलाता है।

ननु एवं कालो नाम भावस्वभावभूत एव अस्तु, का असौ कालशक्तिः ? इत्याशङ्क्याह—

क्रमो भेदाश्रयो भेदोऽप्याभाससदसत्त्वतः ।
आभाससदसत्त्वे तु चित्राभासकृतः प्रभोः ॥ ४ ॥

इह स्वभावभेदमात्रं यदि क्रमात्मा कालः, तदङ्गुलीचतुष्टयं भिन्नस्वभावम् इति भिन्नकालं भवेत्, तस्मात् अरुणाभासस्य सद्भावः स्फुटप्रभापुञ्जस्य च असद्भावः—इत्येवंभूतो यो भेद आभाससद्भावासद्भावाभ्यामनुप्राणितः तत्कृतः क्रमः कालात्मा, तौ च आभासानां भावाभावौ न बाह्यहेतुकृतौ, इति—विस्तार्य उपपादितम्, इति य एव संवित्स्वभाव आत्मा स्वप्नसंकल्पादौ

अच्छा तो, काल पदार्थों का स्वभावरूप भले ही हो, यह काल-शक्ति क्या चीज है ? ऐसी आशङ्का कर उत्तर में कहते हैं—

भेद के आश्रय से क्रम रहता है और भेद भी आभास के सत् एवं असत् भाव से होता है। किन्तु आभास की सत्ता एवं असत्ता में प्रभु का विचित्राभास ही कारण है ॥ ४ ॥

यदि क्रमरूप काल को शक्ति का स्वभाव भेद मात्र ही माना जाय, तब तो चारों अङ्गुलियाँ भिन्न-भिन्न स्वभाववाली होने से भिन्न कालवाली ही हो जायेगी, इसलिए अरुणाभास का होना और स्फुटप्रभा-पुञ्ज का अभाव होना—इस प्रकार इन दोनों सत्त्व एवं असत्त्व भावों से अनुप्राणित कालरूप ही क्रम हो जाता है। ये दोनों आभासों में भाव एवं अभावरूप से रहते हैं, वे बाह्य-नीलादि हेतु के द्वारा नहीं होते, यह मैंने बाह्यार्थवाद निरास में विस्तारपूर्वक दिखा दिया है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो संवित् स्वभाववाले परमात्मा हैं वही स्वप्न-संकल्पादि में, आभास की विचित्रता के निर्माण में पूर्ण समर्थ है; संवित् स्वभाववाले से ही ये दोनों सत्त्व और

१. यदि स्वभाव भेद ही केवल काल का स्वरूप है, तो सभी अंगुलियों में भी काल का भेद मानना पड़ेगा। इसलिए आभास एवं अनाभास के द्वारा जो भेद प्रतीत होता है वह तो कालरूप का ही वैसा भेद क्रम है, इसमें भेद की कोई कारणता नहीं रहती, आभास के सद्भाव और असद्भाव से विचित्र भेद भासते हैं, वे दोनों स्वप्न-संकल्पादि में क्रम के उत्थापन सामर्थ्य से ही होते हैं। जबकि आपके द्वारा कहा गया है—एकस्यैव तु सा शक्तिर्यदेव भासते·········।'

एक चिद्रूप की ही तो वह शक्ति है जिससे यह सारा का सारा बाह्य-विषय भासित होता है। इस प्रकार प्रसङ्ग में भी कहा है—

तमस्य लोकयन्त्रस्य सूत्रधारं प्रचक्षते ।
प्रतिबन्धाभ्यनुज्ञाभ्यां तेन विश्वं विभाज्यते ॥
यदि न प्रतिबघ्नीयात्प्रतिबन्धाच्च नोत्सृजेत् ।
अवस्था व्यतिकीर्येरन्पौर्वापर्यविनाकृताः ॥

इस संसाररूपी यन्त्र का भगवान् चिदात्मा देव ही सूत्रधार कहा जाता है। इसलिए प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा [सृष्टि-प्रलय आदि] के द्वारा विश्व विभक्त हो जाता है यदि प्रतिबन्ध न करे एव प्रतिबन्ध करके अर्थात् उसे न छोड़ दे तो व्यवस्था विशीर्ण नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगी, पूर्वोत्तर क्रम के बिना व्यवस्था व्यवस्थित नहीं हो सकती है; क्योंकि भगवान् ही विचित्ररूप से पदार्थों को आभासित करते हैं।

आभासवैचित्र्यनिर्माणे प्रभुः प्रभविष्णुः इति स्वसंविदितस्त एव तौ भवतः, स हि आत्मनि नीलादीन् आभासान् आभासयन् चित्रतया अपरिमेयया भासयति, तथाहि—लोहिताभासं घटाभासम् उन्नताभासं दृढाभासं च सामानाधिकरण्येन घटाभासं पटाभासं च पृथक्त्वावभासेन अन्योन्यत्र आभासाभावेन, स्वात्मनि तु एकरसेन आभासेन, इयति च न क्रमस्य उदयः, यदा तु शरदाभासं हेमन्ताभासेन च सर्वथैव शून्यम् आभासयति हेमन्ताभासं च शरदाभासेन तदा कालात्मा क्रम उत्तिष्ठति, इति सेयम् इत्थंभूताभासवैचित्र्यप्रथनशक्तिः भगवतः 'कालशक्तिः' इत्युच्यते ॥ ४ ॥

चित्राभासकृत्त्वमेव स्फुटयति—

मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात्कालक्रममपीश्वरः[1] ॥ ५ ॥

पदार्थस्य स्वं रूपं मूर्तिः, तस्या यत् वैचित्र्यं विभेदः तद्यथा गृहमिति अन्यत् स्वरूपं,

असत्त्व होते हैं; क्योंकि वे ही अपने में नीलादि-आभास पदार्थों को आभासित करते हुए विचित्र-चित्ररूप से, अपरिमेय-असंख्य प्रकार से आभासित करते हैं तथा जगत् को भी आभासित करते-रहते हैं। जैसे लोहिताभास, घटाभास, उन्नताभास और दृढाभास इन सबों के साथ घटाभास और पटाभास अलग-अलग आभासों से तथा परस्पर आभासों के अभावों से, अपने स्वरूप में तो एकरस के आभास से आभासित होते हैं, और इतने तक क्रम का कोई उदय नहीं होता, किन्तु जब शरदाभास को हेमन्ताभास से शून्य प्रकाशित करते हैं और हेमन्ताभास को शरदाभास से शून्य प्रकाशित करते हैं तभी कालरूप क्रम उपस्थित होता है, इस प्रकार चित्र-विचित्ररूप से आभासों को फैलानेवाली जो प्रभु की शक्ति है, वही 'काल-शक्ति' कही जाती है ॥ ४ ॥

इस प्रकार विचित्राभास के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं—

महेश्वर मूर्त्ति की विचित्रता से देशक्रम को आभासित करते हैं तथा क्रिया की विचित्रता के आभास से कालक्रम को भी आभासित करते हैं ॥ ५ ॥

पदार्थ का अपना स्वरूप ही मूर्त्ति है ['स्वरूपमात्रमन्योऽन्यभेदेनावभासमानमर्थानां मूर्तिः' अर्थात् मूर्त्ति उसी का नाम है जो परस्पर भिन्न-भिन्नरूपों से अवभासन होनेवाले पदार्थों का स्वरूपमात्र हो] उसको विचित्ररूप से भिन्नता दिखायी पड़ती है। जैसे गृह भिन्न स्वरूपवाला है,

---

१. संवेद्यरूप मूर्त्त पदार्थों का जो वैचित्रभाव है। जैसे गृह, प्राङ्गण, बाजार, मन्दिर उद्यान, अरण्य इत्यादि भेद, इन्हीं भेदों से विचित्रतापूर्वक प्रकाश करते हुए परमेश्वर देशक्रम अर्थात् दूरत्व-समीपत्व और विस्तृत-संकुचितरूप से अवभासित करते हैं, किन्तु एक की प्रत्यभिज्ञा के सामर्थ्य से जो स्वरूप का अभिन्न हस्तादि भेद है जिसका आगे चल कर प्रतिपादन करेंगे 'विमर्शैक्येनातिरोहितता भिन्नद्रव्यात्मनः।' उसका भिन्न-भिन्न देशत्व, भिन्न-भिन्न धर्मत्व है। इससे स्वरूप की एकता का ज्ञान हो जाता है, गच्छति चैत्रः पच्यते फलमिति' इस प्रकार क्रिया वैचित्र्यभाव को निर्भासित करने के कारण ईश्वर विरोध और अविरोध को अपनी स्वतन्त्रता से निर्भासित करते हुए कालरूप क्रम एक में विरुद्ध होने के कारण अनुचित होता हुआ भी भासित करते हैं। यही सूत्र का आशय है।

प्राङ्गणमिति अन्यत्, विपणिरिति अन्यत्, देवकुलमिति अपरम्, उद्यानमिति अन्यत्, अरण्यमिति तदितरत् तस्मात् वैचित्र्यात् आभास्यमानात् देशरूपो दूरादूरविततत्वाविततत्वादिः क्रमो भगवता अवभास्यते, तदा तु गाढप्रत्यभिज्ञाप्रकाशबलात् तदेव इदं हस्तस्वरूपम् इति प्रतिपत्तौ मूर्तेर्न भेदः, अथ च अन्यान्यरूपत्वं भाति तदा एकस्मिन् स्वरूपे यदन्यत् अन्यत् रूपं तद्विरोधवशात् असहभवत्क्रिया इति उच्यते, तस्या यत् वैचित्र्यं परिमितापरिमितरूपतात्मकं तदेकानुसन्धानेन फलसिद्ध्यादिनिबन्धनवशात् यथारुचि चर्चितेन निर्भासयन् कालरूपं क्रममेव भासयति, न चैतत् वाच्यम्—एकस्वरूपस्य कथम् अन्यत् अन्यद्रूपमिति ? यतो—न असौ कश्चित् भावो य एवं विकल्प्यते, संविदेव हि तथा भाति, तथाभासनमेव च अस्या ऐश्वर्यम्, नहि भासने विरोधः कश्चित् प्रभवति, स हि सुखदुःखादेर्भासनकृत एव, तथा भासनाभाव एव हि विरोधतत्त्वम्, एतत् अपिशब्देन ईश्वरशब्देन च दर्शितम् ॥ ५ ॥

ननु एवम् आभास[2]विषयाभ्यामेव देशकालक्रमाभ्यां भवितव्यम्, अनाभासश्च प्रमाता, स

प्राङ्गण दूसरा स्वरूप है, बाजार उससे भिन्न है, देवस्थान का दूसरा ही स्वरूप है, उद्यान यह दूसरा स्वरूप है, जंगल यह उससे भिन्न ही है, इसलिए इन विचित्र-चित्र रूपों में आभासित होनेवाले आभासों से देशरूप दूर-समीप, विस्तृत-संकुचित इत्यादि क्रम को भगवान् आभासित करते हैं, जब तो गाढ प्रत्यभिज्ञा प्रकाश के बल से वही यह हाथ का स्वरूप है—ऐसी प्रतिपत्ति हो जाने पर मूर्ति का भेद नहीं भासता अर्थात् स्वरूप से अभिन्नता भासने लगती है और भिन्न-भिन्नरूपता भासती है तब तो एक ही स्वरूप में भिन्न-भिन्न रूप दिखायी पड़ता है। वह उसके विरोध के कारण उसके साथ न होनेवाली क्रिया कही जाती है, उस क्रिया की जो विचित्रता है वह तो परिमित होना तथा अपरिमित होना है, ठीक उसके एकत्व का अनुसन्धान करने पर [जैसा कि चैत्र जाता है, फल पकता है।] फल सिद्धि के कारण यथारुचि समझ-बूझकर भासित करते हुए कालरूप क्रम को ही भासित करते हैं, यह मत कहो—एक ही स्वरूप का भिन्न-भिन्नरूप कैसे हो सकता है ? क्योंकि वह कोई पदार्थ नहीं है जो ऐसा भिन्न-भिन्न विकल्पित हो जाय, संविद्रूप ज्ञान ही ['आभासान्योऽन्यत्वेन' अर्थात् अन्योन्यरूप से आभास] वैसा भासता है इसी प्रकार भासना ही इसका परम ऐश्वर्य माना जाता है। उसके ऐसा भासित होने में कोई विरोध भी नहीं होता, वह तो सुख-दुःखादि के आभास से ही बना हुआ है; क्योंकि उसी प्रकार भासित न होना ही तो उसका विरोध है, यह 'अपि' शब्द से एवं ईश्वर शब्द से द्योतित होता है ॥ ५ ॥

अब शंका करते हैं कि आभास का विषय तो देश और काल का क्रम ही होता है और वह किसी से न भासित होनेवाला प्रमाता है, वह किसी का आभास नहीं है; क्योंकि उससे ही सब

---

१. अनेक वस्तु में देशक्रम तो गृह और प्राङ्गण के जैसा होता है और कालक्रम आम्र-मञ्जरी के समान; एक वस्तु में न तो देशक्रम ही रहता है और न कालक्रम ही रहता है; क्योंकि उसमें दूरत्वादि का भेद नहीं होता और विस्तार भी नहीं होता। अंशो के एकरूप ही रहने के कारण परिपाकरूप से · आम्र एवं फल के समान हो जाता है। वेद्यांश में ही कालक्रम की स्थिति रहती है संविद्रूप ज्ञान में नहीं रहती, ज्ञान में वेद्यांश काल कहा जाता है। ज्ञान के अंश में नहीं होता और न तो विमर्श अंश में ही रहता है।

२. ईश्वर ही कालक्रम को अवभासित करता है। वह स्वयं अपने से नहीं अपितु कालक्रम से भासता है।

हि न कस्यचित् आभासते—तस्य सर्वम् आभाति यतः, ततश्च तौ प्रमातरि कथं दृश्येते च 'अभवम् अहं भवामि भवितास्मि, इति, 'गृहे तिष्ठामि अरण्ये देवगृहे' इति च, किं च स्वयं देशकालक्रमशून्यस्य किं दूरं किम् अन्तिकं किं वर्तमानं किम् अतीतं किं भावि, इति—प्रमात्राश्रयो भावेष्वपि क्रमो न युक्तः, न च[1] प्रमातृनिरपेक्षेष्वपि तेषु स्वात्मनि दूरत्वादि भूतत्वादि वा ? तदेतत् समर्थयितुम् आह—

सर्वत्राभासभेदोऽपि भवेत्कालक्रमाकरः ।
विच्छिन्नभासः शून्यादेर्मातुर्भातस्य नो सकृत्[2] ॥ ६ ॥

आभासित होते हैं, इसलिए देशक्रम और कालक्रम प्रमाता में कैसे हो सकते हैं ? किन्तु देखा तो जाता है कि मैं अभी हूँ, पहले था और आगे भी होऊँगा, यह सब आभास प्रमाता में दिख रहा है इसीका नाम कालक्रम है, गृह में स्थित हूँ; अरण्य में रहता हूँ; देवस्थान में रहता हूँ; यह सब देशक्रम माना जाता है, भगवान् तो स्वयं देश और काल के क्रम से शून्य है, इसलिए उसके लिए क्या दूरत्व है एवं क्या समीपत्व है, क्या वर्तमान है, क्या अतीत हुआ और क्या भविष्य ही होगा ? प्रमाता का आश्रय क्रम भाव-पदार्थों में भी नहीं होना चाहिए और प्रमाता से निरपेक्ष भी उन पदार्थों में अपने आप दूरत्वादि अथवा वर्तमानादि रहें, यह कहो, तो ऐसा होना कैसे संभव होगा ? इस बात का समर्थन करने के लिए कहते हैं—

सर्वत्र आभासों का भेद तो कालक्रम से होता है । जो विच्छिन्नाभास है, वह स्वयं भासित शून्यादि प्रमाता के बिना नहीं हो सकता है ॥ ६ ॥

---

१. देश-काल का क्रम पदार्थों में ही रहे, प्रमाता में नहीं; क्योंकि यह प्रमाता तो निराभास है, उसीसे सब कुछ आभासित होता है किन्तु वह प्रमाता किसी से भी नहीं भासित होता है और न किसी को आभासित करता है, इन दोनों को अनाभास का हेतु बताया है इसलिए ये दोनों सतत प्रकाश स्वभाव-वाले कैसे हो सकते हैं ? कोई कारण इसमें नहीं मिलता है, अतः इनका अभाव ही है यही कहना युक्तियुक्त है, किन्तु दोनों प्रतीत तो होते हैं, मैं था, मैं वर्तमान अवस्था में हूँ और आगे भी होऊँगा, इस प्रकार गृह, ग्राम, और अरण्यादि में रहता हूँ एवं भवन पर से मंच पर रह रहा हूँ, और प्रमाता में हूँ एवं उसके अभाव में रहता हूँ, अपने से, भूतादिकों से, दूरत्वादि से भी हमारा योग नहीं रहता है, इस प्रकार अनुभव की आलोचना के द्वारा दिन की अपेक्षा से ही दोनों पदार्थों में निरूपित किये जाते हैं । ये दोनों ग्राह्य में कैसे रहेंगे, इस प्रकार कहाँ ये दोनों बद्ध या प्रविष्ट होंगे ऐसा जो मुग्ध होगा, वह दोनों सूत्रों से प्रतीत होता है ।

२. जो एक बार यह भासित होता है बारम्बार नहीं होता, इस ब्रह्मवेत्ता की युक्ति से निरन्तर अनवच्छिन्न प्रकाश स्वभाववाले परमार्थ प्रमाता सिद्ध हो जाता है । उसमें कभी-भी आभास का भाव एवं अभाव नहीं होता, इसलिए काल का भी स्पर्श नहीं होता है, वह पदार्थों में भो नहीं रहता है, अपितु पदार्थ इसमें रहते हैं ।

देशक्रमोऽपि भावेषु भाति मातुर्मितात्मनः ।
स्वात्मेव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु ॥ ७ ॥

सर्वेषु वस्तुषु एकानेकरूपेषु यः कालात्मा क्रमः तस्य य आकरः—उत्पत्तिनिबन्धनम्, इति व्याख्यात आभासस्य भावाभावकृतो भेदः स शून्यप्राणबुद्धिदेहादेः भवति, इति संभाव्यते, यतः स शून्यादिः विच्छिन्नभाः, नहि तस्य भासनं स्वरूपं—नीलादिवत् जडत्वात्, अपि तु संवित्स्फुरणमस्य भासनं, तत् यदा अस्य नास्ति, यथा सुप्ते देहस्य संसारयात्रा पतितत्वे शून्यस्य प्राणादेः तदा अस्य भासनं विच्छिद्यते, इति—आभाससद्भावासद्भावकृतः कालक्रमोऽस्ति 'अतीतोऽहं बालदेहाभासरूपो भवामि युवदेहाभासरूप' इति, स च यतः प्रमाता अहंभावसमावेशनात् अपरिपूर्णात् अत एव उद्रिक्तकालक्रमत्वात् भावेष्वपि कालक्रमम् आभासयति, 'योऽहं बालोऽभवं तत्सहभावी घटाभासोऽपि अभवत्' इति, न तु यः सकृत् विभात इति अनया वाचोयुक्त्या अविच्छिन्नभासनः

पदार्थ-भावों में देशक्रम भी परिमित प्रमाता के द्वारा ही भासित होता है। जैसे आत्मा अपने आप में ही परिपूर्ण है, इसी प्रकार परमेश्वररूप अपरिमितात्मा से पदार्थवर्ग भी तो परिपूर्ण है ॥ ७ ॥

जो एक या अनेक रूपवाली सभी वस्तुओं में कालरूप क्रम रहता है वह उसकी उत्पत्ति में कारण है, उसकी तो व्याख्या कर दी है। आभास का भाव और अभाव के द्वारा भेद प्रतीत होता है वह शून्य, प्राण, बुद्धि और देहादि प्रमातृता को लेकर ही होता है, ऐसी संभावना भी हैं; क्योंकि वे शून्यादि प्रमाता भिन्न-भिन्न रूपों में हैं, उनका स्वयं भासित होना स्वरूप नहीं है—नीलादि-पदार्थों के समान; क्योंकि वह तो जडरूप है, वस्तुतः इसका संविद्रूप से स्फुरित होना ही भासन है, इसलिए इसका ज्ञान नहीं होता है। जैसे सुप्तदशा में देह की संसारयात्रा छूट जाने पर [मूर्च्छादि में] शून्य प्राणादि का भासन होना सर्वथा बंद हो जाता है, इसलिए प्रमाता का भाव और अभाव के द्वारा किया हुआ कालक्रम होता है। जैसा कि मैं अतीतकाल में बाल्यावस्था के रूप में भासित होता रहा, सम्प्रति युवावस्था के रूप में भासित हो रहा हूँ; क्योंकि प्रमाता में अहंभाव का समावेश रहता है एवं अपरिपूर्ण दशा हो जाती है इसीलिए कालक्रम के उच्छिन्न हो जाने से पदार्थ-भावों में भी कालक्रम आभासित रहता है। जब मैं बालक था, तब मेरे साथ में होनेवाला घटाभास भी हो रहा था, जब कि वह सर्वदा भासित

१. जब एक ही स्वरूप में ऐक्य के अनुसंधान से एकता का बोध होने लगता है तब तो मूर्त्ति में भी अभेद की प्रतिक्षण भिन्न-भिन्नरूपता आ जाती है और वह सब कालकृत ही होती है देखो—कार्यात्मक सभी वस्तुओं में छः प्रकार से पदार्थों के विकार उत्पन्न होते हैं, यह सब क्रमपूर्वक ही होता है। जैसे घट-पटादि पदार्थों का उत्पन्न होना, यह जन्म क्रिया का अवभास है, बदलना [परिणाम] होना, अभिवृद्धि होना, क्षीणता को प्राप्त होना एवं नाश होना; यही सत्ता क्रियाओं का प्रकाश है और उन्हीं में एक-एक का जन्म-परिणाम इत्यादि भिन्न-भिन्न अवभास है। उसी प्रकार आगे होनेवाले फल इत्यादि में हरापन-पीतपन का होना भी तो परिणाम क्रिया का आभास है। यही एकता एवं अनेकता कालरूप में रहती है।

प्रमाता संविद्रूपः तस्य स्वात्मनि कालक्रमः, नापि तदपेक्षया वेद्ये भावजाते, तद्धि तत्र अभेदेन भाति इति। एवं देशक्रमोऽपि मितात्मनः परिच्छिन्नस्वरूपस्य शून्यादेः देहान्तस्य स्वात्मनि भाति 'इह तिष्ठामि' इति स्वापेक्षया च, भावेष्वपि यत् मम-संयोगपारिमित्येन वर्तते तदन्तिकम् इतरत् दूरम् इति, अमितस्य स्वरूपेयत्ता, शून्यस्य तु संवित्तत्त्वस्य भावाः स्वात्मना अहंभावेन यतो भान्ति ततः पूर्णा—अपरिच्छिन्नस्वरूपेयत्ताकाः, यतः स्वात्मा तस्य तथाभूत एव इति समुच्चयोपमा, तदुक्तं 'अपूर्वापरं हि इदं मूर्तितः क्रियातश्च सर्वं सर्वतः पूर्णम्' इति क्रियाप्रसङ्गात् इह कालक्रमः प्राकरणिको दृष्टान्तत्वेन एतत्प्रसङ्गात् देशक्रमो निरूपितः, दृष्टान्तश्च पूर्वं वाच्य, इति वैचित्र्यनिरूपणावसरे देशक्रमस्य आदौ अभिधानं न्याय्यम्, उपसंहारे तु प्राकरणिकस्य कालक्रमस्यैव आदौ निर्देशः, पश्चात्तु प्रासङ्गिकस्य देशक्रमस्य इति ॥ ६–७ ॥

ननु एवं सत्ये प्रमातरि भगवति नास्त्येव क्रिया, इति आयातं—कालक्रमाभावात्, क्रमाश्रयेण च तस्या अवस्थानात् ? इत्याशङ्क्याह—

होनेवाला आभास नहीं था, इस वाचिक-युक्ति से अविच्छिन्न आभासवाला प्रमाता ज्ञानरूप है उसके अपने स्वरूप में कालक्रम रहता है और न तो उसकी अपेक्षा से वेद्य भाव-समूह में जाता है, उसमें तो वह अभेदभाव से भासता है। ['अथ द्वितीयश्लोकव्याख्या एवमिति देशक्रमस्यापि एषैव सरणिरित्यर्थः'] अब द्वितीय श्लोक की व्याख्या की जाती है—इस प्रकार देशक्रम का भी यही मार्ग है। इसी प्रकार से देशक्रम भी सङ्कुचित-परिच्छिन्नरूप शून्यादि से लेकर देह पर्यन्त अपने में भासता है 'इह तिष्ठामि' अर्थात् यहाँ पर बैठा हूँ और यह अपनी स्वयं की अपेक्षा से होता है, पदार्थों में भी जो मेरे संयोग से मिला रहता है वह उससे निकटवर्ती कहलाता है और इससे भिन्न रहता है, वह दूर कहलाता है, इतना ही अपरिच्छिन्नता का स्वरूप माना जाता है, शून्य संवित्तत्त्व में तो सम्पूर्ण पदार्थ अहंभाव से भासते हैं इसी से ये सभी पूर्ण हैं और अपरिच्छिन्न स्वभाववाले हैं; क्योंकि उसका अपना स्वरूप वैसा ही है। 'अपरिच्छिन्नस्वरूपेयत्ताकाः एव' अर्थात् अपरिच्छिन्न स्वरूपवाले ही हैं, इस प्रकार यह समुच्चय उपमा अलङ्कार है, इस विषय में कहा भी गया है—'मूर्त्ति में तो दूरत्व-समीपत्वादि एवं पूर्वोत्तर-रूपत्व रहता है और क्रिया में भूत-भविष्यादि काल रहता है। किन्तु यह तो सब से परिपूर्ण है इसमें न तो दूर-समीपत्व, पूर्वोत्तरत्व है और न तो भूत-भविष्यादि ही हैं। इन सबों से रहित है। इसलिए यह चारों ओर से पूर्ण है। इस प्रकार क्रिया के प्रसंग को लेकर कालक्रम प्रकरण के अनुसार दृष्टान्त द्वारा निरूपण किया गया है। इसी कालक्रम के प्रसंग से देशक्रम का भी निरूपण हो गया और दृष्टान्त को पहले देना चाहिए, मूर्त्ति की विचित्रता के निरूपण काल में ही सर्वप्रथम देशक्रम का अभिधान करना समुचित माना जाता है, उपसंहार काल में तो 'सर्वत्राभासभेदोऽपि' प्राकरणिक इस कालक्रम को लेकर प्रारम्भ में ही निर्देश कर दिया है, किन्तु पश्चात् तो प्रसंग से आनेवाले देशक्रम का ही निरूपण हुआ है ॥ ६-७ ॥

अब शङ्का करते हैं कि इस प्रकार परमार्थ प्रकाशरूप भगवान् में क्रिया हो नहीं रहती है, यह तो स्वयं प्राप्त है—कालक्रम का अभाव होने से और क्रम का आश्रय लेकर ही क्रिया रहती है। इस आशङ्का का उत्तर देते हैं—

किं तु निर्माणशक्तिः साप्येवं विदुष ईशितुः ।
तथा विज्ञातृविज्ञेयभेदो यदवभास्यते ॥ ८ ॥

इह तत्त्वतः परमेश्वरस्य अप्रतिहतस्वातन्त्र्यरूपाविच्छिन्नस्वात्मविमर्शमयी अनन्योन्मुखतारूपा इच्छैव क्रिया, इति उपसंहरिष्यते अधिकारान्ते। एवम् इच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया इति, चैत्रमैत्रादेरपि पचामि इति यैव अन्तरिच्छा सैव क्रिया, तथा च अधिश्रयणादिबहुतरस्पन्दनसम्बन्धेऽपि पचामि इति नास्य विच्छिद्यते, यत्तु पचामि इति इच्छारूपं तदेव तथा स्पन्दनात्मतया भाति, तत्र तु न कश्चित् क्रमः तत्त्वतः। एवम् ईश्वरस्यापि 'ईशे भासे स्फुरामि घूर्णे प्रत्यवमृशामि' इत्येवंरूपं यत् इच्छात्मकं विमर्शनम् 'अहम्' इत्येतावन्मात्रतत्त्वं न तत्र कश्चित् क्रमः, एतदेव च उच्यते—प्रमातृप्रमेयवैचित्र्यक्रम उल्लसतु अमुना वाक्येन, तदत्रापि न कश्चित् क्रमः, यदा तु इच्छारूपं 'पचामि' इति स्पन्दनात्मतां कायपर्यन्तां गतं क्रमारूषितम् आभाति तदा भगवदिच्छा प्रमातृप्रमेयभेदपर्यवसिता तत्क्रमोपश्लिष्टा भाति—दर्पणतलमिव विततप्रवहन्नदीप्रवाहक्रमसमाश्लिष्टम्, अत्र च केवलं दर्पणस्य तथा इच्छा नास्ति, परमेश्वरस्य तु सा अस्ति—

विद्वान् ईश्वर की वह निर्माण-शक्ति है। जिससे विज्ञाता और विज्ञेय का भेद अवभासित होता है ॥ ८ ॥

वस्तुतः परमेश्वर की अबाध्य-गति परम स्वातन्त्र्यरूप, अविच्छिन्न स्वात्मविमर्श करनेवाली, किसी अन्य की ओर उन्मुखता न रखनेवाली इच्छा-शक्ति ही क्रिया कही जाती है, इसका हम अधिकार के अन्त में उपसंहार करेंगे। इस प्रकार इच्छा-शक्ति ही हेतुत्व एवं कर्तृत्वरूप से क्रिया होती है, जैसे—चैत्र-मैत्रादि में मैं पकाता हूँ, ऐसा जो भीतरीभाव है वही इच्छा-शक्ति ही क्रिया कहलाती है, चूल्हे पर बटलोई को रखना और आग लगाना इत्यादि सम्बन्ध में सभी जगह पकानारूप क्रिया ही बनी रहती है उसका कभी-भी विच्छेद नहीं होता, उसकी जो इच्छा थी, वही तो इन पकाने आदि रूपों में स्पन्दात्मकरूप से भासती है, परमार्थतः उसमें कोई क्रम नहीं रहता। ऐसा ही ईश्वर का भी क्रम है 'मैं समर्थ हूँ, मैं भासित हो रहा हूँ, मैं स्फुरित हो रहा हूँ, मैं घूम रहा हूँ, मैं अपने को समझ-बूझ रहा हूँ, यह सब जो भी विमर्श है उसे 'अहम्' कहा जाता है। इन सब में कहीं पर भी क्रम से उपहित नहीं होते हुए दिखते, इसी बात को बतलाते हुए कहते हैं—प्रमाता एवं प्रमेय का विचित्र्यभावपूर्वक क्रम इस वाक्य के द्वारा उल्लासित होवें, इसलिए यहाँ पर भी कोई क्रम नहीं दिखता, किन्तु जब इच्छारूप 'पचामि' ऐसा कहकर स्पन्दनरूपता को लेकर शरीर पर्यन्त परिणित होता हुआ क्रमरूप से युक्त भासता है तभी भगवान् की इच्छा-शक्ति प्रमाता एवं प्रमेय के भेद तक जानेवाली उस क्रम से मिली हुई भासती है—जैसे दर्पण तल में बृहद्रूप से बहता हुआ नदी का प्रवाह क्रम हो, [तेनोपरागात् सक्रमं यथा स्फटिकादौ जवाकुसुमः। उसके साथ संपर्क होने से क्रमवाला दिखायी पड़ता है जैसे स्फटिकादि मणिओं में जवापुष्प का प्रतिबिम्ब पड़ा हुआ।]

१. केवल इतना ही देश-काल का क्रम नहीं है जिससे कि देश-काल के क्रम न रहने के कारण क्रिया का अभाव हो जाय, किन्तु वही उसे अवभासन करनेवाली क्रिया-शक्ति है, इस प्रकार श्लोक में उद्धृत 'किन्तु' शब्द से द्योतित होता है।

इति उभयथा अस्य क्रियाशक्तिः 'क्रमरूपक्रियानिर्माणसामर्थ्यं क्रमरूपक्रियोपरागयोगश्च' इति। एवं देशक्रमेऽपि वाच्यम्, तत्र तु अस्य चिच्छक्तिः उच्यते अन्यैः, इह तु क्रियाशक्तिरेव सा स्वीकृता, इति—पिण्डार्थः।

अक्षरार्थस्तु—तथा इति स्वरूपभेदेन देशक्रमकारिणा क्रियाभेदेन च कालक्रमसम्पादकेन उपलक्षितो यो विज्ञातुः शून्यादेः प्रमातुः भेदोऽन्योन्यं ज्ञेयाच्च, एवं घटादेः परस्परं ज्ञातुश्च स भगवता अवभास्यते, यत् तदवभासनं सा ईशितुरपि निर्माणशक्तिः क्रियाशक्तिः न तु केवलं शून्यादेरेव क्रिया, यतश्च तन्निर्मितं ज्ञातृज्ञेयक्रियावैचित्र्यभेदम् असौ विद्वान् वेत्ति अनवरतम् तत्रैव हि तत् स्फुरति ततोऽपि तस्य सा क्रियाशक्तिः अतो भासनविच्छेदाभावात् क्रमाभावे स्थूलदृष्ट्या यद्यपि अस्य भवेत् क्रियानुपपत्तिशङ्का, किं तु एवमस्य क्रियाशक्तिरुपपन्ना—इति संगतिः। इति शिवम्॥ ८॥ आदितः ९७

इति श्रीमदाचार्योत्पलदेवपादविरचितायामीश्वरप्रत्यभिज्ञायां श्रीमदाचार्याभि-
नवगुप्तपादकृतविमर्शिन्याख्यटीकोपेतायां क्रियाधिकारे
क्रियाशक्तिनिरूपणं नाम प्रथममाह्निकम्॥ १॥

•

इसमें भेद इतना ही है कि दर्पण की वैसी कोई इच्छा विशेष नहीं रहती, किन्तु परमेश्वर में तो वैसा करने की इच्छा-विशेष होती है—इस प्रकार दोनों रूपों में इसकी क्रिया-शक्ति रहती है। इसी विषय को लेकर कहते हैं कि क्रमरूप क्रिया के निर्माण का सामर्थ्य बल और क्रमरूप क्रिया के उपराग का सम्बन्ध उसमें रहता है। एवं देशक्रम में भी लगा लेना चाहिए, कुछ लोग तो उसमें परमेश्वर की चेतन-शक्ति रहती है—ऐसा मानते हैं, किन्तु हम लोगों ने तो क्रिया-शक्ति को ही माना है, इतना ही इसका संक्षेप में अर्थ है।

अब अक्षर सम्बन्धी अर्थों की व्याख्या करते हैं—'तथा इति' स्वरूप का भेद हो जाने से देशक्रम हो जाता है और क्रिया का भेद हो जाने से कालक्रम के सम्पादक से युक्त विज्ञाता, शून्यादि, प्रमाता के भेद और ज्ञेय से भी परस्पर भेद हो जाता है। इस प्रकार घटादि 'ज्ञेय' का परस्पर भेद ज्ञाता से और वह भगवान् के द्वारा ही भासित होता है। वह अवभासन ही ईश्वर की निर्माण-शक्ति क्रिया शक्ति बन जाती है। केवल शून्यादि प्रमाताओं की ही क्रिया नहीं होती, अपितु उसमें ज्ञाता एवं ज्ञेय की क्रिया भेद का विचित्र निर्माण भी होता है। विद्वान् व्यक्ति ही इस विषय को अच्छी तरह जानता है उसी में ही निरन्तर स्फुरित होता रहता है इसलिए भी उसकी वह क्रिया-शक्ति है। अतः इस अवभासन का अभाव न होने से क्रमाभाव रहता है, यद्यपि स्थूल-दृष्टि से तो इसमें क्रिया-शक्ति की अनुपपत्ति की शंका हो सकती है; किन्तु इसमें क्रिया-शक्ति का योग बना ही रहता है। यही संगति बैठती है॥ ८॥

प्रथम आह्निक समाप्त

---

१. इसलिए यही सिद्ध होता है कि सर्वत्र यह क्रिया-शक्ति ही स्वयं अक्रमरूप होकर उपराग के कारण क्रमरूपता को प्राप्त करती है। इसका शुद्ध क्रमरूप होना व्यापक नहीं माना जाता है, जिससे कि व्यापक की अनुपलब्धि से भगवान् में क्रिया का निषेध हो।

अथ द्वितीये क्रियाधिकारे भेदाभेदविमर्शनाख्यं

द्वितीयमाह्निकम्

विरोधमविरोधं च स्वेच्छयैवोपपादयन् ।
भेदाभेदौ च यो मन्त्रतत्त्ववित्तं स्तुमः शिवम् ॥ १ ॥

यदुक्तम्—अप्रतिहतसामर्थ्यात् भगवतो निर्माणशक्तिः इति, तदेव बाह्यवाददर्शनानुपपद्यमानक्रियासंबन्धसामान्यादिपदार्थराशिसमर्थनमुखेन निर्वाहयितुं 'क्रियासंबन्धसामान्य.......... ।' इत्यादि '....................तेन न भ्रान्तिरीदृशी ।' इत्यन्तं श्लोकसप्तकेन आह्निकं प्रस्तूयते । तत्र प्रथमश्लोकेन सूत्रकल्पेन 'एकानेकरूपस्य क्रियादेः बाह्यवादे विरुद्धधर्माध्यासदूषणेन अनुपपद्यमानस्याप्यवश्यसमर्थनीयं वपुः' इति दर्श्यते । द्वितीयेन 'तत्र उपपत्तिः' सूच्यते । तृतीयेन 'निर्विकल्पकसंवेदनसंवेद्यत्वेऽपि विकल्पकाले एव स्फुटमेषां रूपम्' इत्युच्यते । चतुर्थपञ्चमाभ्याम् 'एकानेकस्वरूपताया विषयविभागः' चिन्त्यते । षष्ठेन 'ग्रहणकसूत्रसूचितसंबन्धस्वीकृतानां क्रियाकारकभावादीनां स्वरूपम्' उच्यते । सप्तमेन 'अर्थक्रियोपयोग' इति संक्षेपः । ननु एवं तया निर्माणशक्त्या अवभासनारूपया यत् निर्मीयते तस्यावभासनैव निर्माणं, न अन्यत्, सा च

जो विरोध और अविरोध को तथा भेद और अभेद को अपनी इच्छामात्र से ही संपादन करते हैं; उस मन्त्र तत्त्ववेत्ता शिव की हम स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

जिसके विषय में कहा गया है कि अप्रतिहत सामर्थ्यवाले भगवान् की निर्माण-शक्ति अर्थात् जिसका अप्रतिहत स्वातन्त्र्य रहता है ऐसी वह निर्माण-शक्ति है । जो कि जगत् का निर्माण करती रहती है, इसी को न्यायादि दर्शनों के सिद्धान्तों में नहीं घटनेवाली निर्माण-शक्ति कहा जाता है और क्रिया सम्बन्ध का सामान्यादि पदार्थ-समूह के पहले समर्थन करते हुए निर्वाह करने के लिए क्रियासम्बन्धसामान्य......' । इत्यादि से लेकर '......तेन न भ्रान्तिरीहशी ।' इन सात श्लोकों से इस आह्निक का प्रस्ताव करते हैं । प्रथम श्लोक से सूत्ररूप में ही 'एकानेकरूपस्य क्रियादेः-बाह्यवादे विरुद्धधर्माध्यासदूषणेन अनुपपद्यमानस्याप्यवश्यसमर्थनीयं वपुः' अर्थात् एक एवं अनेक-रूप क्रियादि का बाह्यवाद में विरुद्धधर्म के अध्यास का दोष दिखा करके नहीं धटनेवाले पदार्थों का भी अवश्य समर्थन करनेवाला विषय दिखायेंगे । द्वितीय श्लोक से 'तत्र उपपत्तिः' उसमें [समर्थन की] उपपत्ति दिखायेंगे । तृतीय श्लोक से 'निर्विकल्पकसंवेदनसंवेद्यत्वेऽपि विकल्पकाले एव स्फुटमेषां रूपम्' अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान संवेद्य वस्तु के भी विकल्पकाल में भी पदार्थों का स्फुटरूप रहता है [निर्विकल्पक अनुभव के वेद्यकाल में यह पदार्थ वर्ग जिस स्थिति में रहता है उसी प्रकार विकल्पकाल में भी स्फुटरूप से रहता है] यह दिखायेंगे । चतुर्थ एवं पञ्चम श्लोक से एकत्व और अनेकत्व का विषय विभाग करते हुए उन पर विचार प्रकट करेंगे । षष्ठ श्लोक द्वारा 'ग्रहणकसूत्रसूचितसंबन्धस्वीकृतानां क्रियाकारकभावादोनां स्वरूपम्' अर्थात् 'ग्रहणक सूत्र से सूचित सम्बन्धों का जो क्रियाकारकादि भाव है उनका स्वरूप' कहेंगे । सप्तम श्लोक से 'अर्थक्रियोपयोगः' अर्थात् अर्थ क्रिया का उपयोग इस प्रकार संक्षेप में कह दिया । अत्र शङ्का उठती है कि इस प्रकार उस निर्माण-शक्ति से, जो कि निरन्तर अवभासित होती रहती है,

द्विचन्द्रादेरपि अस्ति, नीलादेरपि, नीलादिनिष्ठस्य कर्मसामान्यसंबन्धादेरपि ततश्च 'असत्यं सत्यं संवृतिसत्यमिति' य एवंप्रायेषु व्यवहारः स कथं संगच्छेत—निर्मेयत्वाविशेषात् ? इत्याशङ्क्य—'क्रियादीनामसत्यत्वं तावत् नोपपन्नम्' इति वदन्—द्विचन्द्रादीनां तु इत्थमपि असत्यत्वम्, इति सूचयन् आह—

क्रियासम्बन्धसामान्यद्रव्यदिक्कालबुद्धयः ।
सत्याः स्थैर्योपयोगाभ्यामेकानेकाश्रया मताः ॥ १ ॥

चित्तत्वात् अन्यत्र या क्रियाबुद्धिः कर्तृकर्मकरणादिषु 'चैत्रो व्रजति' 'तण्डुला विक्लिद्यन्ते' 'एधा ज्वलन्ति' इति, तस्या एकानेकरूपश्चैत्राद्यर्थ आश्रय आलम्बनम्, तथाहि—तत्तद्देशकालाकारभिन्नः तत्र चैत्रदेहोऽनेकस्वभावोऽपि 'स एवायम्' इति एकरूपताम् अपरित्यजन्नेव निर्भासते, स एव च एकानेकरूपोऽर्थः क्रिया तथैव प्रतिभासनाच्च पारमार्थिकी, द्विचन्द्रादि तु तथा भास-

जिसका भासना ही एक प्रकार निर्माण माना जाता है, अवभासन से अतिरिक्त नहीं, और वह तो द्विचन्द्रादि में भी भासन-शक्ति रहती है, एवं नील-सुखादि में भी होती है, नीलादि-पदार्थों में रहनेवाले कर्म [क्रिया] सामान्य [जाति] के सम्बन्ध में भी रहती है और इससे सिद्ध होता है कि 'असत्य, सत्य और संवृत्तिसत्य ये जो तीन प्रकार के व्यवहार देखे जाते हैं वे कैसे संभव हो सकते हैं; क्योंकि सब जगह निर्माण तो एक सा ही दिखायी पड़ता है ? अर्थात् सर्वत्र द्विचन्द्रादि में भी तो अवभासन एक सा ही होता हुआ दिखायी देता है] ऐसी आशङ्का कर 'क्रियादि का जो सत्यत्व है वह उपपन्न नहीं होता', यह कहते हुए—किन्तु द्विचन्द्रादि में तो सब तरह असत्यत्व सिद्ध होता है, यह सूचना देते हुए कहते हैं—

स्थिरता एवं उपयोग के द्वारा, क्रिया और उसका द्रव्यों के साथ सम्बन्ध तथा जाति, द्रव्य, दिशा, कालादि का ज्ञान, ये सभी प्रायः सत्य ही है; एक या अनेक दोनों के आश्रय से माने हुए हैं ॥१॥

चेतन में क्रिया नहीं रहती, अन्यत्र कर्ता, कर्म, करणादि में तो क्रिया बुद्धि रहती है 'चैत्रो व्रजति' चैत्र जाता है, 'तण्डुला विक्लिद्यन्ते' चावल पक रह हैं, 'एधा ज्वलन्ति' लकड़ियाँ जलती हैं इत्यादि, उसका एक या अनेकरूप से चैत्रादि के अर्थ का विषयत्व होता है। देखिये—वहाँ पर उन-उन देश, काल एवं आकारों से भिन्न चैत्र का देह अनेक रूपों में रहता हुआ 'स एवाऽयम्' वही यह चैत्र है, इस प्रकार एकरूपता को न छोड़ता हुआ ही निर्भासित होता रहता है और एक से अनेक रूपों में भासित होना ही क्रिया है, उसी प्रकार वह भासित होने से

१. निर्माण-शक्ति का अवभास क्रम तो देखा जाता है और नीलादि-पदार्थों में भी रहनेवाले कर्म-सामान्यादि का व्यवहार कैसे रहेगा ? दो चन्द्रमा में तो असत्यरूप से रहते हैं, नीलादि-पदार्थों में सत्यरूप से रहती हैं और क्रियादि में संवृत्ति सत्यरूप से रहती हैं, जैसे रूपादि पदार्थ भिन्न-भिन्न रहते हुए भी ज्ञान को उत्पन्न करते हैं और बहुत से परमाणु समूह नियम से अर्थक्रिया संपादित करते हैं तथा भिन्न-भिन्न क्षणों का समुदाय ओदनरूप फल को निष्पत्ति कर देता है, उसी प्रकार संवृत्ति सत्य भी है, जैसे अपने धर्म से अर्थ का अवच्छेदन कर दूसरे स्वरूप में परिणत कर देती है जिस कारण धर्म से आवृत हो जाता है, इस प्रकार संवृतिसत्य भ्रान्ति से भिन्न है, संवृतिसत्य ही कुछ नहीं होता—क्योंकि सामान्यादि का सत्यत्व उसमें रहता है, द्विचन्द्रादि तो असत्य ही होता है।

मानमपि उत्तरकालं प्रमाव्यापारानुवृत्तिरूपस्य स्थैर्यस्य उन्मूलनेन 'द्विचन्द्रो नास्ति' इत्येवंरूपेण असत्यम्, इह पुनः 'चलति चैत्रः' इत्येवंभूतो विमर्शः अनुवर्तमानो न केनचित् उन्मूल्यमानः संवेद्यते, द्विचन्द्रादि च यद्यपि ह्लादोद्वेगयोः उपयुज्यते, तथापि द्विचन्द्राभिमानी न तावतीं तत्र अर्थक्रियाम् अभिमन्यते अपि तु यादृशी एकेन शशिना कर्तव्या—तिमिरापसारणादिरूपा, तादृश्येव अपरेण, इति न तद्द्विगुणाम् अर्थक्रियाम् तत्र अध्यवस्यति, तस्यां च असौ न उपयुज्यते, व्रज्यायां तु यामेव ग्रामप्राप्तिम् अध्यवस्यति तस्याम् अविकलायाम् उपयोगोऽस्या, इति—स्थैर्यात् उपयोगाच्च एकानेकरूपक्रियातत्त्वालम्बना बुद्धिः सत्यैव, एवं संबन्धादिषु कालपर्यन्तेषु वाच्यम् उत्तरकारिकासु स्फुटीभविष्यति ॥ १ ॥

ननु एकत्वम् अनेकत्वं च परस्परं विरुद्धे, कथम् एकत्र वस्तुनि स्यातां, ततश्चायं बाधकप्रमाणकृतः स्थैर्योन्मूलनप्रकारः ? इत्याशङ्क्याह—

तत्रैकमान्तरं　तत्त्वं　तदेवेन्द्रियवेद्यताम् ।
संप्राप्यानेकतां　याति　देशकालस्वभावतः ॥ २ ॥

इह तावत् चैत्रे चलति दृष्टे न जातुचित् न चलति अयम् इति बुद्धिः जायते—न रजतम् इतिवत्, द्विचन्द्रेऽपि नायं द्विचन्द्रः तिमिरवशात्, अहम् उपप्लुतनयनः परम् एवं वेद्मि इति भवति

ही पारमार्थिक कही जाती है किन्तु द्विचन्द्रादि तो वैसा भाममान होता हुआ भी उत्तरकाल में यथार्थ प्रमाज्ञान के हो जाने पर उन्मूलित हो जाता है, जिससे 'द्विचन्द्रो नास्ति' ऐसा बोध होने लग जाता है इसी कारण असत्य माना जाता है, क्रिया में तो 'चलति चैत्रः' अर्थात् चैत्र जाता है, ऐसा जो विमर्श होता है उसका उन्मूलन कोई कभी भी नहीं करता हुआ जाना जाता है। यद्यपि द्विचन्द्रादि आनन्द एवं उसके अभाव उद्वेग का उपयोगी होता है, तो भी 'द्विचन्द्रादि' का अभिमान करनेवाला मानता है कि यह 'द्विचन्द्रः' है, उतनी अर्थक्रिया का उसमें अभिमान नहीं रहता; जितनी एक चन्द्रमा से अन्धकार दूर करना रखता है, वैसी दूसरे चन्द्रमा से नहीं होती, दुगुनी अर्थक्रिया 'प्रकाश' देने में उसे विश्वास नहीं होता; क्योंकि वह इसके लिए उपयोगी नहीं है, इसीलिए उसमें असत्य बुद्धि उत्पन्न होती है, किन्तु चैत्र विषयक गमन में तो ग्राम की प्राप्ति में अर्थक्रिया प्रत्यक्ष फल के रूप में दिखायी देती है, उपयोग भी तो अर्थक्रिया का सत्य अविकल है, इसलिए स्थैर्य और उपयोगी होने के कारण एक और अनेकरूप क्रियातत्त्व का आलम्बन करनेवाली बुद्धि सत्य ही होती है, इस प्रकार सम्बन्धादि से लेकर काल पर्यन्त कहना चाहिए यह बात हम आगे कारिकाओं में स्पष्ट करेंगे ॥ १ ॥

अब प्रश्न करते हैं कि एकत्व और अनेकत्व इन दोनों का स्वभाव परस्पर विरुद्ध सा ही लगता है; एक ही वस्तु में दोनों कैसे रह पायेंगे ? इसलिए स्थिरता के खण्डन करने का प्रकार बाधक मूलक है ? इस पर आशङ्का कर कहते हैं—

उसमें एक ही आन्तरीय तत्त्व इन्द्रियों के द्वारा वेद्य होकर देश और काल के स्वभाव भेद से अनेकरूपता को प्राप्त कर लेते हैं ॥ २ ॥

चैत्र चलता है—इस प्रकार देखने पर नहीं कह सकते हो कि यह नहीं चलता है; ऐसी बुद्धि नहीं उत्पन्न होती, जैसी शुक्तिका को देखने पर यह रजत नहीं है, दो चन्द्रामा को भी देख

उन्मूलनाबुद्धिः, यत्तु उक्तम्—एकमेव कथम् अनेकं भवति इति, तत्र उच्यते—इह कारणमेव कथम् अकारणं भवति, अथ उच्यते—विषयभेदात् तथा, इति तद्विषयभेदे एतत् न विरुध्यते, इति केन अयं विनीर्णो वरः ? संवेदनेन इति चेत् 'चलति' इत्यादौ संवेदनमेव अस्माभिः प्रमाणीकृतं किमिति न सह्यते, विषयभेदोऽपि च अत्र वक्तुं न शक्यते, तथाहि—आभासान्तरेण असंभेदने तदेकाभासमात्रम्, अत एव अन्यापेक्षावियोगात् अन्तरङ्गत्वात् आन्तरम् अनुवर्तमानं तथाभूताभासमात्रग्रहणोचितान्तःकरणवेद्यतया च आन्तरं तथा स्वरूपापरिच्युतेः तत्त्वम् आभासान्तरयोगेन तननसहिष्णुत्वाच्च तत्त्वम् 'एकम्' इति प्रतीयते, तदेव देशाभासेन इह अमुत्र इति, कालाभासेन अधुना तदानीमिति, स्वभावाभासेन कृशः स्थूल इत्यादिना, मिश्रतया अनेकमिति बाह्येन्द्रियवेद्यतायां प्रतीयते, तथा 'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य.......... ।' इति उक्तनीत्या विश्वमेव आन्तरं सत् एकम्, तदेव सान्तर्विपरिवर्तिनः उभयेन्द्रियवेद्यत्वम्, इति वक्ष्यमाणकार्यकारणभावतत्त्वदृष्टया इन्द्रियवेद्यतायाम[1]नेकम्—देशाद्याभासमिश्रणात् इति, एकत्वम्—आभासान्तरामिश्र-

कर यह 'द्विचन्द्रः' नहीं हैं, ऐसा बोध अपने को हो जाता है; नेत्र दोष से दूषित होने के कारण मैं चकाचौंध हो गया हूँ, इसलिए ऐसा समझता हूँ अतः यह दो चन्द्रमा नहीं हैं—ऐसी बुद्धि हो जाती है, किन्तु यह जो कहा गया है कि एक ही अनेक कैसे हो जाता है, वहाँ पर यह कहना है कि कारण [बीजादि] कैसे अकारण [अङ्कुरादि] बन जाते हैं, इसके समाधान में उत्तर देते हैं कि विषय भेद से वैसा हो जाता है, [कारण-अकारण] विषय के भेद हो जाने पर कोई विरोध नहीं होता, यदि यह कहो कि विषय भेद से ऐसा हो जाता है तो मैं भी कहूँगा कि यह भी तो विषय भेद से हो जाता है, इसको किसने वरदान दिया है कि यह इसके लिए नहीं होगा ? यदि कहो कि संवेदनरूप ज्ञान से ऐसा होता है तब तो हम लोगों ने भी 'चलति' इत्यादि ज्ञान को जो प्रमाणित किया है इसको क्यों नहीं मान लेते हो ? इसमें विषय भेद भी नहीं हैं, ऐसा नहीं कह सकते, देखिये—दूसरे आभास से न ज्ञान होने पर एक ही आभास मात्र रहता है, इसीलिए किसी अन्य की अपेक्षा न रहने के कारण अन्तरंग हो जाने से वह अपने भीतर स्थिर रहा करता है। उसी प्रकार आभास ग्रहण में समर्थ अन्तःकरण से वेद्य होकर उसका अपने स्वरूप से च्युत न होना ही आन्तरतत्त्व कहलाता है; उसको तत्त्व इसलिए कहते हैं कि दूसरे आभास के सम्बन्ध से अपने विस्तार को सह सकता है जिससे 'एकम्' एक प्रतीत होता है, उसी को देश आभास से यहाँ और वहाँ कहा जाता है, काल आभास से 'अधुना' अब और 'तदानीन्तन' तब कहा जाता है, स्वभाव के आभास से कृश एवं स्थूल इत्यादिरूपों से कहा जाता है, मिले-जुले अनेकरूपों में बाह्येन्द्रियों के ज्ञान से प्रतीत होते हैं, वैसा कहा भी है 'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य' अर्थात् अपमें में रहनेवाले स्वामी का......। इस कही हुई नीति से यह सारा का सारा विश्व ही आन्तरतत्त्व में एक सद्रूप होकर रहता है, उसी अन्तवर्त्ती परिवर्तन के साथ दोनों इन्द्रियों से वेद्य होकर आगे कहनेवाले कार्यकारणभाव यथार्थ दृष्टि से इन्द्रियों के द्वारा वेद्य होने पर अनेकता को प्राप्त हो जाते हैं—देशादि आभास के मिल जाने से, 'एकत्व'—दूसरे आभास के मिल जाने पर केवल अन्तःकरण से वेद्य

---

१. बाह्य-इन्द्रियों से वेद्य होने के कारण सभी प्रमाणों का आसाधारण रूप बाहर में रहने पर अकेला आ जाता है।

ताया अन्तःकरणैकवेद्यत्वे चिन्मात्रतायाम्, अनेकत्वं पुनर्—आभासान्तरमिश्रतायाम् उभयकरण-वेद्यत्वे चिदतिरिक्तताभासने च, इति—स्फुटो विषयभेदः, तस्यैव च तथात्वम् इति परामर्शबला-देव कारणाकारणवत् उपादानसहकारिवत्। अथ व्यपदेशमात्रम् एतत् 'कारणम् अकारणं च' इत्यादि, तदिहापि एकमनेकमिति व्यवहारमात्रम्, नीलं पीतम् अविकल्पकं सविकल्पकम् इत्यपि सर्वं मायापदे व्यवहारमात्रम् इति सर्वं समानम्, तस्मात् एकत्वानेकत्वविरोधो न बाधकः, तदेतत् एवकारेण उक्तम्। तत्र इति—तेषु क्रियादिषु यत् आन्तरं तत्त्वं तदेव इन्द्रियवेदनीयतां प्राप्य देशादिभेदात् अनेकतां याति इति संबन्धः, तत्र इति सत्यत्वे स्थिते तयोर्वा एकत्वानेकत्वयोः मध्ये 'एकत्वमेवम् अनेकत्वमेवम्' इति योजना ॥ २ ॥

ननु एवं विषयभेदे अभ्युपगम्यमाने यदा एकं प्रतिभातं भवति तदा न अनेकम्, अनेक-प्रतिभासे च न एकं प्रतिभातम्, इति कथम् एकानेकरूपं वस्तु स्यात्, तथाहि बाह्येन इन्द्रियेण

होकर चेतन अवस्था में एकता को संपादन कर लेता है। दूसरे आभास के साथ में संयुक्त हो जाने पर दोनों इन्द्रियों से वेद्य होकर चेतन से भिन्न भासता हुआ स्फुट रूपों में व्यक्त हो जाता है और इसका स्फुट हो जाना ही विषय भेद माना जाता है। उस विषय भेद का ही एकत्व एवं अनेकत्व है। इस प्रकार परामर्श के बल से कारण-अकारण के जैसा एवं उपादान सहकारी कारण के जैसा मात्र कथन में ही भेद रहता है इसके अतिरिक्त कुछ भी भेदभाव नहीं रहता। [जैसा कि सहकारी सामग्री के अभाव में उपादान का अनुपादनत्व रहता है] पहले कारण और अकारण इत्यादि कहना। यहां पर भी एक और अनेक का ऐसा व्यवहार ही मात्र होता है, नील-पीत एवं अविकल्प सविकल्प जितने भी हैं वे सभी मायीय जगत् में व्यवहार मात्र होते हैं—यह सब समान है, इसलिए एकत्व और अनेकत्व का विरोध बाधक नहीं होता, उसे 'एवकार' शब्द से कहा गया है। उन क्रियादिओं में जो आन्तरतत्त्व है वह तो एक ही है, वही इन्द्रिय से वेद्य होकर देश-कालादि के भेद द्वारा अनेक रूपों में विभक्त हो जाता है, यही सम्बन्ध भी है, इसलिए उनकी सत्यता प्रमाणित हो जाने पर उन एकत्व एवं अनेकत्व के बीच में एकत्व ऐसा होता है तथा अनेकत्व ऐसा होता है, यह जोड़ देना चाहिए ॥ २ ॥

अब शंका उठती है कि [विषयभेद से एकत्व और अनेकत्व में कोई भी विरोध नहीं आने पाता है यह 'ननु' कहकर आक्षेप किया है] विषयभेद के स्वीकार करने पर जब एक का प्रतिभान होता है तब अनेक का प्रतिभान नहीं होता और अनेक का प्रतिभान होता है, तब फिर एक का

---

१. सब ही नील-मधुर-कर्कश इत्यादि पदार्थों की यथार्थतः चिन्मयता होने के कारण, प्रत्येक में उस-उस धर्मों का योग होने से विश्वरूपता और विश्वशरीरता सिद्ध होती है—इसलिए ईश्वर एवं आत्मा में दोनों की उभयरूपता का कहना ठीक ही है, एकत्व करना ठीक नहीं है; क्योंकि वह तो द्वित्वादि प्रतियोगी की अपेक्षा सदा रखता है—अप्रतियोगी में कैसे रहेगा ? इसी को दिखाते हुए कहते हैं 'विश्वमेवान्तरं सत्' इत्यादि से। जब फिर उस नीलादि-पदार्थों में अभेद की अन्तःकरण वेद्यतया सभी प्रमाताओं की असाधारणत्व भावपूर्वक मात्र व्यवस्था देखी जाती है। भीतर एकत्वरूप से आभास रहता है और बाहर में अनेकत्वरूप से हो जाता है इसी बात को 'एकमिति' इस प्रतीक से कहा गया है। उसमें भी विभाग दिखाते हैं। अन्तःकरण के साथ परिवर्तन होनेवाली उभय इन्द्रियां वेद्य रहती है, अन्तःकरण की वेद्यता में एकत्व एवं बाह्य-इन्द्रियों की वेद्यता में अनेकत्व रहता है।

चैत्रो विचित्रदेशकः परम् अनुभूयते, न तु अनेकाभाससंमिश्रीकारे बाह्येन्द्रियजस्य अविकल्पकस्य व्यापारः—संनिहितविषयबलोत्पत्तेः अविचारकत्वात् इत्याहुः, विकल्पेनापि मानसेन तथाभूतं वस्तु नैव स्पृश्यते इति कया धिया वस्तु एकानेकरूपं गृह्येत ? इति परव्यामोहनिवर्हणाय आह—

तद्द्वयालम्बना एता मनोऽनुव्यवसायि सत् ।
करोति मातृव्यापारमयीः कर्मादिकल्पनाः ।। ३ ।।

इह 'ज्ञानमालाया अन्तःसूत्रकल्पः स्वसंवेदनात्मा प्रमाता जीवितभूतः' इति उपपादितं प्राक्, स च 'स्वतन्त्र' इत्यपि निर्णीतम्, स तु विशुद्धस्वभावः शिवात्मा, मायापदे तु संकुचितस्वभावः पशुः, तदस्य मनःसमुल्लासावसरे विकल्पभूमिकायां स्फुट उल्लासः, ऐन्द्रियके निर्विकल्पके सदाशिवेश्वरदशाभ्युदयात्, अविकल्पकबोधाबहिर्भूतविमर्शव्यापारस्य पश्चाद्भाविनं व्यवसायं निश्चयात्मकं विकल्पकम् अनुव्यवसायशब्दवाच्यं विदधदन्तःकरणम् एतान् क्रियासम्बन्धादिविकल्पान् सम्पादयति, ते च विकल्पाः तद्द्वयम् एकत्वानेकत्वरूपम् अवलम्बन्ते, नहि विकल्पेषु प्रतिभासमानम् अवस्तु तत्—इति हि उक्तम् 'प्रकाशतैव वस्तुत्वम्' इति, न च विकल्पस्य प्रकाशरूपतां मुक्त्वा आरोपणाध्यवसायाभिमानादिनामधेयं व्यापारान्तरं युक्तम्,

नहीं होता, इस प्रकार वस्तु एक—अनेकरूप कैसे होगी ? देखिये—बाह्य-इन्द्रिय [चाक्षुष अनुभव] से चैत्र एक देश को छोड़कर दूसरे देश में चला गया—ऐसी प्रतीति होती है, किन्तु अनेक आभासों को मिला देने पर बाह्येन्द्रिय जन्य अविकल्पक व्यापार नहीं हो सकता; क्योंकि संनिहित विषय के बलोत्पत्ति का ज्ञान नहीं होता है, यह कह सकते हैं, मानस विकल्प से भी एक एवं अनेकरूप वस्तु का बोध नहीं हो सकता तब फिर किस बुद्धि [अनुभव] से एक-अनेकरूप वस्तु को ग्रहण करेंगे ? यह दूसरों के ऊपर मोह के आवरण को हटाने के लिए कहते हैं—

इसलिए अनुव्यवसाय करनेवाला स्थिर मन इन एकत्व और अनेकत्व का आधार लेकर प्रमाता के व्यापारमय कर्मादि की कल्पना करता है ।। ३ ।।

यहाँ पर 'ज्ञानमाला का आभ्यन्तरीय स्वसंवेदनरूप प्रमाता ही जीवन है, इसका हमने ज्ञानाधिकार के द्वितीय आह्निक में विवेचन कर दिया है और वह 'स्वतन्त्र' है इसका भी निर्णय कर दिया है, वह तो विशुद्ध स्वभाववाला शिवात्मा है, किन्तु मायायी जगत् में तो संकुचित-परिच्छिन्न स्वभाववाला पशु हो जाता है, इसलिए इसका मन के समुल्लास अवसरकाल में, जो विकल्प भूमिका है उसमें स्फुटरूप से उल्लास होता है; क्योंकि इन्द्रियजन्य निर्विकल्प दशा में सदाशिव और ईश्वर दशा का उदय होता है, अविकल्प बोध से बाहर में नहीं होनेवाला जो विमर्श का व्यापार है उसके बाद में होनेवाला निश्चयात्मक व्यवसायरूप विकल्प को अनुव्यवसाय शब्द का वाच्य होता है, उसी को करनेवाला अन्तःकरण क्रिया सम्बन्धादि विकल्पों को सम्पादन करता है, और वे सब के सब विकल्प उन एकत्व और अनेकत्वरूप द्वित्व का ही अवलम्बन करते हैं, इसलिए विकल्पों में प्रतिभासित होनेवाली अवस्तु नहीं हो सकती; यही हमने कहा है कि 'प्रकाशतैव वस्तुत्वम्' आभास को ही वस्तु कहा जाता है और विकल्प के प्रकाशरूप को छोड़कर आरोप करना, अध्यवसाय करना और अभिमानादि नामक दूसरा व्यापार युक्त नहीं बैठता है,

ततोऽबाह्यं बाह्यम् आरोपयन्ति इत्यादि वचोवस्तुशून्यम्, तच्च एतत् उक्तम् 'भ्रान्तित्वे चावसायस्य………… ।' इत्यत्र । अथ ब्रूयात्—परो यत् इन्द्रियज्ञानेन प्रकाशनीयं स्वलक्षणं तत् कथं विकल्पः स्पृशेदिति, भवेदेवं—यदि विकल्पो नाम स्वतन्त्रो भवेत्, यावता प्रमातुरसौ व्यापारः प्रमाता च पूर्वानुभवान्तःस्वसंवेदनरूपः तदस्य च अयमेव पूर्वानुभवसंस्कारो—यत् विकल्पनव्यापारकालेऽपि पूर्वानुभवात्मत्वम् अनुज्झन्नेव आस्ते, ततः पूर्वानुभवतादात्म्यापन्नप्रमातृतत्त्वव्यापारोऽपि विकल्पस्तद्विषय एव, अत एवमुक्तम् आचार्येण—'पूर्वानुभवसंस्कारः प्रमातुरयमेव सः । यदपोहनकालेऽपि स पूर्वानुभवः स्थितः ॥' इति, तस्मात् प्रमातुः यो व्यापार एकत्वानेकत्वसंयोजनात्मा स एव प्रकृतो यत्र तादृशीः क्रियादिकल्पना एकानेकवस्तुविषया 'एता' इति ग्रहणकवाक्यसूचिता मन एव करोति इति स्थितम्, यद्यपि अविकल्पेऽपि सामान्याद्यवभासो घटमात्रावभासादौ, तथापि न तदा सामान्यादि स्फुटं—समानोपरञ्जकत्वे सम्बन्धिद्वयोद्भवे क्रमिकक्षणसन्तानात्यागे अवयवकदम्बकस्वीकारे अवध्यवधिमत्परिग्रहादौ सामान्यसम्बन्धक्रियाद्रव्यदिगादिपदार्थस्य परमार्थतः स्फुरणात्, इति, 'मानसविकल्पग्राह्या एकानेकरूपाः सामान्यादय' इति स्थितम् । एवं च संवृतिः विकल्पबुद्धिः, तद्वशात् उच्यतां संवृतिसत्यत्वं सत्यत्वस्यैव तु प्रकारः तत्, इति द्विचन्द्रादिवत् न असत्यता ॥ ३ ॥

इसलिए अबाह्यरूप आन्तर तत्त्व को बाह्यरूप में देखते हैं इत्यादि कहना ही वस्तु शून्य हो जाता है, इसी कारण यह कह दिया है 'भ्रान्तित्वे चावचायस्य ··।' इस कारिका में अब भी कोई दूसरा यदि कहे कि जो इन्द्रिय ज्ञान से प्रकाशित होनेवाला निर्विकल्पक ज्ञान है वह कैसे विकल्प को स्पर्श करेगा, ऐसा तब होता जबकि विकल्प का कोई अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रहता—किन्तु ऐसी तो कोई बात दिखती नहीं, जब तक प्रमाता का वह व्यापार और प्रमाता दोनों पूर्व स्वसंवेदनरूप होते और उसका यह पूर्व के अनुभव संस्कार जो कि विकल्प व्यापार काल में भी पूर्वानुभवरूप को नहीं छोड़ता हुआ रहता है, इससे यह सिद्ध होता है कि जब तक पूर्वानुभव अपने स्वरूप को प्रकाश करता रहता है तब तक ही पूर्वानुभव के साथ तादात्म्य को प्राप्त होकर, प्रमाता और उसका व्यापार भी विकल्प पूर्व के अनुभव का ही विषय होता है, इसलिए आचार्य ने कहा कि—'पूर्व के अनुभव का संस्कार प्रमाता का ही विषय है। विकल्प दशा में भी पूर्व का अनुभव स्थिर रहता है।' इसलिए प्रमाता का जो व्यापार एकत्व और अनेकत्व का संयोजनरूप है वही प्रकृत प्रसङ्ग में आ रहा है जिसमें ऐसी एक एवं अनेक वस्तु विषयक क्रियादि की कल्पना है, उसे 'एता' इस शब्द से सूचित किया गया है, जब कि वह मन ही करता है यह बात स्थिर हुई, यद्यपि अविकल्प दशा में भी केवल घटादि के अवभास में सामान्यादि का अवभास होता है, तो भी सामान्यादि का उसमें स्फुटाभास नहीं होता; दो सम्बन्धियों से उत्पन्न होनेवाले समानतः उपरञ्जकता में क्रमिक क्षण-सन्तान छोड़ देने पर एवं अवयव समूह के स्वीकार करने पर अवधि और अवधिमान् के ग्रहण करने में सामान्य सम्बन्ध, क्रिया, द्रव्य, दिशा, कालादि पदार्थों का परमार्थतः स्फुरण होने से मानस विकल्प से गृहीत होनेवाले एकरूप और अनेकरूप सामान्यादि होते हैं यही सिद्ध होता है। इस प्रकार संवृति विकल्पबुद्धि, उसी कारण से संवृति है और सत्यत्व का प्रकार भी सत्य होता है, उसमें द्विचन्द्रादि की जैसी असत्यता नहीं रहती, अपितु सत्य रहता हुआ सत्यरूप में भासित भी होता है ॥ ३ ॥

तत्र च अयं संविदवतरणक्रमो—यत् क्रियाशक्तेरेव अयं सर्वो विस्फारः, तत्रापि सम्बन्ध एव मूलभूतः तथाहि—समानानां यत् एकं भाति तत् सामान्यम्, देवदत्तस्य यत् वैतत्यं सा क्रिया, अवयवानां यदैक्यं वैतत्यं च देशतः सोऽवयवी, इमम् अवधिं कृत्वा अयम् इत्थम् ततोऽ य अयं पुरस्तात् इत्यादिर्दिक्, अस्यायं क्रियाप्रतानः सहभावेन आस्ते विनाभावेन वा इति वर्तमानादिः कालः, यावत् हि प्रातिपदिकार्थस्य पृष्ठपाति वपुः भाति तदतिरिक्तं सर्वं सम्बन्ध एव इति कारकाणामपि सम्बन्धरूपतैव, केवलं क्वचित् असौ सम्बन्धो व्यपदेशान्तरग्रन्थिं सहते, यथा सास्नादिमतां सम्बन्धो 'गाव' इति एकव्यपदेशसहिष्णुः तत्र सामान्यादिव्यवहारः, व्यपदेशान्तर-ग्रन्थिभङ्गे तु सम्बन्धवाचोयुक्तिरेव, अत एव मुष्टिप्रस्थपलादिप्रमाणपरिमाणोन्मानरूपं तत्र अन्तर्गतं वा अणुमहदादि संख्यापृथक्त्वादि च यत् तत् सर्वं सम्बन्धस्यैव विजृम्भितम्, येऽपि सामान्यादि वस्त्वन्तरम् अमंसत तेऽपि तत्र समवायम् अभ्युपजग्मुः जीवितत्वेन, समवायश्च सम्बन्धात्मा तदनुग्राह्यो वा केषाञ्चित्, यत आहुः 'तां शक्तिं समवायाख्यामनुगृह्णाति सम्बन्धः।' इति, यदपि च कारकं तदपि क्रियामुखप्रेक्षि, सापि कालं प्राणेश्वरम् आश्रयति, सोऽपि क्रिया-द्वारेण सर्वभावान्, सापि सम्बन्धम् उद्धुरयति इति सम्बन्धाधीनैव इयं चित्रा लोकयात्रा, तदाह

इस प्रकार [क्रियादि संवृतिसत्य में द्विचन्द्रादि के समान असत्यता का निराकरण कर देने पर] कहते हैं कि वहाँ पर संवित् ज्ञान का जो क्रम है, वह सब क्रिया-शक्ति का ही विस्तार है, उसमें भी एक-अनेकरूप सम्बन्ध ही मूलभूत कारण माना जाता है, देखिये—समान पदार्थों में जो एकरूपता दिखती है वही सामान्य कहलाता है, देवदत्त का विस्तार दिखायी पड़ता है वही तो क्रिया है अवयव पदार्थों में जो एकता का विस्तार दिखायी देता है वही देशभाव से अवयवी माना जाता है, इसी को सीमित मान करके यह ऐसा है, इसके पूर्व में यह है, इत्यादि भावों को लेकर दिशाएँ बन जाती हैं। इसी के साथ क्रिया के विस्तार से वर्तमानादि काल का भाव होता है, जब तक प्रातिपदिकार्थ पोषक-शरीर का भाव होता है तब तक ही उसकी स्थिति रहती है, उससे अतिरिक्त सब सम्बन्ध ही रहता है इसीलिए कारकों की भी सम्बन्धरूपता मानी जाती है। वह सम्बन्ध केवल कहीं पर ही दूसरे नाप से अभिहित होता है। जैसे सास्नादि के सम्बन्ध से 'गौ' यह नाप कहा जाता है और उसमें सामान्यादि का भी व्यवहार होता है, दूसरा कोई प्रकार नहीं होता है और यही कहने का व्यवहार जगत् का नियम है, इसलिए एक मुट्ठी, प्रसर, पलादि परिमाणों से और उसके अन्तर्गत अणु, महान्, संख्या-पृथक्त्वादि जो कुछ छोटा या बड़ा है वह सब सम्बन्ध को ही लेकर होता है और सारा का सारा विस्तार सम्बन्ध का ही है, [अधिक परिमाण, कम-परिमाण, पूरा-परिमाण। लम्बाई चौड़ाई ये सब बाह्य संख्या ही कही जाती हैं] जो लोग सामान्यादि [द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, सम्बन्ध और विशेष] पदार्थों को दूसरी वस्तु के रूप में मानते हैं। वे भी उसमें समवाय को ही जीवनरूप से माने हुए हैं और समवाय भी तो एक प्रकार से सम्बन्धरूप ही है अथवा किसी के मन में समवाय के द्वारा ही उत्पन्न होता है; क्योंकि उन लोगों का कथन भी है—

सम्बन्ध ही समवाय नामक शक्ति पर अनुग्रह करता है और जो कारक है वह भी तो क्रिया की उन्मुखता रखता है, क्रिया भी अपने प्राणेश्वर काल का आश्रय लेती है, वह काल भी क्रिया के द्वारा समस्त पदार्थ राशि को देखता है, इस प्रकार क्रिया सम्बन्ध को जगाता है,

आचार्य एव—'भेदाभेदात्मसम्बन्धसहसर्वार्थसाधिता । लोकयात्राकृतिर्यस्य स्वेच्छया''''' ॥ इति, अतः सम्बन्धमेव प्रथमं निरूपयितुम् आह—

स्वात्मनिष्ठा विविक्तभा भावा एकप्रमातरि ।
अन्योन्यान्वयरूपैक्ययुजः सम्बन्धधीपदम् ॥ ४ ॥

राजा पुरुषश्च बहिस्तटस्थौ स्वात्मैकपरिसमाप्तौ प्रमातृभूमौ यदैक्यं गच्छतः, न च ऐक्यमात्रं—तयोः भेदविगलनापत्तेः, अपि तु परस्पररूपश्लेषात्मकं युगपदेव निमज्जदुन्मज्जद्भेदाभेदकोटिद्वयदोलारोहणलक्षणम् अन्वयरूपं, तदा तावेव सम्बन्धधिय आलम्बनं भवतो 'राज्ञः पुरुष'[1] इति, तथाहि—राजा यदा पूर्वं धिया गृहीतोऽपि न स्वात्मविश्रान्त्या[2] तुष्यति तदा रूपान्तरेण पुंसा श्लेषं भजन् कृतार्थीभवति पुरुषोऽप्येवं, स च एष रूपश्लेष एकएव उभयोः चिदात्मनि तथा

इसलिए यह सारा का सारा लोक व्यवहार सम्बन्ध के अधीन ही रहता है, उसके विषय में आचार्यपाद ने कहा है कि—भेद और अभेद के साथ समस्त अर्थों का साधन हो जाता है। अपनी इच्छा से लोक यात्रा का आकार-प्रकार बनता है। इसलिए सर्वप्रथम सम्बन्ध का ही निरूपण करते हुए कहते हैं—

एक ही प्रमाता में भिन्न-भिन्न रूपों से भासनेवाले भाव-पदार्थ यदि उसमें भासित होते हैं, तो परस्पर अन्वयरूप से एकत्व को प्राप्त होकर सम्बन्धरूप का वाच्य बन जाते हैं ॥ ४ ॥

राजा और पुरुष ये दोनों परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। वे अपने आप में तटस्थरूप से रहते हैं तथा प्रमातृभूमि में संमिलित होकर एकत्व की प्राप्ति कर लेते हैं और वे स्वयं तो एक नहीं हो पाते; क्योंकि तब तो भेद ही विनष्ट हो जायेगा, अपितु प्रमाता की बुद्धि में परस्पर मिल करके एक ही बार डूबते हुए एवं ऊपर की ओर उठते हुए भेद-अभेद कोटिरूपी झूले पर चढ़े हुए के समान हो जाते हैं, तब सम्बन्ध बुद्धि का आलम्बन होता है और यह राजा है तथा यह पुरुष है, देखिये—जब राजा पूर्व बुद्धि से गृहीत होता हुआ भी वह अपने में विश्रान्ति का अनुभव नहीं करता तब दूसरे रूप से पुरुष के साथ संपर्क कर कृतार्थ हो जाता है उसी प्रकार पुरुष भी कृतार्थ

१. 'राज्ञः पुरुषः' इस वाक्य का यह आशय है—कि मन से भी चाक्षुष प्रत्यक्ष का परामर्श होता है, इसलिए राजा एवं पुरुष का एक पिण्डीभाव से ऐक्य नहीं बैठता है और न तो बाहर के जैसा तटस्थ रूप से ही भेद होता हुआ दिखाई देता है, अपितु यही वह सम्बन्ध प्रतीति कहलाती है जो यह भेद प्रथा सम्बन्धियों में दिख पड़ती है, वह भी बाह्य एवं आन्तररूप से ठीक ही बैठती है। इसमें कोई विरोध नहीं है और विमर्श बल से अन्वय प्रमाता के साथ नहीं बैठती है, इसलिए 'राज्ञः पुरुषः' ऐसा कहा जाता है।

२. वस्तुतः प्रमाताओं की एकता को हो एकता कहा जाता है विशेषण और विशेष के कारण ही कभी 'राज्ञः पुरुषः' राजा का पुरुष है और कभी 'पुरुषस्य राजः' यह पुरुष का राजा है—ऐसा होता है नील एवं कमल, धव और खदिर इस से भिन्न इत्यादि, वैचित्र्यभाव से रहनेवाले के भेद को न छोड़नेवाले विशेषण का ही विशेष में अन्तः प्रवेश से तद्रूप होकर एक भावपूर्वक परिणत होना और तरह-तरह के विरुद्धधर्मो के अध्यास दोष को छोड़ देना, फिर भी प्रमेयरूप से निर्मित होकर भासित होता रहता है।

अवस्थानरूपः पूर्वप्रतिलब्धसंवित्प्रतिष्ठे तत एव अधिकसंविन्निमज्जनात् अनाभासमानपृथग्भवनलक्षणस्वातन्त्र्ये विश्राम्यति, इति तत्रैव निर्भासते समास्कन्दितपुरुषपरमार्थोऽपि, एवं बहिरनेकता, अन्तस्तु परस्परस्वरूपश्लेषेणैक्यम्, इति सम्बन्धस्य रूपम् ॥ ४ ॥

जातिद्रव्यावभासानां　　बहिरप्येकरूपताम् ।
व्यक्त्येकदेशभेदं　चाप्यालम्बन्ते　विकल्पनाः ॥ ५ ॥

जात्यवभासस्य—अवभासमानरूपायाः जातेः ग्राहिकायाः कल्पनाः, ता न केवलं सम्बन्धवत् अन्तर् एकरूपतां बहिश्च अनेकरूपताम् आलम्बन्ते, यावत् बहिरपि व्यक्तिभेदलक्षणम् अनैक्यं बहिरेव च तदनुस्यूततारूपाम् एकताम् आलम्बनत्वं नयन्ति, 'गाव' इति हि प्रतिभासे पृथक् च ता बहिर् व्यक्तयो भान्ति, येन च बहुवचनम्, अनुयायि च आसां भाति वपुः यत एकप्रातिपदिकार्थपरामर्शानुगमः, उभयं च तद्बहिरेव 'इमा' इति अङ्गुल्या निर्देशात्, केवलं बाह्यत्वमपि स्थिते परमार्थप्रकाशान्तर्भावे, इति न तत्र भेदाभेदौ दूषणं—चित्रसंवेदन इव, अनेन द्रव्येऽपि रक्तारक्तादिविरोधः कृतप्रतिविधानः, आन्तरं तु ऐक्यं सम्बन्धद्वारेण तद्वदेव सर्वत्र, एवम् अवभासमानस्य घट इति अवयविद्रव्य ग्राहिका याः कल्पनाः ता न केवलं सम्बन्धवत् अन्तर्बहीरूपतया

हो जाता है और यही दोनों का एकरूप में श्लेष होना कहा जाता है जो कि चिदात्मा में दोनों की स्थिति हो जाती है पूर्व से प्राप्त प्रतिष्ठित ज्ञान में अच्छी तरह डूब जाने के कारण, भिन्नरूप में न आभासित होने से परम स्वातन्त्र्य में विश्रान्त हो जाता है और उसी में पुरुष के साथ निर्भासित होकर एकरूप में रहता है एवं बाहर में तो अनेकरूपों में भासता है, आन्तर की तो परस्पर सम्बन्धरूपता होने से ऐक्य अवस्था में रहता है, यही सम्बन्ध का स्वरूप है ॥ ४ ॥

जाति और द्रव्य के अवभासों की बाहर में भी एकरूपता रहती है और व्यक्ति के एक देश भेद से तरह-तरह के विकल्प भेद भी रहते हैं ॥ ५ ॥

जाति का अवभास वस्तु है और अवभासमान होते हुए जाति की ग्रहण करने की कल्पना होती है, वे कल्पनाएँ केवल सम्बन्ध के जैसे भीतर एकरूपता से और बाहर में अनेकरूपता से आलम्बन करती हैं, किन्तु बाहर में भी व्यक्ति के भेदरूप होकर ऐक्यरूप में नहीं रहती और बाहर में भी उससे अनुस्यूत होकर एकता का आलम्बन ले आती हैं गावः अर्थात् ये गायें हैं इस प्रकार भिन्नरूप से भासित होने पर बाहर में व्यक्तियों के रूपों में भासती हैं और जिससे बहुवचन का प्रयोग हुआ है और इन्हीं के पीछे इनका एक शरीर भी भासता है जो कि प्रातिपदिकार्थ का परामर्श करनेवाला होता है और ये दोनों बाहर की ही वस्तुएँ हैं जिनको अङ्गुलिनिर्देश कर कहा जाता है कि यह ऐसा ही है, बाह्यत्व भी मात्र परमार्थ प्रकाश के अन्तर्भूत बना रहता है, इस प्रकार उसमें भेद-अभेद का बना रहना चित्र ज्ञान के समान दोष युक्त नहीं होता, इसी प्रकार द्रव्य में भी रक्त-अरक्तादि का विरोध ठीक बैठ जाता है, किन्तु भीतर की एकता तो सम्बन्ध के द्वारा उसी प्रकार सर्वत्र बनी हो रहती है, इस प्रकार अवभासमान घट भी अवयवी द्रव्य है उसमें ग्राहिका बुद्धि की कल्पनाएँ होती हैं, वे केवल सम्बन्ध के समान नहीं होती, आन्तर और बाह्यरूप से एक एवं अनेक विषय वाली हैं; क्योंकि

एकानेकविषया यावत् बहिरप्येकं निःसन्धिबन्धरूपत्वेन भिन्नं च अवयवलक्षणैकदेशद्वारेण स्वीकुर्वते, घट इति हि निःसन्धिबन्धनैकघनात्मा विततरूपश्च भाति इति ॥ ५ ॥

क्रियाविमर्शविषयः कारकाणां समन्वयः ।
अवध्यवधिमद्भावान्वयालम्बा दिगादिधीः ॥ ६ ॥

कारकाणां कर्त्रादिशक्त्याधाराणां द्रव्याणां च योऽन्योन्यं समन्वयो दृश्यते, यथा मातृमेयमानानां मिथः, सोऽन्तर्लीनप्रमात्मकक्रियाविशेषपरामर्शैकनिमित्तकः, नहि प्रमापरामर्शम् अन्तर्वर्तिनं विहाय वस्तुनः साक्षात् अन्वयोऽत्र संवेद्यते, अनन्यत्र भावरूपतानिमित्तता अत्र विषयार्थः, कारकशक्तीनामपि यः स्वाश्रयैः संबन्धः सोऽपि क्रियापरामर्शनिमित्तकः, द्रव्याणां च शक्तिनां च क्रियया साकं साक्षात् संबन्धः, इति इयं क्रियैव भगवती एतावद्विजृम्भितं संबन्धम् आविर्भावयति अस्मादिदं पूर्वं परं दूरे इत्येवं बहिर्भिन्नतया परामृश्यमानयोः भावयोरन्तर् अभेदपूर्वकं भेदावमर्शमध्यम् अभेदविश्रान्तं च यत् रूपम् आमृश्यते तत् दिग् इत्युच्यते, अत्र हि तयोः मुखाद्यवयवविशेषपरामर्शादरः तत्संमुखत्वपराङ्मुखत्वादिनिश्चयः संयोगसंयुक्तसंयोगाल्पतादिपरिग्रहश्च उपयोगी, कालपरामर्शस्य पूर्वपरादिरूपत्वे जन्मस्थित्यल्पतादिविमर्शश्चिरक्षिप्रादिरूपत्वे च, पक्ष्यति पचति अपाक्षीत् इत्यादौ तु संभावितस्य स्फुटस्य स्फुटभूतपूर्वस्य

बाहर में भी ऐक्यरूप से और भिन्न-भिन्न अवयवों के रूपों में एक देश द्वार से जब स्वीकार करेंगे तब घटरूपी बुद्धि होगी। वही ऐक्यरूप और विस्तृत एकत्व की दृढता से भासती है ॥ ५ ॥

जो क्रिया के विमर्श का विषय है वही कारकों का समन्वय है। अवधि और अवधिमान् के भाव का अवलम्बन करनेवाली दिशादि की बुद्धि होती है ॥ ६ ॥

कारकों का और कर्तादि शक्ति के आधारभूत द्रव्यों का परस्पर समन्वय देखा जाता है, जैसे प्रमाता, प्रमेय, प्रमाणों का परस्पर समन्वय होता है, वह भीतर में रहनेवाले प्रमारूप क्रियाविशेषण का एक परामर्श निमित्तक है, प्रमापरामर्श जो अन्तर्वर्त्ती है उसे छोड़कर साक्षात् वस्तु का अन्वय इसमें नहीं ज्ञात होता है अर्थात् अन्तर्वर्त्ती वस्तु का ही साक्षात् अन्वय होता है, यहाँ पर भावरूपता एवं अनिमित्तता ही क्रियाविमर्श विषयार्थ माना जाता है, कारक शक्तियों का भी जो अपने आश्रयों से सम्बन्ध है, वह भी क्रिया परामर्श के निमित्त से होता है और द्रव्यों के तथा शक्तियों का क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है, इस प्रकार यह भगवती क्रिया का ही सारा का सारा विस्तार है। वह आविर्भूत करती है कि—इससे यह पूर्व है तथा पश्चिम है एवं दूर-समीपवर्त्ती है। बाहर में भिन्नरूप से परामर्श होनेवाले दो भाव-पदार्थों का भीतर अभेदपूर्वक भेद अवमर्श के बीच में और अभेद विश्रान्तरूप का जो आमर्शन करता है उसे दिशा कहा जाता है; क्योंकि इसमें इन दोनों भाव-पदार्थों के मुखादि अवयवविशेष परामर्श का आदर तथा उसके सन्मुखत्व या परान्मुखत्वादि का निश्चय और संयोग संयुक्त के संयोग की अल्पता का परिग्रहज्ञान उपयोगी होता है। कालपरामर्श का भी पूर्वोत्तरादिरूप से उत्पत्ति और स्थिति की अल्पता का विचार चिरकाल और शीघ्रकाल के रूप में होता है, पकायेगा, पकाता है और पका दिया इत्यादि में तो संभावित स्पष्टता का और उस स्पष्टता से पहले होनेवाले अपना

आत्मीयसंवेदनस्पन्दितप्राणादित्यादिक्रियान्तरस्य फलविशेषस्य च ओदनादेः परामर्श उपयुज्यते, एवं संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागप्रभृतिषु संबन्धरूपतैव वाच्या, सर्वथा अयं संक्षेपः, यत्र पदार्थाभासस्य आत्मविश्रान्त्या संतोषमपुष्यतः आभासान्तरपरामर्शविश्रान्तिसाकाङ्क्षतया स्वरूपनिष्ठा तत्र संबन्धरूपतैव क्रियाशक्तिविजृम्भामयी, तत्रापि भावान्तरापेक्षया संबन्धान्तरमपि अस्तु, यथा संख्यादौ समवायं मन्यन्ते, न च अनवस्था भवन्ती अपि दोषाय, पूर्वापरकल्पसृष्टचनवस्थेव, नहि उत्तरसंबन्धसृष्टचा विना पूर्वसंबन्धावभासे हानिः काचित् येन मूले क्षतिः शंक्येत ॥ ६ ॥

एवं सकललोकयात्रानुप्राणितकल्पानल्पसंबन्धबन्धुरीभावभावं क्रियाशक्तिविजृम्भात्मकम् अभिधाय, तस्य स्थैर्योपयोगौ पूर्वसूचितौ निरूपयितुमाह—

एवमेवार्थसिद्धिः स्यान्मातुरर्थक्रियार्थिनः ।
भेदाभेदवतार्थेन तेन न भ्रान्तिरीदृशी ॥ ७ ॥

इह भावानां न सत्तासंबन्धः, सत्त्वम्—अव्यापकत्वात् अनवस्थावैयर्थ्यादिदोषात्,

आत्मीय संवेदन ज्ञान, स्पन्दन, प्राण इत्यादि से भिन्न-भिन्न क्रियाओं के फलविशेष ओदनादि हैं, उन सब का परामर्श उपयुक्त ही होता है। इस प्रकार संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभागादि गुणों में सम्बन्धरूपता ही कहनी चाहिए, यही संक्षेप में इसका सार है। यहाँ पर पदार्थ आभास की अपने स्वरूप में विश्रान्ति हो जाने से भली भाँति सन्तोष का अनुभव न मिलने के कारण दूसरे आभास के परामर्श को जो विश्रान्ति है उसकी आकांक्षा से अपने स्वरूप में रहना ही उसमें सम्बन्धरूपता मानी जाती है और वही क्रिया-शक्ति का विलास भी है, उसमें भी दूसरे आभास की अपेक्षा से दूसरा सम्बन्ध भी भले ही प्रतीत हो, जैसे संख्यादि में समवाय सम्बन्ध मानते हैं, इस प्रकार अनवस्था का दोष आ भी जाय तो भी कोई दोष नहीं माना जाना, जैसे पूर्वोत्तरकल्प की सृष्टि में अनवस्था आ जाती है, उत्तर सम्बन्ध की सृष्टि के बिना पूर्व सम्बन्ध के अवभास में कोई हानि नहीं होती, जिससे कि मूल में क्षति की शंका खड़ी हो ॥ ६ ॥

इस समस्त लोक व्यवहार से अनुप्राणित प्रायः अनन्तर सम्बन्ध का मिश्रणरूप क्रियाशक्ति के विचार को कह कर, उसकी स्थिरता एवं उपयोगिता को भी हम पहले कह चुके हैं। पुनः उसका निरूपण करने के लिए कहते हैं—

पदार्थक्रिया के अर्थी प्रमाता की ऐसी अर्थसिद्धि होती है। इसी कारण भेद और अभेदवाले अर्थ के साथ ऐसी भ्रान्ति नहीं खड़ी होती ॥ ७ ॥

यहाँ पर पदार्थ-भावों की सत्ता का सम्बन्ध नहीं बैठता है; क्योंकि अव्यापक होने से तथा अनवस्था और व्यर्थता इत्यादि दोषों से सत्ता भी नहीं होती और उससे कोई कार्यत्व को सिद्धि भी नहीं दिखती; क्योंकि उसमें उसका मिश्रण नहीं देखते [अव्याप्यवृत्ति का नाम सम्बन्ध है और पदार्थों का सत्ता सम्बन्ध है। वह व्यापक नहीं होता, इसीलिए सत्ता के सम्बन्ध से पूर्व पदार्थ रहते हुए भी न रहने के ही बराबर होते हैं ? यदि वे नहीं होते हैं तो न रहने के कारण शशशृङ्ग के सदृश ही है और उसका न रहना ही अव्यापक-भाव कहलाता है, यदि वे रहते हैं ऐसा मानते हो, तब तो अनवस्थादि दोषों से ग्रस्त हो जायेंगे]

न अर्थक्रिया—वस्त्वन्तरत्वात्, न तत्कारित्वं—सर्वदा तदावेशादर्शनात्, उक्तं हि—'अर्थक्रियापि सहजा नार्थानाम्·····।।' इति, तत्कारित्वस्य च प्रत्यक्षानुपलम्भात्मकान्वयव्यतिरेकगम्यस्य अप्रत्यक्षत्वे सतोऽपि अप्रत्यक्षत्वप्राप्तेः न अर्थक्रियाकरणयोग्यत्वम्—तस्य सत्यासत्यके निश्चयकाले दुरवधानत्वात्, सर्वस्य च अस्य अप्रकाशमानत्वे नरशृङ्गप्रायत्वम्, अर्थक्रियाकारितान्तरपर्येषणे च अनवस्था, इति प्रकाशमानतैव अनुन्मूल्यमानतथोचित विमर्शपरिस्पन्दा भावस्य सत्त्वम्, सा च भेदाभेदवपुषां सम्बन्धादीनामस्ति, इति—निराशङ्कमेव सत्यत्वमेव तेषाम्, अथापि यदि परोऽनुबन्धीयात्—इह लोकः प्राचुर्येण अर्थक्रियार्थी तत्कारिणि सत्यत्वं व्यवहरति तत् किं सम्बन्धादीनाम् अस्ति इति, तदस्य हृदयम् आश्वास्यते, यदि न कुप्यसि तत् सर्वत्रैव व्यवहारे यत्रापि स्फुटा सम्बन्धादिधीः न उदेति एवमेव तत्रापि, इति सम्बन्धिादिरूपतया भेदाभेदवान् योऽर्थः तेनैव अर्थक्रिया, न तु स्वात्ममात्रविश्रान्तेन काचिदपि कदाचिदपि अर्थक्रिया, तथाहि–सुखेन स्मर्यमाणेन अभिलाषः, इत्यादिक्रमेण सर्वो व्यवहारः सुखाभासश्च योऽनुभूतः स एव अभिलष्यते न तु अन्योऽननुभूतः, स एव च यदि प्राप्यते तदभिलषितं प्राप्तम् इति तुष्यते यदि च तत् तदेव तर्हि किम् अभिलष्यते—प्राप्तत्वात्, अथ अतदेव, तथापि कथम् अर्थ्यते—अज्ञातत्वात्, तस्मात् एतत् एवं भवति—यदि तदेव च अतदेव च तदपि च अतदपि च इति, एवं सुखसाधनेषु

इसलिए कहा भी गया है—'अर्थक्रिया भी पदार्थों के साथ नहीं उत्पन्न होती है' और इसी कारण उसका कार्यत्व प्रत्यक्षरूप से उपलब्ध नहीं होता है किन्तु अन्वय-व्यतिरेक से ज्ञात होनेवाले पदार्थ के प्रत्यक्ष न होने पर रहते हुए भी उसका अभाव हो जाता है और वह अर्थक्रिया करने के योग्य नहीं रहता; सत्यता और असत्यता के निश्चयकाल में ध्यान न देने के कारण इन सबों का अप्रकाश हो रहता है। मनुष्य के शृङ्ग के समान और दूसरी अर्थक्रिया के अन्वेषण में अनवस्था हो जाती है, इसलिए प्रकाशमान रहना एवं उन्मूलित न हो जाना तथा समुचित विमर्श होते रहना ही पदार्थ को सत्ता मानो जाती है और वह प्रकाशमानता भेद एवं अभेद शरीरवाले सम्बन्धादिकों की होती है, इस प्रकार उनकी सत्यता निश्चितरूप से ही रहती है अर्थात् बिना शङ्का की ही सत्यता उनमें रहतो है, फिर भी यदि कोई दूसरा आग्रह करे और दोष दिखाये—यहाँ पर अधिकतया लोग पदार्थक्रिया के ही अर्थी होते हैं और उस क्रिया के कर्त्ता में सत्यता का व्यवहार करते हैं तब क्या वह अर्थक्रियाकारित्व सम्बन्धादिकों में रहता है ? इसलिए दूसरों के हृदय में विश्वास होता है, यदि क्रोध नहीं करते हो तो सब जगह व्यवहार में जहाँ पर भो सम्बन्ध बुद्धि स्फुटरूप से रहती है वहाँ पर भेद एवं अभेदमय सम्बन्ध के बिना कोई भी अर्थक्रिया व्यवहारभूमि में नहीं हो सकती, इस प्रकार सम्बन्धादिरूप से भेद और अभेदवाले जो पदार्थ हैं उसी से अर्थक्रिया होती है अपने में ही रहनेवाले पदार्थ की तो कोई भी—कभी भी अर्थक्रिया नहीं होती। देखो—सुखपूर्वक स्मरण करने से अभिलाषा होती है इत्यादि क्रम से समस्त व्यवहार और सुखाभास जो अनुभव में आता है उसी की अभिलाषा की जाती है किसी अन्य की नहीं, चाहे वह अनुभूत भी क्यों न हो ? और वह यदि मिल जाता है तब अभिलषित प्राप्त हुआ ऐसा समझ करके सन्तुष्ट हो जाता है, यदि वह वही है, तब फिर क्या अभिलाषा होगी ? क्योंकि वह तो रहता ही है, यदि वह नहीं है, तो उसकी चाह क्यों करेंगे ? क्योंकि वह तो अज्ञात है, इसलिए यह ऐसा होता है—यदि वही है और वह नहीं है और वही

वाच्यम् तदुक्तम् आचार्येणैव 'इष्टार्थितायामिष्टं वा विमृश्येतेष्टकारि वा। न चाप्यदृष्टमिष्टं द्यौरपोष्टा दृष्टभोगभूः ।। दृष्टं च सह दृष्टचैव विनष्टमिति कार्थता। द्रष्ट्रैकेन विमृष्टं तत्……।।' इत्यादि, एवं च आभासात्मनि अस्मिन् असंवेद्यमपि आभासान्तरं सामान्यसम्बन्धरूपतया अनुप्रविष्टम्, अन्यथा न कथंचिद्व्यवहारः इति सकलदेशकालदशापुरुषोपयोगी यदि एषः व्यवहारो न सत्यः तर्हि न अन्यस्य सत्यत्वं विद्मः —इति न अत्र भ्रान्तिः इति भ्रमितव्यम्। इति शिवम् ।। ७ ।। आदितः ।। १०४ ।।

इति श्रीमदाचार्योत्पलदेवपादविरचितायामीश्वरप्रत्यभिज्ञायां श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादकृतविमर्शिन्याख्यटीकोपेतायां क्रियाधिकारे भेदाभेदविमर्शनं नाम द्वितीयमाह्निकम् ।। २ ।।

•

अथ द्वितीये क्रियाधिकारे मानतत्फलमेयनिरूपणाख्यं

तृतीयमाह्निकम्

प्रमाणानि प्रमावेशे स्वबलाक्रमणक्रमात्।
यस्य वक्रावलोकीनि प्रमेये तं स्तुमः शिवम् ।। १ ।।

है और नहीं भी है इत्यादि भाव बनते हैं, ऐसा सुख के साधनों में भी करना होगा। इसलिए आचार्य ने इसका प्रतिपादन भी किया है—

अभीष्ट पदार्थ की चाह में इष्ट का विचार करें अथवा इष्टकारी जो सुख साधन है उसका विचार करें और इसमें अदृष्टरूप जो स्वर्गादि है उसकी इच्छा नहीं होती है, दृष्ट तो दृष्टिमात्र से ओझल हो जाता है इसी कारण उसकी चाह क्यों होगी? इसलिए एक द्रष्टा से ही वह विमृष्ट हुआ करता है···। इत्यादि कहा है।

इस प्रकार आभासरूप इस भाव-समूह में सूक्ष्मता के कारण ठीक-ठीक उसका ज्ञान न होने से दूसरा आभास भी सामान्य सम्बन्धरूप से उसमें प्रविष्ट रहता है, अन्यथा किसी प्रकार भी व्यवहार नहीं हो पायेगा। इस प्रकार सकल देश, काल, दशा पुरुष के उपयोगी यह व्यवहार सत्य नहीं है तो फिर अन्य की सत्यता को हम नहीं जानते हैं—इस प्रकार इसमें कोई भ्रान्ति नहीं उठती है और न भ्रम में पड़ना ही चाहिए ।। ७ ।।

द्वितीय आह्निक समाप्त

जिस शिव के मुखावलोकन करके सभी प्रमाण प्रमा की प्राप्ति के लिए प्रमेय में अपने बल के आक्रमण क्रम से प्रवृत्त होते हैं, उस शिव की हम स्तुति करते हैं ।। १ ।।

---

१. उस महेश्वर का यह स्वरूप स्वतः ही सिद्ध है। 'आदि सिद्धः कर्ता ज्ञाता चैक एव महेश्वरः। ऐसा जो महेश्वर के विषय में बताया गया है कि एक महेश्वर ही कर्ता और ज्ञाता है।

प्रमाणसिद्धं यत्किञ्चित्तत्सत्यमिति कथ्यते।
प्रमाणाविषयं यत्तु तत्खपुष्पेण संमतम् ।।

जो कुछ प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है वह सत्य कहलाता है और जो प्रमाणभूत नहीं है अर्थात् प्रमाण का अविषय है वह तो आकाश कुसुम के समान है। इत्यादि युक्ति की संभावना करके अन्य लोग कहते

एवं क्रियाशक्तिविस्फारनिरूपणप्रसङ्गेन सम्बन्धपुरःसरं सामान्यादीनां तत्त्वम् उपपादितम्, अधुना तु सम्बन्धतत्त्वमेव एकघनतया व्युत्पादनीयम्। तच्च द्विविधमेव परमार्थतो—ज्ञाप्यज्ञापकता कार्यकारणता च, तत्र पूर्वस्यां मानमेयभावादिचिन्तास्पदभूतायां सर्वम् उक्तचरं

इस प्रकार क्रियाशक्ति का ही यह सारा का सारा विस्तार-स्फुरित होता है; क्रिया-शक्ति के निरूपणके प्रसंग से सामान्यादिकों के सम्बन्ध उपक्रम का पारमार्थिक तत्त्व दिखा दिया गया, अब तो सम्बन्ध तत्त्व को ही मुख्यरूप से प्रतिपादन करना है। परमार्थतः सम्बन्ध दो प्रकार के हैं। एक तो ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव है दूसरा कार्य-कारणभाव वाला है, [ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध तो जड और चेतन इन दोनों में रहता है एवं कार्य-कारणरूप सम्बन्ध मात्र जड में ही रहता है।] प्रमाण,

---

हैं कि किस प्रमाण से उस महेश्वर का प्रमाणित होना सिद्ध होता है, प्रस्तुत प्रकरण में ईश्वरतः की सिद्धि के लिए कोई भी प्रमाण उपयुक्त नहीं दिखायी पड़ता है और न तो प्राप्त ही हो रहा है। इस आशय को लेकर कहते हैं कि—

प्रमाणान्यपि वस्तूनां जीवितं यानि तन्वते।
तेषामपि परो जीवः स एव परमेश्वरः॥

उन वस्तुओं का प्रमाण ही जीवन है कि जिसका शास्त्रकार लोग विस्तार करते हैं प्रमाणों से भी बढ कर जीव होता है और वही परमेश्वर है। इस प्रकार आगम की युक्ति से आह्निक के अर्थ का आशय आक्षेप किया जाता है; प्रत्यक्षादि प्रमाणों की प्रमा जीवित होकर उसमें रह कर अपने बल के आक्रमण के अधीन रहती है जिसका मुख परिकर वर्ग अधिकार समर्पणार्थ, जैसे राजा के मुख की ओर देखते रहते हैं उसी प्रकार प्रमेय विषयमें भी प्रत्यक्षादि प्रमाण को देखते हैं, उस शिव की हम स्तुति करते हैं।

१. इत्थं च अत्र मुख्यया वृत्या प्रस्तुतेश्वरसत्तासिद्धतारूपया प्रमाणार्थित्वासंभवेऽपि।

अर्थवत्त्वं न चेज्जातं मुख्यैर्यस्य प्रयोजनैः।
तस्यानुषङ्गिकेष्वाशा कुशकाशावलम्बनम्॥

इस प्रकार मुख्य वृत्ति से प्रस्तुत प्रकरण में ईश्वर के अस्तित्व की सिद्धि में प्रमाण का अर्थित्व भाव न रहने पर भी मुख्य प्रयोजन से यदि अर्थतत्त्व जिसका न होता हो तो भी उसका आनुषङ्गिकों में आशा रखना कुश के सहारे सागर पार करने के समान है।

नैयायिकों द्वारा दी गई उक्ति से प्रमा का यथार्थ लक्षण करना अयुक्त ही सिद्ध होगा, फिर भी यदि कोई कैसा प्रमाण या उसका फल अनुपपत्ति या अनुपयोग से महेश्वरता की सिद्धि के विषय में बतलायेगा, उसके विषय में प्रमाण और उसके फल के कथन काल में ही प्रमाणादि की सम्बन्धरूपता घोषित करने के लिए क्रिया-शक्ति ऐसा अवतरण देकर कहते है—

अर्थवत्त्वं न चेज्जातं मुख्यैर्यस्य प्रयोजनैः।
तस्यापि कथनं युक्तमानुषङ्गिकसिद्धये॥

मुख्य प्रयोजन से यदि अर्थतत्त्व होता हो, तो भी उसका कथन आनुषङ्गिक की सिद्धि के लिए युक्त ही है।

२. ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव सम्बन्ध जड और चेतन में रहता है एवं कार्य-कारणभाव सम्बन्ध मात्र जड में ही रहता है।

वक्ष्यमाणं च आयत्तं—प्रमाणाधीना वस्तुसिद्धिः इति तत्र तत्र प्रसिद्धेः, एवं च प्रकृतसमर्थनीयवस्तूपयोगितया स्वयं च सम्बन्धरूपतया अवश्यविचार्यां मानादिस्थितिं निरूपयितुम् 'इदमेतादृक्..........।' इत्यादि, '..........ईशादिव्यवहारः प्रवर्त्यते ॥' इत्यन्तं श्लोकसप्तदशकेन आह्निकान्तरमारभ्यते। तत्र श्लोकद्वयेन प्रमाणतत्फलस्वरूपं ततः प्रमेयस्य स्वरूपं निरूपयितुं प्रत्याभासं प्रमाणस्य व्यापारो न तु स्वलक्षणात्मकवस्त्वेकनिष्ठतानियमेन—इति दर्शयितुं प्रत्यवमर्शबलेन आभासव्यवस्था, इति दशभिः श्लोकैः उच्यते, तत्प्रसंगात् मिथ्याज्ञानस्वरूपं श्लोकेन, प्रमेयस्वरूपसिद्धिश्च प्रकृतमपि ईश्वरवादम् अवलम्ब्य घटते—इति श्लोकेन उपदर्श्यते, स च एव सर्वः प्रमाणतत्फलप्रमेयादिप्रविभागः सति प्रमातरि प्रदर्शितरूपे ततो न तस्य प्रमेयता येन अत्रापि प्रमाणव्यापारसम्भवः केवलं व्यवहारमात्रसिद्धिफलं प्रमाणम् अत्र, इति श्लोकत्रयेण—इति तात्पर्यार्थः। यदुक्तम् 'क्रियासम्बन्धादिबुद्धयो न भ्रान्तिस्वभावाः' इति, तदेव निर्णेतुं प्रमाणतत्फलस्वरूपं तावत् प्रसिद्धमनुवदति—

प्रमेयभाव आदि का विचार-विमर्श करते समय पूर्व में ही सब कुछ दिखा दिया है एवं आगे भी इस पर विचार प्रकट किया जायेगा। तथा प्रमाण के अधीन ही वस्तु की सिद्धि होती है, यह तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है।

प्रकृत विषय में समर्थन करने कारण तथा उस समर्थनीय वस्तु के उपयोगी होने से, प्रत्यक्षादि प्रमाणों की स्थिति अवश्य विचारणीय है। इसका निरूपण करने के लिए कहते हैं–'इदमेतादृक्'''।' इत्यादि से लेकर'''ईशादिव्यवहारः प्रवर्त्यते ॥' यहाँ तक, सत्रह श्लोकों से दूसरा आह्निक प्रारम्भ किया जाता है। दो श्लोकों से प्रमाण और उसके प्रमारूप फल का स्वरूप, इसके बाद प्रमेय के स्वरूप का निरूपण करने के लिए प्रत्याभास प्रमाण का व्यापार नहीं होता, किन्तु स्वरूपात्मक वस्तु पदार्थ की विश्रान्ति होने से ही है, प्रत्यवमर्श [विमर्श] के बल से आभास व्यवस्था होती है—ऐसा दश श्लोकों से दिखाया जायेगा—उसके प्रसंग को लेकर मिथ्या-ज्ञान के स्वरूप को एक श्लोक से से बतायेंगे और प्रमेय के स्वरूप की सिद्धि प्रकृत एक ईश्वरवाद का अवलम्बन करके ही घटित होती है, यह एक श्लोक से दिखाया जायेगा और वही यह सब प्रदर्शित प्रमाता के रहने पर ही प्रमाण, प्रमा और प्रमेयादि है, इसलिए प्रमाता को प्रमेयता नहीं होती है जिससे कि भगवान् में भी प्रमाण का व्यापार सम्भव हो सके; भगवान् में तो केवल व्यवहार की सिद्धिके लिए प्रमाण होता है तीन श्लोकों से तात्पर्यार्थ दिखायेंगे। 'क्रियासम्बन्धादिबुद्धयो न भ्रान्तिस्वभावाः' अर्थात् क्रिया सम्बन्ध आदि की बुद्धियाँ भ्रान्ति स्वभाववाली नहीं होती हैं उसे दिखाने के वास्ते प्रमाण और उसका जो प्रमारूप फल है उसे कहते हैं [प्रसिद्ध वस्तु को फिर से संस्काररूप से कहने का नाम अनुवाद कहलाता है।]

---

१. जाति, व्यक्ति, लिङ्ग, संख्यादि में उपयोगी होने के कारण परम्परा से ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में भी इसका उपयोग सिद्ध होता है, आनुषङ्गिक जाति आदि पदार्थ के व्यवस्थापन करने में और ईश्वर के व्यवहार साधन में भी इसका उपयोग होता है—इसलिए इसमें लक्षण के निर्माण की उपेक्षा नहीं की जाती है।

इदमेतादृगित्येवं यद्वशाद्व्यवतिष्ठते ।
वस्तु प्रमाणं तत्सोऽपि स्वाभासोऽभिनवोदयः ॥ १ ॥
सोऽन्तस्तथाविमर्शात्मा देशकालाद्यभेदिनि ।
एकाभिधानविषये मितिर्वस्तुन्यबाधिता ॥ २ ॥

यस्य वशात्—सामर्थ्यात्, वस्तु 'नीलसुखादिकं' व्यवतिष्ठते—नियतां प्रकाशमर्यादां न अतिवर्तते 'इदमिति' स्वरूपेण 'एतादृक्' इति च विशेषणभूतनित्यानित्यत्वादिधर्मान्तरयोगेन, तल्लोके 'प्रमाणम्' इति स्थितम्, तच्च विवेचकेन विचार्यम्—इह वस्तुनः स्वरूपं स्वात्मवशेनैव न तावत् व्यवतिष्ठते—जडत्वात्, मम नीलं प्रकाशते चैत्रस्य वेति च तदा कथमवभासः तस्मात् अन्यवशेन व्यवतिष्ठते, अन्योऽपि चेत् जडः तत् अन्धेन अन्धस्य हस्तादानं, तस्मात् अन्योऽसौ संविदात्मा, सोऽपि यदि शुद्धो निर्विशेषो न तर्हि नीलस्यैव व्यवस्थाहेतुः भवेत्—पीतादावपि तस्य तथात्वात्, तदसौ नीलोपरक्तो नीलोन्मुखो नीलप्रकाशस्वभाव इत्याभासः सन् नीलस्य व्यवस्थापकः, तत्प्रकाशस्वभावतैव हि तद्व्यवस्थापकता, स च नोलस्य प्रकाशो यदि अव्यतिरिक्तस्य, तत् पीतस्यापि स्यात्—प्रकाशात्मकचित्तत्त्वतादात्म्याविशेषात्, तेन व्यतिरिक्तीकृतस्य नोलस्य स प्रकाशः नीलं च इत्थम् ततो व्यतिरेकाभासयोग्यं यदि सोऽपि आभासो महतः प्रकाशात् व्यति-

यह ऐसा इत्यादि जिसके कारण व्यवस्थित किया जाता है। वही पदार्थ प्रमाणभूत है और वह भी अपने आप भासित होता है तथा उसका नवीन उदय होता है ॥ १ ॥

वह अन्तर में उसी प्रकार विमर्शरूप से प्रकाशित रहता है, देश-कालादि से अभेद होने पर एकतत्त्व के कथन से विषय में वस्तु का अबाधित ज्ञान होता है ॥ २ ॥

जिसके सामर्थ्य से, 'नील सुखादि' वस्तु व्यवस्थित रहती है। व्यवस्थित रहने का अर्थ यह है कि निश्चित प्रकाश मर्यादा को नहीं छोड़ना, 'इदमिति' इस रूप से और 'एतादृक्' ऐसा विशेषणभूत नित्य-अनित्यादि दूसरे धर्म के योग से, इस प्रकार का लोक में प्रमाण माना जाता है, यही सत्य है और इस विषय में प्रबुद्ध पुरुषो का विचार-विमर्श करना चाहिए। जब तक वे विचार करते हैं तब तक यही सिद्ध होता है कि वस्तु का स्वरूप अपने स्वरूप में प्रकाशित नहीं रहता; क्योंकि वस्तु का स्वरूप जड होता है, मुझे नील का प्रकाश होता है व चैत्र का प्रकाश होता हो तो भी वह दूसरे के द्वारा ही प्रकाशित होता है, जिससे वह प्रकाशित होता है उसे चेतन ही मानना चाहिए, यदि वह दूसरा भी जड है तो एक अन्धा दूसरे अन्धे को हाथ पकड़ कर ले जाता है यही कहना होगा, इसलिए इसे संविद्रूप ही मानो, वह भी शुद्ध नहीं है; क्योंकि शुद्ध निर्विशेष वेदान्तियों का ब्रह्म माना जायेगा, जिससे नील की व्यवस्था का कारण नहीं बनता; क्योंकि पीतादि का भी उसी प्रकार प्रकाश वह करता है, यदि वह शुद्ध रहता तो, नील में ही रह जाता और पीत का नहीं प्रकाश कर सकता, किन्तु करता रहता है। इसलिए वह यहाँ

१. नील-पदार्थ बाह्य वस्तु है और सुख आन्तरिक वस्तु है ।
२. वस्तु के स्वरूप और विशेषण में व्यवस्था करनेवाले का नाम प्रमाण है ।

रिच्येत—महाप्रकाशाव्यतिरेके तस्य ततो नीलादेः व्यतिरेकाभावप्रसंगात्, महाप्रकाशाच्च न व्यतिरेकं किंचिदपि सहते, इति नूनं महाप्रकाशेन संकोच आत्मनि निर्भासनीयः, संविदो वस्तूनां च अन्योन्यसंकोचनप्राणो नञर्थरूपोऽसौ शून्य इत्युच्यते, संकोचावभास एव च मायीयप्रमातुः उत्थानम्, अत एकया सृष्टिशक्त्या प्रमातृप्रमाणप्रमेयोल्लासः परमार्थतः, तेन—शून्यधीप्राण-देहाद्युपाध्याश्रयस्वीकारात्मकसंकोचपरिग्रहसंकुचितात् मायाप्रमातुः अनन्तकालान्तर्मुखसंवेदन-रूपात् स प्रमाणाभिमत आभासो यावत् प्रमेयोन्मुखतास्वभावः तावत् प्रमेयस्य देशकालाकाराभास-संभेदवत्त्वात् सोऽपि तथैव क्षणे क्षणे अन्यान्याभासरूपः स्रष्टव्यः, तदुक्तम् 'अभिनवोदयः' इति—अभिनवः —क्षणवासपरिम्लान्यापि न कलङ्कितः, तेन 'नवनवोदय' इत्युक्तं भवति, सोऽपि[३] यदि तथाभूतो मायाप्रमातृलग्नो न भवेत् ततो मम नीलावभासो यस्य तस्यैव पीताभासो मम इति न स्यात्, अस्ति च इदं स्वसंवेदनं—यत् सर्वत्र अबाध्यमानम्, इत्येवं स्वत्वेन आभासमानो य आभासो—नवनवप्रमेयौन्मुख्यात् नवनवोदयः स प्रमाणं यतः प्रमां विधत्ते, कासौ प्रमा ? फल-

प्रकाश है—ऐसा मानना पड़ेगा, उसके स्वरूप में सङ्कोच नहीं करना होगा, यदि वह महा प्रकाश से भिन्न होता तो नीलादि से भी भिन्न हो जाता किन्तु वह कभी भी महा प्रकाश से भिन्न रूप में नहीं आता है, इसीलिए उसे अपने में, अवश्य महा प्रकाश से सङ्कुचित करना पड़ेगा संवित् और वस्तुओं में परस्पर सङ्कुचित होने के कारण न अर्थ स्वरूप शून्य ही कहा जाता है, इसीलिए मायीय प्रमाता से सङ्कोच का अवभास होना ही उत्थान है, अतः एक ही सृष्टि-शक्ति के द्वारा प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय का उल्लास परमार्थतः होता है, इसीलिए शून्यप्रमाता, बुद्धिप्रमाता, प्राणप्रमाता और देहादिप्रमाता की उपाधि के आश्रय को स्वीकार कर, परिग्रह से सङ्कुचित होने से मायाप्रमाता का अनन्तकाल तक अन्तर्मुख संवेदन होने से, जब तक वह प्रमेय उन्मुख स्वभाव देश, काल और आकार से उपरक्त होने के कारण वह भी क्षण-क्षण में दूसरा-दूसरा आभासरूप हुआ करता है, इसीसे 'अभिनवोदयः' नया-नया हुआ करता है ऐसा कहा जाता है; किसी एक क्षण में आबद्ध नहीं रहता, इसी से वह क्षणमात्र भी मलिनता से युक्त नहीं रहता, अत एव 'नवनवोदय' ऐसा इसे कहा गया है ।

यदि वह भी मायीय प्रमाता में संलग्न नहीं होता तो नीलाभास जैसा मुझे हुआ वैसा मुझे ही पीताभास हुआ, यह नहीं कह सकता, किन्तु ऐसा स्वसंवेदन होता है और सर्वत्र अबाध्यरूप से रहता भी है, इसप्रकार अपने रूप से आभासमान माया प्रमाता में नील-पीतादिरूप से नये-नये

१. आभास के महाप्रकाश से नीलादि पदार्थ में व्यतिरेक अभाव प्रसंग आ जायेगा ।

२. क्योंकि ज्ञान ही सब काल में अनुभव करनेवाला प्रमा हो जाता है, यद्यपि माया-शक्ति से व्याकुल कर देने के कारण उसका प्रमा मात्र प्रतिभास होता है, उसका प्रतिभास सांसारिक जीवों के लिए अभेदपूर्वक सिद्ध नहीं कर सकता तथापि सम्बन्धिरूप से सिद्ध ही है; क्योंकि ऐसा मुझे भासित होता है, इस विमर्श से एवं इसमें तो स्वसंवेदन ज्ञान ही प्रमाण माना जाता है ।

३. यद्यपि प्रतिभास ज्ञान स्वभाववाला होता है तथापि उसीका माया-शक्ति वशात् मायीय प्रमाता के प्रति-भासमान विषय वस्तु विच्छेदरूप होकर पृथग्रूप में व्यवहृत नहीं होती है, वैसे ही भिन्न-भिन्न वस्तुओं में होनेवाले उन-उन प्रमाताओं से चित्तत्त्व में व्यापकत्व इत्यादि विशेषणों का व्यवहार होता है, वस्तु स्वयं अपने स्वरूप से नहीं भासित होती है—इसलिए इसे प्रमाणरूप नहीं माना जाता है ।

स्वभावा इति चेत्, आह—स एव बोधरूप आभासो मितिः प्रमाणफलम् इति सम्बन्धः।

ननु एवं पर्यायत्वमुक्तं भवेत् न तु फलस्वरूपम्, आह—बाह्योन्मुखतया प्रकाशरूपतया तत्र तत् प्रमाणं, या तु तस्यैव अन्तर्मुखात्मा विमर्शरूपता प्राक् उपपादिता तत्स्वभावेन केवलं विषयदशासंकुचितेन स एव बोधः फलं, यथाहि 'यः शूरोऽहं स एव विजयी' इति एकनिष्ठे शूरत्वविजयत्वे विवेकवता हेतुफलभावेन व्यवस्थाप्येते, यतो हि 'अहं शूरः ततो विजयी' इत्येवं, यतो नीलप्रकाशः ततो 'नीलमिदम्' इति परामर्श इति एकरूपत्वेऽपि हेतुफलभावः, यथोक्तं 'तद्वशात्तद्व्यवस्थानात्.......।' इति। किं च इह व्यापाररूपमेव फलं, व्यापारश्च व्याप्रियमाणात् व्यापार्यमाणात् वा अनन्याकार एव सिद्धः, इति—अभेदः प्रमाणफलयोः, विमर्शबलेन च यतः

प्रमेयों के उन्मुख होते रहने के कारण नये-नये वे प्रमाण हैं, जिस से कि प्रमा होती है। वह कैसी प्रमा है ? यदि फल स्वभाववाली प्रमा मानी जाय, तो इस पर कहते हैं कि वही बोधरूप आभास ही प्रमा है—जो कि प्रमाण का फल मानी जाती है।

अब इस प्रकार प्रश्न करते हैं कि प्रमा और फलस्वभाव इन दोनों को पर्यायत्व (अनर्थान्तरत्व) माना जाये, वह फलस्वरूप नहीं बन सकता; क्योंकि दूसरा अनर्थ हो जायेगा, इसका उत्तर देते हैं—बाह्यरूप से उन्मुख होने के कारण प्रकाशरूप होने से वह वहाँ पर उस आभास में प्रमाण माना जाता है; जिसे हम कह चुके हैं, वही अन्तर्मुख होकर विमर्शरूप होने से वही बोध प्रमा और फल कहा जाता है, जैसे 'जो मैं शूरवीर था—वही मैं विजयी हूँ, इस प्रकार एक में ही शूरत्व और विजयत्व को विवेकी पुरुष हेतु एवं फल इन दोनों में रखते हैं; क्योंकि मैं शूरवीर था तभी मैं विजयी हुआ, जब कि नील प्रकाश यह है इसीसे 'नीलमिदम्' यह नील है ऐसा प्रकाशित होना है तब तो फिर नील ही है, एक ही आधार में हेतु और फल (प्रमाण एवं प्रमा) ये दोनों रह गये, जैसे कहा जाता है कि [तद्वशात्तद्व्यवस्थानात्'......] प्रकाश विमर्श के द्वारा ही..... इस प्रकार यहाँ पर व्यापाररूप ही फल है और व्यापार कर्ता तथा करण से भिन्न नहीं सिद्ध होता, वह अभेद प्रमाण और फल का ही मानना चाहिए, विमर्श

१. माया प्रमाता का अनन्तकाल पर्यन्त अन्तर्मुख संवेदन-ज्ञानरूप से आभास है वह प्रमेय की ओर उन्मुख स्वभाववाला रहता है इसी से देश, काल और आकार में आभासों का भेद हो जाने के कारण भिन्न-भिन्न रूपों में नया-नया सा अभ्युदय होता है, वही अन्तर्मुख स्वभाव कहलाता है इसलिए प्रमेय की उन्मुखता से रहित होने के कारण देश, काल एवं आकार के भेद का अभाव से बोधरूप नया अभ्युदय नहीं होता है ?

२. समान अर्थक है।

३. जैसे दुग्ध और जल आपस में मिल जाने पर किस भाग में दुग्ध है और किस अंश में जल है। वैसे ही सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर भी हेतु और फल में भेद का ज्ञान नहीं हो पाता है।

४. वाचक से अवच्छिन्न वाच्य का प्रतिभास ऐसी बुद्धियों में होता है, वही यह शब्दविशिष्ट अर्थ के प्रतिभास से शब्द जीव कहलाता है, शब्द के अनुसंधान से रहित कुछ भी ज्ञान नहीं देखा जाता—अनुल्लिखित शब्दवाले ज्ञानों में भी सामान्यतः शब्द का कुछ न कुछ उल्लेख रहता ही हैं; क्योंकि उल्लेख के बिना प्रकाशात्मक प्रवृत्ति का उदय नहीं होता। इस विषय में भर्तृहरि ने कहा है कि

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गृह्यते॥

प्रमाणं विमर्शश्च शब्दजीवितः शब्दश्च[1] आभासान्तरैः देशकालादिरूपैरनामृष्टे एकत्रैव आभासमात्रे प्रवर्तते—घट इति लोहित इति, ततो देशकालाभासयोः स्वलक्षणत्वार्पणप्रवणयोः अनामिश्रणात् सामान्यायमाने आभासे प्रमाणं प्रवर्तते, 'अयम्' इत्यपि हि अवभास आभासान्तरानामिश्रे पुरोवस्थितावभासमात्रे, इति उक्तं श्रीमदाचार्यपादैरेव—'नियतेऽप्ययमित्येव परामर्शः पुरःस्थिते। सर्वभावगतेदन्तासामान्येनैव जायते ॥' इति, तत एव आभासमात्रं वस्तु, स्वलक्षणं[3] तु तदाभास-

के बल से प्रमाण और विमर्श शब्द प्रमाणित होता है और शब्द भी भिन्न-भिन्न आभासों से देश-कालादि के द्वारा अनवभासित होकर एक आभास में ही केवल स्थिर रहता है—जैसे घट में लालिमा का आभास, इसलिए अपने स्वरूप को देनेवाले देश-काल के आभास का मिश्रण न होने से सामान्य आभास ही प्रमाण माना जाता है। 'अयम्' यह आभास दूसरे आभास से न मिला हुआ विद्यमान ही आभास है, जिसको कि आचार्यपाद ने कहा है—

निश्चित सामने स्थित पदार्थ में जो परामर्श है वह सब भावों में रहनेवाले सामान्य इदन्ता भास से उत्पन्न होता है।

सामान्यरूप से प्रमाण की स्थिति होने से ही आभासमात्र वस्तु का धर्म होता है, स्वलक्षण

सभी लौकिक ज्ञान शब्द के बिना बोध के विषय नहीं हो सकते हैं। सब ज्ञान शब्द से अनुगत होकर ही गृहीत होते हैं। अतः विमर्श ही फल है उसके सामर्थ्य से ज्ञान का उपाय प्रमाण माना जाता है।

१. जैसे पुरुष है अथवा घट है इस निरतिशय ज्ञान उत्पादन में मात्र उतनी ही विषय की प्रत्यक्षता रहती है, उसमें ज्ञान का प्रकाश नहीं होता है, ज्ञान का ग्रहण न होने पर भी ज्ञान में तो केवल विषय ही प्रतिभासित होता है, वैसे ही दिशा, काल इत्यादि विशिष्ट अतिशय ज्ञान के उत्पादन में भी जानना चाहिए।

पूर्वापरचिरक्षिप्रक्रमाद्यवगमेऽप्यपि ।
दिक्कालादि विशिष्टोऽर्थः स्फुरत्यतिशयात्मकः ॥
प्रत्यक्षं किं स कालादिः प्रतीतिं प्रच्छ किं मया ।
गृह्यते तद्विशिष्टोऽर्थः स च नोत्युद्भुतं महत् ॥
एतेन समवायेऽपि प्रत्यक्षत्वं प्रकाशितम् ।
इहेति तन्तुसंबद्धपटप्रत्ययदर्शनात् ॥

पूर्वोत्तर, शीघ्र एवं चिरकाल इत्यादि क्रम का ज्ञान होने पर भी अतिशयात्मक दिशा-कालादि से युक्त अर्थ स्फुरित होता है। क्या वह कालादि प्रत्यक्ष होते हैं; क्या हम लोग ग्रहण करते हैं? नहीं ग्रहण होते हैं? यही बड़ी विचित्रता है। इससे समवाय में भी प्रत्यक्षत्व प्रकाशित हो जाता है; क्योंकि 'तन्तुषु पटः' इसमें तन्तु से सम्बन्ध रखनेवाले पर का ज्ञान दिखा जाता है।

२. केवल विशेष संनिवेश रूप ही घट शब्द का वाच्य होता है, 'एष' ऐसा कहने पर तो देश का आभास होने लगता है, 'इदानीं' इससे काल का अवभास दिखाई देने लगता है, 'मिण्मय' इस कथन में विशिष्ट स्वभाव झलकता है, इस प्रकार भिन्न-भिन्न वाचकों से उपलक्षित होता हुआ उस-उसमें भिन्न-भिन्न अभिसंधान से युक्त होकर भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार वालों की परस्पर निरपेक्ष भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ होती हैं।

३. आभास मात्र वस्तु है—ऐसा सिद्धान्ती का कहना है, अब स्वलक्षण किसको कहोगे? इसका समाधान करते हैं—आभास सामानाधिकरण्य रूप से पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे जाति, गुण, क्रिया, नाम और द्रव्य भेद से और वे कल्पनाएँ कहीं अभेद रहने पर भी भेद से युक्त नहीं होती हैं और कहीं अभेद

सामानाधिकरण्याभासरूपम् आभासान्तरम् एकम् अन्यदेव, तत्र च पृथगेव च प्रमाणं, तत्परं तो उन आभासों का सामानाधिकरण्यरूप आभास ही होता है। दूसरा आभास तो दूसरा ही कहा जायेगा और वहाँ पर प्रमाण भी भिन्न ही माना जायेगा, मिले हुए आभासों में गृहीत को ग्रहण

में भी भेद से कल्पना कही जाती है, इनमें सामानाधिकरण्य दिखाते हैं, जैसे—

जाति जातिमतोर्भेदो न कश्चित्परमार्थतः।
भेदारोपणरूपा च जायते भेदकल्पना॥

वस्तुतः जाति और जातिवान् में कोई भेद नहीं होता है, इन दोनों में जो भेद की प्रतीति हो रही है, वह तो कल्पना मात्र ही है अविद्यमान भेद का आरोप किया गया है।

गौ और गोत्व में कोई भेद नहीं हैं, इसलिए अभेद कल्पना होती है—

एतया सदृशन्यायां मन्तव्या गुणकल्पना।
तत्राप्यभिन्नयोर्भेदः कल्प्यते गुणतद्वतोः॥

इस प्रकार गुण और गुणी में भी कोई भेद नहीं है, गुण और गुणी के विषय में भी भेद की कल्पना मात्र रहती है, परमार्थतः गुण और गुणी अभिन्न ही है।

भेदारोपणरूपैव गुणकर्मवत्कल्पना।
तत्स्वरूपातिरिक्ता हि न क्रिया नाम काचन॥

यही बात क्रिया और क्रियावान् के विषय में भी घटती है। जैसे गुण और गुणी में अविद्यमान् भेद का आरोप मात्र है, वैसे क्रिया और क्रियावान् के स्वरूप से अतिरिक्त क्रिया नाम की कोई वस्तु ही नहीं है।

इन अभिन्न वस्तुओं में भेद का भ्रम मात्र होता है। जैसे कहीं-कहीं पर भिन्न-भिन्न वस्तुओं में अभेद का भ्रम होता है। कहाँ पर? इसके समाधान में उत्तर देते हैं कि नाम और नामी [संज्ञा एवं संज्ञी] में, ये दोनों कभी एक साथ नहीं रह सकते हैं, तथापि इनकी एकत्वरूप से प्रतीति देखने में आती है। कहाँ? देखिए—

एवं दण्डचमित्यादिर्मन्तव्या द्रव्यकल्पना। सामानाधिकरण्येन भेदिनोर्ग्रहणात्तयोः॥

दण्डी अयम्, देवदत्त अयम्, अर्थात् यह दण्डी है एवं यह देवदत्त है इत्यादि स्थलों में नाम एवं नामी का अभेद दिखायी देता है तभी तो दोनों का सामानाधिकरण्य स्पष्ट दीख पड़ रहा है। देवदत्त तो नाम शब्द मात्र है 'अयम्' यह नामी—पिण्ड है, फिर दोनों में अभेद कैसे? तथापि दिखायी दे रहा है।

१. उसमें भी प्रमाण भिन्न ही रहता है—ऐसा कहना युक्ति युक्त नहीं बैठता है—इन दोनों के व्यवहार की प्रतीति कौन छिपा सकता है? इस विषय में कहते हैं—

जातिर्जातिमतो भिन्ना गुणी गुणत्रणात्पृथक्।
तथैव तत्प्रतीतेश्चाभासत्वं बाधवर्जितम्॥

जाति जातिमान् से भिन्न होती है, एवं गुणी गुण समूह से भिन्न होता है; क्योंकि भिन्न रूप से प्रतीति देखी जाती है इसलिए यह प्रतीति मात्र भ्रममूलक है, भ्रम का तो कभी न कभी बाध हो जाता है, किन्तु इसका बाधक भी नहीं होता।

द्रव्य और नाम की भिन्नता ही दिखायी देती है; यह देववत्त है इसलिए देवदत्त का अर्थ नहीं

मिश्रीकारेषु तेषु आभासेषु गृहीतग्राहि न प्रमाणम्, इति अग्रे भविष्यति, अध्यवसायस्य[1] अस्मदुक्तनयेन शब्दप्राणितस्य प्रत्याभासविश्रान्तौ तदपेक्षमपि प्रामाण्यं वदता प्रत्याभासनिष्ठमेव प्रामाण्यमुपेत्यम्, इत्यास्ताम्—किमवान्तरेण।

ननु यदि विमर्शः प्रमाणव्यापारः स तर्हि द्विचन्द्रेऽपि अस्ति ? नैवम्—स हि संस्कारयोगात् आत्मानमभिमतप्रसिद्धार्थक्रियाप्राप्तिपर्यन्तमनुवर्तयन् अनुन्मूलितवृत्तिः स्थिरः सन् तथा भवति, मध्ये पुनरुन्मूलनं चेत् सहते न तर्हि असौ तथा विमर्शः, नायं विमर्शः पूर्वमपि—एकेन अन्तर्मुखेन वपुषा पूर्वमेव तस्य निर्मूलनात्, स्वसंवित् अत्र च साक्षिणी, तदेव 'न इदं रजतम्' इति वृत्तपूर्वस्यैव विमर्शस्य अविमर्शीकरणं संवेद्यते। उक्तं च एतत् बाधविचारे, वक्ष्यते च 'रजतैकविमर्श…………' इत्यत्र, एवं स्थिते द्विचन्द्रेऽपि यावत् परकुतूहलसंपादनमर्थक्रियासंमतम्

करनेवाला आभास प्रमाण नहीं माना जाता, ऐसा आगे कहेंगे। निश्चित प्रमाण को हमारी कही हुई नीति के द्वारा शब्द से प्राणित प्रत्याभास की विश्रान्ति होने पर उसकी अपेक्षा करके प्रामाण्य करना प्रत्याभास में ही प्रमाणता मानना है, इसीलिए अन्य आभास की आवश्यकता नहीं देखी जाती।

अब 'ननु' कहकर प्रश्न करते हैं कि यदि विमर्श को ही प्रमाण का व्यापार मानते हो, तो जहाँ पर दो चन्द्र का भान होता है वहाँ पर भी विमर्श को प्रमाण का व्यापार मानना होगा ?

इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसा मानना कोई युक्ति युक्त नहीं दिखता; क्योंकि वह संस्कार के सम्बन्ध से अपने को प्रसिद्ध अर्थ की क्रिया प्राप्ति तक स्थिर रखता हुआ उसी में स्थिर रह कर वैसा रहता है, बीच-बीच में उन्मूलित होता जाता है तब वह वैसा विमर्श नहीं होता, यह विमर्श पूर्व में भी नहीं था; क्योंकि इस रूप में वह पहले ही उन्मूलित हो चुका था और इस में अपना ज्ञान ही साक्षी है, इसी को 'न इदं रजतम्' ऐसा जो पूर्व में रजत का भान हुआ था उसी को अविमर्शीकरण कहा जाता है। इस प्रकार आचार्य ने बाध विचार में यह बात कही है और कहेंगे भी—रजतैकविमर्श………। इस प्रकार दो चन्द्र के विमर्श में भी दूसरे के कुतूहलार्थ अपूर्व

है, अर्थज्ञान में शब्द अर्थ से युक्त नहीं भासित होता है, शब्द का विवर्तरूप से अर्थ नहीं स्फुरित होता है। तथा यह दण्डी है इत्यादि में अभेद की कल्पना मूर्खों ने ही की है, दण्ड शब्द से देवदत्त का बोध नहीं होता है अपितु दण्डी कहने पर ही होता है और उसमें तो प्रकृति एवं प्रत्यय अलग से ही दिखायी पड़ते हैं कि दण्ड इसके पास में रहता है। जैसी वस्तु रहती है वैसा ही आरोप होता है, वैसे क्रिया को भी समझना चाहिए।

क्रियाहि तद्वतो भिन्ना भेदेनैव प्रगृह्यते।
चलतीत्यादि बोधेषु तत्स्वरूपावभासनात्॥

क्रियावान् से क्रिया भिन्न होकर भेदपूर्वक ही ग्रहण होती है। चलता है, खाता है इत्यादि, क्रियाओं के ज्ञानों में क्रिया के स्वरूप का मात्र आभास देखा जाता है।

१. निर्विकल्प में तो आभास का भेद भले रहे, किन्तु सविकल्प में कैसे रहेगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अध्यवसायस्य'—'निर्विकल्पानुसारेण सविकल्पक संभवात्। ग्राह्यं तदानुगुण्येन सविकल्पस्य मन्महे। निर्विकल्पके अनुसार ही सविकल्प की उत्पत्ति होती है इसलिए जो निर्विकल्प का विषय है वही सविकल्प का भी विषय होना चाहिए।

अपूर्ववस्तुदर्शनाय चिकीर्षति तावत् अवज्ञोपहासशोकादिविवशः परजनवचनाकर्णनेन समुन्मूल्यमानं प्राच्यं 'द्विचन्द्रोऽयम्' इति परामर्शं स्वसंवेदनादेव अभिमन्यते। ननु एवं यत्र अर्थक्रियां न अन्विच्छति तत्र कथं बाधाबाधव्यवहारः? मा भूत—किं नः त्रुटितम्, प्रवृत्तिर्हि न सर्वत्र प्रमाणत एव, किं तर्हि क्वचन संशयत एव अर्थपक्षाधिक्यात् अर्थित्वतारतम्यादपि वा—कृष्यादौ सविषान्नभोजने निश्चितसम्भावितदृष्टप्रत्यवाये च चौर्यादौ प्रवृत्तिदर्शनात्, तत् अर्थित्वातिशयः प्रवृत्तौ तावत् निबन्धनम्, लोकश्च प्रवृत्तः क्वचन अनुन्मूलितप्रमितिकः प्रयाणतां प्रतिपद्यते, क्वचित् तन्यथाभवन् विपर्ययमिति, एवम् आ जन्म यतोऽनेन अभ्यस्त आ पूर्वजन्मशतेभ्योऽपि वा प्रमाणाप्रमाणविभागः ततो मणिरूप्यादिवत् तत्स्वरूपम् आपातमात्र एव विलक्षणम् ईक्षते, अस्ति हि तस्य परमार्थतो वैलक्षण्यं कारणभेदादिकृतं, ततश्च यदातं परिमितां सह्याम् अभिमन्यते तत एव अर्थितामहाग्रहेण यत्र तत्र न प्रेर्यते तदा विसंवादभीरुः निश्चितप्रामाण्यात् बोधात् अदृष्टे दृष्टेऽपि वा प्रवर्तमानो न विसंवाद्यते, इति स—प्रेक्षापूर्वकारी भण्यते, तेन लौकिकं प्रमाणस्वरूपम् अनूदितं

वस्तु का दर्शन कराने की इच्छा से तिरस्कारपूर्वक उपहास करने में विवश होकर दूसरे की बात सुन करके पूर्व के 'द्विचन्द्रोऽयम्' इस परामर्श को अपने परामर्श का अभिमान करता है।[1]

ऐसा होने पर प्रश्न करते हैं कि जहाँ पर अर्थक्रिया की इच्छा नहीं है वहाँ पर बाध का व्यवहार कैसे सम्भव हो सकेगा?

इसके उत्तर में कहते हैं कि न हो, इस में हमारी कोई भी हानि नहीं होगी; क्योंकि प्रमाण के द्वारा प्रवृत्ति सब जगह नहीं होती, किन्तु संशय से भी प्रवृत्ति देखी जाती है, अर्थपक्ष के अधिक होने से या अर्थित्व के तारतम्य से भी जैसे कि कृषि आदि के विषयुक्त भोजन में और संभावित प्रत्यक्ष प्रत्यवाय करनेवाले चौर्यादि कर्म में अर्थिता की अधिकता के कारण ही प्रवृत्ति देखी जाती है, इस प्रकार प्रवृत्त हुई जनता कहाँ प्रमा का न छोड़कर प्रमाणता को प्राप्त करती है, कहीं उससे भिन्न होकर अप्रमाणता को प्राप्त हो जाती है, इस प्रकार जन्मभर जिसका अभ्यास किया है, सहस्र जन्म-जन्मातर से प्रमाणता और अप्रमाणता के विभाग को ऊपर से ही मणि आदि की तरह विलक्षणता को रखती है, ठीक-ठीक विलक्षणता तो कारण भेद इत्यादि से ही होती है और कष्ट को सह्य मानती है तभी अर्थितारूपो महाग्रह से जहाँ-तहाँ प्रेरित नहीं होती है; तब न घटने के कारण डरता हुआ निश्चित प्रमाण के ज्ञान से चाहे दृष्ट अथवा अदृष्ट वस्तुओं में प्रवृत्त होकर प्रमाणता का नहीं प्राप्त होता है, इसीका प्रेक्षापूर्वक कार्य करनेवाला कहा जाता है, इसी से लौकिक प्रमाणरूप

१. इसका फलित अर्थ यह है कि सर्वत्र अन्वेषण करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। जहाँ पर विभाग की व्युत्पत्ति रहेगी वहाँ पर ही प्रमाण में निर्णय का अवकाश रहेगा और वह विभाग व्युत्पत्ति यत्नपूर्वक छोड़ने में और यत्नपूर्वक ग्रहण करने में अवश्य उपयुक्त होता है। देखिये—गाँव गया हुआ व्यक्ति गाँव से पुनः अपने गृह लौट आता है तो न वह दग्ध ही होता रहता है और न तो लौटाता हुआ ही रहता है एवं न तो उसके धन और दारा आदि को ही कोई व्यक्ति अपहृत किये हुए रहते हैं, इस प्रकार प्रमाण के बिना कैसे निश्चय होगा? अर्थपक्ष की अधिकता होने के कारण संशय में भी प्रवृत्ति देखी जाती है. जैसा कि क्षुधा से आक्रान्त व्यक्ति की प्रवृत्ति भी विपरीत ज्ञानपूर्वक ही विष संपृक्त अन्नग्रहण करने में अर्थिता की तारतम्यता के कारण ही होती है।

सामान्यसम्बन्धादिज्ञानेऽपि मोहात् अप्रामाण्याशंकां शमयितुम्, अत एव विभागविशेषलक्षणपरीक्षादिभिरिह न आयासितो लोकः, यत् यत् आबाधितस्थैर्यम् अत एव अप्रतिहतानुवृत्तिकं विमर्शफलं विधत्ते, तत्तद्बोधरूपं बोध्यनिष्ठं प्रमातृस्वरूपविश्रान्तं प्रमाणम् इति, तच्च ऐन्द्रियिके बोधे सुखादिसंवेदने योगिज्ञाने च अविवादमेव—मुख्यतयैव प्रमेयरूपे आभासे साक्षात् विश्रान्तेः, अनु-

अनुवाद को सामान्य सम्बन्धादि के ज्ञान होने पर भी मोहवश अप्रामाण्य की आशङ्का को दबा देने के लिए विभाग, विशेष, लक्षण, परीक्षा इत्यादि कारणों से लोग प्रयत्न युक्त नहीं होते, जो-जो अबाधित स्थिरता के अप्रतिहत अनुवर्तन को विमर्शफल मानता है, उस-उस बोधरूप की ही बोध्यवस्तु का प्रमाता में होनेवाला प्रमाण माना जाता है और वह इन्द्रिय सम्बन्धी ज्ञान में तथा सुखादि के संवेदनरूप योगिज्ञान में निर्विवाद मुख्य प्रमेयरूप से भासित होता है और उसी में ही साक्षात् विश्रान्त हो जाता है, अनुमान प्रमाण से होनेवाली प्रमा कार्यरूप दूसरे स्वाभाविक

आचार्य धर्मकीर्ति का कथन है—

१. प्रसिद्धानि प्रमाणानि व्यवहारश्च तत्कृतः ।
प्रमाणलक्षणस्योक्तौ ज्ञायते न प्रयोजनम् ।।

प्रमाण प्रसिद्ध ही होते हैं और उन्हीं के द्वारा व्यवहार होता हुआ सर्वत्र देखा भी जाता है। प्रमाण के लक्षण कहने पर प्रयोजन का ज्ञान नहीं होता। दूसरों को आक्षेप की आशंका कर प्रामाण्य-व्यवहार मात्रेण शास्त्रं मोहनिवर्तनम्—ऐसा कहा है।

२. योगी को दूर-समीप का प्रत्यक्षरूप से बोध हो जाता है। इस विषय में भट्टजयन्त ने विवेचन किया है।

यथानुवाकग्रहणे संस्थाभ्यासेन कल्पितः । स्थिरः करोति संस्कारः पाठस्मृत्यादिपाटवम् ।।
यथा वा पुटपाकेन शोध्यमानं शनैः शनैः । हेमनिष्प्रतिकाशं तद्याति कल्याणतां पराम् ।।
तथैव भावनाभासद्योगिनामपि मानसम् । ज्ञानं सकलविज्ञेयसाक्षात्कारक्षमं भवेत् ।।
अस्मदादेश्च रागादिमलावरणदूषितम् । मनो न लभते ज्ञानप्रकर्षपदवीं पराम् ।।
प्रत्यहं भावनाभ्यासक्षपिताशेषकल्मषम् । योगिनां तु मनः शुद्धं किमिवार्थं न पश्यति ।।
तदेवं क्षीणदोषाणां ध्यानावहितचेतसाम् । निर्मलं सर्वविषयं ज्ञानं भवति योगिनाम् ।।

जैसे वेद शाखाओं के शब्दों को ग्रहण करने पर भली-भाँति किये हुए अभ्यास के बल से पाठ-स्मरणादि में दक्षता, स्थिर संस्कार करा देता है। अथवा पुट देकर धीरे धीरे शोधा हुआ स्वर्ण अद्वितीय रूप को प्राप्त कर लेता है। वैसे ही भावनादि-ध्यान, धारणा, समाधि के द्वारा योगियों के मानस को भी संपूर्ण ज्ञेय पदार्थ का साक्षात्कार करने का ज्ञान हो जाता है। हम लोगों के चित्त में रागादि मल का आवरण होने के कारण ज्ञान की उत्कर्ष स्थिति प्राप्त नहीं होती है। सब को अपने स्वरूप में देखने के कारण संपूर्ण पापों का नाश हो जाता है इसलिए योगियों का मन शुद्ध होकर क्या नहीं देख लेता है ? सब दोषों से मुक्त योगियों का ध्यान में लगा हुआ मन होने से निर्मल होकर सब विषयों को देख लेता है।

३. पुरोवर्त्ती पदार्थों में प्रत्यक्ष व्यापार का साधन है एवं परोक्ष में अनुमान से होनेवाला ज्ञान होता है और वह अनुमान लिङ्ग अर्थात् धूम ज्ञान से होता है, वह पाँच प्रकार का है।

पञ्चलक्षणकाल्लिङ्गाद्गृहीतान्नियमस्मृतेः ।
परोक्षे लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं प्रचक्षते ।।

मानजा तु प्रतीतिः आभासान्तरात् कार्यरूपात् स्वभावभूतात् वा आभासान्तरे प्रतिपत्तिः, वस्त्वन्तरस्य च तेन साकं कार्यकारणभावनियमः सामानाधिकरण्यनियमश्च ईश्वरनियतिशक्त्युप-

आभास से दूसरे आभास का ज्ञान होता है, दूसरी वस्तुओं का भी, उसी के साथ कार्य-कारण नियम को तथा सामानाधिकरण्य नियम को ईश्वर की नियति-शक्ति से उपजीवित ही मानता है;

कार्य, कारण, संयोगी, विरोधी और समवायी रूप से पाँच प्रकार के हेतु कहे जाते हैं ऐसे हेतुओं को देख कर और इनसे व्याप्ति का स्मरण कर न देखी गयी वस्तु के विषय में जो निश्चयात्मक कल्पना होती है उसको विद्वान् लोग अनुमान शब्द से कहते हैं। इस श्लोक में जो 'पञ्चलक्षणात्' यह पद दिया है उस हेतु का भी कारण इत्यादि पाँच प्रकार के होते हैं, इसका यह तो अर्थ ही है। इससे अतिरिक्त एक-दूसरा भी अर्थ निकलता है। वही सच्चा हेतु है जिस पर पाँच हेतु देते हैं, वे इस प्रकार हैं कि—पक्षसत्त्व,–सपक्षसत्त्व, विपक्षसत्त्व, असत्प्रतिपक्षत्व, अबाधितत्व। पक्ष में रहना पक्षसत्त्व है, विपक्ष में रहना विपक्षसत्त्व है, किसी भी शत्रु से शून्य होकर रहना असत्प्रतिपक्ष माना जाता है, अपने अभाव का पक्ष में ज्ञान न होना अबाधितत्त्व कहलाता है। सिषाधयिषा विशिष्ट सिद्धि जहाँ पर नहीं होती वह पक्ष है, साध्य का निश्चय जिसमें हो वह सपक्ष, साध्य के अभाव का निश्चय जिसमें हो वह विपक्ष कहा जाता है।

इन सभी रूपों की आवश्यकता केवल अन्वय व्यतिरेकी की हेतु में पड़ती है, केवलान्वयी और केवल व्यतिरेकी हेतु केवल चार-चार की [क्रमशः विपक्षसत्त्व और सपक्षसत्त्व को छोड़कर] आवश्यकता होती है।

१. परमार्थतः पदार्थों का कार्य-कारणभाव स्वाभाविक नहीं है। यदि कोई अग्नि होती तो धूम होता अथवा अग्नि और धूम का जो पौर्वापर्यलक्षण अपना स्वभाव यावत्काल दोनों का बना रहना संवित् प्रकाश को छोड़कर नहीं होता है; क्योंकि संवित् ही वैसी-वैसी प्रकाशित होती है, स्वप्न और संकल्प के समान योगी का निर्माण रहता है, केवल संवित् ज्ञान के फैलाव की समाप्ति में ही जहाँ तहाँ नियति-शक्ति के द्वारा पूर्वापर भाव का नियम नहीं अवभासित रहता है। जैसे अग्नि से धूमादि का होता है, इस प्रकार कहते हैं—

सूर्यास्तमयालोक्य कल्प्यते तारकोदयः।
पूर्णचन्द्रोदयवृद्धिरम्बुधेरवगम्यते ॥
उदितेनानुमीयन्ते सरितः कुम्भयोनिना।
शुष्यत्पुलिनपर्यन्तविश्रान्तखगपङ्क्तयः ॥
पिपीलिकाण्डसंचारचेष्टानुमितवृष्टयः।
भवन्ति पथिकाः पर्णकुटीरकरणोदिताः ॥
अन्येषामपि हेतूनां भूम्नां जगति दर्शनम्।
उपलक्षणमेतावदिहास्माभिः प्रदर्शितम् ॥

सूर्य अस्ताचल की ओर चले गये इस बात को जान कर नक्षत्रों का उदय गगनमण्डल पर हो रहा है इसका अनुमान किया जाता है, पूर्णिमा के चन्द्रमा को देख कर समुद्र में [ज्वार भाटा] आने का अनुमान हो जाता है, अगस्त्य नक्षत्र के उदय होने पर अनुमान हो जाता है कि नदियाँ अधिक मात्रा में सूख गयी है जिससे सूखे हुए उनके किनारों पर पक्षिगण विश्राम कर रहे हैं, पथिक लोग अण्डे

जीवन एव अवधार्यो भवति न अन्यथा, तेन यावति नियतिर्ज्ञाता तावति देशे काले वा अनुमानं प्रमाणम्, आगमस्तु नामान्तरः शब्दनरूपो द्रढीयस्तमविमर्शात्मा चित्स्वभावस्य ईश्वरस्य अन्तरङ्ग एव व्यापारः प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पः तेन यत् यत् आमृष्टं तत् तथैव, यथा नैतत् विषं मां मारयति, गरुड एव अहम् इति, तत्र तु तथाविधे शब्दनात्मनि विमर्शे आनुकूल्यं यो भजते शब्दराशिः सोऽपि प्रमाणं, यथा—वेदसिद्धान्तादिः, अन्योऽपि वा बौद्धार्हतागमादिः, तेन हि यत् शब्दनम् उत्पादितं 'ज्योतिष्टोमकारी अहं स्वर्गं गन्ता' इति, 'दीक्षितोऽहम् अपुनरावृत्तिभागी' इति, 'कारुणिकोऽहं बुद्धपदं गन्ता' इति, 'गाढक्लेशसहिष्णुरहम् अर्हत्पदं प्रपत्ता' एति, तत्र न विपर्यय उदेति—तदाश्वस्तस्यैव तत्र अनुष्ठानयोग्यत्वात्, अन्यस्य तु दृढप्रतिपत्तिरूपत्वाभावात् अप्रमाणमेव तथाविमर्शनात्मकं शब्दनम् ।

इसीलिए वह निश्चित ही ज्ञान होता है अनिश्चित नहीं, उसी से जितना ज्ञान नियति का होता है उतना ही देश एवं काल में अनुमान प्रमाण का माना जाता है और शब्दरूप आगम प्रमाण तो दूसरा नाम है, वह तो चिद्रूप ईश्वर का आन्तरिक व्यापार है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाण के भी जीवन सदृश है, उससे जिस-जिस का परामर्श होता है वह वैसा ही होता है । जैसे यह विष मुझे नहीं मार सकता; क्योंकि मैं गरुड हूँ, सारी शब्दराशि मेरे अनुकूल है, वह भी प्रमाण है । जैसे वेद सिद्धान्तादि प्रमाण माना जाता है वैसे ही अन्य भी बौद्ध, अर्हत् आदि के शास्त्रादि माने जाने चाहिए, इसी से वेद में आता है कि मैं ज्योतिष्टोम यज्ञादि करनेवाला स्वर्ग में जाऊँगा, जिसमें दीक्षित होकर मैं इस संसार को पुनः न प्राप्त होऊँ, दयालु बुद्धपद को प्राप्त करूँगा, गाढ क्लेश सहिष्णु मैं अर्हत्पद को प्राप्त करूँगा इत्यादि, वहाँ पर कुछ भी विपरीत भान नहीं होता है—परलोक में विश्वास रखनेवाले का यज्ञादि करने में अनुष्ठान की योग्यता मानी जाती है, दूसरे लोग (बौद्धजैनादि) को उसमें दृढ विश्वास न होने के कारण ऐसा कहा गया है ।

के साथ संचरण करती हुई चीटियों को देख कर वृष्टि होने का अनुमान लगा लेते हैं और घास-फूस की कुटीरों का निर्माण कर लेते हैं । यहाँ पर हमने इतना ही मात्र दिखाया है, यह तो केवल उपलक्षण है अर्थात् इस प्रकार बहुत से हेतु [चिह्न] संसार में देखे जाते हैं जिससे कि न देखी हुई वस्तुओं का अनुमान हो जाता है ।

१. शास्त्रों की युक्तियों देकर विषय प्रतिपादन किया जाता है उसमें थोड़ा सा भी अनुचित-विपरीत नहीं होता है और विश्वास कर अनुष्ठान करने योग्य ही है; क्योंकि वाणी भी अज्ञान कर्तृक है और जिसका वक्ता नियत होता है, नियत, परिमित और प्रतिवक्ताओं में प्रतीति को उत्पन्न करती हुई, प्ररूढ होकर पारमेश्वर्य अंश से निकली हुई उन नियत वक्ताओं के मुखरूपी गुफाओं में प्रस्फुटित होती है, किसी पशु प्रमाता में निरोध करने की इच्छा हो तो भी नहीं रोकी जा सकती है । इसी कारण वह आगम संज्ञा की प्रसिद्धि से प्रमाण ही रहती है, तथा वेद, बौद्धादिकों में शास्त्रनिबद्ध प्रसिद्धि अपने यूथ के प्रति बाधित न होती हुई प्रमाणरूप से मानी जाती है । सांप्रदायिक लोगों के प्रति नहीं रहती है—

धर्मस्य चाव्यवच्छिन्नाः पन्थानो ये व्यवस्थिताः ।
न तांल्लोकप्रसिद्धत्वात्कश्चित्तर्केण बाधते ॥

जो अनादि अनवच्छिन्न परम्परा से धर्म का मार्ग व्यवस्थित है, वे तो सब से अधिक लोक में प्रसिद्ध हैं ।

ननु एवं तदेव शास्त्रं 'कंचित्प्रति प्रमाणं कंचित्प्रति न' इति स्यात्, न चैतद्युक्तम्— 'अपक्षपातित्वात्प्रमाणस्य' इति, अतत्त्वज्ञोऽसि प्रतीतिवृत्तस्य, तथापि नोपेक्ष्यसे, 'अपक्षपाति प्रमाणम्' इति कः अस्य वचनस्य अर्थः किं यत् एकस्य नीलज्ञानं भासयति धूमज्ञानं वा अग्निम्, 'त्वं प्रातर्निधिमनेन विधाना लब्धासे' इति च यः सिद्धादेशरूप आगमः स किं सर्वान्प्रति प्रमाणम्, अथ कस्यापि कदाचित् किंचित्, तथा इहापि दृढविमर्शनरूपं शब्दनम् आ—समन्तात् अर्थं गमयति इति आगमसंज्ञकं प्रमाणं सर्वस्य तावत् भवति, तत्र यथा मिथ्याज्ञाने सहायतां भजमानम् आलोकेन्द्रियादिकम् अप्रमाणतासचिवम् अप्रमाणं, न च एतावता सम्यग्ज्ञानस्वरूपस्य प्रत्यक्षस्य काचित् पक्षपातिता, तथा स एव ज्योतिष्टोमादिशब्दः शूद्रादेरदृढविमर्शात्मनि अत एव अप्रामाणे आगमाभासे साचिव्यं विदधदपि दृढविमर्शात्मकसत्यागमरूपशब्दनलक्षणप्रमाणोपयोगितायां प्रामाण्यं भजन् न पक्षपातापक्षपातदोषप्रतिक्षेपयोग्यः, सर्व एव हि आगमो नियताधिकारिदेशकालसहकार्यादिनियन्त्रितमेव विमर्शं विधत्ते—विविधरूपो निषेधात्मा वा, अत एव—'प्रसिद्धिरविगीता हि

ऐसा होने पर प्रश्न उठता है कि क्या यह शास्त्र किसी के प्रति प्रमाण होता है और किसी के प्रति प्रमाण नहीं भी होता—ऐसा होना ठीक नहीं है; क्योंकि प्रमाण तो किसी का पक्षपाती नहीं होता, अपक्षपात करना ही प्रमाण का कार्य है। तुमने हमारा आशय नहीं समझा, फिर भी हम तुम्हारी उपेक्षा नहीं करते हैं प्रमाण तो अपक्षपाती होता है इसका क्या अर्थ समझते हो, क्या किसी को नील ज्ञान का प्रत्यक्ष हुआ तो क्या सभी को नील ज्ञान हो जायेगा इसी प्रकार किसी को धूम से अग्नि का ज्ञान हुआ तो क्या सभी को हो जायेगा, वैसे तो वहाँ पर 'तुम प्रातःकालीन खजाना भी प्राप्त कर सकते हो, ऐसा जो कोई सिद्ध पुरुष कहे तो क्या वह सब के लिए प्रमाण होगा ? किसी को प्रमाण ज्ञान होता है किसी को नहीं भी होता है, यह संसार का व्यवहार है, विजातीय परलोक पर विश्वास करके ज्योतिष्टोमादि यज्ञ का अनुष्ठान करेंगे; शूद्रादि को विश्वास न होने से नहीं करते हैं इसीलिए प्रमाण में कोई पक्षपात और अपक्षपात का दोष नहीं लगता; कोई भी आगम-नियत अधिकारी, देश-काल सहकारी कारण से नियमित होकर ही विधि या निषेधरूप परामर्श करता है। इसीलिए आचार्य ने कहा है कि अनिन्दित प्रसिद्धि ही सत्य होती है, उसमें प्रतिपादित विषय का ही निःशंक होकर ग्रहण करना चाहिए।

सब कोई इनके विषय में यथार्थतापूर्वक जानते हैं। यदि कोई बड़ा भारी 'तर्क' देकर उन्हें असत्य अथवा असिद्ध करें तो यह तीनों कालों में भी नही होने वाला है; क्योंकि पुण्य एवं पाप के विषय में प्रत्येक व्यक्ति को "शास्त्रादि" की प्रमाणता की भी अहर्निश आवश्यकता पड़ती है। अखण्ड अनवच्छिन्नरूप में बहनेवाली शास्त्रीय धारा को हेतुवाद से बाधित नहीं किया जा सकता है।

१. 'सम्यक्ज्ञायते अनेन' जिससे भली-भाँति ज्ञान किया जाता है उसे इन्द्रिय-आलोक कहते हैं जिस प्रत्यक्ष का वही रूप है। प्रत्यक्ष के निमित्त होने से इन्द्रियाँ, आलोक इत्यादि भी प्रत्यक्ष शब्द से कहे जाते हैं।

२. आगम शास्त्रों की युक्तियों की लोक व्यवहार में अबाध्यरूप से प्रसिद्धि देखी जाती है, यद्यपि स्मृति शास्त्र से विरुद्ध दिखाई देने पर भी विशिष्ट देश-काल में अवस्थित होकर प्रमाण रहती है।

'काममागमनिःश्रयेण निर्मितमपि लोकाचारविरुद्धं चरण प्रतिपद्यन्ते तत्र हि तावति देश काले वा सा निरोद्धुमिष्टाऽपि कस्यचिदनिरोध्या।'

सत्या वागैश्वरी मता। तयेति यत्र हि यदा यत्तद्ग्राह्यमशंकितैः॥' इति श्लोके 'यत्र यदा' इत्युक्तम्, तेन—प्रत्यक्षागमौ बाधकौ अनुमानस्य, इति तत्रभवद्भर्तृहरि-न्यायभाष्यकृत्प्रभृतयः, तस्मात् प्रमाणलक्षणे ज्ञाते सर्वं प्रमाणस्वरूपं ज्ञातं भवति किं विशेषलक्षणैः, यस्तु अविसंवादकत्वं तस्य लक्षणम् आह तेनापि 'प्रापकत्वं प्रवर्तकत्वं प्रवृत्तियोग्यशक्यप्राप्तिकवस्तूपदर्शकत्वं' प्रमाण-लक्षणं ब्रुवता न किंचित् प्रमाणाभिमतबोधविश्रान्तं स्वरूपम्, तत् चेत् अनेन लक्षणेन निर्वाह्यते तत् निर्व्यूढं भवति, अन्यथा मुखभङ्गमूर्धकम्पाङ्गुलीमोटनादिमात्रतत्त्वं तत्, इति अलं विस्तरेण ॥१-२॥

ननु च 'एकाभिधानविषये मितिः' इति यत् उक्तं, तत्र—एकमभिधानं बाह्ये स्वलक्षण एव प्रवर्तते यदि, तत्कथम् उक्तं—प्रत्यभासं प्रमाणम्, आभासमिश्रीकरणाभासस्तु स्वलक्षणम्? इत्याशङ्कां शमयन् प्रमाणस्य यत् प्रमेयं तत् परमार्थतो निरूपयितुम् आह—

यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसन्धानसाधिते ॥ ३ ॥

इसीलिए श्लोक में 'यत्र यदा' ऐसा कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष और आगम अनुमान के बाधक होते हैं, इसको भर्तृहरि एवं न्यायभाष्यकर्ता आदि सभी लोगों ने माना है; प्रमाण के लक्षण को जान लेने पर प्रमाण के सभी स्वरूप ज्ञात हो जाते हैं, विशेष लक्षण करने का कोई आवश्यकता नहीं; जो लोग यह कहते हैं कि व्यर्थ न होना यही प्रमाण का लक्षण होता है, उसकी भी प्राप्ति करना ही प्रवर्तकता मानना पड़ेगा, प्रवृत्ति प्राप्ति योग्य शक्य वस्तु को दिखा देना ही प्रमाण का लक्षण है—ऐसा कहनेवाले भी तो प्रमाण का कोई अभिमत निष्कर्ष नहीं बताते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो इस लक्षण से प्राप्त होता है वही उत्तम लक्षण माना जाता है, नहीं तो मुख घुमा देना, मस्तक हिला देना और अंगुली के द्वारा चुटकी बजा करके बात को उड़ा देना इत्यादि दूसरी चीज है, इस पर अधिक कहना व्यर्थ है ॥ १–२ ॥

अब इस पर शङ्का करते हैं कि 'एकाभिधानविषये मितिः' इस प्रकार अविसंवादि विज्ञान को प्रमाण सौगतादि मानते हैं. इस वाक्य में एक अभिधान बाह्य स्वलक्षण में प्रवृत्त होता है, यदि ऐसा ही तात्पर्य है—तो प्रत्याभास ही प्रमाण सिद्ध होगा वह कैसे कहा गया है? आभास का मिश्रीकरण तो प्रत्याभास होगा? इस शङ्का को दबाते हुए प्रमाण का जो प्रमेय है उसके ठीक-ठीक निरूपणार्थ अब कहा जा रहा है—

आभास भी एक ही अर्थ में अनुसन्धान से विचार करने पर रुचि, अर्थिता एवं व्युत्पत्ति के अनुसार भिन्न-भिन्न हो जाते हैं ॥ ३ ॥

यद्यपि आगमशास्त्र का निर्माण मोक्ष के लिए ही हुआ है तथापि लोकाचार के विरुद्ध आचरण करनेवाले के लिए निषेध का भी प्रतिपादन किया गया है। देश-काल की परिस्थिति को लेकर इस का निरोध करना चाहे तो भी निरोध नहीं किया जा सकता है। इस का उल्लेख किया गया है। श्री भर्तृहरि ने वाक्यदीय में उल्लेख किया है—

प्रसिद्ध आगमो लोके युक्तिमानथ नेतरः। विद्यायामप्यविद्यायां प्रमाणमविगानतः॥

लोक में प्रसिद्ध आगम युक्तिवाला है अथवा न भी हो; विद्या और अविद्या में भी अनिन्दित होकर ही प्रमाण रहता है।

यद्यपि घट इति बहिः परिदृष्ट एकोऽर्थः तथापि तावानेव असौ न, अपि तु पृथक् निर्भज्यमानतामपि सहते, तथाहि—स्वतन्त्रं वा विवेचनम् अर्थित्वानुसारेण वा पूर्वप्रसिद्ध्युपजीवनेन वा, तत्र त्रिधापि विवेचने क्रियमाणे पृथगेव भान्ति आभासाः, ननु एवं चेत् कथम् एकं स्वलक्षणम्? उच्यते—तेषां पृथक् भासमानानामपि आभासानां यो विमर्शः अनुप्राणितभूतः स कदाचित् प्रत्याभासमेव विश्राम्यति, तदा परापरसामान्यव्यवहारः, कदाचित् पुनः गुणप्रधानतापादनेन 'अत्र इदम् इत्थम्' इति व्यामिश्रणाप्राणो विमर्शः तदा तदेकं स्वलक्षणं अपिः भिन्नक्रमः, अनुसन्धानेन मिश्रताविमर्शेन साधितो य एकोऽर्थः स्वलक्षणात्मा तत्र एकस्मिन्नपि सति रुचि—स्वातन्त्र्यम्, अर्थित्वम्—अर्थक्रियाभिलाषपरवशतां, व्युत्पत्ति—वृद्धव्यवहारशरणतां च अनतिक्रम्य विद्यत एव आभासः ॥ ३ ॥

क्व यथा ? इति निदर्शयितुम् आह—

दीर्घवृत्तोर्ध्वपुरुषधूमचन्दनतादिभिः ।
यथाभासा विभिद्यन्ते देशकालाविभेदिनः ॥ ४ ॥
तथैव सद्घटद्रव्यकाञ्चनोज्ज्वलतादयः ।
आभासभेदा भिन्नार्थकारिणस्ते पदं ध्वनेः ॥ ५ ॥

यद्यपि घट बाहर में एक ही अर्थ के रूप से दिखायी पड़ता है फिर भी उतना ही घट का यह रूप है—ऐसा स्वीकार नहीं करना होगा, किन्तु पृथक् विभाग को भी वह सह सकता है, देखिये—अर्थिता के अनुसार स्वतन्त्र विचार करने पर पूर्व प्रसिद्धि को लेकर तीन प्रकार के विवेक पृथक्-पृथग्रूप से आभासित होते हैं। इस प्रकार एक ही स्वलक्षण कैसे हो सकेगा ? इसका उत्तर देते हैं कि ये अलग-अलग भासित होनेवाले आभासों के जो विमर्श प्राणभूत हैं वे प्रत्याभास में ही विश्रान्त हो जाते हैं, तब परत्व एवं अपरत्व सत्ता का व्यवहार सामान्यतया होता है, कभी गौण प्रधान भेद से 'अत्र इदं इत्थम्' यहाँ पर यह ऐसा है; यह मिला हुआ विमर्श एक स्वालक्षण्यरूप में हो जाता है, 'अपि' शब्द भिन्न क्रम के अर्थ में दिया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि अनुसन्धान के द्वारा मिश्रित विमर्श से सिद्ध किया गया एक पदार्थ भी रुचि की स्वतन्त्रता से, अर्थिता से और व्युत्पत्ति से, भिन्न-भिन्न आभासों से युक्त हो जाता है और वृद्धजनों के उपदेश से प्राप्त ईश्वर संकेतरूप व्युत्पत्ति के बिना भी व्यवहार का होना असम्भव है ॥ ३ ॥

यह कहाँ पर ? उसे बताया जाता है—

अत्यन्त लम्बा चौड़ा व्यक्ति धूम, चन्दनादि के द्वारा देश एवं काल के भेद से भिन्न-भिन्न रूपों में भासित होता है। उसी प्रकार विद्यमान घट भी स्वर्ण के घटियाँ-बढ़िया के भेद से तथा उच्चारण के भेद से भिन्न-भिन्न पदार्थ रूपों में भासित होता है ॥ ४–५ ॥

पहले एक चेतन पुरुष में ही देखिये; फैले हुए देश में व्याप्त होना इसी दीर्घता को परामर्श करता है जो कि वृक्षादि में भी है, जिसमें जोड़ (अदृश्य सन्धि का स्थान) मालूम न हो, ऐसी

इह तावत् एकस्मिन्नपि चेतनतया प्रसिद्धे पुरुषस्वलक्षणे विततदेशव्यापितां दीर्घतामेव कदाचित् विमृशति, या—तरूणामपि अस्ति, निःसन्धिबन्धरूपतां वा वृत्ततां, या—शिलानामपि संभविनी, ऊर्ध्वदिगाक्रमणरूपां वा ऊर्ध्वतां, या—स्थाणोरपि सम्बन्धिनी गमनागमनादि-स्वतन्त्रभावयोग्यतारूपं वा पुरुषत्वं, यत्—अन्यपुरुषसाधारणं, तथाहि—स्वतन्त्रया वा इच्छया रुचिरूपया एवं कुर्यात्, यथोक्तं—'या तु व्याक्षेपसारत्वाच्चेतसः स्वरसोद्गता।' इति विततदेश-व्यापिन एव वा अर्थान् तिरोधिलक्षणाम् अर्थक्रियाम् अर्थयमानो विभजेत्, एवं व्यवहारे वृद्धैः कीदृक् दीर्घं नाम गीयते इति व्युत्पित्समानो व्युत्पादयितुमिच्छुः वा विभागं कुर्यात्, इत्येवं—तत्र आभासानां भेदः, एकस्वलक्षणं तु—एकस्मिन् देशाभासे कालाभासे च विश्रान्तेः, देशकाला-भासावेव हि सामान्यरूपताप्रयोजकव्यापित्वनित्यत्वखण्डनाविधानसविधवृत्ती विशेषरूपतां वितरतः, एवं पुरुषत्ववत् अन्येऽपि ब्राह्मणाद्याभासा अपि निरूप्याः, एवम् अत्र तावत् प्रसिद्धतर आभासभेदो—जडाजडसाधारणबहुतरधर्मास्पदत्वात्, अनेन निदर्शनेन धूमेऽपि धूमत्वचन्दनत्व-श्रीखण्डचन्दनोत्थितत्वादयः प्रसिद्धा आभासभेदा विभजनीयाः, अनेन तु प्रसिद्धेन दृष्टान्तेन अप्रसिद्धभागोऽपि यो घटः तत्रापि आभासभागभेदो भवति, तथाहि—किञ्चिदपि अत्र नास्ति इति हुङ्कुङ्मिव आपद्यमानो घटं पश्यन् 'अस्ति इदम्' इति सत्त्वाभासमेव पश्यति, अपरान् आभासान् नाम्नापि तु न आद्रियते, तथा उदकाहरणार्थी घटाभासम्, स्वतन्त्रनयनानयनयोग्यवस्त्वर्थी द्रव्याभासम्, मूल्याद्यर्थी काञ्चनावभासम्, हृद्यतार्थी औज्ज्वल्याभासम्, आदिग्रहणात् दृढतर-

गोलाई को भी परामर्श करेगा तो ऐसी गोलाई शिलाओं में भी रहती है और ऊपर की ओर फैलाव रहता है; ले जाना और ले आनारूप आवागमन स्थाणु में भी तो पायेगा और रहती ही है। एवं दूसरे पुरुषों भी है, इसीलिए स्वतन्त्रता से अपनी-अपनी रुचि के अनुसार जैसा चाहे वैसा परामर्श कर सकता है, जिसके विषय में कहा गया है—

चित्त की व्याकुला के कारण अपनी-अपनी इच्छा के अनुसार अनेक परामर्श होते हैं। फैले हुए देश में व्याप्त पदार्थों को छिपाना रूप अर्थक्रिया को चाहता हुआ यदि व्यवहार करे तो वृद्धजनों ने दीर्घ का लक्षण तब कैसा किया है यह माना जाय; इसकी व्युत्पत्ति करनेवाले की इच्छा का यदि विभाग करें तो आभासों का भेद निश्चित ही होगा। इसमें संशय नहीं है, एक ही देशाभास और एक ही कालाभास में विश्रान्ति होने से, देश और काल ही सामान्यरूप से प्रयोजक व्यापिता और नित्यता का वितरण करेंगे, इस प्रकार से पुरुषत्व के परामर्श में भी ब्राह्मण और क्षत्रियादि का परामर्श हो सकता है, जड और अजड इत्यादि साधारणतया बहुत प्रकार के धर्मों का विमर्श हो सकता है, इसी दृष्टान्त से धूम में धूमत्व एवं चन्दनत्वादि भेद भी निकल सकते हैं, इस प्रसिद्ध दृष्टान्त से घटादि परामर्श को भी समझ लेना चाहिए, देखिये—कुछ भी यहाँ पर नहीं है—ऐसा कहनेवाला घट देख लेता है तो 'अस्ति इदम्' ऐसी वस्तु की सत्ता का ही परामर्श करता है और अन्य तो आभासों के नाम से भी ग्रहण नहीं करते, जल ले आनेवाला उसको घडे का परामर्श करेगा; स्वतन्त्र द्रव्यरूप से लेनेवाला उसे द्रव्य ही समझेगा; मूल्यार्थी उसे स्वर्ण घट मानेगा; और स्वच्छता को चाहनेवाला उसकी शुभ्रता का परामर्श करेगा, इस प्रकार अनेक तरह से दृढता का आभास हुआ करता है, एवं रुचि और व्युत्पत्ति में भी जोड देना

भावार्थो दार्ढ्याभासम् इति द्रष्टव्यम्, एवं रुचिव्युत्पत्त्योरपि योजनीयम्, एवम् एते आभासभेदा एव वस्तु—आभासमानतासारत्वात् वस्तुतायाः, योऽपि आभासस्य प्राणभूतो विमर्शः सोऽपि प्रत्याभासमेव—शब्दस्य अभिजल्पात्मनो बोधजीवितप्रख्यस्य प्रत्याभासमेव विश्रान्तेः, सन् घटो लोहितः इत्याद्यर्थक्रियाकारित्वमपि अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्याभासमेव नियतं—सदाभासेन हृद्भङ्गपरिहारमात्रस्य सम्पादनात्, तत्र आभासान्तरस्य या अपेक्षा सा अग्न्याभासेन—अर्थक्रियायां साध्यायां पात्राभासस्य इव तदाभासनान्तरीयकत्वेन आभासान्तरस्याप्यनियतस्य अपेक्षणात्; एवं येन येन मुखेन अर्थो विचार्यते तेन तेन आभासमात्रात्मैव—तथैव प्रतिभासनात् विमर्शनात् अर्थक्रियाकरणाच्च, इति सिद्धम्, एवं प्रसिद्धतरप्रसिद्धाप्रसिद्धत्वातिशयेन एकोऽपि अर्थो ग्रन्थकारेण त्रैधं निरूपितो 'दीर्घवृत्तेति धूमेति सद्घटेति' ॥ ५ ॥

ननु एवं प्रत्याभासमेव वस्तुत्वे एको घटात्मा न वस्तु स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—

आभासभेदाद्वस्तूनां　नियतार्थक्रिया　पुनः ।
सामानाधिकरण्येन　प्रतिभासादभेदिनाम् ॥ ६ ॥

आभासानां मिश्रं यद्रूपं तत्र अवश्यं कश्चिदाभासः प्रधानत्वेन अन्याभासानां विश्रान्तिपदीकर्तव्यः स तेषां समानमधिकरणं, तेन सह यस्तेषां सम्बन्धः तत् सामानाधिकरण्यं, तेन उपलक्षितो यः प्रतिभासः—अर्थोन्मुखः प्रकाशः तदनुप्राणकश्च कश्चन पदात्मा परामर्शः—तस्य सर्वस्य एकाभासविश्रान्ततानियमात्, तस्मात् तं सामानाधिकरण्याभासं समनुप्राणयति वाक्यात्मा

चाहिए, इस प्रकार ये सभी आभासों के भेद ही वस्तुओं के आभासों में हुआ करते हैं, इसीको आभास का प्राणभूत विमर्श कहा जाता है। इन सभी की प्रत्याभास में ही विश्रान्ति समझना चाहिए, अन्वय व्यतिरेक से घट है, परन्तु वह घट रक्त है, इत्यादि अर्थक्रियाकारिता के कारण प्रत्याभास ही नियत माना जाता है, आभास तो हृद् भंग का परिहार मात्र सम्पादन करता है, दूसरे आभास की अपेक्षा अग्नि के आभास से अर्थक्रिया सिद्ध करने में दूसरे की आवश्कता केवल पड़ती है। उसी प्रकार जहाँ पर जिन-जिन वस्तुओं में दूसरी-दूसरी वस्तुओं की अपेक्षा हो उन-उन पदार्थों का परामर्श कर लेना चाहिए। इसी कारण ग्रन्थकार ने प्रसिद्धतर और प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्धत्व अतिशय अर्थात् विशेष के योग से एक ही अर्थ को तीन प्रकार से दिखाया है 'दीर्घवृतेति घूमेति सद्घटेति' ॥ ५ ॥

अब शङ्का करते हैं कि यदि एक प्रत्याभास ही वस्तु है तो एक घटरूप जो वस्तु है, वह पदार्थ नहीं हो सकता ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं—

आभासों के भेद से ही वस्तुओं में भेद होता है; अर्थक्रिया तो सामानाधिकरण्य के कारण प्रतिभास द्वारा अभेद रखनेवाली वस्तुओं से होती है ॥ ६ ॥

जो आभासों का मिला हुआ रूप है उसमें निश्चित् कोई न कोई आभास प्रधान रहता है। यही आभासों का समान अधिकरण है, उसके साथ जो उनका सम्बन्ध है वही सामानाधिकरण्य कहलाता है। इससे युक्त जो आभास है वह आभास क्या है ? अर्थ को ओर उन्मुख प्रकाश उसी से अनुप्राणित होकर तद्रूप परामर्श रहता है; क्योंकि वे सभी एक ही आभास में जाकर विश्रान्ति लेते हैं, इसीलिए उस सामानाधिकरण्य आभास को वाक्यरूप वाक्यार्थ का परामर्श

वाक्यार्थपरामर्शरूपो विमर्शः—इह इदानीं एष घटोऽस्ति इत्येवंरूपः, ततो हेतोः ये अभेदिन एकस्वलक्षणताम् आप्ता न तु स्वरूपभेदम् उज्झन्तः तेषाम् अन्याविशिष्टा समुदितरूपा अर्थक्रिया, आभासविमर्शभेदे पुनरन्या नियता एकैकमात्ररूपा, आभासप्रतिभासशब्दाभ्यां सूत्रे विमर्शोऽपि आक्षिप्तो मन्तव्यः, पुनःशब्दो विशेषद्योतकः काकाक्षिवत् उभयत्र योज्यः, बहुवचनेन ऐक्येऽपि स्वरूपभेदापरित्याग उक्तः, तत्र च ऐक्यावभासे परतन्त्रं सत् पृथक्त्वं यदा आभासानां तदा समानरूपव्यक्त्युपरञ्जकत्वेन पारमार्थिकं सामान्यरूपत्वम्, घटाभासस्य तु शुद्धस्य स्वतन्त्रपरामर्शे योग्यतामात्रेण सामान्यरूपता न वस्तुतो—द्रव्यादन्यो हि सर्वः पदार्थः परतन्त्रतासारः, एवम् एकोऽपि घटात्मा इत्यपि सत्यमेव—आभ सविमर्शार्थक्रियाबलेन तथा अवस्थापनात् इति ॥ ६ ॥

ननु एकेनैव अर्थक्रिया न तत्र, अपि तु आभाससमुदायात् अर्थक्रियासमुदायः, आभासाश्च भिन्ना अपि यदि एकाम् अर्थक्रियां कर्तुं मिश्रीभवन्ति, तदा कस्तेषाम् इयत्तावधिः ? इति चोद्यम् अपवदति—

पृथग्दीपप्रकाशानां स्रोतसां सागरे यथा ।
अविरुद्धावभासानामेककार्या तथैक्यधीः ॥ ७ ॥

पृथक् वर्तिन्यो याः प्रदीपस्य प्रभाः सूक्ष्मतमा अवलोकनसामर्थ्याधानलक्षणां याम् अर्थक्रियां न कृतवत्यः तामेव एकभवनाभ्यन्तरं संमूर्छितात्मानो विदधते, न तत्र अर्थक्रियाणां

अनुप्राणित विमर्शरूप से करता है जैसे इस समय यह घट विद्यमान है; ऐसा कहा जाता है।

इसी हेतु से जितने भी अभेदात्मक आभास एकता को प्राप्त होकर अपने स्वरूप के भेद को न छोड़ते हुए दूसरे से मिलते हुए समुदायरूप में अर्थक्रिया कराते हैं, आभास का विमर्श से भेद होने पर तो दूसरे नियत एकरूप आभास प्रतिभास शब्दों से विमर्श का आक्षेप मात्र है—ऐसा सूत्र में मानना होगा। यहाँ पर 'पुनः' शब्द का दोनों वाक्यों में काकाक्षिगोलक' न्याय से अन्वय होता है। बहुवचन के द्वारा एकता होने पर भी स्वरूप भेद को नहीं छोड़ना होगा, इस प्रकार वहाँ पर एकता के आभास में परतन्त्र होकर जब आभासों की पृथग्रूपता रहेगी तब तो समानरूप-वाले व्यक्ति में उपरञ्जकत्व होने से सामान्यरूपता पारमार्थिक ही रहती है। इस प्रकार एक भी घटरूप परामर्श सत्य ही है, आभास और विमर्श के द्वारा अर्थक्रिया करने के बल से वैसा ही वह स्थापित होता है।

अब शङ्का करते हैं कि एक आभास के द्वारा ही अर्थक्रिया नहीं होती है, किन्तु आभास समुदाय से अर्थक्रिया समुदाय होता है और आभास भी भिन्न-भिन्नरूपों में रहते हुए एक अर्थक्रिया करने के लिए मिल जाते हैं, तब फिर उनकी इयत्ता (संख्या) की अवधि क्या होगी ? इस शङ्का का अपवाद (खण्डन) करते हैं—

अलग-अलग स्वयं प्रकाशित प्रदीप जैसे सरिताएँ सागर में जाकर एक हो जाती हैं। उसी प्रकार अविरुद्ध (समान) अनेक आभास एक कार्य के लिए एकता को प्राप्त हो जाते हैं॥ ७॥

भिन्न-भिन्न प्रदीप की प्रभा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर देखने में असमर्थ होकर जिस अर्थक्रिया को नहीं कर सकती वही यदि सब एक में मिल करके विस्तृत प्रकाश कर देती है, तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम पदार्थ को दिखा सकते हैं, वहाँ पर अर्थक्रिया का समुदाय तो नहीं होता, उसी प्रकार

समुदायोऽस्ति, सागरपतितानि च स्रोतांसि बहुतरङ्गारम्भार्थक्रियाकारीणि, तद्वत् घटः काञ्चनो लोहितः ततोऽयम् शिवलिङ्गशिरः समावर्जनोज्जितसलिलाहरणार्थक्रियोचितो दृष्टमात्र एव तीव्रप्रीतिलक्षणार्थक्रियाकारी, इति—सिद्धमेवार्थक्रियाकारित्वम्, यत् पुनराभासानां मिश्रणे का सीमा इति ? तत्र उच्यते—येषाम् अविरोधः त एव आभासा मिश्रीभवन्ति, नहि रूपाभासो मारुताभासेन मिश्रीभवति—विरोधात्, सोऽपि च नियतिशक्त्युत्थापितः—पृथक् ये दीपप्रकाशाः तेषां सम्बन्धि यदेकं सागरे स्रोतसां च यदेकं वस्तु तेन कार्या यथा ऐक्यधीः तथा अविरुद्धा ये अवभासा घटलोहितकाञ्चनादयः तेषां सम्बन्धि यदेकं स्वलक्षणं तत्कार्या ऐक्यधीरिति सम्बन्धः, ऐक्यधिया—प्रतिभासो विमर्शोऽर्थक्रिया च इति स्वीकृतम् ॥ ७ ॥

ननु एवं प्रत्याभासं प्रमाणस्य विश्रान्तत्वात् अग्न्याभासे अग्निज्ञानं प्रमाणं धूमज्ञानं च धूमाभासमात्रे कार्यकारणभावावभासोऽपि तावन्मात्रे, ततश्च धूमाभासोऽपि अग्न्याभासं व्यभिचरेत् इत्यादिबहुतरोपप्लवप्रसङ्गः ? इति शङ्कां व्यपोहितुम् आह—

तत्राविशिष्टे वह्न्यादौ कार्यकारणतोष्णता ।
तत्तच्छब्दार्थताद्यात्मा प्रमाणादेकतो मतः ॥ ८ ॥

तत्रेति—प्रत्याभासं प्रमाणं विश्राम्यति, इत्यस्मिन्नपि पक्षे न कश्चित् दोषः, तथाहि—

सागर में गिरी हुए सभी नदियाँ मिल कर एक तरङ्ग तथा बहुत प्रकार के भी अर्थक्रियाकारिरूप तरङ्ग किया करती हैं। इसी प्रकार शिवलिङ्गाकार घट स्वर्ण का हो या चाहे तांबे का हो जलाहरण रूप कार्य तो करतो ही है, इसीलिए अनेक आभासों का अर्थक्रिया करना सिद्ध ही है। आभासों के मिश्रण में क्या अवधि होनी चाहिए ? इसका यह उत्तर है कि जिन आभासों में विरोध नहीं हैं वे ही आभास आपस में मिलते हैं। जैसे रूपाभास, मारुताभास से नहीं मिलता; क्योंकि इन दोनों में परस्पर विरोध है। वायु में रूप का अभाव मिलता है और वह भी विरोध नियति-शक्ति से उठाया गया है। भिन्न-भिन्न रूपों में होनेवाले दीप प्रकाशों के सम्बन्धी, जो कि एक सागर में या गृह में वस्तु को प्रकाशित करता है उनसे अविरुद्ध होकर ही प्रकाश करता है, इसी प्रकार यहाँ घट में लोहित एवं काञ्चन इत्यादि जो कुछ आभास हैं वे भी एक कार्य को सम्पादन करने के लिए आपस में एकताबुद्धि उत्पन्न कर देते हैं, इसीलिए एकता की बुद्धि से प्रतिभास, विमर्श और अर्थक्रिया इन तीनों विषयों को स्वीकृत किया गया है ॥ ७ ॥

प्रत्येक आभास में प्रमाण की विश्रान्ति को माना जाय, तो अग्नि के आभास में अग्नि का ज्ञान प्रमाण होगा और धूम के आभास में धूम का ज्ञान प्रमाण होगा, इसी प्रकार कार्यकारणभाव के आभास में कार्य-कारण का ज्ञान प्रमाण होगा, इस प्रकार भिन्न-भिन्न होने के कारण धूमाभास, अग्नि-आभास का व्यभिचारी हो जायेगा। ऐसे तो बहुत से व्यभिचार उपस्थित होंगे ? इस शङ्का के समाधान करने के लिए अब कहते हैं कि—

सामान्यतः वह्नि आदि में कार्य-कारणभाव और ऊष्णता उन-उन शब्दों की अर्थता अर्थात् अभिधेयता एवं गन्ध-रस शून्यता आदि से युक्त स्वभावता वह्नि में एक ही प्रमाण से माननी पड़ेगी ॥ ८ ॥

प्रत्याभासों में प्रमाण सीमित होता है, इस पक्ष में भी कोई दोष नहीं है—देखो, वह्नि

अविशिष्टो यद्यपि वह्न्याभासो देशकालाभासप्रमुखैः आभासैः असंकीर्णत्वेन सामान्यमात्ररूपत्वात् तथापि स एव आभासो यावद्भिराभासैरविनाभूतो भगवत्या नियतिशक्त्या नियमितः तावतोऽव-भासान् स्वीकृत्यैव प्रमाणकृतां निश्चयपदवीम् अवतरति, तथा च—वह्न्याभास इन्धनकार्यत्वा-भासेन धूमकारणताभासेन उष्णस्वभावताभासेन च स्वाभाविकाव्यभिचरितसाहचर्यः प्रतीयमानो विश्वत्रैव सर्वदैव च तथा प्रतीतो भवति—एकत्वात् तस्य, अस्वाभाविकोऽपि यः स्वभावः पुरुषकृतसमयादिमुखप्रेक्षी, तद्यथा—अग्निशब्दवाच्यत्वं घटप्रतिपत्तिकारित्वमित्येवमादिः, सोऽपि एकप्रत्यक्षादेव निश्चीयते, तस्य हि प्रमातुः कृत्रिमेण इतरेण वा रूपेण—आभासान्तरनान्तरीय-कतया असौ वह्न्याभासः संविदितः सर्वदेशकालगतः तथैव संविदितः, इदि तत्र किं प्रमाणान्तरेण—तस्य तस्य यथेच्छं पुरुषसमयेन नियुज्यमानस्य शब्दस्य अर्थोऽयं ज्वलद्भास्वराकार आभास इत्यनेन नियतिशक्तिरेव सर्वत्र शरणम् इति पिशुनयति, एतदुक्तं भवति—यत्किंचित् कृत्रिमम् इतरद्वा भावाभासस्य आभासान्तरेण नान्तरीयकत्वं प्रतिभाति तत्र नियतिशक्तिमात्रमेव परं विजृम्भते, तत्तु नियतिशक्तिरूपं पूर्वापरविततकालम्—इन्धनकार्यत्वे धूमकारणत्वे उष्णस्व-भावत्वे च आभासमाने, अनतिचिरकालं तु वह्न्यादिशब्दवाच्यत्वाभासादाविति विशेषः, ततश्च नियतिशक्त्युपजीवनेन धूमाभासोऽपि अग्न्याभासाव्यभिचारी इति न कश्चित् विप्लवः, कार्यता कारणता उष्णता च तस्य तस्य शब्दस्यार्थता तत्तच्छब्दाभिधेयता, आदिग्रहणात्—गन्धरस-

सामान्यरूप है; क्योंकि देश-कालादि के आभासों से असङ्कीर्ण है वह सामान्यरूप से ही रहती है, फिर भी वह आभास जितने आभासों से संमिलित रहता है यह भगवती नियति-शक्ति से आबद्ध रहता है और उन नियमित आभासों को प्रमाण करनेवाले के लिए निश्चयपदवी को प्राप्त करता है। वह्नि का जो आभास इन्धन है उसका कार्य होने के कारण, उसके आभास के साथ धूम के कारणताभास से और ऊष्ण स्वभाव के आभास से स्वाभाविक अव्यभिचरित इन सबों का आभास रहता है इस प्रकार सर्वत्र प्रतोयमान होकर प्रतीत होता है। अस्वाभाविक भो पुरुष कल्पित समयादिक की अपेक्षा करनेवाला ही होता है। जैसाकि अग्नि शब्द का वाच्य घट सम्बन्धी ज्ञान कराने में कारण नहीं होता, वह भी प्रत्यक्ष से ही निश्चित किया जाता है, उसका प्रमाता चाहे कृत्रिम हो या अकृत्रिम हो; दूसरे आभास से अवश्य संमिलित होने के कारण वह वह्नि का आभास सब देश-काल में व्याप्त होकर वैसा ही ज्ञात होगा। अतः वहाँ फिर दूसरे कोई प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती, उन-उन आभासों को पुरुष नियम के अनुसार इच्छानुकूल नियोग करना इस शब्द का यही अर्थ है कि चमकता हुआ आभास अर्थात् भास्वर आकार है, इससे सर्वत्र नियति-शक्ति का ही शरण सूचित होता है।

इसका तात्पर्यार्थ यह है कि जो कुछ कृत्रिम या अकृत्रिम भावाभास के साथ दूसरे आभास संयुक्त होकर प्रतिभासित होता है और इसमें नियति-शक्ति का ही सामर्थ्य रहता है, वह नियति-शक्ति पूर्वापर नियमकाल की अपेक्षा करके इन्धन कार्य, धूम कारण और ऊष्णस्वभाव में आभासित होने पर शीघ्र ही वह्नि शब्द के वाच्य आभास में विशेषरूप से भासित होती है, इसीलिए नियति-शक्ति के जीवन से धूमाभास भी अग्नि के आभास से व्यभिचरित नहीं होता, इसमें भेद नहीं है, कार्यता, कारणता और ऊष्णता उन-उन शब्दों का अर्थ और उन-उन का अभिधान (कथन) आदि ग्रहण करने से गन्ध-रस से शून्यता और उर्ध्वादि दिशाओं से संयोग

शून्यता ऊर्ध्वदिक्संयोगिता जलविरोधिता च, इत्येवं-भूतो य आत्मा स्वभावो वह्न्यादौ स एकस्मादेव प्रमाणात् मतः—संविदित इति यावत्, 'अर्धेच्छेदः' इति, काव्ये अयं समयो, न ग्रन्थे, इति—द्वितीयतृतीयपादयोः सामस्त्येऽपि अदोषः, पृथग्भावप्रत्ययप्रयोगो—वस्त्वन्तरापेक्षानपेक्षातः कृतकत्वाकृतकत्वाभ्यां वर्गभेदं सूचयितुम् ॥ ८ ॥

एवं भावस्वभावव्यपस्थापनं प्रत्याभासविश्रान्तेन एकेनैव प्रमाणेन क्रियते, तेषामपि आभासानां यथोचितं यत् अन्योन्यनान्तरीयकत्वं तत् एकेन संवेदनरूपेण तदनेकप्रमिताभास-विषयपूर्वप्रवृत्तसंवेदनकलापानुप्राणकान्तर्मुखस्वरूपेण निश्चियते, तच्च ऐक्याभासमात्रे अनुसंधानरूपं प्रमाणं, अनुसन्धीयमानेषु तु आभासेषु गृहीतग्राहित्वात् अप्रमाणं, तत्र तु प्रत्येकं प्राच्यमेव प्रमाणं, भावस्वभावव्यवस्थापनात्मकमानसप्रवृत्त्यतिरिक्तकायप्रवृत्त्युपयोगस्तु यथा प्रमाणाविषयः तं प्रकारं दर्शयितुम् आह—

सा तु देशादिकाध्यक्षान्तरभिन्ने स्वलक्षणे ।
तात्कालिकी प्रवृत्तिः स्यादर्थिनः……………

वाह्या तावत् अर्थक्रिया स्पलक्षणतः, स्वालक्षण्ये च देशकालाभासयोजनस्यैव अन्तरङ्गत्वम् तत्रापि च विशेषरूपतापि परामर्शं विना न किंचित्, परामर्शद्वारेण तु प्रमातरि विश्राम्यन्ती, प्रमातुः संवेदनैकरूपस्य देशकालायोगेन ऐक्यात् अभ्युज्झत्येव विशेषरूपताम्, इति—सर्वत्र

और जल से विरोध इत्यादि जितने भी वह्नि के विरोधी भाव हैं वे सभी एक ही प्रमाण से विदित हो जाते हैं, 'अर्धेच्छेदः' आधे पाद में भेद है; यह काव्य का नियम है, ग्रन्थ में नहीं होता है, द्वितीय-तृतीय पाद में समास होने पर भी कोई दोष नहीं होता, भाव में जो प्रत्यय लगाया गया है वह पृथग्रूप से तो दूसरी वस्तु की अपेक्षा और अनपेक्षा की विवक्षा को लेकर कृतकत्व एवं अकृतकत्व के भेद दिखाने के लिए ही है ॥ ८ ॥

इस प्रकार भाव-स्वभाव की व्यवस्था करना प्रत्याभास में विश्रान्त होनेवाले एक ही प्रमाण से होता है, उन आभासों का भी आभासों में यथोचित एकता के द्वारा पूर्व से आनेवाले ज्ञानसमूह से अनुप्राणित होकर अन्तर्मुख स्वरूप से निश्चय करना चाहिए और वह संवेदन एकता के आभास में केवल अनुसन्धानरूप प्रमाण ही होता है, उनसे अनुसन्धान किये गये आभासों में गृहीतग्राही होने के कारण अप्रमाणता आ जाती है; क्योंकि वहाँ पर पूर्व के ही प्रत्येक प्रमाण को माना जाता है। भाव स्वभाव की व्यवस्था करनेवाली मानसिक प्रवृत्ति भी अतिरिक्त शरीर प्रवृत्ति से भिन्न होती है, उसके प्रमाण विषयक प्रकार दिखाने के लिए अब कहते हैं—

वह अर्थक्रिया देश-कालादि के ज्ञान से भिन्न रह कर अपने लक्षण में रहती है, उसकी उस काल में प्रवृत्ति का होना अर्थ के इच्छुक के अनुमान से है ॥ ९ ॥

बाहरी अर्थक्रिया तो अपने लक्षण से होती है और वह अपने लक्षण में देश-कालादि के आभास की योजना से अन्तरङ्गरूप में रहती है। उसमें भी विशेषरूपता के परामर्श से भिन्न दूसरा कुछ नहीं है; परामर्श के द्वारा तो प्रमाता में विश्राम लेनेवाली अर्थक्रिया प्रमाता के ज्ञान से देश-काल से युक्त होकर विशेषरूपता को छोड़ती हुई ऐक्यभाव को प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार

अद्वयं परमार्थतः, तथापि तु या विशेषरूपता भाति तस्याः परमेश्वरस्वातन्त्र्यमेव निमित्तं यत्, 'मायाशक्तिः' इत्युच्यते, तत्र विशेषसाध्यार्थक्रियाविशेषेण योऽर्थी तस्य या स्वलक्षणे तस्मिन् विशेषरूपे अर्थे तत्कालभाविनी वाङ्मनःकायप्रवृत्तिः सा देशे, आदिग्रहणात् काले स्वरूपान्तरे, स्वरूपानुसन्धानादौ च यानि अध्यक्षान्तराणि बहूनि प्रत्यक्षाणि तेषां भिन्ने भेदे निमित्ते सति भवति, न अन्यथा, न ऐकैकतः प्रमाणात् सा प्रवृत्तिः अपि तु प्रमाणसमूहादेव, समूहता च परस्य न उपपन्ना; अस्माकं तु एकस्वसंवेदनविश्रान्तिमयी स युज्यते,—इति उक्तं प्राक् 'न चेदन्तःकृता······'। (२।३।७) इत्यत्र । इयमेव च सा प्रमाणानां योजनां योजिका च युक्तिरित्युच्यते गन्धद्रव्यादियुक्तिवत्, एवं प्रत्यक्षसमूहादेव प्रवृत्तिरिति तात्पर्यम् । देशादिकेष्वपि अध्यक्षेषु सत्सु देशाभासयोजनायामपि अन्तः प्रमातरि अभिन्नं यत् स्वलक्षणं तत्र,—इति वा संगतिः । देशादिकैरध्यक्षान्तरैः प्रत्यक्षीभूतैराभासान्तरैर्भिन्ने स्वलक्षणे निमित्ते सति प्रवृत्तिः,—इति वा योजना । अत्रापि प्रमेयबहुत्वनिरूपणदिशा तदनुयायित्वेन अभिधीयमानः प्रमाणसमूहो निमित्तत्वेन उक्तो भवति ।

ननु किं प्रात्यक्ष्यामेव प्रवृत्तौ प्रमाणसमूह उपयोगी ? न, इत्याह—

······················अप्यनुमानतः ।। ९ ।।

न केवलं प्रत्यक्षतः प्रवृत्तिः देशादिकाध्यक्षान्तरभेदरूपप्रमाणसमूहनिमित्ता, यावत्

सर्वत्र परमार्थरूप से अद्वैत का ही बोध होता है, फिर भी वहाँ पर जो विशेषता भासती है उसका परमेश्वर के स्वातन्त्र्य में निमित्त है, जिसको 'माया-शक्ति' के नाम से पुकारा जाता है । उस माया-शक्ति के द्वारा निर्मित विशेषरूप में विशेष साध्य अर्थक्रिया विशेषण से ही जो अर्थी होता है उसके विशेपरूप अर्थ में तत्काल होनेवाली मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति देश में तथा काल में व दूसरे स्वरूप में और स्वरूप के अनुसन्धान में, जितने-जितने प्रत्यक्ष होंगे, उन सभी प्रत्यक्षों के भिन्न-भिन्न निमित्त होने पर भी भेद होंगे, अन्यथा नहीं होंगे । एक-एक प्रमाण से प्रवृत्ति नहीं होती है किन्तु प्रमाण समूह से ही होती है, वह प्रमाण समूह दूसरे को नहीं ज्ञात होता, वह तो एक ज्ञान में ही विश्रान्त होता है—यह पहले ही कह चुके हैं ।

'न चेदन्तःकृता·····।' (२.३.७) इस स्थल में और यही प्रमाणों की योजना है, इसकी योजना करनेवाली युक्ति कही जाती है गन्ध द्रव्यादि की भाँति, इस प्रकार अनेक प्रत्यक्ष प्रमाणों से ही प्रवृत्ति होती है—यही तात्पर्य है । देश-कालादि से प्रत्यक्ष होनेपर भी देशाभास की योजना में प्रमाता का अभिन्न अपना लक्षण ही प्रमाण होता है, ऐसी भी सङ्गति लगाई जा सकती है या देश-कालादि के भिन्न-भिन्न ज्ञान होनेपर प्रत्यक्ष किये गये भिन्न-भिन्न आभासों के द्वारा अन्य स्वलक्षण रहने पर प्रवृत्ति होती है—ऐसी भी योजना हो सकती है । यहाँ पर भी प्रमेयों के बहुत से निरूपण के द्वारा उनके अनुयायिरूप से अभिधीयमान प्रमाण समूह निमित्त होते हैं—यह कहना होगा ।

इस पर शङ्का खड़ी करते हैं कि क्या प्रत्यक्ष में ही प्रमाणों के समूह का उपयोग होता है ? नहीं, यह बात नहीं है—

किन्तु अनुमान से भी प्रत्यक्ष में प्रमाणों के समूह का उपयोग होता है ।। ९ ।।

केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से ही प्रवृत्ति नहीं होती है; जिसमें देश-कालादि दूसरे प्रत्यक्ष आदि

अनुमानतोऽपि तथैव, धूमाभासमात्रे अग्न्याभासमात्रे धूमस्याग्न्याभासाव्यभिचारित्वे पर्वताभासे च यानि प्रत्यक्षान्तराणि यच्च तद्गृहीतातिरिक्ते अयोगव्यवच्छेदे 'अग्निरत्र' इत्येवं-भूते पृथक् अनुमानं प्रमाणम् तत्समूहादेव अर्थिनः तात्कालिकी प्रवृत्तिः,—इति सम्बन्धः ॥ ९ ॥

एवं विमर्शबलादेव भेदाभेदव्यवस्था, तदेव हि परमेश्वरस्य संवेदनात्मनः शिवनाथस्य स्वातन्त्र्यशक्तिविजृम्भितं; ततश्च परैः यत् उच्यते 'दूरान्तिकादौ अर्थस्य अभेदः' इति तदपि उपपद्यते, न तु अन्यथा कथंचित्,—इति निरूप्यते—

दूरान्तिकतयार्थानां परोक्षाध्यक्षतात्मना ।
बाह्यान्तरतया दोषैर्व्यञ्जकस्यान्यथापि वा ॥ १० ॥
भिन्नावभासच्छायानामपि मुख्यावभासतः ।
एकप्रत्यवमर्शाख्यादेकत्वमनिवारितम् ॥ ११ ॥

प्रतिभासमात्रेण व्यवस्थां कुर्वतः कथं दूरादूरयोर्वस्तुनोरभेदः, ? प्रतिभासस्य सकलासकलावृतानावृतादितया यथाकथंचिदपि भेदात् । ननु विमर्शोऽपि प्रत्याभासं तथैव भिन्नता, ? सत्यं; तथापि तु परो यो विमर्शः स एवायं पदार्थ,—इति एकप्रत्यवमर्शरूपः; तेन प्राणितकल्पेन

भेद प्रमाण समूह निमित्त होते हैं, वहाँ पर अनुमान से भी प्रवृत्ति होती है। उसमें भी प्रमाण समूह का उपयोग होता है। जैसे धूमाभास मात्र में, अग्नि के आभास मात्र में, धूम अग्नि के आभास से अव्यभिचरित होने में इस प्रकार पर्वताभास में भी जितने भी भिन्न-भिन्नरूप से प्रत्यक्ष होते हैं, अयोगव्यवच्छेद में जैसे 'अग्निरत्र' अर्थात् यहाँ पर अग्नि है जिसमें पृथक् अनुमान प्रमाण होता है, उसमें प्रमाण समूह से अर्थी की तात्कालिक प्रवृत्ति होती है—ऐसा सम्बन्ध लगाना होगा ॥ ९ ॥

एवं विमर्श के बल से ही भेद और अभेद की व्यवस्था होती है, उसको ज्ञानस्वरूप शिवनाथ परमेश्वर की स्वातन्त्र्य-शक्ति का विकास कहा जाता है; इस विषय में दूसरे लोगों का कहना कि—'दूरान्तिकादौ अर्थस्य अभेदः' अर्थात् दूर एवं समीप में अर्थ का अभेद होता है—ऐसा ही ठीक बैठता है; नहीं तो, किसी प्रकार भी व्यवस्था की संभावना नहीं बन सकेगी—इस बात का निरूपण किया जा रहा है—

अर्थों के दूर और समीप होने के कारण प्रत्यक्ष प्रमाणरूप से या बाहर एवं आन्तर के दोषों से व्यक्त न होने के कारण भिन्नरूप से अवभासित होने की छाया को मुख्य अवभास से ही सिद्धि मान लेनी चाहिए। एक प्रत्यवमर्शन से एक की ही सिद्धि होती है ॥ ११ ॥

जब प्रतिभासमात्र से व्यवस्था करेंगे तो दूर और समीप में होनेवाले भाव-पदार्थों का अभेद कैसे हो पायेगा ? प्रतिभास तो समूहरूप से या अल्परूप से होने न होने के कारण यथा कथञ्चित् भी भेद तो हो सकता है। अब शङ्का करते हैं कि विमर्श में भी प्रत्याभास की भिन्नता ऐसी ही रहेगी ?

यह ठीक है; फिर भी वह दूसरा विमर्श ही यह पदार्थ सिद्ध करेगा, जो कि एक प्रत्यवमर्शरूप है, उसी जीवित कल्प के द्वारा सर्वत्र फैला देना ही मुख्य आभास का या एक रूप भाव के आभास का एक प्रत्यवमर्श कहा जाता है। वह उसके योग्य न होता हुआ भी भिन्नाभास छाया-

आसमन्तात् ख्यानं प्रथनं यस्य मुख्यावभासस्य एकरूपभावाभासस्य, एकप्रत्यवमर्शेऽसङ्कुचितोऽपि हि अस्त्येवैकावभासः, आभासविमर्शयोरन्योन्यमवियोगात्; तस्मात् मुख्यावभासादेकत्वमप्रतिहत-मास्ते। यदेवानुमितं तदेव दृष्टम्,—इत्यत्र प्रत्यक्षपरोक्षतारूपेणात्मना स्वभावेन भिन्ना अवभासच्छाया अमुख्योऽवभासो येषां तेषाम् एकत्वं मुख्यावभासत एकप्रत्यवमर्शानुप्राणितात्,—इति संगतिः। बाह्यान्तरतया भिन्नावभासानामैक्यं यथा—यदेव दृष्टं तदेवान्तरहमुल्लिखामि,—इति। व्यञ्जकानां दीपालोकादीनां दोषैर्भिन्नावभासानाम् ऐक्यं, यदेव रक्तोत्पलं दीपेन नीलं दृष्टं तदेव सूर्यांशुभिर्लोहितं पश्यामि,—इति। अन्येन वापि प्रकारेण इन्द्रियापाटवादिना एकपार्श्वसंमुखत्वादिना वा येषामवभासच्छाया भिन्ना, तेषामपि मुख्यप्रत्यवमर्शानुवर्त्यवभासस्वरूपबलात् ऐक्यमेव,—इति स्थितम् ॥ १०–११ ॥

ननु दूरादूरादावस्तु स एवार्थः प्रमात्रध्यवसितार्थक्रियांशे तथैवोपयोगात्, बाह्यान्तरत्वादौ कथम् आन्तरस्यार्थक्रियायां प्रमात्रध्यवसितायामनुपयोगात् ?—इति भ्रान्तिं भङ्क्तुमाह—

अर्थक्रियापि सहजा नार्थानामीश्वरेच्छया।
नियता सा हि तेनास्या नाक्रियातोऽन्यता भवेत् ॥ १२ ॥

इह 'कार्यकारणतोष्णता' (२।३।८) इत्यत्र स्वरूपमिवार्थक्रियापि या मध्ये गणिता, सा सहजार्थस्वरूपभूता न भवति; तत्कारित्वं हि यस्मात् ईश्वरेच्छया नियतं भवने चाभवने च। यतो नैषा स्वरूपं, तेन तस्या अकरणात् हेतोर्भावस्यान्यत्वं नाशङ्कनीयं, स्वरूवभेदात् हि संभाव्येता-

रूप रहता है; क्योंकि आभास और विमर्श का परस्पर वियोग नहीं रहता है। इस बात को लोक व्यवहार में भी देखा जाता है कि जो अनुमान से किया गया था, उससे ही देखा गया है। यहाँ पर प्रत्यक्ष और परोक्षरूप स्वभाव से भिन्न होते हुए भी अवभास की छाया (अमुख्यावभास) जिनका होगा वैसा वही मुख्यावभास का एकत्वरूप प्रत्यवमर्श कहा जाता है या अनुप्राणित होता है—ऐसी सङ्गति बैठती है। जो मैंने देखा था उसीका अन्तःकरण में उल्लेख करता हूँ; यही भिन्न अवभासों की एकता है, पदार्थों को दिखानेवाले प्रदीप का आलोक आदि के दोष से भिन्न-भिन्न अवभासों की भी एकता होती है जैसे—दीप से रक्तकमल को नीलकमल देखते हैं, उसीको सूर्य रश्मियों से रक्त मैं देखता हूँ, इत्यादि। दूसरे प्रकार से भी इन्द्रियों में भेद होने से या एक भाग सन्मुख होने से जिनके आभास की छाया भिन्न दिखायी देती है, उनकी भी मुख्य प्रत्यवमर्श के पीछे चलनेवाले अवभास बल से एकता हो जाती है, यही स्थिर होता है ॥१०-११॥

अब शङ्का करते हैं कि दूर और समीप में प्रमाता के अभीष्ट क्रियांश उपयोगी होने के कारण वही अर्थ रहे, किन्तु भीतर और बाहर में तो उपयोग न होने के कारण कैसे भ्रान्ति ही रहेगी ? इस भ्रान्ति को दूर करने के लिए कहते हैं कि अर्थों की क्रिया स्वाभाविक नहीं होती, किन्तु ईश्वर की इच्छा से ही अर्थों की क्रिया नियत होती है। इसीलिए प्रमाता की क्रिया से अर्थक्रिया अन्यथा नहीं हो सकती ॥ १२॥

कार्यकारणोष्णता (२-३-८) इस कारिका में जब कि स्वरूप के समान अर्थक्रिया को भी बीच में गिना है, वह स्वभाव से नहीं हो सकती; उसके होने और न होने में ईश्वर की इच्छा ही कारण होती है; क्योंकि ऐसा उसका स्वरूप नहीं है, इसीलिए प्रमाता उसको नहीं कर

न्यत्वं, न च स्वरूपम् अर्थक्रियाकारित्वम्,—इत्युक्तं वक्ष्यते च बहुशः। स्वरूपं च प्रत्यवमर्शबलादेकमेव बाह्यान्तरादावपि,—इति ॥ १२ ॥

ननु विमर्शबलादेव यदि वस्तूनां भेदाभेदव्यवस्था तर्हि इदानीं त्रिजगति निवृत्ता भ्रान्तिसंकथाः, शुक्तिकायामपि सत्यरजततैव आपतति 'इदं रजतम्' इति विमृश्यमानत्वात्; ततश्च भ्रान्त्यभावे बाधानुपपत्तेः किमर्थमुक्तं 'मितिर्वस्तुन्यबाधिता' (२।३।२) इति। व्यभिचाराभावे हि 'अबाधिता' इत्यस्य विशेषणस्य व्यवच्छेद्यं न लभ्यते,—इत्याशङ्कां निरस्यति—

रजतैकविमर्शेऽपि शुक्तौ न रजतस्थितिः।
उपाधिदेशासंवादाद्द्विचन्द्रेऽपि नभोऽन्यथा ॥ १३ ॥

'इदं रजतं स्थिरं सर्वप्रमातृसाधारणम् अर्थक्रियायोग्यम्' इति इदमंशे रजताद्यंशेषु तत्संमेलनांशे च आभासविमर्शनबलात् न तावत् किंचित् मिथ्यात्वं, किंतु उत्तरकालं यो भविष्यति विमर्शो 'नेदं रजतं वस्तु स्थिरं प्रमात्रन्तरगम्यमभिमतकार्यकारि' इति, तद्विमर्शविमर्शनीयं यत् तत्पूर्वविमर्शकालसमुचितमेव रूपं तत् तस्मिन् पूर्वविमर्शकाले नैवामृश्यते, भाव्यं च तेनामर्शनीयेन। तत्रैव काले 'नेदं रजतं हि अभूत' इति हि उत्तरः परामर्शो, न तु उदितप्रत्यस्तमितायां शतह्लदायामिव इदानीमेव 'इदं न' इति विमर्शः; ततो यावता पूर्णेन रूपेण प्रख्यातव्यं विमर्शपर्यन्तं

सकता, इस हेतु से कार्य भिन्न नहीं हो सकता, स्वरूप भेद से वह अन्यथा दिखता है। अर्थस्वरूप अर्थक्रियाकारिता नहीं हो सकती, यह हमने पूर्व में भी कहा है एवं आगे भी बहुत प्रकार से कहेंगे। प्रत्यवमर्श के बल से एकमात्र संविद्रूप ही बाहर और भीतर दिख पड़ता है—यही सत्य है ॥ १२ ॥

क्या तब विमर्श के बल से ही वस्तुओं में भेद और अभेद की व्यवस्था होती है, यह यदि माना जाय तो फिर इस समय तीनों लोकों में भ्रान्ति की कथा ही समाप्त हो जायेगी। शुक्ति में भी सत्यरूप से रजत ही भासित होगा; क्योंकि यह रजत है—ऐसा ही परामर्श होता है; तब तो फिर कहीं पर भी भ्रान्ति नहीं होगी, अतः भ्रान्ति के न रहने पर बाधा की उपपत्ति नहीं हो सकती, फिर क्यों—कहा कि प्रमा वस्तु में बाधक नहीं होती इत्यादि; व्यभिचार के अभाव में 'अबाधिता' इस विशेषण का व्यवच्छेदक कुछ भी नहीं होगा—इस शङ्का को दूर करते हैं—

रजत का आभास होने पर भी शुक्तिका में रजत की स्थिति नहीं होती; क्योंकि आगे चल करके उसका बाध हो जाता है। उपाधिदेश में न मिलने के कारण जैसे आकाश में 'द्विचन्द्रः' दो चन्द्रमा का बाध हो जाता है वैसा ही उसका भी बाध हो जाता है ॥ १३ ॥

यह रजत स्थिर है—ऐसा सभी प्रमाताओं को साधरण अर्थक्रिया की योग्यता प्रतीत होती है। 'इदम्' अंश में रजतादि अंश मिला देने पर आभास एवं विमर्श के बल से तो मिथ्यात्व नहीं झलकता, किन्तु उत्तरकाल में यह रजत नहीं है इसका बाध हो जाता है, प्रमाता का यह स्थिर जो विमर्श होगा, वह पूर्वकाल विमर्श काल के अनुरूप नहीं होता; क्योंकि स्वर्णकार ने यह कह दिया है कि यह रजत नहीं है, जैसे विद्युत् चमकती है, उसी प्रकार यह विमर्श सहसा नहीं हुआ है; यह विमर्श बहुत सोच-समझ कर भली भाँति खण्डन करने योग्य है। जब तक यह

तावत् न प्रख्याति,—इत्यपूर्णख्यातिरूपा अख्यातिरेव भ्रान्तितत्त्वम्। तद्वशेन असद्विपरीतानिर्वाच्यादिख्यातयोऽपि उच्यन्ताम्।

ननु सत्यरूप्यज्ञानमपि अपूर्णख्यातिः ततस्तर्हि किम् ?। इदम् अतः सर्वं भ्रान्तिः,—इत्यागच्छेत्। दिष्ट्या दृष्टिरुन्मिमीलिषति आयुष्मतः, मायापदं हि सर्वं भ्रान्तिः, तत्रापि तु स्वप्ने स्वप्न इव गण्डे स्फोट अपरेयं भ्रान्तिरुच्यते, अनुवृत्त्युचितस्यापि विमर्शस्यास्थैर्यात्। अतश्च पृथक् इदन्ताद्याभासेषु न काचन भ्रान्तिः, मेलनांशे तु विमर्शानुवृत्तिनिर्मूलनं विमर्शोदयकालादेव आरभ्य बाधकेन क्रियते, इति तत्रैव भ्रान्तिभावः,—इति सिद्धम्। रजतस्य शुक्तिकया सह यद्यपि एको विमर्श, तथापि शुक्तौ रजतस्य तेन ज्ञानेन या दत्ता स्थितिः 'इदं रजतम्' इति, सा न; यत उपाधिरूपो यो देशः 'अत्र रजतम्' इति रजतच्छायाम् आत्मनोपरञ्जयन् शुक्तिदेशः, तस्यासंवादात् सम्यग्विमर्शनानुवृत्त्याभासनं संवादनं, 'वदिः' अत्र भासनविषयः, तस्याभावात् कारणात्।

नन्वेवं भवतु शुक्तिकारजते, द्विचन्द्रज्ञाने तु 'द्वौ चन्द्रौ' इत्याभासे शुक्तिकयेव मेलनं न केनचित्साकमाभासते, यत्र बाधः स्यात्; एकाभासांशे च न बाधः,—इत्युक्तं भवतैव। क एतदाह–मेलनं न केनचित्सह—इति। एवं हि सति स्वालक्षण्येन नियतदेशकालतया कथमाभासः; ? तद्देशकालाभ्यां सह तत्रापि अस्ति मेलनाभासो यद्विमर्शोऽनुविवृत्सुर्निरूप्यते, द्वित्वाभासचन्द्राभासयोरपि मेलनाभासे विमर्शानुवृत्तिव्यावर्तनं वाक्यम्। तदेतदाह—द्विरूपे चन्द्रेऽपि, न केवलं रजत एव। 'नभः' इति देशविशेषः कश्चित्। 'अन्यथा' इति द्विचन्द्रावरुद्धो योऽनवमृष्टः स न तथा,—इति

विमर्श रहेगा तब तक खण्डित नहीं होगा, इसीलिए यह पूर्ण ख्यातिरूप अख्याति ही भ्रान्तिता है। इसी रूप में असत्, विपरीत, अनिर्वाच्य आदि ख्यातियाँ भी समझना चाहिए।

अब शङ्का करते हैं कि सत्यरूप से रजत का ज्ञान है, वह भा एक प्रकार से अख्याति ही है। इससे फिर क्या होगा ? तब तो, सब ज्ञान को भ्रान्ति ही कहना पड़ेगा। भाग्य से नींद टूट जाने पर जब आप की दृष्टि खुलेगी तब तो उसे भ्रान्ति ही कहनी होगी; क्योंकि माया के आश्रय होने से सब भ्रान्ति ही है; जैसे गाल पर के फोड़े के समान स्वप्न में ही स्वप्न की तरह यह दूसरी भ्रान्ति हो गयी; क्योंकि उचित अनुवृत्ति का भी विमर्श अस्थिर रहता है। इसलिए इदन्तादि के पृथक् आभासों में कोई भ्रान्ति नहीं है, मिलाने पर तो विमर्श की अनुवृत्ति का निर्मूलन होने के कारण विमर्श के उदयकाल से ही लेकर बाधक होने तक भ्रान्ति वहाँ पर रहती है—यह सिद्ध होता है। रजत का शुक्ति के साथ विमर्श होने पर शुक्ति में भी तो रजत का ज्ञान आता है 'इदं रजतम्' यह रजत है—ऐसा कहने से वहाँ पर देश की जो उपाधि है 'अत्र रजतम्' यहाँ रजत है; इस प्रकार से रजत की छाया को शुक्तिदेश से समन्वय करने का विसंवाद होने से विमर्श की अनुवृत्ति नहीं होती। यहाँ पर 'वद्' धातु का भासन विषय है, उसका अभाव कारण है।

ऐसा भले ही हो, किन्तु शुक्ति में रजत का और दो चन्द्रमा के ज्ञान में 'दौ चन्द्रौ' दो चन्द्रमा का किसी प्रकार से भी भान नहीं होता, जिससे वह बाध हो सके और यह नियम है कि एक के आभास में बाध नहीं होता। इस बात को आपने ही कहा है। इस स्थिति में स्वालक्षण्य से नियत देश-काल के कारण कैसे आभास हो सकता है ? उस देश-काल के साथ वहाँ पर भी मिलने का आभास रहता ही है; जो कि आभास की अनुवृत्ति करनेवाला उसका निरूपण करता है, इस प्रकार से द्वित्वाभास और चन्द्राभास के भी मेलनाभास में विमर्श अनुवृत्ति का व्यावर्तन

बाधकेन उन्मूलितप्राच्यविमर्शानुवृत्तिकः क्रियते,—इति। एवमाभासस्तन्मेलनं च नियमानुप्राणितम्,—इत्येतावदेव प्रमेयम्। एतान्येव आगमे तत्त्वानि वक्ष्यन्ते। वस्तु तत्त्वं प्रमेयम्—इति पर्यायः। तथा च काठिन्याभास इति पृथिवी, लोहिताभास इति रूपं तेजश्च, मेलनाभासो रजः, सन्निवेशस्तु नियतिरूपः, नियतिर्हि नियमः, स च अभावप्राणोऽभावस्फुरणमेव च पृथिव्याभासस्य विचित्रतया चकासत् पृथुबुध्नोदराकारता, भेदाभासश्च माया, तत्पृष्ठे सत्यप्रकाशाभासश्च शिवतत्त्वम्,—इत्यास्तां तावत्। अग्रे भविष्यति एतत्। सर्वथा तावदत्र प्रमेये भगवत एव भेदने च अभेदने च स्वातन्त्र्यं, घटगताभासभेदाभेददृष्टिरेव च परमार्थाद्वयदृष्टिप्रवेशे उपायः समवलम्बनीयः, न तु व्यवहारोऽपि अयं परमेश्वरस्वरूपानुप्रवेशविरोधी,—इति प्रतिपादितम्॥ १३॥

एतदेव स्फुटयन् सकलप्रमेयसिद्धिः परमेश्वर एव आयत्ता,—इति निरूपयति—

गुणैः शब्दादिभिर्भेदो जात्यादिभिरभिन्नता।
भावानामित्थमेकत्र प्रमातर्युपपद्यते॥ १४॥

इह अनुवृत्तं व्यावृत्तं च चकासद्वस्तु कतरेण वपुषा न सत्यमुच्यताम् उभयत्रापि बाधकाभावात्, सत्यतो हि यदि बाधक एव एकतरस्य स्यात् तत्तदुदये स एव भागः पुनरुन्मज्जनसहिष्णुतारहितो विद्युद्विलायं विलीयेत; न चैवम् अत एव भेदाभेदयोर्विरोधं दुःसमर्थमभिमन्य-
होता है। इसीलिए कहा गया है कि दो चन्द्रमा में भी होता है, केवल शुक्ति रजत में ही नहीं होता। 'नभः' देशविशेष का नाम है। अन्यथा न मानोगे तो दो चन्द्रमा से अवरुद्ध नभ का विमर्श नहीं होगा, इस प्रकार बाधक से पूर्व का विमर्श उन्मिलित नहीं होता एवं आभास और उसका मेलन नियम से अनुप्राणित नहीं होगा, यही प्रमेय है और इसी को आगम में तत्त्व मानते हैं। एक ही अर्थ का बोधक हो और भिन्न शब्द हो, उसे पर्यायवाची कहा जाता है। जिसमें कठिनता का आभास हो वही पृथ्वी है, जिसमें रक्तरूप हो वह तेज है, तत्त्वों के आपस में मिल जाने पर रज बन जाता है, ठीक-ठीक नियम से रह जाने को नियति कहते हैं और वह दूसरे के अभाव के साथ स्वयं स्फुरण को अभाव कहते हैं। जैसे—घट में पृथु = बीच में बड़ा सा गोला होना ऊपर की ओर छोटा सा मुख होना और उसके पीछे सत्य का प्रकाश होना शिव तत्त्व कहलाता है और यही भेदाभास माया भी है, यहाँ पर इतना कहना ही पर्याप्त है। आगे इसकी विशेषता बतलायेंगे। उन सभी प्रमेयों के अभेद और भेद में भगवान् का ही स्वातन्त्र्य रहता है और घट में होनेवाले आभास के भेद एवं अभेद दृष्टि परमार्थ दृष्टि के प्रवेश में उपाय होती है; क्योंकि परमेश्वर के स्वरूप के अनुरूप यह व्यवहार विरोधी पड़ता है। इस विषय में हमने प्रतिपादन कर दिया है॥ १३॥

इसी को स्पष्ट करते हुए सारे प्रमेयों की सिद्धि परमेश्वर में ही होती है—इस बात का निरूपण करते हैं—

गुणों से एवं शब्दादि से भेद होता है और जाति आदि से अभेद होता है—इस प्रकार एक ही प्रमाता में पदार्थों की स्थिति रहती है॥ १४॥

यहाँ पर सामान्य और विशेषरूप से प्रकाशित होता हुआ पदार्थ किस शरीर से सत्य नहीं है, कहिये—दोनों जगह कोई बाधक तो नहीं है, ठीक है, यदि एक का बाधक एक होता तो उसके उदय होने पर वही भाग विद्युत् के समान विलीन हो जायेगा; किन्तु ऐसा नहीं होता।

मानैरेकैरविद्यात्वेन अनिर्वाच्यत्वम्, अपरैश्च आभासलग्नतया सांवृत्वम् अभिदधद्भिः आत्मा परश्च वञ्चितः। संवेदनविश्रान्तं तु द्वयमपि भाति संवेदनस्य स्वातन्त्र्यात्। सर्वस्य तिरश्चोऽपि एतत्। संवेदनसिद्धं—यत् संविदन्तर्विश्रान्तमेकतामापाद्यमानं जलज्वलनपि अविरुद्धं, तत एव उक्तं—'अत एव यथाभीष्टसमुल्लेखा·····।' (१।६।११) इति। अतश्च गुणैरुपाधिरूपैर्विशेषाधायितया विवक्षितैः शब्दादिभिर्वा दण्डादिभिरपि वा यो भेदो जातिवशात् सादृश्यात् भेदाग्रहणाद्वा; यश्च अभेदो भावानाम् इत्थमित्युक्तनीत्या 'क्रियासम्बन्ध' (२।२।१) इत्यतः प्रभृति निरूपितः, स एकत्र प्रमातरि सकलप्रमाप्रमाणसंयोजनवियोजनादिविचित्रासंख्यकृत्यप्रपञ्चोचितस्वातन्त्र्ये भगवत्यस्मदीयहृदयैकान्तशायिनि शिवशब्दव्यपदेश्ये सति उपपद्यते, नान्यथा। विशेषणान्येव च अत एव भेद और अभेद का विरोध दुःसमर्थ मानते हुए कुछ लोगों ने उसी को अनिर्वाच्या अविद्या बताया है और दूसरों ने आभास के साथ होने से वह ठीक है—ऐसा कहते हुए अपने आप को और दूसरे को ठगते हैं। हमारे सिद्धान्त में तो दोनों संभव है; क्योंकि संवेदन स्वतन्त्र होता है। सब को यहाँ तक कि पशु पक्षिओं में भी अपना स्वसंवेदन सिद्ध है—वह जल और अग्नि के समान एक ही संवेदन में अविरुद्ध रहता है, इसी कारण कहा है कि—'अत एव यथाभीष्टसमुल्लेखा······।' (१-६-११)

इसीलिए उपाधिरूप गुणों से विशेषता रखनेवाले कहे जाते हैं; इत्यादि शब्दों से या दण्डादि से जो भेद होता है वह जाति वशात् या सादृश्य से भेद का ग्रहण न होने से पदार्थभावों का अभेद हो जाता है—ऐसा कहा गया है। "क्रिया सम्बन्धे" (२-२-१) यहाँ से लेकर आगे तक इसका निरूपण हुआ है। एक ही प्रमाता में संयोजन एवं वियोजन आदि असंख्य विचित्र प्रपञ्च से युक्त हम लोगों के हृदय रखनेवाले शिव शब्द के वाच्य भगवान् में ही संपूर्ण प्रमाण और प्रमेय उपपन्न होते हैं, दूसरे प्रकार से नहीं। विशेषण ही भेदक हो जाते हैं तो फिर दूसरे

---

१. नित्यद्रव्येषु सर्वेषु परस्परसधर्मेषु। प्रत्येकमनुवर्तन्ते विशेषा भेदहेतवः॥

वैशेषिक लोग विशेष पदार्थ की सिद्धि के लिए इस प्रकार कहते हैं—जैसे हम लोगों की तुल्य आकृति क्रिया अवयव संयोगवाले गौ इत्यादि पदार्थों में अश्व आदि से भिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ देखी जाती हैं। जैसे 'गौः शुक्लः शीघ्रा गतिः पीनः ककुद्मान् महाघटः' इस प्रकार हम लोगों से विशिष्ट ऊर्ध्वरेतस्क योगी लोगों की तुल्य आकृति गुण क्रियावाले परमाणु मुक्तात्मा और मन, इनमें यह परमाणु है वह परमाणु नहीं है; इस प्रकार भिन्न-भिन्न विषयों में जो विलक्षण-विलक्षण अनुभूतियाँ होती हैं और एक परमाणु के देखने बाद कल्प बीतने पर भी उस परमाणु को देख करके वही यह परमाणु है जिसको मैंने एक कल्प पहले देखा था —ऐसी अनुभूतियाँ होती हैं इसमें दूसरे निमित्त के संभव न होने के कारण प्रत्येक नित्य पदार्थों में अलग-अलग विशेष पदार्थ रहते हैं—ऐसा मानना आवश्यक है। यह मानना संभव नहीं है कि सर्वज्ञ योगियों को विशेष पदार्थ के बिना ही वैसी प्रतीतियाँ संभव हो जायेंगी, जबकि विशेष पदार्थ के बिना भिन्नत्व असिद्ध होने के कारण, अभिन्नों में भिन्नत्व प्रतीतियाँ मिथ्या हो जायेंगी। उन विशेषों को विशेष इसलिए कहा जाता है कि विशेष का भेदक होता है, यह अपने आश्रय को भिन्न वस्तुओं से भिन्न कर देता है।

अतः नित्य पदार्थों का परस्पर भेद उत्पन्न हो इसके लिए अतिरिक्त विशेष पदार्थ को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है 'इस परमाणु से वह द्वयणुक सम्पन्न नहीं हुआ था इसी कारण ये दोनों

भेदकानि,—इति किमन्त्यैरन्यैर्विशेषैः; अयं च परमाणुर्य एतद्देशादिविशिष्टघटारम्भणकाले पश्चात्तनसंघटितद्व्यणुकारम्भकाले पूर्वं मिलितः' अयं स आत्मा, यः पुरा स्वर्गसदने सुरयोषितमिमामित्थं परिरब्धवान्,—इति इयतैव योगिसर्वज्ञादीनां सिद्धः परमाण्वात्मादिषु भेदावभासः,—इत्यलमवान्तरेण । सिद्धं तावात् भेदाभेदरूपं प्रमेयतत्त्वम् एकप्रमातृविश्रान्त्या निःशङ्कतां श्रयति,—इति ॥ १४ ॥

ननु एवंभूतो यद्ययं प्रमाता तत्रैव तर्हि प्रमाणोपान्यासे प्रयतनीयं न प्रमेये, यदाह 'प्रधाने हि यत्नः फलवान्' इति । तदेतदाशङ्क्य प्रथमोपक्षिप्तमेव प्रमेयं स्मारयत्याचार्यः । तथा हि

विषयों की क्या आवश्यकता दिखायी पड़ती है । यह परमाणु इस देश से संयुक्त घटारम्भ काल में जो पीछे होनेवाले द्व्यणुक के आरम्भ काल में पहले से मिला हुआ आत्मा है । इससे पहले स्वर्ग में सुर-सुन्दरियों का आलिङ्गन किया था, इस प्रकार इतने से ही योगी की सर्वज्ञता की सिद्धि हो जाती है और परमाणु आत्मा आदि में भेद का अवभास सिद्ध हो जाता है, इसीलिए अवान्तर भेद की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि प्रकृत प्रसंग में अनुपयोगी सिद्ध होता है ।

इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि भेदरूप एवं अभेदरूप प्रमेय तत्त्व एक ही प्रमाता में निःशङ्क होकर विश्रान्त रहते हैं ॥ १४ ॥

अच्छा तो, इस प्रकार से यदि यह प्रमाता उस विश्रान्ति के स्थान में भेद एवं अभेदरूप से निःशङ्क विश्रान्त होकर रहता है तो प्रमाण के रखने में ही प्रयत्न करना ठीक माना जायेगा प्रमेय में नहीं होना चाहिए; जब कि इस विषय में कहा भी गया है 'प्रधाने हि यत्नः फलवान्'

परमाणु परस्पर भिन्न हैं, इस आत्मा ने उस रमणी का आलिङ्गन किया था, उस आत्मा ने नहीं । अतः ये दोनों आत्मा परस्पर भिन्न हैं जिससे कि नित्य पदार्थों में भी परस्पर भिन्नता सिद्ध हो जाती है ।

इन विशेषों को अन्त्य भी कहा जाता है; क्योंकि ये ही भेदकों में अन्तिम हैं, इनके ऊपर दूसरा कोई भेदक नहीं होता, जबकि ये भिन्न करने के लिए ही सिद्ध हैं और स्वतः भिन्न हुए बिना दूसरे को भिन्न नहीं किया जाता है । अतः ये स्वतः ही भिन्न-भिन्न रूपों में सिद्ध होते हैं । अन्त्य कहने का दूसरा कारण यह है कि जिन नित्य द्रव्यों का अन्य सभी द्रव्यों के नाश होने पर भी इनका विनाश नहीं होता है । अतः संसार के अन्त अनन्त कोटि है उनमें ये विशेष रहते हैं एवं तृतीय कारण यह बताया गया है कि उन नित्य द्रव्यों में इन विशेषरूपी विशेषणों को मान लेने पर किसी दूसरे विशेषणों को मानने की आवश्यकता नहीं है, यह विशेष ही उन नित्य द्रव्यों के अन्तिम विशेषण है । चतुर्थ कारण यह है कि जब मुक्त दशा में अन्य सभी विशेष गुण नहीं रहते हैं उस दशा में मुक्तात्मा एवं मन में यह विशेष रहता है, अन्य सभी गुण विशेष गुण क्रमशः ध्वस्त होते-होते समाप्त हो गये, अन्ततः यह विशेष पदार्थ रह गया, इसी कारण को लेकर भी विशेष पदार्थ को अन्त्य कहा जाता है यह पञ्चम कारण है ।

घट भिन्न है कपाल के भिन्न होने से ऐसा प्रवाह निरन्तर चलता गया; चलते-चलते द्व्यणुक भिन्न है परमाणु के भेद से, उस परमाणु से भिन्न है विशेषात् इस प्रकार विशेष पदार्थ तक भेद चलता गया, इसके आगे प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है, इसी विशेष पदार्थ पर उस प्रवाह का अन्त हो गया, इसलिए उस प्रवाह के अन्त में 'अन्ते भव' अन्त में होनेवाला होने के कारण विशेष पदार्थ को अन्त्य कहा गया है ।

'अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः ।' (१।१।२) इति यद्वस्तु तदेवेदानीं ज्ञाते प्रमाणस्वरूपे परमेश्वरस्वरूपे च निर्वाहणार्हम्, एवंभूतं हि प्रमाणं तदेवंभूते हि भगवति कथं क्रमताम्, इति । तदेतत् स्फुटयितुमाह—

विश्ववैचित्र्यचित्रस्य समभित्तितलोपमे ।
विरुद्धाभावसंस्पर्शे परमार्थसतीश्वरे ।। १५ ।।
प्रमातरि पुराणे तु सर्वदा भातविग्रहे ।
किं प्रमाणं नवाभासः सर्वप्रमितिभागिनि ।। १६ ।।

परिमितप्रमातृलग्नो नवनवाभासः प्रमेयोन्मुखः प्रमाणम्,—इत्युक्तम् । तत्र प्रकाशवपुषि प्रकाशमात्रस्वभावे पूर्वसिद्धे कः प्रमाणस्योपयोगः सम्भावना वा । तथा च पूर्वसिद्धे प्रमातरि सति तल्लग्नप्रकाशान्तर्भूतविमर्शमयीम् अभूतपूर्वां प्रमेयस्य सिद्धिं वितरति प्रमाणम् । प्रमातुश्चादिसिद्धस्य किंलग्ना सिद्धिरस्तु । विश्ववैचित्र्यं हि तत्र परमेश्वरे प्रकाशैकात्मनि सति भाति यथा चित्रं भित्तौ यदि हि नीलपीतादिकं पृथगेव परामृश्यते तदा स्वात्मविश्रान्तेषु तेषु तथा वा अन्योन्यविषये जडान्धबधिरकल्पानि ज्ञानानि स्वविषयमात्रनिष्ठितानि, विकल्पाश्च तदनुसारेण भवन्तः तथैव,—इति 'चित्रम् इदम्' इति कथंकारं प्रतिपत्तिः । एकत्र तु निम्नोन्नतादिरहिते भित्तितले रेखाविभक्तनिम्नोन्नतादिविभागजुषि 'गम्भीरनाभिरुन्नतस्तनीयम्' इति चित्रावभासो

अर्थात् प्रधान कार्य में ही किया हुआ यत्न फलवाला होता है। इस पर आशङ्का कर सर्वप्रथम आये हुए प्रमेय को आचार्य स्मरण कराते हैं। जैसा कि 'अजडात्मा निषेधं वा सिद्धं वा विदधीत कः' । (१-१-२) 'चेतनरूप आत्मा का निषेध या सिद्धि कौन कर सकता है ?—वह तो स्वयं सिद्ध ही है' । यह सिद्ध पदार्थ-वस्तु उस परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान होने पर निर्वाह के लिए इस प्रकार का प्रमाण ऐसे सिद्ध भगवान् में कैसे स्थान प्राप्त कर सकता है, इसी बात को स्पष्ट करते हैं—

परमार्थ सत् ईश्वर के प्राक्तन प्रमाता होने पर जिसका सर्वदा प्रकाश रहता है और जिस विश्व के वैचित्र्य-चित्र को अपने में ही चित्रित करता है एवं विरोध और अविरोधरूप से सभी का जिसमें भास होता है—ऐसे ईश्वर में सभी प्रमाओं का मान होता रहता है। फिर उसमें किस प्रमाण का अवभास हो सकता है ।। १५–१६ ।।

परिमित प्रमाता में होनेवाला नया-नया अवभासितरूप प्रमेय में उन्मुख रहना प्रमाण कहा जाता है—यह हम कह चुके हैं। उस पूर्वसिद्ध प्रकाश शरीर परमेश्वर में प्रमाण का उपयोग या उसकी संभावना कैसे हो सकती है ? और पूर्वसिद्ध प्रमाता के रहते-रहते उसमें रहनेवाले प्रकाश के अन्तर्भूत विमर्शमय अभूतपूर्व प्रमेय की सिद्धि प्रमाण करता है। इस प्रकार पहले से ही सिद्ध प्रमाता को वह कैसे सिद्ध कर सकता है। सारे विश्व की विचित्रता प्रकाशरूप परमेश्वर में ही भासती है—जैसे चित्र पर कामिनियों का चित्र भासता है। इसीसे सिद्ध की सिद्धि क्या हो सकती है ? यदि नील-पीतादि पृथक्-पृथद्रूप से परामृष्ट होते हैं तो अपने में विश्रान्त हो जाने पर परस्पर अन्ध बधिर के सदृश अपने में ही होनेवाले यह चित्र है—ऐसा ज्ञान कैसे संभव हो सकता है ? निम्न-उन्नत आदि से रहित समतल भित्ति में रेखा से अलग किये गये निम्न-उन्नत

युक्तः, तद्वत् एकप्रकाशभित्तिलग्नत्वेन वैचित्र्यात्मकभेदोपपत्तिः इति भावभेदग्रहणप्रकाशभित्ते-रनपायिनीं स्वप्रकाशतामाह। तत्र स्वप्रकाशे किं प्रमाणेन? अथोच्यते पूर्वमस्य प्रकाशो न भवति, तर्हि स एव नास्ति,—इति स्यात् प्रकाशमात्ररूपत्वात् तस्य। न च अस्य नास्ति,—इत्य-भावेन स्पर्श उपपन्नो, यतो हि असावेव परमार्थतः सन् प्रकाशस्यैव सत्त्वात्, सतश्च असद्रूपत्वा-योगात्। अथ उच्यते—ईश्वरता तस्याप्रमिता प्रमास्यते तदपि न, यतो हि असौ प्रमातृत्वेन चेत् नाचकास्यत् कस्यायमुद्यमः, चकास्ति चेत् तर्हि प्रमातृतैव ईश्वरता, तदाह 'ईश्वरे प्रमातरि सर्वदा भातविग्रहे' इति। विशेषेण गृह्यते इति विग्रहोऽसाधारणं स्वरूपम्, तत एव स्वतन्त्रप्रकाश-नेन यः कालव्यवहारः सोऽत्र नास्ति,—इति 'पुराणे' इत्युक्तम्। तत्र किं प्रमाणं, कुतः प्रयोजनात्प्रमाणं, कस्तत्र प्रमाणस्योपयोगः,—इति, तत्र च किं प्रमाणं न किञ्चित् उपपत्त्या घटते इत्यर्थः। यतः प्रमाणं नामाभिनवाभासरूपं प्रमातरि प्रमितिलक्षणां विश्रान्तिं विदधत् प्रमाणं भवति, प्रमाता चाविच्छिन्नाभासः सर्वाश्च प्रमितीः स्वात्मनि अन्तर्मुखरूपे भजते। तत् तस्मिन् कथमभिनव आभासस्तत्प्रमितिश्च कुत्र विश्राम्यतु। तस्मात् देहप्राणपुर्यष्टकशून्यप्राय एव प्रमातरि प्रमाणमुच्यताम्। तत्रापि च वेद्यांशे यदि नाम, न तु कथंचित् संविदंशे, तत्रापि

विभागवाली भूमि में गंभीर नाभि ऊपर की ओर उठे हुए स्तन इत्यादि का चित्र में आभास होता है, उसी प्रकार एक प्रकाशवाले अर्थात् समान भित्तिवाले चित्र में ही भेदों की उपपत्ति हो सकती है। उसी को भाव-भेद ग्रहण करनेवाली भित्ति का कभी नहीं विनष्ट होनेवाला प्रकाश कहा जाता है। स्वप्रकाश में प्रमाण का क्या प्रयोजन है? यदि कहते हो कि पूर्व में इसका प्रकाश नहीं होता तो वही नहीं रहता है, इसीलिए मानना पड़ेगा कि प्रकाशरूप होने के कारण सर्वदा रहता ही है, उसका भासन नहीं रहता है—ऐसा जब आप बोलेंगे तो अभाव से ही ईश्वर का स्पर्श हो जाता है; वस्तुतः वही परमार्थ प्रकाश की सत्ता भी है और सत्य का एवं असत्य का योग नहीं बैठ सकता। यदि कहो कि उसकी ईश्वरता अपरिमित है, कभी उसका परिमाण हो जायेगा तो यह भी बात नहीं है; क्योंकि उसको यदि प्रमाता मान लेंगे तो यह किसका उद्यम है, इसका पता लगाना कठिन हो जायेगा। यदि किसी प्रकार बोध हो भी गया—तो भी, प्रमाता को ही ईश्वरता कहना पड़ेगा। इस बात को लेकर कहते हैं कि 'ईश्वरे प्रमातरि सर्वदा भातविग्रहे' यदि प्रमाता है, तो सर्वदा उसका प्रकाश होना चाहिए। विग्रह शब्द का यही अर्थ है कि जिसका स्वरूप विशेषरूप से गृहीत होता हो और उसीको विग्रह भी कहना चाहिए। इसीलिए स्वतन्त्र प्रकाश होने के कारण अभाव स्पर्श का अयोग्य प्रवेश जो काल का व्यवहार है—वह यहाँ पर नहीं हैं, इसीलिए 'पुराणे' शब्द आया है। उसमें प्रमाण क्या है? किस प्रमाण से प्रयोजन है, प्रमाण का कौन सा वहाँ पर उपयोग देखा जाता है? और वहाँ पर प्रमाण की कोई उपपत्ति नहीं बैठ रही है। जब कि प्रमाण उसी का नाम है जो नूतन अभिनव आभासरूप प्रमाता में प्रमारूप विश्रान्ति को पाते हुए प्रमाता होता है और प्रमाता निरन्तर आभास से युक्त रहता है सब प्रमाएँ अपने आप उसमें अन्तर्मुख होकर रहती है। वह उस प्रमाता में नया आभास या प्रमा कैसे कहाँ विश्राम लेगी? इसीलिए देह, प्राण, मन, बुद्धि, अहंकार और पञ्च-तन्मात्राएँ (शब्दादि) इन सबों से शून्य हो प्राण प्रमाता में प्रमाण रहता है—ऐसा कहना चाहिए वह भी विद्यांश में ही विश्राम लेगा किसी प्रकार भी ज्ञानांश में नहीं लेगा और विषयके

विषयोन्मुखे तत एव संकुचितत्वात् अभिनवाभासे संकोचविहीनसत्यप्रमातृलग्नतापेक्षया कथ्यतां स्वसंवेदनं प्रमाणम् । सौगतेनापि 'ममेदं ज्ञानन्' इति कल्पितप्रमातृलग्नमेव तदुपेत्यं, न तु परमार्थप्रमातरि प्रमाणेन किंचित् । उक्तं च मयैव—'यत्प्रमेयीकृतोऽस्मीति सर्वोऽप्यात्मनि लज्जते । कथं प्रमेयीकरणं सहतां तन्महेश्वरः ॥' इति ॥ १५-१६ ॥

नन्वेवं यदि भगवति प्रमाणमनुपयोग्यनुपपत्ति च किमर्थं तद्विषयं शास्त्रं, तद्धि प्रमाणमेव, परार्थानुमानात्मकं हि शास्त्रम्, तत्र च प्रमाणादिषोडशपदार्थतत्त्वमयत्वमेव परमार्थः। यत्तु

अभिमुख होकर उससे संकुचित होने पर अभिनव आभास के उद्गम से संकोच शून्य सत्य प्रमाता में रहने के कारण संलग्नता को स्वसंवेदन प्रमाण कहना चाहिए। सौगतों ने भी 'ममेदं ज्ञानम्' मुझे यह ज्ञान हुआ इस प्रकार से कल्पित प्रमाता में ही माना है; परमार्थ प्रमाता में प्रमाण कुछ भी तो नहीं कर सकता है। मैंने ही इस विषय में कहा है—'मैं प्रमेय बना लिया गया हूँ, ऐसा सभी लोग लजाते हैं। उस प्रमेयीकरण को महेश्वर कैसे सह सकेंगे' ॥ १५-१६ ॥

अच्छा तो, अब कहते हैं कि यदि भगवान् में प्रमाण की अनुपयोगिता और अनुपपत्ति है तो तद्विषयक शास्त्र किसलिए है; क्योंकि शास्त्र तो परार्थ अनुमानरूप प्रमाण ही होता है, और गौतम मुनि ने अपने शास्त्र में प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव,

---

१. षोडश पदार्थानां लक्षणानि—

१. अर्थपरिच्छत्तिसाधनानि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणानि । २. तत्परिच्छेद्यमात्मादि प्रमेयम् । ३. नानार्थविमर्शः संशयः । ४. हिताहितप्राप्तिपरिहारौ तत्साधनञ्च प्रयोजनम् ५. हेतोः प्रतिबन्धावधारणं दृष्टान्तः । ६. प्रमाणतोऽभ्युपगम्यमानः सामान्यविशेषवानर्थः सिद्धान्तः । ७. परार्थानुमानवाक्यैकदेशभूताः प्रतिज्ञादयोऽवयवाः । ८. संदिग्धेऽर्थेऽन्यतरपक्षानुकूलकारणदर्शनात् संभावनाप्रत्ययस्तर्कः । ९. साधनोपलम्भजन्मा तत्त्वाववोधो निर्णयः । १०. वीतरागकथावस्तुनिर्णयफलो वादः । ११. विजिगीषुकथा पुरुषशक्तिपरीक्षणफला जल्पः । १२. स्वपक्षस्थापनाहीनस्तद्विशेषो वितण्डा । १३. अहेतवो हेतुवदाभासमाना हेत्वाभासाः । १४. अर्थविकल्पैर्वचनविघातच्छलम् । १५. हेतुप्रतिबिम्बनप्रायं प्रत्यवस्थानं जातिः । १६. सत्यवस्त्वप्रतिभासो विपरीतप्रतिभासश्च निग्रहस्थानम् इति

१. अर्थ के निश्चयात्मक ज्ञान के साधनों को प्रत्यक्ष आदि प्रमाण कहलाता है। २. प्रमाणों के द्वारा जिसका निश्चय किया जाता है वह प्रमेय हैं। ३. एक ही वस्तु में विरुद्ध धर्मों के ज्ञान को संशय कहा जाता है। ४. साधनों द्वारा हित अहित का विचार कर कार्य में प्रवृत्त होना ही प्रयोजन है। ५. सामान्यजन तथा शास्त्रज्ञ दोनों ही जिस विषय को मानते हो वही दृष्टान्त है। ६. प्रमाण जन्य ज्ञान के पश्चात् स्वीकार किये गये. अर्थ को सिद्धान्त कहा जाता है। ७. पञ्चावयव परार्थानुमान से सिद्ध करने योग्य साध्य-धर्म विशिष्ट धर्मी व धर्मी-विशिष्ट साध्यरूप अर्थ की जितने शब्दों के समुदाय से सिद्धि हो जाती है उस शब्दों के समूह-प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन को पञ्चावयव नाम से कहा जाता है। ८. सन्दिग्ध अर्थ के विषय में उपयुक्त निर्भ्रान्त कार्य कारण के विषय में विचार करना ही तर्क है। ९. प्रत्यक्षादि प्रमाण साधनों से जन्य पदार्थ के वास्तविक ज्ञान को निर्णय कहते हैं। १०. अनेक वीतराग वक्ताओं द्वारा किसी उद्देश्य को लेकर ऐक्यमत से किये गये निर्णय का नाम वाद है। ११. जिसमें छल, जाति तथा निग्रह स्थानों से केवल अपने पक्ष की स्थापना तथा

सौगतैः पञ्चावयवत्वादि दूष्यते तदाग्रहमात्रं, षोडशसु हि पदार्थेषु निरूप्यमाणेषु सम्यक् प्रतिपाद्यं परः प्रतिपद्यते, 'हिताहितप्राप्तिपरिहारयोः' इत्यादिना च ग्रन्थेन। परस्य किं प्रयोजनं, तद्धि

तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह ये सोलह पदार्थ दिखाये हैं वे सभी परमार्थं सद्रूप ही हैं। जिनमें सौगतों ने पञ्च अवयवों (प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण-उपनयन-निगमन) का खण्डन किया है वह तो उन लोगों का आग्रह मात्र है; क्योंकि षोडश प्रमाणादि पदार्थों के निरूपण करने पर ही पदार्थों की यथार्थता भली भाँति अर्जित कर सकता है। जिसे कि 'हिताहितप्राप्तिपरिहारयोः' इत्यादि प्रतीक ग्रन्थ से प्रारम्भ किया जाता है। दूसरे का क्या प्रयोजन है ? दूसरे का प्रयोजन तो ज्ञान करना ही है और वह परार्थ अनुमान से ही संभव हो सकता है उसमें पाँचों अवयवों का प्रयोजन आता ही है, प्रतिज्ञा-हेतु-उदाहरण आदि का उपयोग

दूसरे के पक्ष का खण्डन होता है वही जल्प है। १२. अपने पक्ष की स्थापना से रहित केवल परपक्ष का खण्डन वितण्डा कहलाता है। १३. जो हेतु नहीं है उसमें हेतु की तरह आभासित होनेवाले का नाम हेत्वाभास है। १४. वादी के वचन का विरोध कर वादी के अभीष्ट अर्थ की विपरीत कल्पना कर देना छल कहलाता है। १५. साध्य साधनरूप व्याप्ति का विचार न कर केवल समान तथा विरुद्ध धर्मों से प्रतिपक्षी का खण्डन करनेवाले असदुत्तर को जाति कहा जाता है। १६. वादी प्रतिवादी का पदार्थों के प्रति असत्यज्ञान अथवा विपरीतज्ञान निग्रहस्थान नाम से जाना जाता है।

१. बौद्धों के सिद्धान्त में सब कुछ क्षणिक होने के कारण पञ्चावयव की अपेक्षा नहीं रहती है। प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण, इन्हीं तीनों को व्याप्ति ज्ञान के लिए पर्याप्त मानते हैं वह ठीक नहीं है।

परो मद्वचनादेव तमर्थं बुध्यतामिति।
वक्ता स्वप्रत्ययेनेदं नहि वाक्यं प्रयुज्यते॥
किंत्वेनमनुमानेन बोधयामीति मन्यते।
सोऽपि तद्वचनान्नैव तमर्थमवबुध्यते॥
किन्तु व्याप्तिमतो लिङ्गात् स्वयं तत्तु न पश्यति।
तत्प्रतीत्यभ्युपायत्वात् परार्थमिदमुच्यते॥

दूसरे लोग मेरे वाक्य से ही उस अर्थ को भली-भाँति अवगत कर ले अपने ज्ञान से वक्ता इस वाक्य को नहीं प्रयुक्त करता है। किन्तु अनुमान से उस व्यक्ति को अवगत करता हूँ ऐसा मानता है। वह भी मेरे वचन से ही उस अर्थ को जान लेता है किन्तु व्याप्ति वाले लिङ्ग (हेतु) से स्वयं उस अर्थ को नहीं देखता है। व्याप्तिवाले लिङ्ग की प्रतीति में साधक होने के कारण यह परार्थ अनुमान कहा जाता है। इसलिए प्रतिज्ञादि पञ्चावयव वाक्य अपरिहार्य है। हित-अहित अर्थात् हित अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति करने की इच्छा करता हुआ एवं अहित वस्तु को छोड़ने की इच्छा रखता हुआ कार्य में प्रवृत्त होना ही प्रयोजन है 'यमर्थमुद्दिश्य पुरुषः प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' अर्थात् जिस अर्थ को लक्ष्य कर पुरुष क्रिया करने के लिए प्रवर्तित होता है वही प्रयोजन कहलाता है। तब तो वह स्वार्थ ही हुआ, न कि परमार्थ-ऐसा कहा गया है, इसमें दूसरे का क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? ऐसा प्रतिवादी आक्षेप करता है। दूसरे को अच्छी तरह ज्ञान हो जाना ही प्रयोजन है। यह कहा गया है कि प्रयोजन से ज्ञान होता है और ज्ञान से प्रवृत्ति देखी जाती है। प्रतिपादन किये गये सोलह पदार्थों में हेय उपादेता की सिद्धि परार्थ अनुमान के कारण होने से शास्त्र में परार्थ अनुमान कहा जाता है।

परस्य प्रतिपत्त्यै, सा च परार्थानुमानात्, तत्र च प्रतिज्ञादेरुपयोगः,—इति, तत् परिपूर्णपरप्रतिपत्तिकारि परमार्थतः सकलमेव शास्त्रं परार्थानुमानम् आगमव्यतिरिक्तं न्यायनिर्माणवेधसाक्षपादेन निरूपितम्,—इति । अत्रापि पूर्वोक्तमेव 'किन्तु मोहवशात्' (१।१।३) इति स्मारयितुमाह—

अप्रवर्तितपूर्वोऽत्र केवलं मूढतावशात् ।
शक्तिप्रकाशेनेशादिव्यवहारः प्रवर्त्यते ॥ १७ ॥

इह परमेश्वरस्येदमेव परं स्वातन्त्र्यं—यत् अस्मादृशे प्राच्यपशुदशाविशेषासम्भाव्यमानाति दुष्करवस्तुसम्पादनं नाम । इतश्च किम् अतिदुष्करं भविष्यति,—यत्प्रकाशात्मनि अखण्डिततादूप्ये एव प्रकाशमाने प्रकाशननिषेधावभासः प्रकाशमानः । तस्मात् परमेश्वरस्येदं तत्परं स्वातन्त्र्यं यत् तथावभासनं पशुरूपतावभासनं नाम ग्राहकांशसमुत्थापनं, तद्वारेण च ग्राह्योल्लासनमपि । सैषा भगवतो मायाशक्तिरुच्यते । यथोक्तम्—'माया विमोहिनी नाम''''''''''।' इति । तदेवं-भूतान्मायाशक्तिरूपात् स्वातन्त्र्यात् या मूढता विनष्टपूर्णचेतनता स्वात्मवर्तिन इच्छास्पन्दोदयस्फुटस्फुरितविश्वभाव निर्भरितात्मनः पूर्णत्वस्य, स्मृत्यादिशक्त्यात्मनः स्वातन्त्र्यस्य, देशकालसंकोचवैकल्यात् अयत्नसिद्धवैभवनित्यताधर्मस्य च प्रकाशमानस्यापि यदप्रकाशमानतया अभिमननं, तस्या वशात् सामर्थ्यात् पूर्वं यो न प्रवर्तितः समनन्तरश्लोकद्वयोक्तस्वरूपे प्रमातरि भगवति ईश्वरत्वादिना उक्तेनैव पूर्णत्वादिना व्यवहारो यः खलु 'अहम्' इति भाति स पूर्णः विभुः स्वतन्त्रो

भी होता है; क्योंकि इसमें तो दूसरे को ठीक-ठीक ज्ञान करना है । सारा का सारा शास्त्र परार्थ अनुमान के रूप में ही है जिसका आगम से भिन्न न्यायनिर्माण के प्रणेता अक्षपाद गौतम ने निरूपण किया है, यह भी पहले कह चुके है 'किन्तु मोहवशात्' (१-१-३) उसीका स्मरण कराने के लिए कहते हैं—

जब कि पहले मूढता के कारण यहाँ पर नहीं है वही सम्प्रति शक्तिपात हो जाने से ईश्वर इत्यादि का व्यवहार प्रवर्तित किया जाता है ॥ १७ ॥

यही परमेश्वर का परम स्वातन्त्र्य है जो कि हमलोगों के जैसे पहले पशु दशा विशेष में नहीं होनेवाले दुष्कर पदार्थ का सम्पादन करना । और इससे बढकर दुष्कर अन्य क्या हो सकता है ? अखण्डित सद्रूप प्रकाशमान ईश्वर के प्रकाशित होने पर भी अप्रकाश की कल्पना करते रहना, परमेश्वर का यही सर्वश्रेष्ठ स्वातन्त्र्य है कि अपने में पशुरूपता का अवभास करना और ग्राहक अंश का उत्थान करना एवं उसी के द्वारा ग्राह्य भाग का भी उत्थान करना यही भगवान् की माया-शक्ति है, इस विषय में कहा है कि—'माया विमोहिनी नाम''''''।' इस प्रकार माया-शक्ति के रूप में ईश्वर का जो स्वातन्त्र्य है उससे प्राणी को मूढता प्राप्त होती है जिसमें चेतना का विनाश हो जाता है । और इच्छा-स्पन्द का उदय प्रस्फुटित होकर सारे विश्वभाव को निर्भासित करता रहता है । उस पूर्णता का और स्मृति आदि शक्तिरूप स्वातन्त्र्य का एवं देश-काल के सङ्कोचरूपी विकलता से विना किसी प्रयास से, स्वाभाविक नित्यतारूप धर्म का प्रकाश बना रहता है और उसकी भी मूढता के कारण ही अप्रकाशमानता हो जाती है । जो पहले नहीं था, उसे दो श्लोकों से कह दिये । ईश्वररूप प्रमाता में जिस पूर्णता और ईश्वरता का व्यवहार होता था एवं पूर्ण 'अहं' का स्वतन्त्रपूर्ण नित्य प्रकाश था, जिसके लिए कहा जाता था

नित्यः,—इत्येवमादिरूपः, तं प्रवर्तयन्तु व्यवहारं लोका इति। एतेन शक्तीनाम् इच्छाज्ञानक्रियाणां प्रकाशकेन प्रत्यभिज्ञारूपेण व्यवहारसाधनपरार्थानुमानात्मना शास्त्रेण तं व्यवहारं प्रवर्तयतां तत्समर्थाचरणं क्रियते। 'प्रवर्त्यते' इति द्वौ णिचौ। केवलमिति न तु किंचिदपूर्वं क्रियते, नापि तत्त्वतोऽप्रकाशमानं प्रकाश्यते, प्रकाशमान एव यत् 'न प्रकाशते' इत्यभिमननं तदपसार्यते। तदपसरणमेव हि परमेश्वरतालाभो मुक्तिः, तदनपसरणमेव संसारः, अभिमननमात्रसारं हि एतद्द्वयम्, उभयमपि चेदं भगवद्विजृम्भितमेव। एतदुक्तं भवति–यथा भौतस्य भासमाने एवात्मनि 'अपहारितोऽहम्' इति मोहान्मन्यमानस्य मोहोऽपसार्यते,—कः खलु त्वं ?, यस्येदृशं वस्त्रं मुखमीदृशम्,—इति चेत्, पश्य तदस्ति भवतः—इति पुनः पुनरभिदधता न च अस्य अपूर्वं किंचन रचितं, तथा पशुलोकस्य भासमान एव आत्मनि 'नाहमीश्वरः' इत्यादि मोहादभिमन्वतो मोहोऽपोह्यते। यो हि ज्ञानक्रियास्वातन्त्र्ययुक्तः स ईश्वरो यथा सिद्धान्तपुराणादिषु प्रसिद्धः तथा च त्वम्—इति। यदि वा यस्मिन् यदायत्तं स तत्रेश्वरो राजेव स्वमण्डले, तथा च त्वयि विश्वम्,– इति ईश्वरताव्यवहारो नान्यनिमित्तकः,—इति व्याप्तिः। यत् खलु यल्लग्नं भाति तत्तेन पूर्णं निधानमिव मणिभिः, त्वल्लग्नं च विश्वम्,—इति। यस्य यदन्तर्वर्ति भाति, स तावति व्यापकः समुद्ग इव मणिषु, त्वयि च संविद्रूपे धरादिसदाशिवान्तं शास्त्रप्रक्रियोक्तं विश्वम्,—इति।

कि लोग उस व्यवहार को करें और उसीसे इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन शक्तियों के प्रत्यभिज्ञारूप प्रकाश से व्यवहार साधन अनुमानरूप शास्त्र से व्यवहारकरनेवाले के साथ समुचित आचरण किया जाता है। 'प्रवर्त्यते' इसमें दो 'णिच्' दिये गये हैं। इसमें कोई नया विषय नहीं उत्पन्न हो रहा है। किन्तु केवल पूर्व का प्रवर्तन ही होता है, इसलिए ठीक-ठीक अप्रकाशमान प्रकाशित भी नहीं है! प्रकाशमान ही प्रकाशित होता है, नहीं प्रकाशित होता है इस अभिमान को दूर कर दिया जाता है; क्योंकि उसका दूरीकरण करना ही परमेश्वर प्राप्तिरूप मुक्ति है और दूरीकरण न करना ही संसार माना जाता है, ये दोनों ही अभिमान पर निर्भर करते हैं और ये दोनों ही परमेश्वर के विलास हैं। इसका निष्कर्ष यह होगा कि जब पदार्थों का भास होता है 'अपहारितोऽहम्' सचमुच मैं ठगा गया हूँ। जैसे भूत से ग्रस्त आत्मा जब भासित होगा तब मैं अपने रूप में नहीं हूँ—इस प्रकार मोह वशात् जो उस समय अपने आपको मुग्ध समझता है, उसके मोह को दूर कर देने पर तुम कौन हो बताओ ? जिसका ऐसा मुख है और इस तरह का वस्त्र है, देखो, वह है तुम्हारे जैसा; जब कहा जाता है तब कोई नयी चीज नहीं होती। पूर्व का ही विषय पुनरावर्तन करता है कि 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' इत्यादि इस प्रकार मोह से ग्रस्त हुए का मोह दूर कर दिया जाता है; क्योंकि जो ज्ञान-क्रियारूप स्वातन्त्र्य है, उससे युक्त रहता है, वही ईश्वर कहलाता है। जैसा कि शास्त्र सिद्धान्त पुराणों में दिखलाया गया है वैसा ही तुम हो, जैसे राजा अपने राज्यमण्डल का स्वामी रहता है, उसी प्रकार तुम्हारे में यह सारा विश्व भरा हुआ है। तुम उसके स्वामी हो, अपने को ईश्वर समझो, इसमें दूसरा कोई निमित्त नहीं है। जिसमें संलग्न हुआ वह सोचता हुआ है उसी से पूर्ण होता है। जैसे—मणियों से आकर, उसी प्रकार तुम्हारे में भी यह सारा विश्व है। जिसका जितना ही आन्तर आभास है, वह उतना ही व्यापक होता है। जैसा—मणियों का डिब्बा और तुम्हारे में भी पृथ्वी से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त शास्त्रीय संविद्रूप प्रक्रिया से प्रतिपादित सारा का सारा तत्त्व विद्यमान है। जिसके रहने पर ही उदय

यस्मिन् स्थिते यदुदेति लीयते च तत् तत्पूर्वापरभागव्यापि यथा भूमावङ्कुरः, तथा च त्वयि प्रकाशरूपे विश्वम्,—इति। एवम् अन्येऽपि धर्माः सहस्रशोऽपि आगमादिसिद्धा योज्याः। तदेवं व्यपोहिते व्यामोहे, स्थितेऽपि तत्संस्कारमात्रविधृते शरीरादौ अनात्मताभिमानपुरःसर एवात्मताभिमाने, घटादौ च प्रकाशमान एवानात्मताभिमाने ज्ञातेन्द्रजालतत्त्वस्य पश्यतोऽपि इन्द्रजालं यथा न तत्त्वतो व्यामोहः तथा प्रत्यभिज्ञातात्मस्वरूपस्य, ततो निवृत्ते प्रयाणप्रापितपर्यन्ते देहे परमेश्वरतैव। अभ्यासभावनाबलेन तु शिवशासनोपदिष्टेन देहघटादावेव परमेश्वरतासमावेशभिनिविश्यपश्यत इहैव शरीरे पारमेश्वर्यांशधर्मोद्गमः, न तु वस्तुतः पूर्णता, देहत्वस्यैव संकोचप्राणस्य गलने यथास्थितविश्वात्मकतापत्तेः। यस्य तु व्यवहारसाधने हेतुकलापेऽपि असिद्धताभिमानः, तस्य तत्रापि व्यवहारसाधनैरेव व्यामोहोऽपसार्यः। यस्य तु सर्वथा नापसरति, तत्रेश्वरशक्तिबलान्मूढतैव, तस्यापि कर्णपथगमनात् संस्कारपाकेनावश्यं कदाचिद्धुविष्यत्येव स्वरूपलाभः।

और लय होता है वही उसके पूर्व-अपर भाग में व्याप्त रहता है। जैसा कि पृथ्वी में अङ्कुर रहता है, वैसा ही प्रकाशरूप तुम्हारे में यह विश्व रहता है। इस प्रकार आगम आदि से सिद्ध अन्य बहुत से सहस्रसंख्यक कर्मों को भी जोड़ देना चाहिए। इसी प्रकार व्यामोह को हटा देने पर उसके भी संस्कारमात्र शरीरादि में रह जाने से अनात्मता को भी जानते हुए आत्मता का अभिमान करना और भासमान घटादि में इसप्रकार अनात्मा का अभिमान रहते हुए ज्ञात इन्द्रजालतत्त्व का अभिमान करना और यथार्थ इन्द्रजाल को भी देखने पर यथार्थ व्यामोह नहीं होगा; इसीप्रकार अपने स्वरूप को जान लेने पर वह देहाभिमान से दूर हो जाता है एवं परमेश्वर तत्त्व की सिद्धि प्राप्त कर लेता है। उस परमेश्वरता के अभ्यास बल से शिवशासन (तन्त्रशास्त्र) के द्वारा उपदिष्ट देह एवं घटादि में भी ईश्वरतत्त्व का भान होने लगता है। सर्वत्र परमेश्वर का अभिमान करनवाले को इसी पञ्च भौतिक शरीर में परमेश्वर सम्बन्धी अणिमादि सिद्धियों का उद्गम हो जाता है, किन्तु उन सिद्धियों से पूर्णता की प्राप्ति नहीं होती है। देहभान के संकोच के प्राप्त होने पर ही और संकुचित प्राण के गल जाने से ठीक-ठीक बोध होने लगता है। जिसको व्यवहार साधन में, हेतुसमूह में असिद्धता का अभिमान होता है। उसका व्यामोह व्यवहार साधनों से दूर करना चाहिए। जिसका किसी प्रकार व्यामोह दूर न हो सके तो वहाँ पर समझना होगा कि ईश्वर की शक्ति के बल से मूढता ही बनी रहेगी, कदाचित् कान में भनक पड़ने पर संस्कार के परिपक्वता से कभी न कभी एक दिन अवश्य स्वरूप लाभ हो जायेगा, इसी को 'कर्तरि'

१. अष्टसिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। नवनिधि—पद्म, महापद्म, शंख, पकर, कच्छव, मुकुन्द, कुन्द, नील, खवी।

२. निष्कम्प आत्मसंवित्तौ जीवन्मुक्तोऽभिधीयते।
तत्त्वे विकल्पमानस्तु पिण्डपाताच्छिवं व्रजेत्॥'

आत्मज्ञान में अचल स्थिति हो जाने पर जीवन्मुक्त कहलाते हैं। किन्तु तत्त्वस्वरूप के विषय में अभी आंशिक विकल्पमानता बनी हुई है उसका शरीर गिरने तक ही विकल्पमानता रहती है बाद में तो शिव स्वरूप में स्थिति हो ही जाती हैं। इसको अन्यत्र आचार्य ने भी कहा है।

संसारजीर्णतरुमूलकलापकर्म संकल्पसान्तरतया परमार्थवह्नेः।
स्युर्विस्फुलिङ्गकणिका अपि चेत्तदन्तर्देदीप्यते विमलबोधहुताशराशिः॥

तदेवं 'कर्तरि' (१।१।२) इत्यादिश्लोकद्वयेन यदुक्तं 'तदेव 'विश्ववैचित्र्य' इत्यादिश्लोकत्रयेणोपस्कृत्य पुनर्निरूपितम्, एवं-भूतं तावत् प्रमाणं तदेवं-भूते भगवति कथमुपपद्यताम्। ततश्च युक्तमुक्तं शास्त्रादाविति भङ्ग्यन्तरेण इदानीं तदेव निर्वाहितम्,—इति शिवम् ॥ १७ ॥ आदितः १२० ॥

इति श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविरचितायां प्रत्यभिज्ञासूत्रविमर्शिन्यां क्रियाधिकारे
मानतत्फल-मेयनिरूपणं नाम तृतीयमाह्निकम् ॥ ३ ॥

•

अथ द्वितीये क्रियाधिकारे कार्यकारणतत्त्वनिरूपणाख्यं

चतुर्थमाह्निकम्

भावानाभासयन् कर्ता निर्मले स्वात्मदर्पणे।
कार्यकारणभावं च यश्चित्रं तं स्तुमः शिवम् ॥

क्रियाशक्तिस्फारप्रायसम्बन्धाभिधानप्रसङ्गात् ज्ञाप्यज्ञापकभावस्य तत्त्वं प्रसाध्य, कार्यकारणभावस्य तत्त्वं प्रसाधयितुं श्लोकैकविंशत्या आह्निकान्तरमारभ्यते,—'एष च' इत्यादि 'एवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया' इत्यन्तम्। तत्र श्लोकेन स्वमते कर्तृकर्मभाव एव कार्यकारणभावः,—इत्युपक्षिप्यते। ततः श्लोकत्रयेण जडस्य कारणत्वं पराक्रियते। ततः श्लोकषट्केन चेतनस्यैव कर्तृतारूपा कारणता प्रसाध्यते। ततः प्रसङ्गादनुमाने नियतिशक्तिरवश्योपजीव्या,—इति श्लोकत्रयेणोच्यते। सौगतोक्तकार्यकारणभावपरमार्थोऽपि अस्मत्पक्षमेवावलम्बते, नो चेत् न किञ्चित्,—इति त्रिभिः श्लोकैः; सांख्योपदर्शितोऽपि कार्यकारणभावो नोपपद्यते, यद्यस्मदुक्तं

(१-१-२) इत्यादि दो श्लोकों से कहा गया है। 'विश्ववैचित्र्य' इत्यादि तीन श्लोकों से स्पष्ट करके फिर से निरूपित किया गया है, ऐसा प्रमाण इस स्वरूप में रहनेवाले भगवान् में कैसे घट सकता है। इसलिए समुचित ही शास्त्रादि में 'कर्तरि-ज्ञातरि' इस रूप में दूसरी भङ्गी से कहा है—इसीका निर्वाह किया गया है ॥ १७ ॥

तृतीय आह्निक समाप्त

जो सदाशिव अपने शुद्ध संविद्रूप दर्पण में पदार्थभावों को भासित करते हुए कार्य-कारणभाव को भी अपने में भासित करते हैं—ऐसे विचित्र शिव की हम स्तुति करते हैं।

क्रिया-शक्ति का विस्तार सम्बन्ध के कथन के प्रसंग से ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव तत्त्व को प्रकाशित करके, कार्य-कारणभाव के तत्त्व को सिद्ध करने के लिए इक्कीस श्लोकों से दूसरा आह्निक प्रारम्भ करते हैं,—'एष च' इत्यादि से लेकर 'एवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया' यहाँ तक। उसमें प्रथम श्लोक से अपने सिद्धान्त में कर्तृ-कर्मभाव का कार्य-कारणभाव दिखायेंगे। इसके पश्चात् तीन श्लोकों से जड वस्तु को कारणता का निषेध करेंगे। अनन्तर चेतन को ही कर्तृतारूप कारणता को छः श्लोकों से सिद्ध करेंगे। प्रसंग से नियति-शक्ति का अनुमान में अवश्य उपयोग करना चाहिए, यह तान श्लोकों से दिखाया जायेगा। अनन्तर सौगता के द्वारा प्रतिपादित कार्य-कारणभाव की परमार्थता हमारे ही सिद्धान्तपक्ष को सिद्ध करतो है। यदि नहीं

संसाररूपी जीर्णतरु का मूलसमूह जो कर्म संस्कार-संकल्प है उससे व्यवहित = अवकाश युक्त होने के कारण यदि परमार्थवह्नि की चिनगारियाँ दिखती भी हो, तो भी अन्तर भाग में विमल बोधरूपी अग्निराशि जाज्वल्यमान ही रहती है।

चेतनस्य कर्तृत्वं नाङ्गीक्रियते,—इति त्रिभिः; चेतनस्यापि अनीश्वरतायां नैतत् घटते,—इति द्वाभ्यामिति संक्षेपार्थः। ग्रन्थार्थस्तु व्याख्यायते।

एवं क्रियाशक्तिमुखेन प्रमात्रेकरूपतां भगवति व्यवहर्तव्यां प्रसाध्य, कर्तृरूपतापि तत एवायत्नसिद्धा,—इति दर्शयितुमाह—

एष चानन्तशक्तित्वादेवमाभासयत्यमून्।
भावानिच्छावशादेषा क्रिया निर्मातृतास्य सा ॥ १ ॥

चोऽवधारणे। एष एव पुराणः प्रमाता अमून् भावान् आभासितपूर्वान् आभासमानान् आभासयति अविच्छिन्नेन प्रबन्धेन। कथम्, इच्छाया ईशितुरभिन्नाया अविकल्परूपाया अक्रमाया वशेन सामर्थ्येन। कुत्रास्य ते भावाः स्थिताः, ? आह, 'अनन्तशक्तित्वात्' इति। विश्वे हि भावास्तस्यैव शक्तिरूपेण स्वरूपात्मत्वेन स्थिताः,—इत्युक्तं 'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य……।' (१।५।१०) इत्यत्र। यदेतदाभासनं या साविच्छा, सा क्रिया, अस्य भगवतो निर्मातृत्वम् ॥ १ ॥

ननु बीजादङ्कुर उद्भवन् दृश्यते, न च अत्र कश्चिच्चेतनोऽनुप्रविशन् दृष्टः, तत्कथमेतदुक्तम् ?,—इत्याशङ्क्याह—

करती तो वह कुछ भी नहीं है, इस विषय को तीन श्लोकों से सिद्ध करेंगे। इसके बाद सांख्यकारों के द्वारा निरूपित भी कार्य-कारणभाव नहीं घटता है, यदि हमारे कहे गये चेतन की कर्तृता नहीं मानते तो जड वस्तु की कार्य-कारणता नहीं सिद्ध हो सकती। इसे तीन श्लोकों से बतलायेंगे; यदि चेतन भी अनीश्वर है तो, यह बात भी नहीं घट सकती है। यह दो श्लोकों से सिद्ध करेंगे। यही संक्षेप में इस आह्निक का सारांश है। अब ग्रन्थ के अर्थ का व्याख्यान करते हैं।

इस प्रकार भगवान् में क्रिया-शक्ति को प्रधान मान कर प्रमाता में एकरूपता का व्यवहार करना चाहिए, कर्तृता तो उसमें अयत्न ही सिद्ध है, इसे दिखाने के लिए कहते हैं—

भगवान् परमशिव अनन्त-शक्ति सम्पन्न होने के कारण इन पदार्थों को आभासित करते हैं। यह निर्माणरूपी क्रिया भगवान् की इच्छा के अधीन होती है। जब चाहे तब करते हैं, न चाहे तो नहीं करते ॥ १ ॥

यहाँ पर 'चकार' निश्चित अर्थ में है। यही पुराण प्रमाता पूर्व में आभासित होनेवाले इन पदार्थों को अविच्छिन्नरूप से भासित किया करते हैं। वह कैसे ? इसका उत्तर देते हैं कि इच्छा करनेवाले से अभिन्न इच्छा के द्वारा अविकल्प अक्रमरूप के सामर्थ्य बल से करते हैं। वे भाव-पदार्थ कहाँ रहते हैं ? उत्तर देते हैं कि 'अनन्तशक्तित्वात्' अर्थात् चिदात्मा अनन्त-शक्तिवाले होने के कारण अपनी इच्छा अनुसार रखते हैं; क्योंकि सारे भाव-पदार्थ उन्हीं की शक्तिरूप से उन्हीं में रहते हैं—ऐसा कहा भी गया है—'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य··।' (१-५-१०) अपने में रखनेवाले स्वामी का इत्यादि। यह जो आभासन है, वही इच्छा है और वही सृष्टृत्वरूप क्रिया कहलाती है। यही भगवान् का निर्माण भो है ॥ १ ॥

अच्छा तो, बीज से अंकुर उत्पन्न होता हुआ दिखाई देता है और उसमें कोई चेतन तो प्रविष्ट हुआ नहीं दिखाई देता। तब फिर, कैसे कहते हो कि चिद्रूप ही इस विश्व का अवभासक है ? इस पर आशङ्का कर कहते हैं—

जडस्य तु न सा शक्तिः सत्ता यदसतः सतः ।
कर्तृकर्मत्वतत्त्वैव कार्यकारणता ततः ॥ २ ॥

जडस्य बीजस्यैवं भूतं सामर्थ्यं नास्ति यत् असद्रूपं सद्रूपं वाङ्कुरं परिदृश्यमानसत्तावन्तं करोति। बीजादङ्कुरो जायते,–इति नाङ्कुरस्य महिमा असत्त्वात्; अङ्कुरो जायत,–इति च महिमा कथं बीजस्य, ततोऽङ्कुरादन्यत्वात्; यत एवं तस्मात् कार्यं क्रियाशक्त्या अवभास्यमानं कर्मैव,— इति कृत्येनैव आविष्कृतम्, कार्यते अनेन कर्ता तत्समर्थचरणेन,—इति कारणमपि कर्तरि चेतने विश्राम्यति। असतः सतः इति असद्रूपस्य सत इत्यर्थः। वार्थो वात्र गर्भीकृतः, असतोऽङ्कुरस्य सतो वा बीजस्य,—इति; अङ्कुरस्य सतोऽसतो वा,—इत्येवं वा ॥ २ ॥

ननु जडस्य कथमेषा शक्तिर्न भवति,—इत्याह—

यदसत्तदसद्युक्ता नासतः सत्स्वरूपता ।
सतोऽपि न पुनः सत्तालाभेनार्थः............

सद्वा कार्यमसद्वा संभाव्यते; उभयात्मकम्, अनुभयात्मकमनिर्वाच्यम्,—इति तु स्ववाचैव विरुध्यते; तत् किमनेन। यदि असन् घटः, तर्हि तस्यासद्रूपतैव परमार्थतः,—इति कथं स्वरूप-विरुद्धं सत्त्वमभ्युपगच्छेत्, नहि पादपतनशतैरपि नीलमात्मनि पीतमानं मृष्यते। अथ सन्नेव

असत् और सत् की जो सत्ता है वह जड की शक्ति नहीं है। इसलिए कर्तृता और कर्मता ही कार्य-कारणता है ॥ २ ॥

जडरूप बीज का ऐसा सामर्थ्य नहीं होता है—जो कि असद्रूप अङ्कुर को दृश्यमान सत्तावाला बना सके। बीज से अङ्कुर निकलता है, इसमें कोई अङ्कुर का महत्त्व नहीं है; क्योंकि उस समय वह भी उत्पन्न नहीं हुआ रहता है। अङ्कुर जब स्वतः अङ्कुरित होता है तब फिर बीज का कौन सा महत्त्व रहा ? क्योंकि वह अङ्कुर से तो भिन्न हो गया; इसलिए जब ऐसी बात है तो कार्य क्रिया-शक्ति से अवभास्यमान होकर कर्म ही कहा जाता है, इस कृत्य ने प्रकट कर दिया, जो कर्ता से किया जाय, उसे कार्य कहा जाता है, कारण भी कर्तृरूप चेतन में ही विश्रान्ति लेता है। असद्रूप जो सत् है—ऐसा समझना चाहिए या विकल्प अर्थ मान लो; असद्रूप अङ्कुर का या सद्रूप बीज का यह अर्थ कर लो; चाहनेवाला या नहीं चाहनेवाला अङ्कुर का यह भी अर्थ हो सकता है ॥ २ ॥

जड की ऐसी शक्ति कैसे हो सकती है ? इस पर कहते हैं कि—

जो असद्रूप है, वह असद्रूप में ही रहेगा और असत् सत् नहीं हो सकता और असत् से सत्स्वरूपता भी सम्भव नहीं है। सत् को सत्ता के लाभ से कोई प्रयोजन नहीं है······

कार्य सद्रूप है या असद्रूप है अथवा सद्रूप और असद्रूप ये दोनों हैं या दोनों नहीं हैं; क्योंकि एकत्र दोनों का समावेश होना असंभव है इसलिए अनिर्वचनीय ही कहा जाय, ऐसा कहना तो अपने वचन से ही विरुद्ध होगा, उससे क्या होगा ? यदि असद्रूप में हो घट को माना जाय तो उसकी असद्रूपता ही सचमुच रहती है, तो फिर अपने स्वरूप को विरुद्धता कैसे (पदार्थ) सत्त्व स्वीकार करोगे, सैकड़ों बार पैर पटकने पर भी नीलरूप में पीतत्व नहीं ढूँढ सकते हैं। अब यदि कहो कि सद्रूप में ही घट को सत्ता है—ऐसा मान लिया जाय ता दण्ड, चक्र और सूत्र की

घटस्तर्हि किमन्यत् उपयाच्यते दण्डचक्रसूत्रात् । अभिव्यक्तिविषयत्वस्फुटत्वादयोऽपि सदसद्रूपतया चिन्त्याः ।

नन्वेवं तूष्णीमास्यतां, नैतदपि युक्तम्,—इत्याह—

.................अथ चोच्यते—॥ ३ ॥

तदवश्यसमर्थ्योऽयमर्थ इति यावत् ॥ ३ ॥

ततश्च इत्थमुपपाद्यत,—इति दर्शयति—

कार्यकारणता लोके सान्तर्विपरिवर्तिनः ।
उभयेन्द्रियवेद्यत्वं तस्य कस्यापि शक्तितः ॥ ४ ॥

कुम्भकारहृदये अन्तर्मनोगोचरत्वात् पूर्वमपि स्वसंविदेकात्मतया विचित्रत्वेन विश्वस्य भेदाभेदात्मना परिवर्तमानस्य स्पन्दनेन स्फुरतो यत् अन्तःकरणबहिष्करणद्वयवेद्यत्वमाभास्यते, एषैव सा कार्यकारणता । उभयग्रहणमुपलक्षणम्, यस्य यावति पूर्णार्थक्रियासमाप्तिरिति यावत् । सुखादीनाम् अन्तःकरणैकवेद्यतापादनमेव निर्माणं, न च कुम्भकारे प्राणपुर्यष्टकबुद्धिशून्यदेहप्राये तदेतत् स्थितं, तस्यापि जडत्वात्; ततः संविदेव विश्वमात्मनि भासयति शक्तिवैचित्र्यात् । तस्य कस्यापि इति पूर्वमुक्तस्य अचिन्त्यापर्यनुयोज्यमहिम्न इत्यर्थः । न च वाच्यम्—उभयेन्द्रिय-

क्या आवश्यकता रहेगी ? घट तो, पहले से ही विद्यमान है । घट की अभिव्यक्ति होने का अर्थ यह है कि साफ-साफ अत्यन्त आँखों के सामने आ जाना आदि, सद्रूप और असद्रूप ये दोनों ही विचारणीय हैं ।

अच्छा जब ऐसा ही है तो फिर शान्त होकर बैठे रहो, यह कहना भी तो उचित नहीं है—इस पर ग्रन्थकार कहते हैं— इसका प्रतिपादन इस प्रकार किया जाता है—॥ ३ ॥

यदि तुम विचार करके हमें कहने का अवसर देते हो तो सुनो लोक में कार्य-कारणता अवश्य समर्थनीय हैं ॥ ३ ॥

अब कार्य-कारणभाव का निर्वचन करते हैं, इसको दिखाया जाता है—

बीच-बीच में बाधा दे देकर हुआ करता है । ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय इन दोनों से वेद्य होकर किसी एक की भी शक्ति से हो सकते हैं ॥ ४ ॥

कुंभकार के हृदय में ज्ञेय होने से पहले भी वह ज्ञान का विषय था; विश्व की विचित्रता के कारण भेद और अभेद रूप से विद्यमान स्पन्दन से स्फुरित होनेवाला आन्तर और बाह्य इन दोनों इन्द्रियों से वेद्य होकर भासित होते हैं, इसी का नाम कार्य-कारणभाव है, दोनों का ग्रहण करना उपलक्षण मात्र है, एक से भी कार्य सम्पन्न हो सकता है जिसकी आवश्यकता हो उसको ले लेना चाहिए, जिसको जितने अंशों में अर्थक्रिया की समाप्ति होती हो अर्थात् इसी से पूर्ण अर्थक्रिया की समाप्ति हो जाती है । सुख-दुःखादि को अन्तःकरण में बैठा लेना ही निर्माण कहा जाता है । कुंभकार में प्राण, पुर्यष्टक, बुद्धि, शून्य और देह आदि, ये सब नहीं रहते हैं; क्योंकि देहादि पदार्थ जडरूप होते हैं; इससे सिद्ध होता है कि संविद्रूप ज्ञान ही स्वातन्त्र्य-शक्ति की विचित्रता से सबों में भासित होता है । 'तस्य कस्यापि' इसका पूर्व में प्रतिपादन कर दिया है कि उस अचिन्त्य के ऊपर सत् है या असत् है इस विषय में प्रश्न नहीं खड़ा करना चाहिए । यह नहीं हो सकता है कि दोनों इन्द्रियों से वेद्य होकर सद्रूप या असद्रूप

वेद्यत्वमपि सदसद् वा,—इति; यतोऽयमत्र परमार्थः—यथा दर्पणान्तः कुम्भकारनिर्वर्त्यमान-घटादिप्रतिबिम्बे दर्पणस्यैव तथावभासनमहिमा, तथा स्वप्नदर्शने संविदः, तथापि तन्महिम्नैव एतेन इदं बहिः स्फुटरूपं क्रियत,—इत्यभिमान उल्लसति। एवं संविन्महिम्ना कुम्भकृति दण्ड-चक्रादौ घटेऽवस्थिते तन्महिम्नैव अभिमानो जायते; यथा मया इदं कृतम्, अनेन इदं कृतं, मम हृदये स्फुरितम्, अस्य हृदये स्फुरितमिति। तत्र जडस्य मृदादेर्दूरापेतोऽभिमान,—इति संवित्स्व-भावे कर्तृत्वं व्यवस्थाप्यते। ननु भावरूपमेव इत्थं भास्यतां किं द्वयेन्द्रियवेद्यत्वेनोक्तमत्र, स्फुटमर्थ-क्रियाक्षमं रूपमनेनोक्तम्,—इति को विरोधः॥ ४॥

अनेन च विचारेण प्रकृतमपि क्रियास्वरूपं सिद्धं भवति,—इति दर्शयति—

एवमेका क्रिया सैषा सक्रमान्तर्बहिःस्थितिः।
एकस्यैवोभयाकारसहिष्णोरुपपादिता ॥ ५॥

सैषेति, यस्याः 'स्वरूपत आश्रयतश्च नोपपद्यते' इति उपालम्भः कृतः, सा उपपत्त्या स्थापिता। यतः संविद्रूपादान्तरात् प्रभृति इन्द्रियगोचरतया बहिष्पर्यन्ततया स्थितिराभासरूपा, तत एव वेद्यात्मककर्मालिङ्गनेन सक्रमा तावदुपपन्ना, कर्तृकर्मैकाश्रयतादात्म्याच्च एका। स च

में ही रहें; क्योंकि यहाँ पर यही परमार्थ है। जैसे की दर्पण में कुंभकार और बनाये जानेवाला घटादि का प्रतिबिम्ब होना दर्पण का ही महत्त्व माना जाता है, उसी प्रकार स्वप्न में ज्ञान का ही महत्त्व रहता है, फिर भी उसकी महिमा से बाहर भी स्फुटरूप से किया जाता है—ऐसा अभिमान होता है, इस प्रकार ज्ञान की महिमा से ही घट को बनानेवाले दण्ड-चक्रादि में और घट में रहनेवाले महत्त्व से ही अभिमान यह होता है कि मैंने यह घट बनाया, इसने यह किया, मेरे हृदय में स्फुरित हुआ, इसके हृदय में स्फुरित हुआ। इसलिए जडरूप जो मृदादि में ऐसा अभिमान नहीं हो सकता है। उससे तो यह दूर ही रहता है, इसी से ज्ञान में कर्तृता की व्यवस्था होती है।

अच्छा तो, भावरूप ही ऐसा (बाह्यरूपतया) भासित होता रहे, फिर दोनों इन्द्रियों से वेद्य होता है—ऐसा क्यों कहा ? प्रत्यक्ष अर्थक्रिया में समर्थ को ही इसमें कहा है, इसमें कौन-सा विरोध है॥ ४॥

इस विचार से प्रकृत-प्रसङ्ग में क्रियास्वरूप की भी सिद्धि हो जाती है, इसे दिखाते हैं—

इस प्रकार वह एक क्रिया सक्रम होकर बाहर एवं भीतर आभासरूप से रहती है। एक के ही दोनों आकार को सहनेवाले का वर्णन किया हुआ है॥ ५॥

'सैषेति', यह जो कहा गया है इसका अर्थ यह होता है कि स्वरूप और आश्रय ये दोनों रूपों में नहीं बन सकते—इस प्रकार उपालम्भ किया है वह उपपत्ति से स्थापित है; क्योंकि दूसरे संविद्रूप ज्ञान से इन्द्रिय गोचर होने के कारण बाहर तक की स्थिति आभासरूप से होती है, इसी हेतु से वेद्यात्मक कर्म के संपर्क से क्रिया सक्रमा उत्पन्न होती है, कर्ता और कर्म ये दोनों आश्रय के तादात्म्य से एक हो जाते हैं। वह एक आश्रय संविद्रूप होने के कारण स्वच्छता और

---

१. शङ्का करते हैं कि कर्ता का जो व्यापार है वही क्रिया है इस प्रकार कर्ता की आश्रयरूप ही क्रिया कही गयी है। कैसे फिर कर्म की आश्रयरूप भी कह दिया ? इस विषय में आचार्य का कथन है—सब क्रियाएँ कर्तृस्थभाववाली ही होती हैं, कोई कर्म में भी विशेषज्ञान की अधिकता के कारण देखी जाती

एक आश्रयः संविद्रूपत्वेन स्वच्छत्वस्वतन्त्रत्वाभ्यामुभयमप्यन्तर्बहीरूपं सहत इति ॥ ५ ॥

ननु भवतु घटादावेवं, यत्र तु बीजाङ्कुरादौ चेतनानुप्रवेशो न दृश्यते तत्र कथं बीजस्यैवाङ्कुरः कार्यो न भवति ? इत्याशङ्क्याह—

बहिस्तस्यैव तत्कार्यं यदन्तर्यदपेक्षया ।
प्रमात्रपेक्षया चोक्ता द्वयी बाह्यान्तरस्थितिः ॥ ६ ॥
मातैव कारणं तेन स चाभासद्वयस्थितौ ।
कार्यस्य स्थित एवैकस्तदेकस्य क्रियोदिता ॥ ७ ॥

अन्तराभासमानस्य तथारूपापरित्यागेनैव बहिराभासनं निर्माणं, ततश्च यद् वस्तु यमपेक्ष्य अन्तरित्युक्तं तद् वस्तु तस्यैव आन्तरवस्तुरूपविपरिवृत्तिमात्रस्य बहिष्करणार्हं भवति, संविद्रूपं

स्वतन्त्रता इन्हीं दोनों रूपों से बाहर एवं भीतर के स्वरूप को सह लेती है ॥ ५ ॥

अच्छा तो, घटादि में ऐसा भले ही रहें, किन्तु यहाँ बीज-अङ्कुर में तो चेतन का प्रवेश नहीं देखा जाता है फिर वहाँ बीज का अङ्कुर कार्य क्यों नहीं होता है ? इस प्रकार आशङ्का का उत्तर देते हैं—

बाहर में भी उसीका कार्य है जिसकी अपेक्षा से अन्तर्मुखी कार्य होता है और प्रमाता की अपेक्षा से बाहर और भीतर की दोनों स्थिति बनी रहती है ॥ ६ ॥

बाहर और भीतर इन दोनों की आभास स्थिति में प्रमाता ही कारण होता है। कार्य की स्थिति में एक ही रहता है उसी से एक की ही क्रिया होती है—ऐसा कहा भी है ॥ ७ ॥

अन्तर में आभासित होनेवाले अपने रूप का त्याग न करने के कारण उसका बाहर में आभास होता है, उसी को निर्माण कहते हैं, इससे जिस वस्तु की अपेक्षा करके अन्तःकरण में भासित होता है, उस आन्तर भासितरूप का अपरित्याग करने के कारण बाहर की ओर करने योग्य ऐसा अर्थ होता है, संविद्रूप प्रमाता की अपेक्षा करके अन्तःकरण में आभासित होनेवाले

है इसलिए वह कर्मस्थभाववाली कहलाती है। जबकि भाष्यकार का कथन है कि पचति, गच्छति, इन सभी में कर्मत्व रहता है किन्तु ज्ञानात्मक प्रमातृ-साररूप होने के कारण समकक्ष्यतया कर्तृस्था और कर्मस्था क्रिया कहलाती है, इस प्रकार कर्तृस्था और कर्मस्था क्रिया प्रसिद्ध हैं, कर्तृस्थरूप और कर्मस्थरूप द्वारा कर्म भी बाहर एवं भीतर उभयरूप से परामर्श की एकता के कारण बना रहता है। इस विषय में भर्तृहरि का कथन है—

कर्मस्थः पचतेर्भावः कर्मस्था च भिदेः क्रिया ।
असासिभावः कर्तृस्थः कर्तृस्था च गमेः क्रिया ॥

'पच्' धातु का भाव कर्म में रहता है और 'भिद्' धातु की क्रिया भी कर्म में रहती है। 'आस्' एवं 'अस्' धातु का भाव कर्त्ता में रहता है और 'गम्लृ गतौ' धातु की क्रिया भी कर्त्ता में रहती है।

इस प्रकार पचति गच्छति, इत्यादि क्रियाओं में स्वरूप से अनेकता होनेपर भी आश्रय की एकता होने के कारण एकता बनी रहती है।

च प्रमातारमपेक्ष्य अन्तराभासिनो भावास्तदपेक्षयैव बाह्याभासाः,—इति तेनैव तेषां बहिष्करणावभासनं युक्तं; ततश्च[1] प्रमातैव कारणं भवति न जडः। ह्यर्थे चः। यस्मात् स प्रमाता कार्यस्यान्तर्बहिराभासनद्वयनिमित्ततया स्थितस्तेन विना तदपेक्षस्याभासद्वयस्यानुपपत्तेः; तस्मादेकस्य प्रमातुरेव न तु कथञ्चित् जडस्य उदिता प्रसाधितरूपा क्रिया निर्मातृता भवतीति ॥ ६–७ ॥

एतदेव द्रढयति—

अत एवाङ्कुरेऽपीष्टो निमित्तं परमेश्वरः।
तदन्यस्यापि बीजादेर्हेतुता नोपपद्यते ॥ ८ ॥

यत एवं चेतन एव निर्माता, अत एक नैयायिकादिभिरङ्कुरादौ बुद्धिमानेव परमेश्वरो हेतुत्वेन इष्टः। ननु तैः निमित्तकारणतास्य अङ्गीकृता क्रियाविभागादिक्रमायातपरमाण्वादिद्वारकतया; समवायिकारणनिजावयवारम्भपरम्परया तु तत ईश्वरादन्यस्यापि बीजभूमिजलादेर्हेतुता कथिता। सत्यम्; कथिता, सा तु नोपपद्यते, उक्तयुक्त्या जडस्य हेतुतायोगात्; ततश्चेश्वर एव बीजभूमिजलाभाससाहित्येनाङ्कुरात्मना भासते,—इतीयानत्र परमार्थः ॥ ८ ॥

ननु परिदृष्टबीजादिव्यतिरिक्तबुद्धिमत्कारणकल्पनेन विना किमुपरुध्यत,—इति परस्य

सब पदार्थ-भाव उसी की अपेक्षा से ही ये बाह्य आभास कहलाते हैं, उसी से उनका बाहर में आभासित होना सिद्ध होता है; इसलिए यह सिद्ध होता है कि प्रमाता ही कारण है जडभाव की इनमें कारणता नहीं होती, यहाँ पर 'चकार' शब्द को 'हि' अर्थ में लिया गया है। जिससे वह प्रमाता कार्य के बाहर एवं भीतर दोनों आभासों में निमित्त होकर विद्यमान रहता है, उसके बिना अपेक्षित दोनों आभासों की उपपत्ति न होने के कारण एक ही प्रमाता से उदित क्रियाओं प्रसाधन होता है जड की तो कारणता किसी प्रकार से भी नहीं होती ॥ ६–७ ॥

इसी बातको दृढ करते हैं—

अत एव अङ्कुर होने में भी परमेश्वर ही निमित्त माना जाता है। उससे भिन्न बीज आदि में हेतुता नहीं बन पाती है ॥ ८ ॥

क्योंकि चेतन को ही निर्माता माना गया है, इसलिए नैयायिकों के द्वारा अङ्कुरादि में बुद्धिमान् परमेश्वर ही हेतु है और हेतुरूप से अनुमान भी किया जाता है।

इस पर शङ्का की जाती है कि उन लोगों ने ईश्वर को निमित्तकारण माना है; क्रिया का विभाग के द्वारा क्रम से प्राप्त अणु-परमाणु आदि अपने अवयव को समवायिकारण मानने से सिद्ध होता है कि ईश्वर से भिन्न जल, भूमि और अङ्कुर आदि की भी हेतुता होती है—ऐसा कहा हुआ है। ठीक है, किन्तु वह हेतुता ईश्वर में घटती नहीं है, उक्त युक्ति से तो जड को ही हेतुता सिद्ध होती है, इसलिए कहना होगा कि ईश्वर ही बीज, भूमि, जल आदि साहित्य के माध्यम से अङ्कुररूप होकर भासता है, इतना ही यहाँ उत्तम है ॥ ८ ॥

अच्छा तो, परिदृष्ट बीजादि से भिन्न बुद्धिमान् ईश्वर को कारण न मानने से क्या क्षति

---

१. जबकि जड वस्तु का कार्य नहीं देखा जाता है इसलिए कारण भी जड नहीं है। इसी कारण नियतिशक्ति को आगे करके जड शरीर में जैसे चेतन की कारणता के रहने पर ही गमनादि क्रिया करते रहते हैं वैसे ही जड बीजादि में उपचार मात्र है कि यही सब कुछ सम्पन्न करता है, वस्तुतः जड वस्तु में किञ्चित् भी सामर्थ्य नहीं रहता है।

भ्रान्ति भिन्दन्नाह—

तथा हि कुम्भकारोऽसावैश्वर्यैव व्यवस्थया ।
तत्तन्मृदादिसंस्कारक्रमेण जनयेद् घटम् ॥ ९ ॥

'तथा हि' इति निदर्शनोपक्रमेण व्याप्तिरेवंभूतैव दृष्टा,—इति द्रढयति । जडा हेतवश्चेतनप्रेरिताः कार्यं कुर्वन्ति, मृदादयो यदि सन्निधिमात्रेण विदध्युः कुम्भकारेण किमत्र कृत्यम्; शिविकस्तूपकादिपरम्परया ते जनयन्ति; सा च कुम्भकारायत्ता,—इति चेत् सिद्धं नः साध्यम् । शिविकसंपादनेऽपि ते चेतनप्रेरणामपेक्षन्ते,—इति । तज्जडकारणानां चेतनप्रेरणामन्तरेण न क्वचित् कार्यकारित्वम्; यदि हि स्यात् मृदादीनामपि स्यात्,—इति एकान्त एषः । ततश्च यत् अचेतनं कार्यकारि तत् चेतनापेक्षं मृदादय इव, तथा च बीजादि,—इति स्वभावः । अचेतनकार्यकारित्वं हि कादाचित्कत्वात् सनिमित्तम्, न चान्यदस्य निमित्तमुपपद्यते अनुपलम्भात्,—इति चेतनप्रेरणं यदि न निमित्तीकुर्यात् व्यापकविरुद्धमन्यनिमित्तकत्वं प्रसज्येत; न च युक्तं तत्, मृदादावपि तस्य प्रसङ्गात्,—इति सिद्धा व्याप्तिः; अतश्च कुम्भकृदेव तत्रेश्वरः । तदेतदाह—ईश्वररूपा या व्यवस्था, तया यः स स मृद्दण्डचक्रादीनां संस्कारः, मृदो मर्दनं, दण्डस्य प्रगुणत्वं, चक्रस्य परिवर्तनम्,—इत्यादिः, तदारम्भो यः क्रमः शिविकस्तूपकादिरूपः, तेन घटं नियोगतो

जायेगी ? ऐसी जो दूसरे लोग भ्रान्ति करते हैं उसे दूर करते हैं ।

देखो; जहाँ पर साक्षात् बुद्धिमान् कुंभकार भी ईश्वर की व्यवस्था से ही उन-उन मृदादि (दण्ड चक्र-सूत्र) के संस्कार क्रम से घट का निर्माण करता है, इस प्रकार चेतन ही तो कारण बना ॥ ९ ॥

'तथाहि' दृष्टान्त का उपक्रम बना करके व्याप्ति ऐसी ही देखी गयी है, इस बात को दृढ करते हैं । जड हेतु चेतन से प्रेरित होकर कार्य करते रहते हैं, यदि मिट्टी-चीवरादि ये सभी जितने भी हैं, वे आपस में संमिलित होकर कार्य कर डाले तो फिर कुंभकार का कौन सा कृत्य रह जायेगा; और दण्डादि परम्परा से वे सभी आपस में मिल करके घट का निर्माण करते हैं और वह क्रिया कुंभकार के अधीन हो तब तो हमारा कार्य सिद्ध ही हो गया, फिर इसमें कहने को बात ही नहीं रहती । घट के निर्माण में चेतन को ही प्रेरणा की अपेक्षा रखते हैं, जड कारणों से चेतन की प्रेरणा के बिना बीजादि में कार्यकारिता नहीं रह जाती यह कहना पड़ेगा । यदि इनकी कार्यकारिता को मानते हो, तो मृदादि की भी माननो ही होगी । इसमें गुञ्जाईश नहीं होगी और यह आवश्यक भी है । इससे सिद्ध हुआ कि जो भी अचेतन जड कार्य करेगा वह चेतन तत्त्व की सहायता से ही कर सकेगा । जैसा कि मृदादि का कार्य । अचेतन जड आदि जो कुछ भी कार्य करते हैं उसमें चेतन की ही निमित्तता होती है इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी निमित्त नहीं होता; क्योंकि दूसरा कोई इसमें दिखाई नहीं देता, यदि चेतन को निमित्त न मानते हो तो व्यापक के विरुद्ध अन्य किसी की निमित्तता माननो होगी; जबकि यह उचित नहीं है; क्योंकि मृदादि में भी उसकी प्राप्ति हो जायेगी । इसलिए कुंभकार ही उसमें ईश्वर है यह मानना पड़ेगा । इसे बताते हैं कि ईश्वर के द्वारा बनो हुई व्यवस्था से उस-उस मिट्टी, दण्ड, चक्रादि का संस्कार होता है, जैसे—मिट्टी का मर्दन करना, दण्ड को चक्र में लगा कर चक्र की गति को वेग देना इत्यादि ।

जनयति, नान्यथा,—इति नियोगे लिङ् । किं च यदि न क्रुध्यते वस्तुतः कुम्भकारोऽपि ऐश्वर्यैव स्वतन्त्रविश्वात्मतारूपया व्यवस्थया मृदादिसंस्कारापेक्षया प्रदर्शितनियत्यभिधाननिजशक्ति-विजृम्भातो घटं जनयेत्; अन्यथा अचेतना मृदादयः कथं कुम्भकारेच्छामनुरुध्येरन्, तन्तवोऽपि वा पटसंपादनेच्छां किं नाद्रियेरन् । तदेतदपि उक्तम् अनेनैव सूत्रेण 'तथा हि' इति । नन्वेवं कुम्भकृतो नास्ति कर्तृत्वम्,—इति समुत्सीदेत् धर्माधर्मव्यवस्था । यदि प्रत्येषि युक्त्यागमयोः, तत् एवमेव; तथापि समस्तेतरनिर्माणमध्य एव इदमपि परमेश्वरेणैव निर्मितं, यदविचलस्तस्य कुम्भकारपशो-र्मिथ्या कर्तृत्वाभिमानः प्रतिभुव इव अधमर्णताभिमानः, यदि पुनर् ईश्वरस्येच्छैव इयमीदृशी 'मा अस्य अभियानोऽयम् उद्गमत्' इति, तदा नासौ कर्ता कश्चित् । तदिदमपि उक्तं सूत्रेनैव 'तथा हि' इति । कुम्भकारस्यापि 'मृदादिसंस्कारक्रमेण किं घटं जनयामि, उत न जनयामि' इति य एक-पक्षनिश्चयाय संप्रश्नात्मा विचारः, स ईश्वरसम्बन्धिन एव विविधात् स्वरूपावच्छादनतत्त्वप्रका-शनरूपात् अवस्थानात्,—इति संप्रश्ने लिङ् । तस्मात् वस्तुत 'ईश्वर एव सर्वत्र कर्ता, अहं च स एव' इति न परिमिते कर्ता, अपि तु सर्वत्र कर्ता,—इति एतावति सर्वथा हृदयेन अवधातव्यम्,—इति स्थितम् ॥ ९ ॥

दृश्यते चास्य चेतनस्य स्वातन्त्र्यमेव सर्वत्र जृम्भमाणं जडानपि यत् स्वात्मतामापादयति, न तु जडानां वस्त्वन्तराविष्करणे सामर्थ्यम्,—इति यदुक्तं, तत् सर्ववादिप्रसिद्धनिदर्शनेन द्रढयति—

उससे आरम्भ होनेवाले जो क्रम हैं वह शिविकस्तूपकादिरूप है, जिससे कि घट ईश्वरीय नियम से निर्मित होता है, दूसरे प्रकार से नहीं होता, इसलिए यहाँ पर नियोग अर्थ में 'लिङ्' लकार दिया है।

यदि ईश्वर नहीं कहते हो तो कुंभकार क्रुद्ध होगा और घट का निर्माण नहीं होगा; चाहे तो अपनी स्वतन्त्र-शक्ति से मृदादि के संस्कार न करके भी घट बना ले और अचेतन मृदादि भी कुंभकार की इच्छा का अनुरोध करके कार्य कर ले, इस प्रकार तन्तुओं से भी पट बना ले। इसलिए 'तथाहि' इसी सूत्र में हमलोग कह भी आये हैं।

अब शङ्का करते हैं कि कुंभकार की कर्तृता नहीं होती, यदि होती है तो धर्माधर्म को व्यवस्था बन्द हो जायेगी। इसलिए यह ईश्वर ने बनाया है पशुरूप जो कुंभकार है उसका मिथ्या अभिमान है। जैसा कि प्रतिवादी का प्रतिभूमात्र होता है, इसलिए कुंभाकार का मृदादि संस्कार क्रम से घट बनाऊँ या न बनाऊँ यह एक पक्षीय प्रश्नात्मक विचार होगा, इस प्रकार उस ईश्वर सम्बन्धी अनेक प्रकार के रूपों का आच्छादन करना और प्रकाशन कर स्थापन करना, इसी प्रश्न में लिङ् लकार है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुतः ईश्वर ही सर्वत्र कर्त्ता है। 'अहं च स एव' और मैं भी वही हूँ। वह परिमिति कर्त्ता नहीं है, अपितु सर्व कर्तृता ईश्वर की ही रहती है। इस बात को सब प्रकार से सर्वदा हृदय में दृढतापूर्वक धारण रखनी चाहिए ॥ ९ ॥

चेतन की स्वातन्त्र्य-शक्ति सर्वत्र बढ़ती हुई जड-भावों को भी आत्मरूप बना लेती है—यह देखा जाता है। जड-भावों में अन्य पदार्थ को उत्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं होता, यह कहा है, वह सभी वा।दओं के सिद्ध दृष्टान्त से घटता भी है इसे दृढतापूर्वक सिद्ध करते हैं—

१. स्वप्न और मनोराज्य में चेतन का ही कार्य-कारणभाव देखा गया है। इस विषय में भट्ट दिवाकरवत्स का कथन है—न दृश्यते त्वत्प्रतिभासशक्तेः स्वप्नेऽर्थवैचित्र्यनिमित्तमन्यत् । तद्दृष्टसामर्थ्यतया सदैषा विश्व-

योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन तत् ।
घटादि जायते तत्तत्स्थिरस्वार्थक्रियाकरम् ।। १० ।।

यत् इह चेतनप्रेरितं कारणम्,—इति प्रसिद्धं मृदादि, यच्च तदनपेक्षं बीजादि घटादेरङ्कुरादेश्च जनकं, तदेव यदि परमार्थतः कारणं स्यात् तत् तद्व्यतिरेकेण घटाङ्कुरादेः कथं योगीच्छामात्रेण जन्म स्यात्, अकारणत्वप्रसङ्गात् तेषां वा अकारणत्वापत्तेः। यथोच्यते—अन्ये एव ते घटाङ्कुरादयो मृद्बीजादिजन्याः, अन्ये एव च योगीच्छादिजन्याः,—इति, तत्रापि प्रबोध्यसे—विमर्शाभेदात् तावदभेद,—इति पूर्वमेव उक्तम्; तत्रापि योगी खलु अप्रतिहतेच्छः तस्य च इच्छा-तादृगेव घटो भवतु यो मृदादिकृतकुम्भसंभवभूयर्थक्रियाकरणचतुरवृत्तिरिति। तदेतदाह—तस्य स्थिरस्य अर्थक्रियान्तरानुबन्धिनः कालान्तरानुबन्धिनश्च स्वस्य आत्मीयस्य अर्थक्रियाविशेषस्य करणे हेतुतच्छीलानुकूलरूपं घटादि जायते,—इति। ये त्वाहुः—नोपादानं विना घटाद्युत्पत्तिः, योगी तु इच्छया परमाणून् पश्यन् संघट्टयतीति। ते वाच्याः—यदि खलु अन्वयव्यतिरेकागमादि-परिदृष्टः कार्यकारणभावो योगिषु न विपर्येति,—इति हृदयमावर्जयति वः, तत् किं परमाणुग्रहेण; नो चेत् घटस्य कपालादि शरीरस्य स्वावयवाः, तेषां निजं निजं प्रसिद्धं तृणशस्तिलशोऽपि अन्यथा-

योगियों के द्वारा मिट्टी और बीज के सम्बन्ध में बिना इच्छा के ही अङ्कुर अङ्कुरित हो जाते हैं। उसी प्रकार उन-उन अपनी क्रिया करनेवाले घटादि भी होंगे ।। १० ।।

यह जो चेतन से प्रेरित प्रसिद्ध मृदादि कारण है, वह मृदादिरूप कारण बिना किसी अपेक्षा के बीजादि अंकुरादि का एवं मृदादि घटादि का जनक नहीं होता है। यदि वही परमार्थतः होता तो कैसे उसके बिना भी घटादि और अंकुरादि चेतन की इच्छा से उत्पन्न हो जाते हैं। उसके बिना घटादि एवं अंकुरादि का कैसे योगी की इच्छामात्र से जन्य हो सकता है। उनकी कारणता नहीं होने से उनमें कारणता को प्राप्ति भी नहीं होती। यदि दूसरे लोग कहें कि घटादि और अंकुरादि क्रमशः मृदादि एवं बीजादि से उत्पन्न होते हैं और योगी की इच्छा से होनेवाले दूसरे ही अंकुरादि होते हैं, क्रम को तो बनाया जाता है, जब कि इन दोनों में विमर्श का भेद नहीं है, यह अभेद ही है इस बात को हम पहले भी कह चुके हैं। वहाँ पर भी योगी की इच्छा अप्रतिहत होती है और उसकी इच्छा जैसी होती है वैसा ही घट का निर्माण हो जाता है। जैसा कि कुंभकार मिट्टी से घट बना लेता है, तो भी उसी प्रकार का ही घट स्थिर अर्थ क्रिया करने-वाला घट कालान्तर में अपनी अर्थक्रिया विशेष को करनेवाला हेतु और उसके शील के अनुसार उत्पन्न होता ही है और जो लोग कहते हैं कि बिना उपादान के ही योगी की इच्छा से घटादि की उत्पत्ति होती है—यह बात नहीं है। योगी अपनी इच्छा से परमाणु आदि को संघटित कर लेता है। अन्वय-व्यतिरेक से होनेवाले कार्य-कारणभाव यदि योगी में विपरीत न होता तो तुम लोगों के हृदय को कौन आकर्षित करता, परमाणु के ग्रहण करने से क्या होगा और घट के

प्रपञ्चप्रथनैकहेतुः ।।

हे भगवन् ? आपकी प्रतिभास-शक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई कारण स्वप्न में पदार्थों की विचित्र-रचना करने के लिए दिखायी नहीं देता है। विश्व प्रपञ्च के विस्तार करने में एकमात्र निमित्त संविद्रूप यह शक्ति ही है।

भवनमसहमानं लौकिकमेव कारणम्,—इति घटे मृद्दण्डचक्रादि, देहे स्त्रीपुरुषसंयोगादि सर्वमपेक्ष्यं परिदृष्टदीर्घतरकालपरिवासमिति। योगीच्छया तु समनन्तरोदितघटदेहादिसंभवो दुःसमर्थ एव। चेतन एव तु तथा तथा भवति भगवान् भूरिभर्गो महादेवो नियत्यनुवर्तनोल्लङ्घनघनतरस्वातन्त्र्यः,—इत्यत्र पक्षे नियत्यनुवर्तिनि लौकिके प्रसिद्धे कार्यकारणभावे स्वातन्त्र्यं, तदुल्लङ्घनमाद्रियमाणस्य तु योगिप्रायप्रसिद्धे लोकोत्तरे,—इति न कश्चित् विरोधः। इयान् च लोक एव, परमार्थतस्तु स एव क्रमाक्रमरूपविश्वसृष्ट्यादिकृत्यपञ्चकप्रपञ्चस्वभावः प्रकाशते; चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवदाभासयति,—इति सिद्धान्तः। यदाह पूर्वगुरुः—'निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते। जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥' (स्तवचि० ९ श्लो०) इति॥ १०॥

ननु यदि प्रसिद्धकारणोल्लङ्घनेनापि तत्कारणजन्यकार्यविशेषतुल्यवृत्तान्येव कार्याणि जायन्ते, भग्नास्तर्हि अनुमानकथाः। तथा हि कथमन्यदन्यत्र नियमवद्भवेत् ?,—इत्याशङ्क्य प्रामाणिकतरम्मन्यैस्तादात्म्यतदुत्पत्ती नियमनिदानमुपगते; नहि निःस्वभावं वस्तु भवति, नापि भिन्नस्वभावं स्वभावभेदेन भेदात्; पर्यायशस्तत्स्वभावद्वयाभावे च निःस्वभावताप्रसङ्गात्। एवं

लिए कपालादि उनके अवयवों का क्या प्रयोजन होता, उनके लिए अपना-अपना प्रसिद्ध छोटे-छोटे अवयवों के मिलाने का लौकिक व्यापार करना सब व्यर्थ हो जाता है। जैसा कि घट में मिट्टी, दण्ड, चक्रादि। पुरुष के शरीर होने में स्त्री-पुरुष संयोगादि सब की भी तो अपेक्षा रहती है वह व्यर्थ जाता। योगी की इच्छा से सब घटादि एवं अंकुरादि की उत्पत्ति हुआ करती और सबों का संयोग तो दुःसमर्थन ही होगा, इसलिए जिसके गर्भ में सारा विश्व रहता है, ऐसे भगवान् चेतन ही नियति का भी अतिक्रमण कर सकते हैं, यही उनका घनतर स्वातन्त्र्य है। इस प्रसिद्ध लौकिक निरन्तर कार्य-कारणभाव में ईश्वर की स्वतन्त्रता को भी अतिक्रमण करनेवाले के मत में योगी की प्रसिद्ध लोकोत्तर सृष्टि में कोई विरोध नहीं है। ये तो सब लौकिक ही बाते हैं, परमार्थतः क्रम एवं अक्रमपूर्वक विश्व सृष्टि के पञ्चकृत (उत्पत्ति-स्थिति-लय-निग्रह-अनुग्रह) स्वभाववाले चेतन भगवान् अपने में संपूर्णभाव-पदार्थों को रखते हुए अपने से ही अवभासित करते हैं और उत्पन्न करते हैं। यही सिद्धान्त है।

जिसका कि पूर्व गुरुवर्यों ने प्रतिपादन किया भी है—उपादान कारण के बिना ही अपने में ही सारे विश्व को भगवान् शूलपाणि प्रकाशित करते हैं। जैसा कि बिना भित्ति का चित्र। (स्तवचि० ९ श्लोक में) ॥ १० ॥

अच्छा तो, यदि प्रसिद्ध कारण का अतिक्रमण करने पर भी उसके कारण से होनेवाले कार्य विशेष ही होता है, इससे फिर अनुमान करने की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी। दूसरी जगह नियम से क्यों होगा ? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं कि अपने को दृढ प्रामाणिक माननेवाले तादात्म्य उससे उत्पत्ति को नियम का कारण मानने पर कोई वस्तु निःस्वभाव (स्वभावशून्य) नहीं हो सकती, भिन्न स्वभाववाली भी नहीं हो सकती; क्योंकि स्वभाव में भिन्नता होती है, इसलिए उसका भी भेद हो जायेगा। इस प्रकार यदि क्रमशः एक-एक को मानते हो तो दो स्वभाव के अभाव होने के कारण निःस्वभावत्व प्राप्त हो जायेंगे। इस प्रकार निर्हेतुक और भिन्न

निर्हेतुके भिन्नहेतुके च कार्ये वाच्यम् । उभयत्रापि च हेतुकृतैव व्यवस्था; स्वहेतुत एव हि शिंशपा वृक्षस्वभावाव्यभिचारिणी जाता, स्वहेतुतश्च हुतभुग्धूमजननस्वभावः, तदिदानीं नियत्युल्लङ्घिनि कार्यकारणभावे सर्वमिदं विघटेत । योगीच्छया हि शिंशपापि अवृक्षस्वभावा भवेत्, धूमे तु द्विगुणं चोद्यम्; अग्न्यादिसामग्री योगीच्छोद्भूता धूमं न जनयेत्, योगीच्छा वा अनग्निकं धूमम्,—इति न स्यादनुमानम्, अस्ति च तल्लोके, इत्याशङ्क्याह—

योगिनिर्माणताभावे प्रमाणान्तरनिश्चिते ।
कार्यं हेतुः स्वभावो वात एवोत्पत्तिमूलजः ।। ११ ।।

योगीच्छापि सर्वथा तादृशमेव न तु वृश्चिकगोमयादिसंभूतवृश्चिकादिन्यायेन कथंचित् रसवीर्यादिना भिन्नं कार्यं जनयति,—इति यत् कथितमत एवास्मादेव हेतोः कार्यं वा धूमादि अग्न्यनुमाने, शिंशपात्वादिस्वभावो वा वृक्षत्वाद्यनुमाने एवं हेतुर्भवति, यदि प्रमाणान्तरेण लोकप्रसिद्धया योगिनिर्माणत्वस्याभावो निश्चितो भवति नान्यथा; अत एवानुमाने जन्मान्तराभ्यासलोकप्रसिद्धयादिकमवश्योपजीव्यम् । सा च श्रुतानुमानप्रज्ञयोर्बीजम्,—इति च ऋतंभराविषयमु-

हेतुक के कार्य में ऐसा ही कहना पड़ेगा । दोनों स्थलों में हेतु के द्वारा ही व्यवस्था होगी; अपने हेतु से ही शिंशपा वृक्ष स्वभाव को छोड़ सकती है, धूम में यही दूना कह सकते हैं, योगी की इच्छा से उत्पन्न होनेवाली अग्नि इत्यादि सामग्री धूम नहीं उत्पन्न कर सकती और यह अनुमान भी नहीं बन सकता है । लोक में तो यह होता है कि अग्नि से धूम निकलता है, ऐसी आशङ्का करके कहते हैं कि—

योगी की इच्छा से निर्माण न होने पर दूसरे प्रमाण से ही कार्य निश्चित होता है । इसलिए कार्य हेतु या स्वभाव मूल उत्पत्ति से उत्पन्न होता है ।। ११ ।।

इस प्रकार योगी की इच्छा भी सर्वत्र ऐसी नहीं होती है । जैसा कि गोबर से वृश्चिक उत्पन्न होता है, उसी प्रकार रस-वीर्यादि से भिन्न वृश्चिक को उत्पन्न कर देते हैं, हमारे कहे हुए हेतु से धूमादि कार्य अग्नि के अनुमान में एवं वृक्षत्व के अनुमान में शिंशपादि स्वभाव हेतु होता है, यदि दूसरे प्रमाण से लोक प्रसिद्धिपूर्वक ही वस्तु का निर्माण हो जाय तो उसमें योगी की इच्छा का अभाव ही रहता है । अन्यथा नहीं होता; इसलिए दूसरे जन्म में लोक प्रसिद्धि के द्वारा किये हुए अभ्यासों के संस्कार का उपभोग अवश्य करना चाहिए । वह श्रुतानुमान और प्रज्ञा का बीज है, इसलिए योगसूत्र में महर्षि पतञ्जलि ने 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' समाहित चित्त की जो प्रज्ञा है वह ऋतम्भरा प्रज्ञा बुद्धि है । उस दशा में वस्तु की यथार्थता को देनेवाली बुद्धि का उदय होता है । इन्द्रियों के साथ अर्थों का सम्बन्ध होकर जो प्रत्यक्ष विषय होता है, उसको माननेवाले दूसरे

---

१. ऋतम्भरा समाधि प्रज्ञा 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' । तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्ति न च तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति तथोक्तम्—'आगमेनानुमानेन तथाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ।।' सा पुनः 'श्रुतानुमानप्राज्ञभ्यामन्यविषया विशेषार्थविषयत्वात्' श्रुतमागमविज्ञानं तत्सामान्यविषयं नहि आगमेन शक्यो विशेषोऽभिधातुं कस्मात् नहि विशेषेण कृतसंकेतः शब्दः तथानुमानं सामान्यविषयमेव यत्र प्राप्तिस्तत्र गतिः यत्र न प्राप्तिस्तत्र गतिरपि न भवतीति तस्मात् श्रुतानुमान-विषये विशेषो न कश्चिदस्तीति । न

वाच पतञ्जलिः । अन्ये च यौक्तिका योगिप्रत्यक्षकल्पप्रत्यक्षसद्भावं समस्तवस्तुग्रहणाय कल्पितवन्तः । सांव्यवहारिके च प्रमाणे नास्माकं भरः; प्रकृतं हि अस्माकमीश्वरस्वरूपं, तच्च स्वप्रकाशमेवान्यप्रमेयोपरोधेऽपि नोपरुध्यत,—इत्युक्तमसकृत् । ननु स्वभावहेतौ किमनया चिन्तया ?,

लोग हैं, योगी प्रत्यक्ष के सदृश्य प्रत्यक्ष प्रमाण को भी सब वस्तु पदार्थों के ग्रहण में कल्पना करते हैं। इस प्रकर छः सन्निकर्षों से प्रत्यक्षादि विषय दृष्टिगत होता है, इस विषय में हम लोगों का कोई भार नहीं है; क्योंकि हमें तो प्रकृत ईश्वर स्वरूप ही मान्य है और वह तो अपने स्वयं के प्रकाश से प्रकाशित ही रहता है। किसी अन्य प्रमेय से अवरोध होने पर भी नहीं रुकता, ऐसा

चास्य विशेषस्था प्रामाणिकस्याभावोऽस्तीति समाधिप्रज्ञातिग्राह्य एव स विशेषो भवति भूतसूक्ष्मगतो वा पुरुषगतो वा, न चास्य सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोक प्रत्यक्षेण ग्रहणं तस्माच्छ्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया सा प्रज्ञा विशेषार्थत्वादिति ।

यह पातञ्जल योग दर्शन में दिखाया गया है कि उस समाहित चित्त की अवस्था में जो बुद्धि पैदा होती है उसे शास्त्र में ऋतम्भरा नाम से कहा जाता है तथा वह बुद्धि यथार्थ ज्ञानवाली मानी जाती है, एवं सत्य को ही पालन करती है उसमें विपरीत ज्ञान की गन्ध थोड़ी सी भी नहीं मिलेगी अर्थात् अविद्या से इसका कोई लगाव नहीं होता ।

आगमशास्त्र, अनुमान और ध्यानाभ्यास के बल से उत्पन्न रस द्वारा विचार विमर्श करता हुआ उत्तमयोग की गति को प्राप्त कर लेता है । श्रुतिज्ञान और अनुमानज्ञान से व्यतिरिक्त विषयक वह बुद्धि होती है । इसकी विशेषता है कि यह बुद्धि अर्थ को साक्षात् करने में समर्थ होती है । श्रुतिजन्य ज्ञान सामान्यरूप से तो पदार्थ का ज्ञान करानेवाला ही होता है । श्रुति ज्ञान अर्थात् आगम से यथार्थ स्वरूप को बुद्धि धारण करने में असमर्थ है । क्यों ? विशेषरूप से अर्थ का शब्द के साथ संकेत नहीं हुआ होता है वैसे ही अनुमान भी सामान्य विषयक बन जाता है । जहाँ तक हेतु की प्राप्ति है वहाँ तक ही अनुमान की गति देखी जाती है उससे आगे नहीं हो सकती; क्योंकि हेतु से ही हेतुमान् का बोध होता है । इसलिए श्रुत और अनुमान इन दोनों विषयों में विशेष अर्थ कुछ भी काम नहीं कर सकता है । लौकिक वस्तु के प्रत्यक्ष से सूक्ष्म, आवृत्त [ढका हुआ] जो कि अत्यन्त परिश्रम से जानने योग्य आत्मज्ञान का ग्रहण करना कठिन ही है और अनुमान तथा आगम प्रमाण से शून्य विशेष पदार्थ-वस्तु का अभाव भी नहीं दिखता । समाहित बुद्धि के द्वारा निश्चय किया गया अर्थ ही विशेषार्थ माना जाता है फिर वह ज्ञान सूक्ष्मभूतों का ही क्यों न हो अथवा पुरुष स्वरूप का हो । इसीलिए श्रुत और अनुमान की बुद्धि से तो वह बुद्धि दूसरे अर्थ को विषय करनेवाली ही होती है जबकि यह यथार्थता को ग्रहण करती है ।

१. नियम का ज्ञान सामान्य होता है, धूम और वह्नि के सहचार का प्रत्यक्ष और वह्नि के बिना धूम की स्थिति नहीं पायी जाती है इन दोनों की सहायता से धूम वह्नि का व्याप्य है—ऐसा ज्ञान मन से होता है । जबकि इस विषय में कहा भी गया है—

मनश्च सर्वविषयं केन वा नाभ्युपेयते ।
असंनिहितमप्यर्थमवधारयितुं क्षमम् ॥

मन तो जो असंहित विषय है उसका भी ग्रहण कर लेता है ,इसलिए उस सर्वविषयक मन को कौन नहीं मानेगा अर्थात् सब को मानना ही पड़ेगा ।

आह—वृक्षत्वाव्यभिचारिण्याः शिंशपाया उत्पत्तेर्यन्मूलं कारणं तत एव स तन्मात्रानुबन्धी स्वभावो जायते,—इति; ततश्च—'एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः। हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत् ॥' इति स्वभावहेतुर्न्यायः। ननु च वृश्चिकादीनां कीटगोमयाद्यनेककारणत्वं तावत् दृष्टं, रसवीर्यादिभेदस्तु तत्र,–इत्यन्यदेतत्। तद्योगिजन्यत्वमवह्निकस्यापि धूमस्य सह्यं नाम, स्वभावस्य तु कथं विपर्याससंभावना। न हि नीलं सदेवानीलं योगीच्छया भवति,—इति कश्चित् प्रामाणिकः प्रतीयात्। उच्यते। इह द्विविधो हि स्वभावहेतुरन्तर्लीनकार्यकारणभावस्तद्विपरीतश्च; वह्निमानयं पर्वतो धूमवत्त्वात् इति, अनित्योऽयं कृतकत्वात् इति। तत्र आद्यस्य तावत् कार्यकारणभाव एव मूलम्,—इति किं तत्रोच्यते। अपरस्तु विचार्यते, यदि तावत् कृतकत्वस्य कारणायत्तत्वं नाम स्वभावः कथम् अभवनपरिच्छिन्नभवनस्वभावता नामानित्यत्वं स्वभावः स्यात्? आभासभेदात्। अभेदे तु आभासस्य हेतुसिद्धावेव साध्यस्य सिद्धत्वात्, यदि परं व्यवहारः साध्यते, तरुरयं वृक्षत्वात्,—इति न्यायेन व्यवहारश्च ज्ञानाभिधानात्मा कार्यं एव, तत्रैव नियतिशक्तिरङ्गीकृता

हमने अनेक बार कहा भी है। अच्छा तो, इस पर शङ्का होती है कि इसमें स्वभाव ही हेतु है तो अन्य चिन्ताओं से क्या प्रयोजन? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं कि वृक्षत्व युक्त शिंशपा की उत्पत्ति में जो मूल कारण है उसी से शिंशपा मात्र सम्बन्ध रखनेवाला स्वभाव ही उत्पन्न होता है, इस विषय में कहते भी हैं। एक सामग्री के अधीन होनेवाले रूपादि की रस से उत्पत्ति होती है। हेतु धूम के अनुमान द्वारा जैसा कि धूम लकड़ी का विकार है। यही स्वभाव हेतु का न्याय है। पुनः शङ्का करते हैं कि वृश्चिकादि की उत्पत्ति में भी कीट-गोबर आदि बहुत से कारण देखे गये हैं, रस-वीर्यादि का भी भेद वहाँ पर होता है ये सब दूसरी बातें हैं। योगी से धूम उत्पन्न होता है वह बिना अग्नि के भी हो सकता है, किन्तु स्वभाव का परिवर्तन नहीं होता। योगी की इच्छा से नील पदार्थ है वह अनील नहीं हो सकता है; कोई भी प्रामाणिक व्यक्ति इस पर विश्वास नहीं रखेगा।

इसका उत्तर देते हैं कि यहाँ पर स्वभाव के भी दो हेतु होते हैं; एक अन्तर्लीन कार्य-कारणभाव और दूसरा उसके विरुद्ध जैसा कि यह पर्वत वह्निवाला है धूमवाला होने से, यह अनित्य है उत्पत्ति शील होने के कारण। उसमें आद्य कार्य-कारणभाव ही मूल है—वहाँ फिर क्या कहना। दूसरे पर विचार करते हैं, यदि कृतकत्व कारण के अधीन है तो वही स्वभाव हुआ नहीं होने का स्वभाववाला वह होने को स्वभाववाला अनित्य कैसे होगा? क्योंकि दोनों में आभास का भेद है। अभेद में तो आभास का हेतु सिद्ध ही रहता है; क्योंकि सिद्ध में ही साध्य की सिद्धि होती है, यदि दूसरा व्यापार सिद्ध करना हो, तो यह वृक्ष है, वृक्षत्व होने के कारण। इस न्याय

१. अभावेन हि धर्मेण तद्वत्ता धर्मिणः कथम्।
अभावग्रहवेलायां धर्मिणोऽनुपलम्भनात् ॥

अभावरूप धर्म से धर्मी को अभाववाला नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि अभाव के ज्ञान काल में धर्मी का ज्ञान नहीं होता है अर्थात् अभाव ज्ञानकाल में धर्मी का ज्ञान नहीं होने के कारण यह अभाववान् है ऐसा कहना असंभव हो जाता है।

२. साध्यानुमितिवेलायां न चास्ति नियमग्रहः।
नियमग्रहकाले च न साध्यमनुमीतेय॥

भवतापि। तस्मात् सर्वेषु स्वभावहेतुष्वाभासभेदं विना व्यवहारमात्रसाधनमेव, हेत्वाभासमयत्वादेवानधिको हि तत्र साध्याभासो, व्यावृत्तोनामेषैव वार्ता, सामान्यानामियमेव सरणिः। तस्मात् नियतिशक्त्यायत्तः शिंशपाभासवृक्षाभासयोः पूर्वनीत्या सामानाधिकरण्याभासो हेतुबलात्। ततः स्वभावोऽयं हेतुहेतुमद्भावमूल एव, तत एव सामान्येनेदमुक्तं द्रष्टव्यं—सर्वः स्वभावहेतुरुत्पत्तिमूलजः,—इति। आभासा एव च वस्तु,—इति च समर्थितं प्राक्। ततश्च शिंशपायामेकस्यामेव सृज्यमानायां शाखादिपदार्थान्तराणामसृष्टेर्वृक्षाभासस्य सामान्यात्मानः साध्यस्य नामापि नास्ति,—इति संभाव्यत एव। यत्तु तदेकरूपं विशिष्टं वृक्षत्वं तत् खलु शिंशपात्वमेव तच्च सिद्धम्,—इति

से व्यवहार भी ज्ञानाभिधानरूप होकर कार्य के रूप में ही सिद्ध हो जायेगा, वहाँ पर ही नियतिशक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा, यह तो आप को भी अभीष्ट है।

इसलिए सभी स्वभाव हेतुओं में आभास भेद के बिना ही व्यवहार मात्र के लिए साधन माना जाता है, [अभेद में भी आभास का व्यवहार मात्र के लिए ही भेद का व्यपदेश किया हुआ होता है] हेत्वाभासमय होने के कारण साध्याभास कोई अधिक नहीं होता, विशेष पदार्थों में अभेद भासित होने पर भी भेद की कल्पना व्यवहार साधनार्थ मात्र होती है, सामान्य पदार्थों के लिए भी यही मार्ग है।

इसलिए नियति-शक्ति के अधीन ही शिंशपाभास और वृक्षाभास इन्हीं दोनों की पूर्व नीति के अनुसार सामानाधिकरण्य आभास हेतु के बल से होता है। इसलिए यह स्वभाव हेतुहेतुमद्भावमूलक ही होता है। इसी कारण सामान्यरूप से कहे हुए को ही देखना चाहिए कि स्वभाव हेतु उत्पत्तिपूर्वक ही होता है, आभास पदार्थ ही वस्तु हैं। इसका हमने पूर्व में ही समर्थन कर दिया है इससे जब एक शिंशपा में बनायी जायेगी तब तो शाखा प्रभृति अन्य पदार्थों और वृक्षाभास में सामान्यतः साध्य का नाम भी नहीं रहता है, यह ठीक ही है। एक रूप विशिष्ट वृक्ष

तेन गृहीतपूर्वः सन्निदानीं स्मृतिगोचरः। नियमः प्रतिप्रत्यङ्गं तथावगतिदर्शनात्॥

साध्य [वह्निरूप] की अनुमिति काल में व्याप्ति ज्ञान [यत्र-यत्र धूमस्तत्र-तत्र वह्निरिति साहचर्य-नियमो व्याप्तिः] के काल में अनुमान नहीं होता है। इसी कारण पहले से ग्रहण की हुई होने पर अभी इस समय स्मर्यमाण विषयक जो व्याप्ति है वही अनुमिति में कारण होती है; क्योंकि वैसी अवगति देखी भी जाती है।

१. इस विषय में नैयायिकों ने कहा है—

तस्मिन्सत्येव भवनं न विना भवनं ततः।
अयमेवाविनाभावो नियमः सहचारिता॥
किं कुतो नियमोऽस्यास्मिन्निति चेन्नैवमुत्तरम्।
तदात्मतादिपक्षे तु नैष प्रश्नो निवर्तते॥
ज्वलनाज्जायते धूमो न जलादिति का गति।
तर्कस्य यावान् विषयः स तावति निरूप्यते॥
वस्तुस्वभावभेदे तु न तस्य प्रभविष्णुता।
अयं च विषयो युक्तं यदुक्तं नियमाद्विना॥
नार्थादर्थान्तरे ज्ञानमतस्तस्य प्रकल्पनम्।

न साध्यम् । कारणायत्तमिदम्,—इत्याभासेऽपि न स्यादनित्यताभासः । एवमर्थक्रियाकारित्वाभावेऽपि क्षणिकत्वाभासाभावः,—इति नियत्यपेक्षयैव सर्वे स्वभावहेतवो नान्यथा,—इत्येकान्त एषः ॥ ११ ॥

नन्वाभासवस्तुत्ववादेऽनाभातस्य अग्नेरवस्तुत्वम्,—इत्यनाभातेन कथं धूमो जन्यते, ततश्च धूमादग्नेः कारणस्य कथमनुमानम् ? इत्याशङ्क्य समर्थयितुमाह—

भूयस्तत्तत्प्रमात्रेकवह्न्याभासादितो भवेत् ।
परोक्षादप्यधिपतेर्धूमाभासादि नूतनम् ॥ १२ ॥
कार्यमव्यभिचार्यस्य लिङ्गम्…………

का स्वरूप है, वह तो सिद्ध शिंशपात्व ही है, किन्तु वह साध्य नहीं है । यह तो कारण के अधीन रहता है, इस प्रकार आभास में भी अनित्यता का आभास नहीं होता । एवं अक्षणिकवादी तार्किकों के मत में नियति-शक्ति का समर्थन कर क्षणिकत्वादी के मत में भी प्रसंग वशात् समर्थन करते हैं कि अर्थक्रियाकारिता के न रहने पर भी क्षणिकत्व के आभास का अभाव ही रहेगा । सभी स्वभावों के हेतु नियति-शक्ति की अपेक्षा से ही होते हैं अन्यथा नहीं होते, यह एक दृढ पक्ष है ॥ ११ ॥

अब शङ्का करते हैं कि जब आभास ही वस्तु है तो इस पक्ष में जो अनाभातरूप अग्नि है वह भी अवस्तु हो जायेगी । अत एव अनाभात अग्नि से कैसे धूम उत्पन्न होंगे और इसके बाद धूम से अग्नि का अनुमान कैसे करोगे ? ऐसी आशङ्का कर समर्थन के लिए अब कहते हैं—

उन-उन प्रमाताओं के द्वारा एक ही वह्नि के आभास से धूम का अनुमान भूयो व्याप्ति के

इसलिए यह सिद्ध होता है—

पञ्चलक्षणकाल्लिङ्गाद्गृहीतान्नियमस्मृतेः ।
परोक्षे लिङ्गिनि ज्ञानमनुमानं प्रचक्षते ॥

उसके रहने पर ही यह उत्पन्न होता है, न रहने पर नहीं होगा इसी का नाम अविनाभाव नियम है जैसे मिट्टी के बिना घट का निर्माण नहीं हो सकता । इसमें हेतु क्या है—कारण के रहने पर ही कार्य का उत्पन्न होना और न रहने पर नहीं होना यही नियम है । यह क्यों है ? इस आशङ्का का उत्तर देते हैं—इस नियम में वस्तु अपना स्वभाव छोड़कर कोई दूसरा कारण नहीं बन जाती है । आप जो तादात्म्य को इस नियम का कारण मानते हैं । वह ठीक नहीं है; क्योंकि इस पक्ष में अग्नि से धूम का उत्पन्न होना तो संगत भी है किन्तु जल से धूम का उत्पन्न होना कहीं नहीं देखा जाता है, क्यों ? इसका कोई समाधान नहीं हो सकता है । जितना तर्क का विषय होता है उतना ही किया जा सकता है इससे आगे तर्क न करना ही अच्छा होता है; वस्तु के स्वभाव भिन्न-भिन्न होते हैं यही मात्र तर्क का विषय नहीं है, इसमें फिर तर्क कुण्ठित हो जायेगा—यह तर्क का विषय नहीं है; अतः इस पर तर्क का प्रभुत्व नहीं हो सकता ।

उस नियम की कल्पना तो इसलिए की जाती है कि नियम के बिना दूसरे पदार्थ से किसी अन्य पदार्थ का ज्ञान अयुक्त होता है अतः निष्कर्ष यह है कि पञ्चलक्षणवाले हेतु से गृहीत नियम के द्वारा ही स्मृति होने पर परोक्ष वस्तुओं का जो ज्ञान होता है उसको अनुमान कहते हैं ।

एकवारं तावत् महानसे प्रत्यक्षानुपलम्भबलेनाग्न्याभासधूमाभासयोः कार्यकारणभावो गृहीतः। तत्र विज्ञानवादिनो दर्शने प्रतिसन्तानमन्यश्चाभासः,—इति स्वाभासयोरेव कार्यकारणता गृहीता न तु सन्तानान्तरगतयोस्तदीयवृत्तान्तस्यासंवेदनात्; ततश्चेदानीमनुमानं न भवेत् स्वसन्तानगतात् धूमाभासात् क्रिमिसर्वज्ञादिप्रमातृसन्तानान्तरनिष्ठस्याग्न्याभासस्य,—इति निश्चयः। इह तु दर्शने व्याप्तिग्रहणावस्थायां यावन्तस्तद्देशसंभाव्यमानसद्भावाः प्रमातारस्तावतामेकोऽसौ धूमाभासश्च वह्न्याभासश्च बाह्यनये इव, तावति तेषां परमेश्वरेणैक्यं निर्मितम्,—इति हि उक्तम्। ततः स्वपरसन्तानविशेषत्यागेन धूमाभासमात्रं वह्न्याभासमात्रस्य कार्यम्,—इति व्याप्तौ गृहीतायां, भूयोऽपि पर्वते यो धूमाभासः सोऽपि वह्न्याभासादेव,—इति व्याप्तिं स्मृत्वानुमिमीते 'अत्र पर्वते अग्न्याभास' इति। तावति धूमाभासविशेषे प्रमात्रन्तरैः सहैकीभूय वह्न्याभाससामान्यांशे परोक्षरूपांशसहिते विशेषाभासान्तरविविक्ते प्रमात्रन्तरैः साकमेकीभवति,—इति यावत्। 'भूय' इति व्याप्तिं गृहीत्वा पुनरपि यो धूमाभास आदिग्रहणादङ्कुराभासादिर्गृह्यते

माध्यम से और परोक्ष स्वामी के द्वारा नूतन-नूतन धूमाभासादिकों का अनुमान भी हो जायेगा ॥ १२ ॥

इसका अव्यभिचारी कार्य हेतु होता है। जैसा कि पहले एक बार पाकशाला में प्रत्यक्ष अनुपलब्धि के बल से अग्नि के आभास और धूम के आभास का कार्य-कारणभाव ग्रहण कर लेने पर वहाँ विज्ञानवादियों के दर्शन में प्रत्येक संघात में दूसरे-दूसरे आभास होते हैं। इस प्रकार धूम और अग्नि के स्वाभाविक आभास से ही कार्य-कारणता गृहीत होती है; क्योंकि दूसरे सन्तानों में उसका संवेदन नहीं है। इसलिए इस समय में होनेवाला अनुमान अपने सन्तान के नहीं आये हुए धूमाभास से अनुमान नहीं हो सकता, इस प्रकार कीट-पतंग से लेकर सर्वज्ञादि तक प्रमाताओं के भिन्न-भिन्न संघात में रहनेवाले अग्नि के आभास का अनुमान नहीं हो सकता है—यह निश्चय है। हम लोगों के दर्शन में तो व्याप्तिग्रहण के काल में जितने भी उस देश में होनेवाले प्रमाता होंगे, उन सबों के एक ही धूमाभास और वह्न्याभास वाह्य दर्शन की नीति में नैयायिकों के समान इतने से परमेश्वर में ऐक्य कर दिया रहता है; क्योंकि इसका हमने पूर्व में ही प्रतिपादन कर दिया है। इसलिए अपना या दूसरे का सन्तान विशेष के त्याग से धूमाभास मात्र वह्न्याभास मात्र का कार्य होगा, इस व्याप्ति के ग्रहण करने पर पर्वत में जो पुनः धूमाभास गृहीत होगा, वह भी वह्न्याभास से ही होगा, इस प्रकार व्याप्ति का स्मरण करके अनुमान करने पर "अत्र पर्वते अग्न्याभासः" यह ज्ञान उतने ही धूमाभास विशेष में दूसरे प्रमाताओं के साथ एकीभाव होकर सामान्य वह्न्याभास के अंश में परोक्षरूप अंशों के सहित भिन्न-भिन्न विशेषाभास से अलग होकर दूसरे प्रमाताओं के साथ एकीभूत हो जाता है, यही सिद्ध होता है।

भूयो अर्थात् बारम्बार प्रत्यक्ष करने पर व्याप्ति ज्ञान को ग्रहण करके पुनः भी भूमाभास का ज्ञान कर लिया जाता है, आदि ग्रहण से अङ्कुराभास भी गृहीत होता है। वह आभास भी

१, यत्राप्यनुमिताल्लिङ्गाल्लिङ्गिनि ग्रहणं भवेत्।
तत्रापि मौलिकं लिङ्गं प्रत्यक्षादेव जायते॥

जहाँ पर भी अनुमित लिङ्ग से लिङ्गी का ग्रहण होगा; वहाँ पर भी मूल लिङ्ग का ज्ञान तो प्रत्यक्षात्मक ही हो जाता है।

सोऽप्याभासो नूतनोऽपूर्वो न तु धूमजधूमवदप्रत्यग्रः। स च अधिपतेरसंचेत्यमानात् वह्नयाभासात् बीजाभासादेव वा भवेत्, तत एव जनितुं शक्नोति नान्यतः। शकि लिङ्। स चाभासस्तेषु तेषु प्रमातृष्वेक एव, अनेकत्वे न तु युज्यते एवैतदित्याशयः। यतश्च स एकोऽधिपतिश्च वह्नयाभासो धूमकारणं, ततो धूमाभासोऽस्यैवाग्न्याभासस्याव्यभिचरितं कार्यं लिङ्गं योगिकृतत्वाभावे निश्चिते सति,—इति तस्मात् कार्यात् सोऽनुमीयते यतः परोक्षोऽसावधिपतित्वादेव ॥ १२ ॥

नन्वेवं गोपालघटिकान्तरालचिरोषितनिर्गतादपि धूमाभासात् स्यात् वह्नयाभासानुमानम्,—इत्याशङ्कयाह—

..........................अन्यप्रमातृगात्।
तदाभासस्तदाभासादेव त्वधिपतेः परः ॥ १३ ॥

परो नूतनादन्यो यो धूमाभासः स धूमाभासादेव प्रमात्रन्तरवर्तिनोऽधिपतिरूपात् परोक्षात्,—इति तथाभूतात् धूमाभासात् कथमकारणभूतो वह्नयाभासोऽनुमीयताम्? इत्यभिप्रायशेषः। कुशलाश्च लक्षयन्त्येव विवेकम्, अस्यार्थस्यानुमानिकबहुतरव्यवहारोपयोगिनो यत्नेन व्युत्पत्तिः कार्या,—इत्याशयेन नूतनमिति यदेव सूचितं तदेव व्यवच्छेद्यद्वारेण स्फुटीकृतम् ॥ १३ ॥

ननु चैवं धूमाभासो वह्नयाभासात्,—इत्यङ्गीकृतं चेत् तर्हि चेतनस्यैव कर्तृत्वम्,—इति यदुक्तं तत् कथं? तथाहि 'बीजे सत्यङ्कुरो भवति' इति यदेतत् दृष्टं धूमाग्निवदेव तत् कथम-

अपूर्व नूतन ही है। धूम से उत्पन्न हुआ धूम के जैसा नया नहीं होता और वह नहीं जाना हुआ प्रत्यक्ष से होनेवाले वह्नयाभास या बीजाभास से ही होता है। इसलिए वह उत्पन्न हो सकता है, दूसरे किसी से नहीं, यहाँ पर शक्त अर्थ में 'लिङ्' लकार है। वह आभास उन उन प्रमाताओं में एक सा ही होता है, अनेक में हो ही नहीं सकता—यही इसका आशय है। क्योंकि एक ही प्रत्यक्ष वह्नयाभास का अव्यभिचरित कार्य है जो कि योगी से किये गये अभाव के निश्चय होने पर कारण बन जाता है, इसलिए कार्य से उसका अनुमान होता है, परोक्ष का अधिपति होने के कारण ही वह परोक्ष माना जाता है ॥ १२ ॥

अच्छा तो, गोपाल (अहिर) के घड़े में बहुत देर से रहनेवाले धूम के आभास से वह्नयाभास का अवश्य अनुमान होना चाहिए, इस आशङ्का का उत्तर देते हैं कि—

अन्य प्रमाता में हुए उसके आभास से हो उसका आभास होता है इसलिए वह एक प्रत्यक्ष से भिन्न होता है ॥ १३ ॥

नूतन से भिन्न जो धूमाभास है वह धूमाभास से ही दूसरे प्रमाता में होनेवाले परोक्षरूप प्रत्यक्ष से वैसे ही धूमाभास से अकारणभूत वह्नयाभास कैसे अनुमित हो सकता है? इसका यही शेष आशय है। चतुर विवेकी जन ही इसको भली-भाँति समझ सकते हैं। इस कार्य-कारणभावरूप पदार्थ के अनुमान सम्बन्धी बहुत व्यवहार के उपयोगी प्रयत्न से व्युत्पत्ति करनी चाहिए, इस बात को 'आशयेन नूतनम्' इस वाक्य से सूचित किया गया था, उसे व्यवच्छेद के द्वारा स्पष्ट कर दिया ॥ १३ ॥

अब शङ्का होती है कि वह्नयाभास से धूमाभास होता है, यह बात आप स्वीकार करते हो, तो चेतन ही कर्ता होता है। यह कथन कैसे सिद्ध हो सकता है? देखिये! बीज के रहने पर ही अङ्कुर अङ्कुरित होता है—जैसे यह भी अग्नि से धूम होता है, उसी प्रकार बीज से अङ्कुर होता

नादरास्पदम् ? इत्याशङ्क्याह—

अस्मिन् सतीदमस्तीति कार्यकारणतापि या।
साप्यपेक्षाविहीनानां जडानां नोपपद्यते ॥ १४ ॥

एक एव भावस्तावत् न कार्यकारणभावः, भावद्वयमपि च न युगपद्भावि कार्यकारणरूपं घटपटवत्, क्रमभाव्यपि नानियतक्रमकं नीलपीतादिज्ञानवत्, नियतक्रमिकत्वेऽपि न पूर्वभावि कार्यमुत्तरकालभावि च कारणम्,—इत्येवं नियतपूर्वभावं कारणं नियतपरभावं च कार्यम्,—इति परस्य तावन्मतम्। तत्र स्वरूपादनधिका चेत् पूर्वता परता च तत् भावद्वयमात्रं, स च स च,—इति चार्थोऽपि वा न कश्चित् तस्याप्यपेक्षारूपत्वात् स स इत्येव हि स्यात्। अथ पूर्वता नाम प्रयोजकसत्ताकत्वं परता च प्रयोज्यसत्ताकत्वं तर्हि बीजस्याङ्कुरप्रयोक्त्री सत्ता अङ्कुर-विश्रान्ता अङ्कुरान्तर्भावमात्मन्यानयति, अङ्कुराभावे प्रयोक्तृत्वमात्रं स्यात् तदपि न किञ्चित् अन्यापेक्षत्वात् तस्य। एवं प्रयोज्यसत्ताकेऽपि वक्तव्यम्,—न केवलं भावमात्रमेव कार्यकारणता इत्यादयः पक्षा नोपपन्ना यावत् 'अस्मिन् सति' इति भूतविभक्त्या सप्तम्या प्रयोजकसत्ताकत्वम्, 'इदमस्ति' इति भाव्यमानविभक्त्या प्रयोज्यसत्ताकत्वम्,—इत्येवंरूपापि या कार्यकारणता सापि नोपपद्यते प्रमाणेन न संभवति जडानाम्, अन्योन्यापेक्षा हि अत्र जीवितं सा च जडानां न संभवति ॥ १४ ॥

है, तब तो फिर जड-पदार्थों का भी कार्य-कारणभाव सिद्ध होगा ? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—

इसके रहने पर यह होता है ऐसी जो कार्य-कारणभाव की व्याप्ति है, वह भी तो अपेक्षा विहीन जड-भावों की नहीं हो सकती, उसमें भी चेतन की आकांक्षा रहती है ॥ १४ ॥

एक भाव-पदार्थ में कार्य-कारणभाव नहीं बन सकता है और दो भाव-पदार्थों का भी एक ही काल में कार्य-कारणरूप घट-पट के जैसा नहीं हो सकता है; क्योंकि क्रम से होनेवाला पदार्थ अनियत क्रमवाले नील-पीतादि ज्ञान के जैसा नहीं हो सकता है और नियत क्रम को मानने पर भी पूर्व में होनेवाले कार्य के बाद होनेवाला कारण और पर में कार्य मानते हैं—यही सौगतों का मत है। यदि स्व-स्वरूप मात्र ही पूर्वता और परता क्रिया है तो भाव द्वय मात्र हुआ और 'वह' और वह ऐसा कहना भी तो कोई अर्थ नहीं रखता है; क्योंकि वह वही वस्तु हुई। पूर्वता का नाम है यहाँ पर प्रयोजक सत्तावाला और परता का अर्थ यह होता है कि प्रयोज्य सत्तावाला, फिर उससे तो बीज सत्ता अङ्कुर की प्रयोजिका होगी एवं अङ्कुर में उसका अन्तर्भाव होगा और वह अङ्कुर में ही अपना अन्तर्भाव करेगी, अङ्कुर के अभाव में प्रयोक्ता का होना कोई वस्तु नहीं है; क्योंकि अन्य वस्तु प्रयोक्ता की अपेक्षा रखती है वैसा ही प्रयोज्य सत्तावाले में भी कहना होगा। इसलिए मात्र भाव में ही कार्य-कारणभाव नहीं होता, किन्तु यह पक्ष सिद्धि ही नहीं है अपि तु 'अस्मिन् सति' इसमें भूत काल की सप्तमी विभक्ति प्रयोजक सत्तावाली भी है, 'इदमस्ति' यह प्रथमा विभक्ति भाव्यमान विभक्ति के द्वारा प्रयोज्य सत्तावाली होती है। इस प्रकार का भी कार्य-कारणभाव नहीं बन सकता है; क्योंकि जड-भावों की चेतन के बिना अपेक्षा रखे सत्ता नहीं हो सकती और परस्पर अपेक्षा ही यहाँ पर कार्य-कारणभाव का जीवन है किन्तु यह जड में संभव नहीं है ॥ १४ ॥

कथम् ? इति चेत् उच्यते—

न हि स्वात्मैकनिष्ठानामनुसन्धानवर्जिनाम् ।
सदसत्तापदेऽप्येष सप्तम्यर्थः प्रकल्प्यते ॥ १५ ॥

जडाः किलान्योन्यरूपमनुसन्धातुमप्रभविष्णवः, अन्योन्यानुसन्धानरूपत्वं जडविरुद्धेन चैतन्येन व्याप्तम्, अनुसन्धानं चापेक्षा चैतन्यस्वरूपमेव, अन्यत्र तु सोपचरिता; अतोऽनुसन्धान-विहीनत्वाज्जडो भावः स्वात्ममात्रविश्रान्तिसन्तोषसङ्कुचितशरीरः कथं परत्र प्रसरेत्। ततश्च यदि बीजं सदङ्कुरोऽसन् अथापि उभयमपि वा सत् यदि वासत्, अथापि एकं सोपाख्यमन्यत् निरुपाख्यम्, द्वयमपि वा सोपाख्यं निरुपाख्यं वा, तथापि प्रातिपदिकार्थमात्रं धर्मान्तरेण समुच्चया-दिनाप्यनालिङ्गितमवतिष्ठते, तस्य समस्तस्यापेक्षारूपत्वेन चैतन्यविश्रान्तत्वात् ॥ १५ ॥

यस्मादचेतनेषु नापेक्षोपपद्यते—

अत एव विभक्त्यर्थः प्रमात्रेकसमाश्रयः ।
क्रियाकारकभावाख्यो युक्तो भावसमन्वयः ॥ १६ ॥

सप्तमीरूपाया विभक्तेरन्यस्या अपि वा योऽर्थः क्रियाकारकभाव लक्षणः स एव तावद्भावानां समन्वयो नान्यः शुष्कः कश्चित्। स च यदि स्वतन्त्रे चिद्रूपे भावद्वयं विश्राम्यति तदोपपद्यते,

यह कैसे हो सकता है ? इसका उत्तर दिया जाता है ।

हेतु विषयक अपेक्षा को छोड़कर अर्थात् अनुसन्धान से वर्जित अपने में ही रहनेवाले पदार्थों की सत्ता और असत्ता पदों में भी सप्तमी विभक्ति का अर्थ कल्पित होता है ॥ १५ ॥

जड-पदार्थ वर्ग आपस में परस्पर अनुसंधान करने में समर्थ नहीं होते; क्योंकि परस्पर अनुसन्धान करना तो जडभाव के विरुद्ध चैतन्य के साथ व्याप्य-व्यापकभाव से व्याप्ति होती है और अनुसन्धान तो अपेक्षा करनेवाले चैतन्य का स्वरूप ही है, अन्यत्र घटादि में तो उपचार से जा सकता है, इसलिए अनुसन्धान से विहीन होने के कारण जडभाव अपने आप में विश्रान्त होकर संकुचित शरीरवाला होता है। अत एव वह चैतन्य में कैसे फैल सकता है ? और इससे यदि बीज सद्रूप अङ्कुर न भी हो फिर भी सोपाख्य [प्रत्यक्षरूप से जानने योग्य] दूसरा निरुपाख्य [परोक्ष रूप से ज्ञेय होने से अकथनीय] इन्हीं दोनों रूपों में प्रातिपदिकार्थ मात्र ही रहता है। दूसरे धर्मों से समुच्चयादि के कारण अनालिङ्ग असंबद्ध ही रहता है, क्योंकि वे सभी अपेक्षारूप होने से चैतन्य में विश्रान्त रहते हैं ॥ १५ ॥

जिस कारण से सौगतों की दृष्टि में कार्य-कारणभाव नहीं बन सकता; किन्तु हमारे शैव [अद्वैत] वेदान्त दर्शन में उसको सिद्ध करते हैं—

जड-भावों में अपेक्षा न रहने से एकमात्र प्रमाता के अधीन विभक्ति का अर्थ रहता है। भावों का समन्वय क्रियाकारकभाव कहलाता है—यह युक्त भी है ॥ १६ ॥

सप्तमी विभक्ति का यह दूसरी विभक्तियों का जो क्रियाकारकभावरूप अर्थ होता है, वही भाव-पदार्थों का समन्वय है, उससे कोई भिन्न शुष्क अर्थ नहीं है। वह यदि स्वतन्त्र चिद्रूप में भावद्वय विश्राम लेता है, तब तो घट सकता है, नहीं तो किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। जैसा

अन्यथा तु न कथंचित्। तथा हि विकल्पेनापि असौ व्यवह्रियमाणो न वस्तुनिष्ठतयोपपद्यते, वस्त्वनुसरणप्राणो हि विकल्पोऽनुभवानुसारितयैव भवति, सा चेह नास्ति वस्तुप्रभवत्वेन, वस्त्वनुसारी हि अनुभवो, वस्तु च स्वात्मनिष्ठम्,—इत्युक्तम्। तस्मात् बीजे सति अङ्कुरो, वह्नौ सति धूमः,—इति च स्वतन्त्रचिद्रूपप्रमातृविश्रान्तत्वे सर्वमेतद्युज्यते नान्यथा, इति ॥ १६ ॥

ननु प्रयोज्यप्रयोजकसत्ताकत्वलक्षणापेक्षा यदि स्वात्मैकनिष्ठत्वे नोपपद्यते, तर्हि कार्यकारणयोस्तादात्म्यवादिनां सांख्यानां मते सा सम्भवत्येव, तत् किं चैतन्यविजृम्भात्मककर्तृवादसमर्थनेन ? इत्याशङ्क्याह—

परस्परस्वभावत्वे कार्यकारणयोरपि ।
एकत्वमेव भेदे हि नैवान्योन्यस्वरूपता ॥ १७ ॥

कि विकल्प से भी यह क्रियाकारकभाव व्यवहार में आता हुआ वस्तुनिष्ठ नहीं होता; क्योंकि विकल्प तो वस्तु से अनुप्राणित रहता है। इसलिए विकल्प अनुभव के अनुसार ही होता है और वह अनुभव अनुसारिता वस्तु में उत्पन्न होने के कारण यहाँ नहीं है; क्योंकि वस्तु के अनुसार होनेवाला अनुभव होता है और वस्तु अपने में ही रहती है—ऐसा हमने कहा है।

इसलिए वीज के रहने पर अङ्कुर होता है और वह्नि के रहने पर धूम होता है, यह सब स्वतन्त्र चेतन के प्रमाता मानने पर संघटित हो सकता है, नहीं तो, नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

अच्छा तो, प्रयोज्य एवं प्रयोजक सत्तारूप लक्षण को अपेक्षा यदि बीज अङ्कुरादि को अपने में ही रहने पर नहीं बन सकता है, तो कार्य-कारणभाव का तादात्म्य माननेवाले सांख्यों के सिद्धान्त में तो हो सकता है। इससे फिर चैतन्य के ऊपर विश्वास रखनेवाले कर्तृत्ववाद का समर्थन करने से क्या प्रयोजन ? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—

कार्य-कारणभाव में भी परस्पर स्वभावरूपता होने पर भी एकता ही रहती है; भेद रहने पर परस्पर स्वरूपता नहीं रहती है ॥ १७ ॥

---

१. सांख्य लोग सत् से सत् की उत्पत्ति मानते हैं इसलिए कारण के व्यापार से पूर्व कार्य को सत् दिखाया है इसको सिद्ध करने के लिए पांच हेतु देते हैं—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकारणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

'असदकरणात्' असत् कार्य का कोई भी कारण नहीं होता है जैसे आकाश-कुसुम, वन्ध्यापुत्र आदि तथा संसार में असत् कार्य का कोई कारण भी देखने में नहीं आता है अर्थात् कारण के व्यापार के बाद में कार्य को किस प्रकार सत् माना जाता है उसी प्रकार उसके पूर्व भी कार्य सत् ही रहता है। जैसे तिलरूप कारण के भीतर तैलरूप कार्य विद्यमान रहता हुआ भी तिलरूप कारण के पीसनारूप व्यापार की आवश्यकता रहती है।

'उपादानग्रहणात्' अर्थात् उपादान-कारण का ग्रहण अर्थात् कार्य के साथ उसका सम्बन्ध होने के कारण कार्य सत् ही है। जैसे तैलरूप कार्य से सम्बद्ध रखता हुआ भी तिलरूप कारण अपने तैलरूप कार्य का उत्पादक होता है। असत् कार्य का सम्बन्ध कभी भी कारण के साथ हो नहीं सकता है इसलिए उत्पत्ति के पूर्व भी कार्य को सत् ही मानना चाहिए।

'सर्वसंभवाभावात्' अर्थात् सभी कार्यों की उत्पत्ति सभी कारणों से नहीं होती है, अपि तु

यदि बीजस्याङ्कुरः स्वभावस्तर्हि अङ्कुर एव न बीजं स्यात् किंचित् विपर्ययो वा स्यात्,—इति किं कारणं किं वा कार्यम्; अथ अन्यद्बीजमङ्कुरोऽन्यः, तर्हि न परस्परात्मकत्वं, भेदाभेदौ हि एकदैकविषयौ विरुद्धावेव ॥ १७ ॥

नन्वेवमपि बीजमङ्कुरादिविचित्रमवभातं दीर्घदीर्घपरामर्शशालिभिः स्रोतोवदविच्छिन्नस्वरूपमेव निर्बाधं प्रत्यवमृश्यते । तथा च क्व गतं बीजम्,—इति प्रश्ने वक्तारो भवन्ति, न कुत्रचित्

यदि बीज का अङ्कुर ही स्वभाव है, तब तो अङ्कुर ही मानना चाहिए फिर बीज कुछ भी नहीं हुआ—या तो फिर बीज को ही मान लो; अङ्कुर की क्या आवश्यकता है ? इसलिए न तो कोई कारण है और न कोई कार्य ही है । यदि बीज अन्य है और अङ्कुर अन्य है, तब तो परस्पर एकता ही सिद्ध नहीं होती है, भेद और अभेद ये दोनों एक काल में एक विषय में नहीं हो सकते; क्योंकि इन दोनों की आपस में विरुद्ध स्वभावता है । अन्धकार और प्रकाश के समान ॥ १७ ॥

शङ्का करते हैं कि एक ही वस्तु क्रम की विचित्रता से भिन्न-भिन्न हो जाती है । वह बीज-अङ्कुरादि की विचित्रता से अवभासित होकर दीर्घ-दीर्घ परामर्शों से शोभनेवाली धारा के समान अविच्छिन्नरूप से निर्बाध परामृष्ट हुआ करती है । तो फिर बीज कहाँ चला गया, ऐसा

कारणपूर्वक ही कार्य की उत्पत्ति देखी गयी है, कार्य का सम्बन्ध जिस कारण के साथ रहता है उसी से कार्य होता है ।

'शक्तस्य शक्यकारणात्' अर्थात् जो कारण जिस कार्य के उत्पादन करने में समर्थ होता है वही शक्य कहलाता है जैसे घटात्मक कार्य के उत्पादन में शक्त मिट्टीरूप कारण ही अपने घटात्मक शक्य कार्य का कारण होता देखा जाता है । सर्वथा यदि उसे असत् मानते हो तो कारण निरूपित-शक्ति कार्य में कैसे रहेगी, इसलिए भी उत्पत्ति के पूर्व कार्य सत् था ।

'कारण भावाच्च' अर्थात् घटरूप कार्य के साथ मिट्टीरूप कारण का तादात्म्य रहता है, इसलिए कार्य-कारणभाव की अभिन्नता रहने से कार्य उत्पत्ति के पूर्व में सद्रूप में अवस्थित था; क्योंकि इन दोनों की परस्पर अभेदता सिद्ध ही है । जैसे कि पशु से पशु की ही उत्पत्ति देखी जाती है एवं तण्डुल से तण्डुलों की ही उत्पत्ति होती है; इसलिए जब आपका कारण सत् हैं तो कार्य भी स्वयं सत् हो ही जाता है एवं प्रकाश को दिखाने के लिए दूसरे प्रकाश की आवश्यकता नहीं समझी जाती, वह तो स्वयं सिद्ध ही है ।

असत्वान्नास्ति सम्बन्धः कारणैः सत्त्वसङ्गिभिः ।
असंबद्धस्य चोत्पत्तिमिच्छतो न व्यवस्थितिः ॥

यदि कार्य असत् है तो सत् कारण से उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता, और असम्बद्ध कार्य की उत्पत्ति मानने पर व्यवस्था ही नहीं बनेगी अर्थात् तन्तुओं से पट ही होता है घट नहीं होता, क्यों ? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में समाधान यही है कि अनर्गल बकनेवालों की बात ही न सुनी जाये ।

निरात्मकत्वात् सर्वेषामसतामविशिष्टता ।
विशेषणं च भिन्नं ते सत्त्वमभ्युपगम्यताम् ॥

यदि घट कपालात्मक नहीं है और ऐसे घट की उत्पत्ति कपालों से देखी जाती है, तो केवल घट की ही क्यों ? पट की भी उत्पत्ति होनी चाहिए, जबकि अकपालरूपता तो दोनों की समान ही है; इसलिए ऐसी आपत्ति न हो इसके लिए कार्य को कारणात्मना प्रथमतः ही विद्यमान मानना चाहिए ।

गतमङ्कुरात्मना वर्तते, अङ्कुरीभूतमयमङ्कुरस्तत्,—इत्येवं प्रधानं महदादिधरान्तीभूतं यावद्विततीभूतमनन्तसर्गप्रलयपरम्परात्मतां प्राप्तम्,—इति विततग्राहिणी प्रतीतिः; भागाभिनिवेशवशात् तु कार्यकारणतापरिकल्पनं तस्यैव भावस्य विशसनप्रायम्,—इत्याशङ्क्याह—

एकात्मनो विभेदश्च क्रिया कालक्रमानुगा ।
तथा स्यात्कर्तृतैवैवं तथापरिणमत्तया ॥ १८ ॥

इह दीर्घदर्शिना प्रत्यक्षानुमानागमान्यतमप्रमाणमूलां प्रत्यभिज्ञामाश्रित्य तदेवेदं सुखदुःखमोहसाम्यमनन्तप्रकारवैषम्यावलम्बनेन विश्वीभूतम्,—इति समर्थ्यते । तत्र प्रत्यभिज्ञानबलेन यदेकात्मकमेकस्वभावं तस्य यो भेदोऽन्यान्यरूपता इयमेव सा क्रियोच्यते, यतः काललक्षणेन क्रमेणानुगता, ते हि अन्यान्यस्वभावा युगपत् न भान्ति, पूर्वापरीभूतरूपतैव च क्रियोच्यते; यत एवं क्रिया 'तथा' इति तेन प्रकारेण प्रधानादेः क्रियाविशेषलक्षणेन कर्तृतैव स्यात्, न तु शुष्कं कारणतामात्रं, यतो हेतोः 'तथा' इति तेन तेन महदादिप्रकारेण सततमेव क्रमिकां तथाभासनरूपां परिणामलक्षणां क्रियामाविशतः परिणमत्ता किंचिद्रूपं परिवर्ज्य त्यक्त्वा व्यावर्त्यमनुवर्तयितव्यं च व्यवस्थाप्य निवर्त्यमानतृतीयरूपप्रह्वता प्रधानादेस्तया हेतुभूतया ॥ १८ ॥

प्रश्न करने पर उत्तर न देनेवाला कहता है कि कहीं पर भी नहीं चला गया है। वह तो अङ्कुररूप में परिणित हो गया है। जब यही बीज अङ्कुरित हो जाता है तब उसको अङ्कुर शब्द से कहा जाता है। इस प्रकार एक प्रकृति जिसे प्रधान कहते हैं वह महतत्त्व, पञ्चतन्मात्र, पञ्चमहाभूत होता हुआ पृथ्वी तक जितने भी इस संसार में प्राणी [सर्ग] हैं सृष्टि-स्थिति-प्रलयरूप में रहनेवाला संसार बन जाता है। यही विस्तार ग्राहिणी प्रतीति कहलाती है, इसी में विभाग की कल्पना करने पर उसी में कार्य-कारणभाव की कल्पना होती है उसी भाव की विलीन अवस्था को ही कहा जाता है। इस प्रकार आशङ्का कर कहते हैं—

एक पदार्थ का भिन्न-भिन्नरूप होना काल के क्रम से होनेवाली क्रिया तो है और कर्तृता भी उसी के परिणाम स्वरूप हो जाने से मानी जाती है॥ १८॥

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमशास्त्र के द्वारा इन प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण को मूल में रख कर पहचान होती है। उसके आश्रय से वही यह वस्तु है—ऐसा कह कर सुख, दुःख एवं मोहादि अनन्त प्रकार के अवलम्बन से संसार बन जाता है, इसका महर्षि कपिलमुनि ने समर्थन किया है। इसी कारण इन लोगों के दर्शन को परिणामवादी दर्शन कहा जाता है। क्रिया का निर्वचन करते हैं कि क्रिया क्या वस्तु है ? उसमें प्रत्यभिज्ञान के बल से जो एकरूप, एक स्वभाववाला पदार्थ भासता है उसका जो दूसरे-दूसरे रूपों में बोध होता है, वही एकप्रकार से क्रिया है; क्योंकि वह कालरूप से क्रमशः उसमें व्याप्त रहती है। वे क्रिया-पदार्थ एकरूप में परस्पर नहीं भासते हैं और पूर्वापरीभाव ही तो क्रिया है; जबकि ऐसी क्रिया है तभी तो, उस क्रिया का प्रधान आदि में भी क्रिया के विशेष लक्षण से कर्तृता हो सकती है। केवल शुष्क कारण नहीं हो सकता है; क्योंकि जिस प्रधान आदि हेतु के द्वारा उन-उन महदादि परिणाम के प्रकार से निरन्तर क्रमरूप से भासित होना, परिणामरूप क्रिया में प्रवेश कर परिणत होना, अपने पूर्वरूप को छोड़कर आगे आनेवाले परिणामरूप को रख कर होनेवाले तृतीयरूप में मिल जाना ही प्रधानादि की हेतुता है॥ १८॥

ननु प्रधानं परिणामक्रियायां कर्तृरूपमियता समर्थितम्,—इति को दोषो, न हि पुरुषवदस्याकर्तृत्वमिष्यत ? इत्याशङ्क्याह—

न च युक्तं जडस्यैवं भेदाभेदविरोधतः ।
आभासभेदादेकत्र चिदात्मनि तु युज्यते ।। १९ ।।

एवमित्यभिन्नरूपस्य धर्मिणः सततप्रवहद्बहुतरधर्मभेदसंभेदस्वातन्त्र्यलक्षणं परिणमनक्रियाकर्तृकत्वं यदुक्तं तत् प्रधानादेर्न युक्तं जडत्वात्, जडो हि नाम परिनिष्ठितस्वभावः प्रमेयपदपतितः स च रूपभेदाद्भिन्नो व्यवस्थापनीयो नीलपीतादिवत्, एकस्वभावत्वाच्चाभिन्नो नीलवत्, न तु स एव स्वभावो भिन्नश्चाभिन्नश्च भवितुमर्हति विधिनिषेधयोरेकत्रैकदा विरोधात् । कश्चित् स्वभावो भिन्नः कश्चित् त्वभिन्नः,—इति चेत्, द्वौ तर्हि इमौ स्वभावावेकस्य स्वभावस्य भवेताम्, न चैवं युक्तं—'भेदाभेदव्यवस्थैवमुच्छिन्ना सर्ववस्तुषु ।' इति न्यायात् एवं जडस्य 'इदम्' इति परिनिष्ठिताभासतया सर्वतः परिच्छिन्नरूपत्वेन प्रमेयपदपतितस्य नायं स्वभावभेद एकत्वे सत्युपपद्यते । यत्तु प्रमेयदशापतितं न भवति किं तु चिद्रूपतया प्रकाशपरमार्थरूपं चिदेकस्वभावं स्वच्छं, तत्र भेदाभेदरूपतोपलभ्यते; अनुभवादेव हि स्वच्छस्यादर्शादेरखण्डितस्वस्वभावस्यैव पर्वतमतङ्गजादिरूपसहस्रसंभिन्नं वपुरुपपद्यते । न च रजतद्विचन्द्रादि यथा शुक्तिकैकचन्द्रस्वरूप-

अच्छा तो, परिणामरूप क्रिया में प्रधान प्रकृति को कर्तारूप से समर्थन किया गया है—इस प्रकार आशङ्का कर उत्तर देते हैं—

इस प्रकार जडभाव का कर्तृत्व नहीं बन सकता है । भेद और अभेद की एक में सत्ता नहीं बन सकती; क्योंकि आभास का भेद होता है, किन्तु चिदात्मा में एकत्र दोनों का आभास हो सकता है ।। १९ ।।

इस प्रकार अभिन्नरूप धर्मी का (निरन्तर) प्रवाह में बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न धर्म भेदवाले अपने-अपने लक्षण के परिणाम स्वरूप क्रियाओं के कर्ता आपने प्रधान-प्रकृति को बना रखा है, वह नहीं हो सकता है; क्योंकि प्रधान जड है और वह एक निश्चित परिच्छिन्न स्वभाववाला कहलाता है एवं अपने स्वरूप के भेद से ही भिन्न-भिन्न नील-पीतादि के समान व्यवस्थित होता है । एक स्वभाववाला होने से अपने आप में अभिन्न ही रहता है, नील के समान । वह एक स्वभाववाला भिन्न और अभिन्न ये दोनों एक बार विधि-निषेध के समान विरोधी होने से एक जगह नहीं रह सकते । किसी का स्वभाव भिन्न होता है तो किसी का अभिन्न होता है, ऐसा यदि कहो तो ये दोनों एक स्वभाव के ही हैं, यह नहीं हो सकता । 'भेदाभेदव्यवस्थैवमुच्छिन्ना सर्ववस्तुषु ।' अर्थात् सभी वस्तुओं में भेद और अभेद की व्यवस्था ही उच्छिन्न हो जायेगी इस न्याय से । इस प्रकार 'इदम्' जड का यह स्वभाव है—ऐसा निश्चित स्वरूप से, सर्वत्र परिच्छिन्न रूप में प्रमेयपदवी को प्राप्त होकर एकता में स्वभावभेद नहीं बन सकता है [जड अनेक रूप नहीं हो सकता है । प्रमेय स्वरूप होने से नीलादि के जैसा] जो कि प्रमेय दशा में नहीं आता, वही चेतनरूप होने से प्रमेयार्थ रूप में प्रकाशित होकर स्वच्छ चेतनस्वभावरूप में रहता है । उस दशा में भेद और अभेद ये दोनों रूपों में उपलब्ध होते हैं । जैसे—स्वच्छ दर्पण में पर्वत, हाथी आदि सहस्र प्रकार के रूप प्रतिबिम्बित होते हैं । शुक्तिका में

तिरोधानेन वर्तते, तथा दर्पणे पर्वतादि; दर्पणस्य हि तथावभासे दर्तणतैव सुतरामुन्मीलति 'निर्मलोऽयमुत्कृष्टोऽयं दर्पण' इत्यभिमानात्। न हि पर्वतो बाह्यस्तत्र संक्रामति स्वदेशत्यागप्रसङ्गा- दस्य, न चास्य पृष्ठेऽसौ भाति दर्पणानवभासप्रसङ्गात्, न च मध्ये निबिडकठिनसंप्रतिघस्वभावस्य तत्रानुप्रवेशसंभावनाभावात्, न पश्चात् तत्रादर्शनात् दूरतयैव च भासनात्, न च तन्निपतनोत्फलित- प्रत्यावृत्ताश्चाक्षुषा मयूखाः पर्वतमेव गृह्णन्ति, बिम्बप्रतिबिम्बयोरुभयोरपि पर्वतपार्श्वगतदर्पणाव- भासेऽवलोकनात्। तस्मात् निर्मलतामाहात्म्यमेतत् यदनन्तावभाससंभेदश्चैकता च। गिरिशिखरो- परिवर्तिनश्चैकत्रैव बोधे नगरगतपदार्थसहस्राभासः,—इति चिद्रूपस्यैव कर्तृत्वमुपपन्नम्, अभिन्नस्य भेदावेशसहिष्णुत्वेन क्रियाशक्त्यावेशसंभवात्॥ १९॥

नन्वेतावता विज्ञानमेव ब्रह्मरूपमिमां विश्वरूपतावैचित्रीं परिगृह्णातु किमीश्वरतापरि- कल्पनया? इत्याशङ्क्याह—

वास्तवेऽपि चिदेकत्वे न स्यादाभासभिन्नयोः।
चिकीर्षालक्षणैकत्वपरामर्शं विना क्रिया॥ २०॥

चिद्रूपस्यैकत्वं यदि वास्तवं भेदः पुनरयमविद्योपप्लवात्,—इत्युच्यते कस्यायमवि- द्योपप्लवः,—इति न संगचछते। ब्रह्मणो हि विद्यैकरूपस्य कथमविद्यारूपता, न चान्यः कश्चिदस्ति

रजत, एक चन्द्रमा में दो चन्द्रमा जैसे एक शुक्तिका और एक चन्द्रमा के स्वरूप को तिरोहित कर प्रतिभासित नहीं होता है। उसी प्रकार दर्पण में पर्वत, शिखर, नदी, हाथी आदि; क्योंकि दर्पण का उसी प्रकार आभास करना अपना स्वभाव ही उन्मीलित होता है। जैसा कि दर्पण के विषय में कहा गया है। 'यह निर्मल दर्पण बहुत ही उत्कृष्ट स्वच्छ है' दर्पण में पर्वत बाहर से जाकर उसमें नहीं बैठता है। ऐसा होता तो बाहर में पर्वत नहीं रहता; क्योंकि पीछे रहता तो दर्पण का ही भान नहीं रहता और न बीच में ही बैठता है। अत एव दर्पण एक पतली सी वस्तु है, उसके बीच में कोई पदार्थ कैसे रह सकेगा और न दर्पण पर पड़े हुए चाक्षुष से टकरा जाने पर लौटी हुई ज्योति पर्वत को ग्रहण करती है; क्योंकि बिम्ब और प्रतिबिम्ब ये दोनों तो पर्वत के पास में रखनेवाले दर्पण में ही दिख पड़ते। इसीलिए दर्पण की निर्मलता का माहात्म्य यह है कि अनन्त प्रकार की परछाइँ पड़ना और एक-सा मालूम होना। इसी प्रकार पर्वत के शिखर पर रहनेवाले एक ही ज्ञान से नगर में रहनेवाले हजारों पदार्थों का अवभास कर लेना, यह चेतन के बिना नहीं हो सकता। इसलिए सब चेतनरूप कर्ता के ही भेद आवेश को सहनेवाली क्रिया-शक्ति का अभिन्न आवेश ही संभव है॥ १९॥

अच्छा तो, इतने प्रबन्ध से विज्ञानरूप ब्रह्म को इस विश्वरूप की विचित्र-चित्ररूपता करनेवाला मान लिया जाय तो फिर ईश्वर की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है? ऐसी आशङ्का कर उत्तर देते हैं—

वास्तव में चेतन के एक होने पर भी भिन्न-भिन्न आभासों का चिकीर्षारूप एकमात्र परामर्श के बिना क्रिया नहीं होगी॥ २०॥

यदि चेतनरूप एकात्मा वस्तुतः सत्य है और भेद अविद्या के व्यापार से होता है तो यह अविद्या का उपद्रव किसका है, यह नहीं ठीक से बैठ रहा है, क्योंकि ब्रह्म तो विद्यारूप है। वह

वस्तुतो जीवादिर्यस्याविद्या भवेत्। अनिर्वाच्येयमविद्या,—इति चेत्, कस्य अनिर्वाच्या,—इति न विद्मः; स्वरूपेण च भाति, न चानिर्वाच्या,—इति किमेतत् ?; युक्त्या नोपपद्यते,—इति चेत् संवेदनतिरस्कारिणी का खलु युक्तिर्नाम अनुपपत्तिश्च भासमानस्य कान्या भविष्यति। सद्रूपमेव ब्रह्माभिन्नं चकास्त्यविकल्पेन, विकल्पबलात्तु भेदोऽयम्,—इति चेत्, कस्यायं विकल्पनव्यापारो नाम ? ब्रह्मणश्चेत् अविद्यायोगो न च अन्योऽस्ति; अविकल्पकं च सत्यं विकल्पकमसत्यम्,—इति कुतो विभागो भासमानत्वस्याविशेषात्। भासमानोऽपि भेदो बाधितः,—इति चेत्, अभेदोऽपि एवं भेदभासनेन तस्य बाधात्। विपरीतसंवेदनोदय एव हि बाधो नान्यः कश्चित्। बाधोऽपि च भासमानत्वादेव सन् नान्यतः,—इति भेदोऽपि भासमानः कथमविद्या। भासनमवधीर्य आगमैकप्रमाणकोऽयमभेदः,—इति चेत् आगमोऽपि भेदात्मक एवावस्तुभूतः प्रमातृप्रमाणप्रमेयविभागश्च,—इति न किंचिदेतत्। तस्मात् वास्तवं चिदेकत्वमभ्युपगम्यापि तस्य कर्तृत्वलक्षणाभिन्नरूपसमावेशात्मिका क्रिया नोपपद्यते; परामर्शलक्षणं तु स्वातन्त्र्यं यदि भवति तदोपपद्यते सर्वम्। परामर्शो हि चिकीर्षारूपेच्छा, तस्यां च सर्वमन्तर्भूतं निर्मातव्यमभेदकल्पेनास्ते,—इत्युक्तं 'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य····।' (१।५।१०) इत्यत्र। तेन स्वात्मरूपमेव विश्वं सत्यरूपं प्रकाशात्मतापरमार्थमत्रुटित-

अविद्यारूप में कैसे हो सकता है और कोई दूसरा जीवादि तो है नहीं, जिसको कि अविद्या लगे। यह अविद्या अनिर्वचनीयरूपा है। यदि ऐसी बात है तो यह किसके लिए अनिर्वचनीयरूपा है। यह नहीं बता सकते हैं और जो स्वरूप से भासता है, उसे अनिर्वचनीय कैसे कहा जायेगा—यही तो बेतुकी बात कह रहे हो ? यह युक्ति से नहीं सिद्ध हो रहा है। ऐसा यदि कहो तब ज्ञान को छिपानेवाली जो अविद्या है—वही यह है। इसमें युक्ति और अनुपपत्ति क्या कहते हो जो वस्तु भासित हो रही है, इसके लिए युक्ति और अनुपपत्ति क्या दिखाई जाय। वह सद्रूप है जो ब्रह्म से अभिन्न है और अविकल्प के लिए क्या युक्ति और अनुपपत्ति हो सकती है। विकल्प के बल से यह भेद होता है, यदि यह भी कहो तो, यह विकल्प फिर किसका व्यापार है ?

यदि ब्रह्म को मानते हो, तो उसका अविद्या से सम्बन्ध अन्य (जीवादि) संभव नहीं है और कोई अन्य जीव भी तो यहाँ पर नहीं है। अविकल्प सत्य होता है एवं विकल्प असत्य होता है। अविशेषरूप में भासित होने से इसका विभाग ही कैसे हो सकेगा ? यदि कहो कि भासमान होता हुआ भी भेद बाधित हो जायेगा तब तो अभेद भी भेदाभास से बाधित हो जायेगा; क्योंकि विपरीत ज्ञान का उदय होना ही बाध कहलाता है, दूसरी अन्य कोई वस्तु नहीं होती और बाध भी भासित होने के कारण सत्य ही है, दूसरे कारण से नहीं है,—इसीलिए भासमान होता हुआ भेद भी कैसे अविद्या का विषय होता है ? प्रकाशित होने का तिरस्कार करके आगम को प्रमाण मान कर इसको अभेद कहेंगे; यदि ऐसा मानते हो, तो आगम भी भेदात्मक होकर अवस्तु हो जायेगा। प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय आदि के विभाग भी अवस्तु हो जाने से यह कुछ नहीं है। इसलिए एक चेतन प्रमाण को मान करके भी उसकी कर्तृत्वरूपा अभिन्न आवेश में होनेवाली क्रिया नहीं बैठती है; यदि परामर्शरूप स्वातन्त्र्य होता है तो सब कुछ बैठ जायेगा। परामर्श को ही चिकीर्षारूपा इच्छा कही जाती है और उसमें अभेद तुल्य रहता है वह निर्माण है—ऐसा कहा भी गया है 'स्वामिनश्चात्मसंस्थस्य····।' (१-५-१०)। अर्थात् अपने आप में रहनेवाले स्वामी का।

इसलिए स्वात्मरूप सत्यस्वरूप विश्व का ही प्रकाश परमार्थ है, जिसका प्रकाश कभी नष्ट

प्रकाशाभेदमेव सत् प्रकाशपरमार्थेनैव भेदेन प्रकाशयति महेश्वरः,—इति तदेवास्यातिदुर्घट-कारित्वलक्षणं स्वातन्त्र्यमैश्वर्यमुच्यते। आभासभिन्नयोरिति क्रियापेक्षा संबन्धसामान्ये षष्ठी, पश्चाद्यथोचितं विभज्यते। आभासेन भिन्नौ जडाजडाभासौ, जडो घटादिः कर्मरूपश्चिदाभासः कर्तृरूपः,—इति तयोः क्रिया, एकस्य क्रियमाणत्वमपरस्य कर्तृत्वं न भवेत्। चिकीर्षारूपेण निर्मातव्यभाववर्गाभेदपरामर्शात्मना विना, एका चासौ क्रिया कथं भिन्नयोः स्वभावभूता भवेत्। कार्यकारणताप्रस्तावात् कर्तृकर्मणो उक्ते, कारकान्तराण्यपि तु एककर्तृत्वानुप्रवेशीनि पर-मार्थतोऽन्यथा करणादौ भिन्ने कारकव्राते कथमभिन्ना सा। यदि वा आभासेन यौ भिन्नौ जडचेतनौ तयोर्या चिकीर्षा एकस्यैष्यमाणतापरस्यैषितृता तत्स्वभावमेकत्वपरामर्शं विना,—इति। यद्वा आभासभिन्नयोः 'अहमिदम्' इति यः परामर्शः एकविश्रान्तिरूपश्चिकीर्षात्मा तं विना,—इति। आभासभिन्नयोरेकपरामर्शं विना चिकीर्षालक्षणा कथं क्रिया,—इति वा। एवं क्रियां वा चिकीर्षां वा परामर्शं वा अपेक्ष्य षष्ठी नित्यसापेक्षत्वाच्च समासः॥ २०॥

एतत् उपसंहरति—

इत्थं तथा घटपटाद्याभासजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया॥ २१॥

यतो न जडस्य कारणता न कर्तृता, तथानीश्वरस्य चेतनस्यापि,—इत्यनेनैव हेतुप्रकारेणेदं

नहीं होता है किन्तु प्रकाश परमार्थ से भिन्न होता हुआ भी महेश्वर से प्रकाशित रहता है, उसी को महेश्वर का अ.त दुर्घटकारी स्वातन्त्र्य ऐश्वर्य कहा जाता है। 'आभासभिन्नयोः' इसमें जो षष्ठी विभक्ति है वह सम्बन्ध सामान्य में चिकीर्षा की अपेक्षा करके हुई है बाद में कर्ता एवं कर्म के द्वारा विभक्त होती है। आभास से जड और अजड का भेद प्रतीत होता है। जड घटादि पदार्थ कर्मरूप है और चिदाभास कर्तारूप है। कर्म और कर्ता इन दोनों की क्रिया में एक की क्रिय-माणता रहती है दूसरे में कर्तृत्व क्यों नहीं रहेगा? निर्माण होनेवाले भाववर्ग के भेद से परामर्श-रूपी चिकीर्षारूप के विना, एक ही क्रिया कैसे भिन्नरूपों में भासित होकर उसका स्वभाव ग्रहण करेगी? कार्य और कारण के प्रस्ताव से कर्म और कर्ता के विषय में कह दिया। अन्य कारक तो एक ही कर्ता में रहने के कारण परमार्थतः करणादि कारक के भेद होने पर भी कार्य-कारणता कैसे भिन्न हो सकती है। यदि आभास से भिन्न जड और चेतन है तो उनकी जो करने की इच्छा है—वह तो, अभीष्ट किसी दूसरे में एक स्वभाव के इष्ट परामर्श के बिना नहीं हो सकती अथवा भिन्न आभासों का 'अहमिदम्' जो यह परामर्श है, वह एक विश्रान्ति चिकीर्षा के विना असंभव ही है। भिन्न आभासों का एक परामर्श के बिना चिकीर्षारूप क्रिया भी तो कैसे हो सकती है, इसी प्रकार क्रिया या चिकीर्षा अथवा परामर्श इन्हीं तीनों को अपेक्षा से षष्ठी विभक्ति होती है और नित्य सापेक्ष होने के कारण समास भी हो जाता है॥ २०॥

अब इसका उपसंहार किया जाता है।

इस प्रकार वैसा घट-पटादि सारे विश्व के आभासरूप जगत् स्वरूप में रहने की इच्छा रखनेवाले भगवान् की इच्छा में ही हेतुता, कर्तृता और क्रिया रहती है॥ २१॥

जडभाव में न तो कारणता रहती है और न कर्तृता ही रहती है। इस प्रकार असमर्थ-शाली चेतन जीव की भी कर्तृता एवं हेतुता सिद्ध होती है। इसलिए जो वैसा कर सकता है उसी

जातं,—य एव तथाचिकीर्षुस्तस्यैव सा चिकीर्षा बहिष्पर्यन्ततां प्राप्ता 'क्रिया' इत्यभिधीयते, सैव च कर्तृता तदेव हेतुत्वं नान्यत् किंचित्। तेन 'घटस्तिष्ठति' इत्ययमर्थः—घटात्मना तिष्ठासुः स्वातन्त्र्यात् स्थानमभ्युपगच्छन् न तु तद्रूपमसहमानो यो महेश्वरः प्रकाशः स तिष्ठते—इति। घटपटाद्याभासरूपं यत्किल जगत् तदात्मना यः 'तथा' इति तेन तेन तज्जगद्गतजन्मस्थित्यादि-भावविकारतद्भेदक्रियासहस्ररूपेण यः स्थातुमिच्छुः स्वतन्त्रः, तस्य या एवमिति विचित्ररूपेच्छा सैव क्रिया,—इति संबन्धः। तेन महेश्वर एव भगवान् विश्वकर्ता,—इति शिवम् ॥ २१ ॥

इति श्रीमदाचार्योत्पलदेवपादविरचितायामीश्वरप्रत्यभिज्ञायां
श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तकृतविमर्शिन्याख्यटीकोपेतायां
क्रियाधिकारे कार्यकारणतत्त्वनिरूपणं नाम
चतुर्थमाह्निकम् ॥ ४ ॥

भगवान् की इच्छा बाहर में करने तक क्रिया कही जाती है, वही कर्तृता है एवं उसे ही हेतुता कहते हैं इससे दूसरे किसी को नहीं कहते। 'घटः तिष्ठति' इसका अर्थ यह है कि घटरूप में रहने की इच्छा रखनेवाले भगवान् अपनी स्वातन्त्र्य-शक्ति से घटरूप में जो प्रकाश है, उसी रूप में महेश्वर हो जाता है। घट-पटादि जितना भी आभासरूप जगत् दिखायी दे रहा है उन-उन रूपों से युक्त जगत् में होनेवाले जन्म-स्थिति-प्रलय आदि भाव-पदार्थों के विकार और उसके भेद हजारों क्रियारूप में रहने का इच्छुक स्वतन्त्र भगवान् है। मैं ऐसा हो जाऊ; ऐसी जो विचित्ररूप बनने की इच्छा है, वही क्रिया है, यह संबन्ध सिद्ध हुआ। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् महेश्वर ही इस विश्व का एकमात्र कर्ता है ॥ २१ ॥

चतुर्थ आह्निक समाप्त

इतिसर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरविरचिता
द्वितीयक्रियाधिकारहिन्दीव्याख्या

शिवरञ्जनी

इति द्वितीयः क्रियाधिकारः समाप्तः

•

अथ तृतीयः आगमाधिकारः

अथ तृतीये आगमाधिकारे तत्त्वनिरूपणाख्यं प्रथममाह्निकम्

यं प्राप्य सर्वागमसिन्धुसङ्घः पूर्णत्वमभ्येति कृतार्थतां च।
तं नौम्यहं शांभवतत्त्वचिन्तारत्नौघसारं परमागमाब्धिम् ॥
श्रीमत्सदाशिवोदारप्रारम्भं वसुधान्तकम्।
यदन्तर्भाति तत्त्वानां चक्रं तं संस्तुमः शिवम् ॥

एवमधिकारद्वयेन ज्ञानक्रियास्वरूपं वितत्य निर्णीतम्, अथेदं वक्तव्यं क्रिया नाम विश्वपदार्थावभासनलक्षणा,—इत्युक्तं समनन्तरमेव, के च ते विश्वे पदार्थाः,—इति। तत्राभासरूपा एव जडचेतनलक्षणाः पदार्थास्ते च कियता रूपेण संगृह्यन्ते, नहि प्रत्यक्षं मायाप्रमातुः सर्वत्र

समस्त आगमशास्त्ररूपी नदी समूह जिसको प्राप्त होकर पूर्णता और कृतार्थता का अनुभव करने लगता है उस शाम्भवतत्त्व चिन्तामणिरत्नों के सारभूत परम आगमरूप सागर महेश्वर को मैं नमस्कार करता हूँ।

जिसके गर्भ में सदाशिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वों का समुदाय झलकता है, उस परमशिव की हम स्तुति करते हैं।

इस प्रकार ज्ञानाधिकार और क्रियाधिकार इन दोनों के द्वारा ज्ञान का स्वरूप तथा क्रिया का स्वरूप विस्तारपूर्वक बता दिया गया। अब यह कहना होगा कि क्रिया विश्व के समस्त पदार्थतत्त्व को अवभासित करनेवाली होती है, इसलिए यह 'विश्ववैचित्र्यचित्रस्य समभित्तितलोपमे' इत्यादि (२।३।१५) में कह भी दिया गया है। वे पदार्थतत्त्व कितने और कौन-कौन से हैं, ये आभासरूप जड-चेतनलक्षणवाले पदार्थ हैं वे किस रूप से संगृहीत किये गये हैं, माया प्रमाता देहादि अहंभाववाले होने के कारण सर्वत्र प्रत्यक्षरूप में ग्रहण नहीं कर सकते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष का विषय

---

१. यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधैर्भेदैर्यदेष्वन्वितं
रूपं भाति परप्रकाशनिबिडं देवः स एकः शिवः।
तत्स्वातन्त्र्यवशात्पुनः शिवपदाद्भेदे विभाते परं
यद्रूपं बहुधानुगामि तदिदं तत्त्वं विभोः शासने ॥

जिसके भीतर तृण से लेकर ब्रह्मपर्यन्त तत्त्वसमूह भासित होता है। यह सारा का सारा संसार ही परम शिव का प्रकाश है। इस प्रकार विविध भेदों से युक्त प्राणियों के अनेक शरीर कहे हुए हैं, उन सबों में जो सर्वोत्तम निबिड धनरूप पर प्रकाश भासित होता है उसी के [परम स्वातन्त्र्य के कारण] उस परम शिव तत्त्व से भेद दिखने पर भी उन सबों में भी जो सामान्यरूप से तत्त्व भासता है। वही परम शिव तत्त्व है यही प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का सिद्धान्त है।

क्रमते, अनुमानमप्येवं, नहि यद्यदस्ति तत्र तत्र लिङ्गव्याप्त्यादिग्रहणसंभवः। आगमस्त्वपरिच्छिन्नप्रकाशात्मकमाहेश्वरविमर्शपरमार्थः किं न पश्येत्,—इति तदनुसारेण पदार्थनिर्णयं विश्वप्रमेयीकरणप्रतिलब्धतद्विश्वोत्तीर्णप्रमातृपदहृदयङ्गमीकरणाभिप्रायेण निरूपयितुमाचार्य आगमाधिकारं तृतीयमारभते। तत्र श्लोकैकादशकेन 'एवमन्तर्बहिर्वृत्तिः' इत्यादिना 'स्थूलसूक्ष्मत्वभेदतः' इत्यन्तेनागमसिद्धं शिवादिधरणीप्रान्तमेकैकाभासरूपतात्मकं दर्शनान्तरे 'सामान्यम्' इति यद्व्यवहृतं, यस्य सामानाधिकरण्ययोगादनन्तस्वलक्षणावभासनव्यूहविशेषपूर्वकः समस्तोऽयं शरीरभुवनादिविभवः, तं परमेश्वरागमसिद्धं युक्त्याप्यनुगतं प्रतीकतस्तत्त्वग्रामं दर्शयति,—इत्याह्निकतात्पर्यम्। तत्राधिकारसंगतिं योजयन् पूर्वपक्षप्रतिक्षेपं चोपसंहरन् शिवतत्त्वस्वरूपमेव दर्शयितुमाह—

नहीं है और न तो अनुमान प्रमाण से भी उसका ग्रहण हो सकता है, जो जो वस्तु है उस उसमें हेतु और व्याप्तिज्ञान संभव नहीं हो सकता है। किन्तु आगमशास्त्र तो अपरिच्छन्न प्रकाशात्मक, माहेश्वर विमर्शरूप, परमार्थ होने के कारण क्या नहीं देख लेता है? इसलिए आगम के अनुसार पदार्थों के निर्णय करने के लिए आचार्य आगमाधिकार नामक तृतीय अधिकार प्रारम्भ करते हैं; क्योंकि सभी पदार्थों का ज्ञान हो जाने पर ही पदार्थों के ऊपर जो प्रमातृपद है उसका हृदयङ्गम होना संभव है।

इस आह्निक में ग्यारह श्लोकों के द्वारा 'एवमन्तर्बहिर्वृत्तिः' यहाँ से लेकर 'स्थूलसूक्ष्मत्वभेदतः' वहाँ तक आगमशास्त्र में सिद्ध पदार्थतत्त्व जो शिव आदि से लेकर पृथिवी पर्यन्त हैं, वे सब के सब आभासरूप से ही मात्र झलकते हैं जब कि अन्य दर्शन में इसे 'सामान्यम्' ऐसा कह कर व्यवहार किया गया है; जिसका यह सारा का सारा शरीर, भुवनादि ऐश्वर्य-वैभव माना जाता है। जो कि सामानाधिकरण्य [घट-पटादि] रूपों में असंख्य प्रकार से विशेषता को लिए हुए स्वलक्षणसमुदाय के रूप में अवभासित होते हैं, परमेश्वर आगम से सिद्ध होता हुआ भी युक्ति के द्वारा अनुगत होता है, प्रतीकरूप से उस तत्त्वसमूह को दिखाते हैं, इस आह्निक का इतना ही तात्पर्य है। अधिकार सङ्गति को जोड़ते हुए पूर्वपक्ष के द्वारा दिये गये आक्षेप का निराकरण और उपसंहार करते हुए शिवतत्त्व के स्वरूप को दिखाने के लिए अब कहते हैं—

---

१. प्रकृत प्रसंग के अनुसार प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप के विषय में विवेचन करना चाहिए, और विश्व को प्रमेयरूप में प्रकाशित करना इस स्थल में उपयोगी नहीं दिखता इसी कारण 'विश्व' ऐसा कहा जाता है; क्योंकि विश्व को प्रमेयीकरण करने में प्रमेय पद से उत्तीर्ण होकर, अन्तःकरण में पूर्णभाव प्राप्त कर लेना ही सत्य प्रमातृता को हृदयङ्गम किया हुआ माना जायेगा। इस विषय में स्पन्द शास्त्र भी कह रहा है—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते॥

किसी भी विस्तु-पदार्थ को देखने की उत्कष्ट इच्छा का होना ही 'दिदृक्षा' कहा जाता है। इस देखनेवाली उत्कट इच्छा की दशा में अवस्थित होकर, जब साधक समस्त भाव-पदार्थों में अपने स्वरूप से व्याप्त होकर स्थित होता है तब अपने स्वभाव स्वरूप [तत्त्व] स्पन्द की अनुभूति कर लेता है। इस विषय में विशेष कहने की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती है।

एवमन्तर्बहिर्वृत्तिः क्रिया कालक्रमानुगा ।
मातुरेव तदन्योन्यावियुक्ते ज्ञानकर्मणी ॥ १ ॥

एवमिति, यतः परदर्शनोक्तः कार्यकारणभावो जडरूपप्रतिष्ठो न कथंचिदुपपन्नः, किन्तु चिद्रूप एवान्तर्बहिरात्मना प्रकाशपरमार्थेनापि वपुषा तदाभासरूपेण वर्तमानः कालक्रममाक्षिपन् क्रियाभिधीयते तस्य प्रमातुरेव ज्ञानशक्तिवपुषो धर्मः; 'तत्' इति तस्मादवियुक्तं ज्ञानं क्रिया च ।

इस प्रकार बाह्य और आन्तरवृत्ति ही क्रमिक अवभास [कालक्रम] का आक्षेप करती हुई क्रिया कही गयी है । इसीलिए परस्पर अवियुक्त ज्ञान और क्रिया ज्ञान-शक्तिवपु प्रमाता का धर्म माना जाता है ॥ १ ॥

'एवमिति' यह जो श्लोक में दिया गया है इससे द्योतित होता है कि अन्य दर्शन में कहा गया कार्य-कारणभाव जडरूप होने के कारण किसी तरह भी उपपन्न नहीं होता, किन्तु भीतर और बाहर में चिद्रूप ही सर्वत्र व्याप्त है, परमार्थ प्रकाश उस धर्मीरूप आभास से विद्यमान रहता है जो क्रमिक अवभास कालक्रम का आक्षेप करता हुआ क्रियारूप बन जाता है अर्थात् उसीको क्रिया कहा जाता है उस ज्ञान-शक्तिवपु प्रमाता का ही धर्म है, 'तत्' शब्द जो श्लोक में दिया है यह बताता है कि इसलिए ज्ञान और क्रिया ये दोनों परस्पर एक दूसरे अविभक्त मिले हुए रहते हैं ।

---

१. परम शिव ही दूसरों को प्रकाशित करनेवाले होते हैं उनकी उन्मुखरूपता इच्छा ही क्रिया शुद्ध विद्या विमर्शमयी है जब वे शिव ज्ञान मात्र से, बिना किसी अन्तर किये भी विश्व का अपने आप में ही अपने से निर्माण कर सर्जन करते हैं तब अन्तर भाव के उद्रेक से ज्ञान-शक्तिरूप सदाशिव में अवस्थित हो जाते हैं, किन्तु जब बाहर में सृष्टि की रचना की प्रधानता से सर्जन करते हैं तब बहिर्भाव के उद्रेक से क्रिया-शक्तिरूप ईश्वर में क्रिया-शक्तिरूप से अवस्थित हो जाते हैं । इस प्रकार विवेचन किया भी गया है—

उत्तरोत्तरमवग्रहग्रहैः पश्यतोऽप्यधरमुत्तरस्य यः ।
साधनस्य निजभावनाग्रहो हेतुरत्र भवतो मरीचयः ॥

जो उत्तरोत्तर पृथक्ता को द्योतन करनेवाली अवग्रह-शक्ति के द्वारा ऊपर नीचे देखनेवाले साधक की अपनी भावना से ग्रहण करने पर आपकी रश्मियों का ही इसमें कारण दिखता है ।

इस प्रकार आगम शास्त्र में भी इस पर उल्लेख किया गया है—

तस्मिन्नेवेश्वरे तत्त्वे संस्थितः परमेश्वरः ।
शिवेच्छानुमता सर्वे जगतः प्रभविष्णवः ॥

परमेश्वर उसी ईश्वर तत्त्व में अवस्थित रहते हैं । शिव की इच्छा-शक्ति से ही अनुमत होकर वे सभी जगत् के उत्पादक बनते हैं ।

२. ज्ञान और क्रिया का सम्बन्ध अवियुक्त रहता है; क्योंकि वह आन्तर तत्त्व का प्रकाश करनेवाली होने से ज्ञान-शक्ति कहलाती है और बाह्यरूप से पदार्थों का क्रमशः विस्तार करती है इसलिए क्रिया-शक्ति है इस विषय में आगम शात्र का भी प्रमाण है—

ज्ञानं विमर्शानुप्राणितं, विमर्श एव च क्रियेति। न च ज्ञानशक्तिविहीनस्य क्रियायोगः,—इति तदेतदवियुक्तज्ञानक्रियारूपं, क्रियाद्वारेण सकलतत्त्वराशिगतसृष्टिसंहारशतप्रतिबिम्बनसहिष्णु यत् तदुपदेशभावनादिषु तथाभासमानमनाभासरूपमपि वस्तुतः, शिवतत्त्वम्,—इत्युक्तं भवति ॥ १ ॥

नन्वेवंभूतं शिवतत्त्वं चेत् तर्हि ततोऽनतिरिच्यमानमिदं विश्वम्,—इति किमन्यत् तत्त्वं स्यात्। एकचित्तत्त्वविश्रान्तौ च तत्त्वानां कथं क्रमो भवेत्, देशकालाभेदात् ? एवमेवैतत्—

किन्त्वान्तरदशोद्रेकात्सादाख्यं तत्त्वमादितः।
बहिर्भावपरत्वे तु परतः पारमेश्वरम् ॥ २ ॥

यद्यप्येकमेव शिवतत्त्वं तथापि तदीयमेव स्वातन्त्र्यं स्वात्मनि स्वरूपभेदं तावत्प्रतिबिम्बकल्पतया दर्शयति। स्वरूपवैचित्र्यमयो हि असौ; ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा तस्या उद्रेका-

ज्ञान तो विमर्श से अनुप्राणित अर्थात् जोवित है और विमर्श ही क्रिया है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञान-शक्ति से रहित क्रियायोग नहीं बन सकता है, ज्ञान और क्रियारूप का अवियुक्तरूप से बना रहना ही सभी पदार्थों का पारमार्थिकवपु कहा जाता है, जो क्रिया द्वारा सम्पूर्ण तत्त्वराशि से होनेवाले सृष्टि-संहार सैकड़ों प्रतिबिम्ब का सहिष्णु है वही उपदेश भावनादि में तथा भासमानरूप भी वस्तुतः शिव तत्त्व ही है—ऐसा कहा है ॥ १ ॥

'ननु' कह कर शङ्का की जाती है कि यदि ऊपर में कहा गया है—ऐसा ही शिवतत्त्व है तब तो यह सारा का सारा विश्व शिवतत्त्व से भिन्न ही नहीं हुआ, अपितु अभिन्नरूप से इस तत्त्व में रह गया, इससे भिन्न अन्य तत्त्व क्या होगा ? एक चिद्रूप तत्त्व में विश्रान्ति हो जाने पर पदार्थों का क्रम कैसे बैठेगा ? क्योंकि इसमें तो देश-काल का अभेद हो जाता है, यह तो ऐसा ही दिखायी देता है—

किन्तु आन्तर अवस्था के उद्रेक होने से पूर्व अवस्था में सदाशिव तत्त्व रहता है। बाहर में पदार्थ तत्त्वों का विस्तार होने पर तो ईश्वर तत्त्व कहलाता है ॥ २ ॥

यद्यपि शिवतत्त्व एक ही रहता है तथापि भिन्न-भिन्न विशेषताएँ लिये हुए, उन्हीं की स्वातन्त्र्य-शक्ति अपने आत्मस्वरूप में स्वरूपों का भेद संपादन करती हुई प्रतिबिम्ब के समान उन उन रूपों के भेदों को अभिव्यक्त करती है। जिसमें स्वरूप का वैचित्र्यभाव झलकता हो, वही देश-काल क्रम कहलाता है; क्योंकि मूर्त्ति क्रिया का वैचित्र्यभाववाला तो यह है; इसलिए भीतरी ज्ञानरूपा जो दशा है उस दशा के उद्रेक होने पर सादाख्य तत्त्व रहता है अर्थात् सदाशिव

एवमेतदिति ज्ञेयं नान्यथेति सुनिश्चितम्।
ज्ञापयन्ती जगत्यत्र ज्ञानशक्तिर्निगद्यते ॥
एवं भूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः।
जाता तदेव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते ॥

इस प्रकार यह ज्ञेय पदार्थ है, इससे भिन्न किसी रूप में नहीं भासित होता, इस प्रकार निश्चित बोध हो जाता है। जगत् का ज्ञान कराती है इसलिए ज्ञान-शक्ति कहलाती है। यह वस्तु ऐसी ही स्वरूपवाली है और जब पुनः प्रकाशित हो जाती है तब वही उस उस प्रकार से क्रिया बन जाती है।

भासने 'सादाख्यं' सदाख्यायां भवम्; यतः प्रभृति सदिति प्रख्या, सदाख्यायाश्च सदाशिवशब्द-रूपाया इदं वाच्यं तत्त्वम्। सृष्टिक्रमोपदेशादौ प्रथममुचितं तत्सादाख्यं तत्त्वम्। 'बहिर्भावस्य' क्रियाशक्तिमयस्य 'परत्वे' उद्रेक.भासे सति 'पारमेश्वरं' परमेश्वरशब्दवाच्यमीश्वरतत्त्वं नाम। ततश्च सादाख्यस्य पश्चादुचितावभासनम्। एतदुक्तं भवति—इह तस्य भावस्तत्त्वम्,—इति भिन्नानां वर्गाणां वर्गीकरणनिमित्तं यदेकमविभक्तं भाति तत्तत्त्वं, यथा गिरिवृक्षपुरप्रभृतीनां

तत्त्व में होनेवाले भावतत्त्व को सादाख्य तत्त्व से कहा जाता है; क्योंकि इन सभी पदार्थों की सत्ता सदा प्रतिज्ञापन होती है इसी कारण वे सभी तत्त्व सदाशिव शब्द का वाच्य हो जाते हैं। इदन्ता के उन्मेष अवस्था में भी इनकी शिवरूपता सदा बनी रहती है, चाहे फिर स्फुट होकर बाहर में अभिव्यक्त हो गये हो इससे क्या होता है? इसी कारण 'सदा' शब्द से कहा गया है। सृष्टि क्रम के उपदेशादि देने में प्रथम तत्त्व तो सदाशिव ही रहता है—ऐसा कहना युक्तियुक्त बैठता भी है। 'बहिर्भावस्य' इस वाक्य से द्योतित होता है कि 'इदम्' अंश क्रिया-शक्ति से युक्त होकर बाहर की ओर प्रस्फुट होता है; क्योंकि इसमें क्रिया-शक्ति की प्रधानता है—ऐसा अवभासन होने पर 'पारमेश्वरं' परमेश्वर शब्द का वाच्य ईश्वर तत्त्व कहलाता है अर्थात् बाहर में तत्त्व की अभिव्यक्ति होने पर ईश्वर तत्त्व प्रधान हो जाता है। इसलिए सदाशिव तत्त्व के बाद ठीक भासित होनेवाला ईश्वर तत्त्व है, यह कहा जाता है कि उसका भाव रहता है और उसका रहना ही तत्त्व माना जाता है, भिन्न-भिन्न वर्गों के वर्गीकरण में जो निमित्त है, जो कि एक ही में अवियुक्तरूप से मिला हुआ भासता है वस्तुतः उसीका नाम तत्त्व है। जैसा कि पर्वत, वृक्ष, नगर

१. इदंभाव के प्रतिबोध करने की इच्छा सदाशिव तत्त्व व सादाख्य तत्त्व में रहती है। इस सदाशिव तत्त्व की अवस्था में इच्छा का प्राधान्य रहता है। इस अवस्था में 'अहम्' 'मैं हूँ' ऐसा प्रतिज्ञापन होता है इसीलिए यह सादाख्य तत्त्व कहा जाता है। सद् शब्द का अर्थ है होना तथा होने में इदंभाव की प्रतीति होती है इस अवस्था में 'अहम्-इदम्' 'मैं यह हूँ' ऐसा निश्चित एक अनुभव हृदय में होता है किन्तु इदमंश अभी अस्फुट दशा में पड़ा हुआ है। 'अहम्' में इसकी प्रधानता बनी हुई है। सदाशिव में उन्मेष का अभाव है किन्तु निमेष अवस्थावाले सदाशिव तत्त्व है, इस विषय में कहा भी गया है कि 'ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः' किन्तु इदम् अंश को अपना ही अंश मानता है। प्रधानता तो अहम् की रहती है जैसे कुंभकार के मन में छोटे-बड़े आकार-प्रकारवाले अनेक प्रकार के मृत्पात्र निर्माण करते समय एक अस्फुट धुँधली प्राथमिक अवस्था विशेष रहती है उसी प्रकार सदाशिव तत्त्व में भी विश्व अस्फुट अवस्था में अवस्थित रहता है।

२. जिसका मतङ्ग संहिता में भी उल्लेख किया गया है—

तत्त्वं यद्वस्तुरूपं स्यात्स्वधर्मप्रकटात्मकम्।
तत्त्वं वस्तुपदं व्यक्तं स्फुटमाम्नायदर्शने॥
यदच्युतं स्वकादृवृत्तात्ततं चात्मवशं गतम्।
ततमन्येन नो तस्मात्तत्त्वं तत्त्वसंततौ॥

जो अपने धर्म को प्रकट करनेवाला पदार्थरूप तत्त्व है वही आम्नाय-वेद में प्रत्यक्ष स्फुटरूप से व्यक्त वस्तु तत्त्व कहलाता है। जो अपने वृत्त से च्युत नहीं होता है तथा अपने में प्रतिष्ठित भी है और किसी अन्य से प्रकाशित नहीं है, वही तत्त्वसंतति में तत्त्व कहलाता है।

नदीसरःसागरादीनां च पृथिवीरूपत्वमब्रूपत्वं चेति। ततश्च शुद्धचैतन्यवर्गो यो मन्त्रमहेश्वराख्यः, तस्य प्रथमसृष्टावस्माकमन्तःकरणैकवेद्यमिव ध्यामलप्रायमुन्मीलितमात्रचित्रकल्पं यद्भावचक्रं, संहारे च ध्वंसोन्मुखतया तथाभूतमेव चकास्ति प्रतिबिम्बप्रायतया, तस्य चैतन्यवर्गस्य तादृशि भावराशौ तथाप्रथनं नाम यच्चिद्विशेषत्वं तत्सदाशिवतत्त्वम्। मन्त्रेश्वरादिरूपस्य तु चैतन्यराशेः स्फुटीभूतमस्मद्बहिष्करणसरणिसंप्राप्तभाववर्गप्रतिमं विश्वं प्रतिबिम्बतया भाति, तस्य तु तत् तथाप्रथनमीश्वरतत्त्वम्। यस्तु सदाशिवभट्टारक ईश्वरभट्टारकश्च ध्येयोपास्यादिरूपतया स

इत्यादिकों का तथा सरिता, सरोवर, सागर आदि की पृथिवीरूपता और जलरूपता होना। इसलिए जो शुद्ध चैतन्यवर्ग मन्त्र महेश्वर है, उसकी पहले-पहल सृष्टि हम लोगों के अन्तःकरण द्वारा वेद्य के जैसी अस्फुटरूप में, चित्रकार के मन में चित्र खींचने के पूर्व रूपरेखा धुँधली-सी रहती है, उसी प्रकार सदाशिव तत्त्व में ध्यामल अर्थात् हलकी सी धुँधली रूपरेखा अव्यक्तरूप से रहती है। संहार काल में भी पदार्थों की ध्वंस उन्मुखता हो जाने से उसी प्रकार प्रायः प्रतिबिम्ब-रूप से भासते हैं उस चैतन्यवर्ग का वैसा पदार्थ राशि में भासित होनारूप जो वैशिष्ट्य है वही सदाशिव तत्त्व है। किन्तु मन्त्रेश्वररूप चैतन्यराशि का स्फुट दशा में हम लोगों की बाहरी इन्द्रियों के मार्ग से संप्राप्त जो पदार्थसमूह के सदृश जगत् है उसमें प्रतिबिम्बरूप से भासता है उसका वैसा फैलाव होना ही तो ईश्वर तत्त्व कहलाता है। किन्तु सदाशिवभट्टारक और ईश्वरभट्टारक तो ध्येय-उपास्यादिरूपता से प्रकाशित होते हैं। ब्रह्मा, विष्णु के तुल्य सदाशिव भट्टारक एवं ईश्वरभट्टारक को भिन्न भिन्न ही समझना चाहिए। इनमें नाम की समानता को लेकर भ्रमित नहीं होना होगा।

[सदाशिव भट्टारक और ईश्वर भट्टारक अर्थात् भट्टारक, भट्ट और भट्टार ये शब्द परस्पर एकार्थक होते हैं, भट् धातु से तन् प्रत्यय होकर भट्ट शब्द निष्पन्न हुआ है। भ्वादिगण में पठित भट् धातु का पोषण अर्थ होता है [भट् भृतौ]। भट्ट का अर्थ है पोषण करनेवाला स्वामी अर्थात् ईश्वर। इन शब्दों का प्रयोग प्रायः श्रेष्ठ लोगों के लिए अथवा ब्राह्मण और राजा-महाराजाओं के लिए आदर देने के रूप में आते हैं यहाँ प्रकृत प्रसङ्ग में भट्टारक शब्द अपने से जो पूज्य है उसके लिए लगाया गया है और सदाशिव सब के पूज्य एवं स्वामी भी है। कुछ लोगों का कहना

---

१. संहार दशा में तो प्रायः जैसे चित्रकार के मन में प्रदर्शित चित्र की प्रथम एक धुँधली सी रूपरेखा रहती है, अनन्तर उसका अधिक स्पष्टरूप उभरने लगता है और रंग देने पर इससे भी अधिक चित्र अभिव्यक्त होने लगता है, उसी प्रकार सदाशिव दशा में भी सारा का सारा विश्व अस्फुट दशा में अवस्थित रहता है और ईश्वररूप उन्मेष अवस्था में विकसित हो जाता है। जैसा कि सरोवर का कमल। 'अहम् इदम्' यह सदाशिव का प्रत्यवमर्श है तथा ईश्वर का प्रत्यवमर्श है 'इदम् अहम्' है।

२. इस विषय में आगम भी कहता है—

तस्मिन्नेवेश्वरे तत्त्वे संस्थितः परमेश्वरः।
शिवेच्छानुमताः सर्वे जगतः प्रभविष्णवः॥

उसी ईश्वर तत्त्व में बैठा हुआ परमेश्वर है। शिव की इच्छा-शक्ति से अनुगत होकर जगत् के उत्पादक, पालक इत्यादि होते हैं।

ब्रह्मविष्णुतुल्यः पृथगेव मन्तव्यो न तु नामसारूप्याद्भ्रमितव्यम्। यदाहुरेके 'ब्रह्मविष्णुरुद्रा अपि तत्त्वमध्ये किं न गणिताः' इति ॥ २ ॥

नामधेयान्तरमप्यत्र तत्त्वद्वये दर्शयति—

ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः ।

यस्योन्मेषादुदयो जगतः,—इत्यत्र ईश्वरतत्त्वमेवोन्मेषशब्देनोक्तम्। विश्वस्य हि स्फुटत्वं बाह्यत्वमुन्मेषणं, निमेषणं त्वस्फुटत्वापादनमन्तारूपतोद्रेचनम्,—इति निमेषः सदाशिवतत्त्वं यतो जगतः प्रलयः,—इति शुद्धोऽयं स्पन्दः परमेश्वरस्याचलस्याप्यप्ररूढरूपान्तरापत्तिलक्षणः किञ्चिचचलनात्मतया स्फुटद्रूपत्वात्। परमेश्वरस्य हि परमार्थत एताः शक्तयो यस्तत्त्वग्रामः,

है कि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र को भी इन तत्त्वों के बीच में क्यों नहीं गिन लेते हो ? ॥ २ ॥

दूसरे नाम भी इन्हीं दोनों तत्त्वों में गतार्थ होते हैं—

बाहर का उन्मेष ईश्वरतत्त्व है और भीतर का निमेष सदाशिवतत्त्व है।

जिसके उन्मेष से इस जगत् की उत्पत्ति होती है। इस स्थल में ईश्वरतत्त्व को ही उन्मेष शब्द से कहा गया है; क्योंकि विश्व का बाहर में स्फुटरूप से व्यक्त होना ही उम्मेष माना जाता है। एवं अस्फुटरूप से अन्त.करण में सम्मिलित कर लेने का नाम ही निमेष है, निमेष ही सदाशिव तत्त्व कहलाता है जिससे जगत् का प्रलय होता है। इस प्रकार यह शुद्ध स्पन्द है जो अचल परमेश्वर का दूसरा रूप न होना स्वरूप माना जाता है किञ्चित् चलनात्मकरूप से स्फुरित होने

१. गुणादिस्पन्दनिष्यन्दाः सामान्यस्पन्दसंश्रयात्। लब्धात्मलाभा सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिनः ॥

सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण इन तीनों गुणों की साम्यावस्था प्रकृतितत्त्व हैं इससे निकले हुए नील-सुखादि-गुण-स्पन्दों अनन्त प्रवाह सामान्य-स्पन्द पर ही आश्रित रहते हैं ऐसी परिस्थिति में वे निरन्तररूप में प्रवाहमान होते रहने पर भी उस योगी के लिए प्रतिद्वन्दी नहीं बन सकता है; क्योंकि चिति-शक्ति को हृदयंगम करनेवाले के लिए मार्ग प्रशस्त हो जाता है चिद्रूप का आवरण न कोई है और न कोई हो ही सकता है।

प्रतिष्ठित एवं अप्रतिष्ठितरूप से स्पन्द दो प्रकार के होते हैं। प्रतिष्ठित स्पन्द सारे विश्व वैचित्र्य का एकमात्र कारण है एवं विराट्-चेतना होने के कारण, नामरूपात्मक सारे पदार्थों के भी मूल कारण हैं। अप्रतिष्ठित स्पन्दन माया तत्त्व से लेकर पृथिवी तत्त्व तक अनेक भेदों से मिला हुआ रहता है यद्यपि अनेक भेद-उपभेद से युक्त होते हुए भी एकत्व में ही अवस्थित रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि विश्व का कोई भी पदार्थ, चाहे प्रस्तर खण्ड ही क्यों न हो, वस्तुतः उसका सम्बन्ध विराट् स्वरूप के प्रवाह से ही रहता है, शैवाद्वैत दर्शन में स्पन्दों की प्रवाहमानता की प्रक्रिया इस प्रकार है—

तेन आहुः किल संवित् प्राक् प्राणे परिणता……। बाहर में उन्मुख होकर, सर्वप्रथम, प्राण अर्थात् सूक्ष्म प्राणना अर्थात् विश्वचेतनता के रूप में परिणत हो जाती है। संवित् प्रकाश स्वरूपवाली तो है ही परन्तु इसका विमर्शरूप भी रहता है। शास्त्रीय भाषा में इस विमर्शमय प्रकाश को आनन्द-शक्ति से कहा गया है। जैसा कि—आनन्द शक्ति सैवोक्ता यतो विश्वं विसृज्यते। संविन्मात्रं हि यच्छुद्धं प्रकाश परमार्थकम्। तन्मेयमात्मनः प्रोज्झ्य विविक्तं भासते नभः ॥ (तं०)

संवित् वेद्य-विषय को अपने से भिन्न कर गगन सदृश स्वयं अवस्थित रहती है।

काचित् तु शक्तिरन्यबहुतरशक्तिक्रोडीकारं कुर्वती निकटत्वादुपास्या घटस्येव घटत्वात्मिका, काचिदन्यापेक्षिणी स्वरूपमात्रनिष्ठा दूरा घटस्येव सत्तात्मिका। एवं निमेषोन्मेषशक्ती एव सदाशिवेश्वरौ तयोस्त्वधिष्ठातृदेवते अपि तथानामे।

अथ तदधिष्ठातृदेवताद्वयगतं करणं विद्यातत्त्वमाह—

सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदन्धियोः ॥ ३ ॥

प्रकाशस्य यदात्ममात्रविश्रमणमयनन्योन्मुखस्वात्मप्रकाशताविश्रान्तिलक्षणो विमर्शः सोऽ'हम्' इति उच्यते; यस्त्वन्योन्मुखः स 'इदम्' इति स च स्वप्रकाशमात्रे पुनरनन्योन्मुखरूपे विश्राम्यति परमार्थतः। तत्राद्ये विमर्शेऽपि शिवतत्त्वं,द्वितीये विद्येशता, मध्यमे तु रूपे 'अहमिदम्' इति समधृततुलापुटन्यायेन यो विमर्शः स सदाशिवनाथ ईश्वरभट्टारके च, इदंभावस्य तु ध्यामला-ध्यामलताकृतो विशेषः। ये एते 'अहम्' इति 'इदम् इति धियौ तयोर्मायाप्रमातरि पृथगधिकरण-त्वम् 'अहम्' इति ग्राहके 'इदम्' इति च ग्राह्ये, तन्निरासेनैकस्मिन्नेवाधिकरणे यत्संगमनं संबन्ध-

के कारण। परमार्थतः जितने भी तत्त्वसमूह हैं वे सब के सब परमेश्वर की ही सारी शक्तियाँ हैं। कोई शक्ति तो दूसरी अनेकों शक्तियों को अपने में सम्मिलित करके निकटवर्ती होने के कारण उपासना करने योग्य बन जाती है। जैसे घट की घटत्वात्मिका-शक्ति। कोई तो किसी अन्य की अपेक्षा रखती हुई केवल स्वरूप में ही रहनेवाली होती है जबकि अत्यन्त दूर में रहने के कारण घट की सत्तारूप शक्ति के समान होती है। इस प्रकार निमेषरूप और उन्मेषरूप ये ही दो शक्तियाँ सदाशिव और ईश्वर हैं उनकी अधिष्ठातृदेवता-शक्ति भी दो नाम रूपवाली कहलाती है।

अब उसके अधिष्ठातृ देवता दोनों के कारण विद्यातत्त्व कहते हैं—

'अहम् और इदम्' इन दोनों प्रकार की बुद्धियों का सामानाधिकरण्य सद्विद्या तत्त्व में होता है ॥ ३ ॥

प्रकाश का अपने स्वरूप में केवल विश्राम लेना और किसी अन्य की ओर उन्मुखता न रखता हुआ अपने स्वात्मरूप मात्र में विश्रान्ति लेनेवाला स्वभाव विमर्श का है उसे 'अहम्' विमर्श से कहा जाता है; किन्तु जो किसी अन्य की अपेक्षा रखता है वह तो 'इदम्' है, परमार्थतः उसकी भी विश्रान्ति अनन्योन्मुख स्वरूपवाले स्वप्रकाश मात्र में हो जाती है। प्रथम 'अहम्' विमर्श में शिवतत्त्व रहता है, द्वितीय में विद्येश्वरता, किन्तु मध्यमरूप में तो 'अहमिदम्' 'सम-धृततुलापुटन्यायेन' विमर्श होता है, वह सदाशिव भट्टारक और ईश्वर भट्टारक इन दोनों में रहते हैं, इदम् अंश का तो कुछ ध्यामल [धुँधला] और अध्यामल रूपता को लिए हुए वैशिष्ट्य रहता है। जो 'अहमिदम्' ये दो तत्त्व हैं इनमें अहम् अंश एक तत्त्व है, दूसरा इदम् अंश है [१]इन दोनों तत्त्वों की बुद्धि माया प्रमाता में भिन्न-भिन्न अधिकरणता को रखती हुई दो भागों में -विभक्त हो जाती है, 'अहम्' अंश का ग्राहक [प्रमाता] में विमर्श होता है और 'इदम्' अंश का

१. जब मध्यमकोटि में विश्रान्ति लेते हैं तब 'अहमिदम्' ग्राहक [प्रमाता] में ग्राह्य [प्रमेय] का प्रक्षेप होता है इसलिए ध्यामल ग्राह्य अंश का विमर्श सदाशिवनाथ में 'अहमिदम्' इस रूप से होता है, 'इदमहम्' इस का ग्राह्य [प्रमेय] में प्रस्फुटित होने पर 'अहम्' इस अंश के प्रक्षेप से सामानाधिकरण्य विमर्श ईश्वरभट्टारक में होता है।

स्वरूपप्रथनं तत् सती शुद्धा विद्या; अतोऽशुद्धविद्यातो माया :प्रमातृगताया अन्यैव। तत्र यदा 'अहम्' इत्यस्य यदधिकरणं चिन्मात्ररूपं तत्रैवेदमंशमुल्लासयति तदा तस्यास्फुटत्वात् सदाशिवता 'अहमिदम्' इति। 'इदमहम्' इति तु इदमित्यंशे स्फुटीभूतेऽधिकरणे यदाहमंशविमर्शं निषिञ्चति तदेश्वरता,—इति विभागः ॥ ३ ॥

ननु कस्मादियं शुद्धा विद्या ? इत्याह—

इदं भावोपपन्नानां वेद्यभूमिमुपेयुषाम् ।
भावानां बोधसारत्वाद्यथावस्त्ववलोकनात् ॥ ४ ॥

अवलोकनं प्रथनं वेदनं विद्या, यथावस्तुत्वं वस्त्वनुसारित्वं च; तस्याः शुद्धिरविपरीतता। वेद्यदशां चोपगतवतामङ्गीकृतवताम्, अत एवेदमित्येवंभूतेनोचितेन परामर्शेनोपपन्नानां परामृश्यमानानां भावानां 'बोध' एव प्रकाशात्मा साररूपं वस्तु, प्रकाशश्चानन्योन्मुखविमर्शात्माहमिति। तदेषां यदेव पारमर्थिकं रूपं तत्रैव प्ररूढत्वात् अहमित्यस्य शुद्धवेदनरूपत्वम् ॥ ४ ॥

ग्राह्य [प्रमेय] में विमर्श होता है।

इद दोनों तत्त्वों के द्वित्व को छोड़ देने पर एक ही अधिकरण [स्व-स्वरूपाख्य] में जिसका सम्बन्ध स्वरूप फैलता है—ऐसी अवस्था में विद्यातत्त्व की प्रधानता रहती है; इसलिए माया प्रमाता में रहनेवाली अशुद्ध विद्या से तो इस तत्त्व को सर्वथा भिन्न ही समझना चाहिए। शुद्धविद्या में जब 'अहम्' इस अंश का, जो अधिकरण चिन्मात्ररूप है उसीमें 'इदम्' इस अंश को उल्लासित करता है तब उसको अस्फुटता रहने के कारण सदाशिवता, 'अहमिदम्' यह विमर्श होता है। 'इदमहम्' इसरूप में तो इदन्तांश के प्रस्फुटित होने पर जब अहम् अंश के विमर्श को सींचता है तब ईश्वरता होती है, 'इदमहम्' इस अवस्था में ईश्वर तत्त्व रहता है, इन दोनों तत्त्वों का यही विभाग है ॥ ३ ॥

अब शङ्का होती है कि यह कैसे शुद्ध विद्या कही जाती है ? इस आशङ्का का समाधान करते हैं—

इदन्ता परामर्श से उपपन्न वेद्यदशा को स्वीकार किये गये परामृश्यमान पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का बोध-ज्ञान हो जाने के कारण शुद्ध विद्या कहलाती है ॥ ४ ॥

वस्तु के अनुसार अवलोकन करना, प्रथम करना और ज्ञान करना ही विद्या कहा जाता है, जैसी वस्तु है उसके अनुरूप उसे जान लेना, उससे विपरीत अर्थ में न समझना ही विद्यातत्त्व है। वेद्यभूमि को प्राप्त हुए अर्थात् अङ्गीकार किये गये, अत एव इदंभाव के समुचित प्रत्यवमर्श से उपपन्न परामृश्यमान पदार्थों का 'बोध' ज्ञान ही प्रकाश स्वरूप वस्तुतत्त्व है, वह प्रकाश ही किसी अन्य की अपेक्षा न रखनेवाला विमर्शात्मा 'अहम्' कहलाता है। जो इनका पारमार्थिकरूप है उसी में बढ़ जाने के कारण 'अहम्' इस अंश की शुद्ध संवेदनरूपता मानी जाती है ॥ ४ ॥

---

१. 'अहम् और इदम्' इन दोनों तत्त्वों का परामर्श अर्थात् प्रत्यवमर्श शुद्धविद्या में एक समानरूप से होता है। यथा 'समधृततुलापुटन्यायेन' जैसे तराजू के दोनों पलड़े बराबर रहते हैं। इस में क्रिया-शक्ति की प्रधानता रहती है और इस अवस्था में अहम् एवं इदम् दोनों का विमर्श इस तरह समानरूप से अभिव्यक्त होता है कि यद्यपि इस समय में भी अहम् और इदम् दोनों एक समान हैं फिर भी दोनों की

अधिष्ठातृरूपाद्देवताद्वयात् तत्त्वद्वयं विभक्तम्,—इत्येतद्भङ्ग्या प्रतिपादयत्यागमव्यवहारेण—

अत्रापरत्वं भावानामनात्मत्वेन भासनात् ।
परताहन्तयाच्छादात्परापरदशा हि सा ॥ ५ ॥

परत्वं पूर्णत्वमनन्यापेक्षाहमिति, 'अपरत्वम्' अपूर्णतान्यापेक्षेदमिति; अत्र च तत्त्वद्वये भावानां ध्यामलाध्यामलरूपाणामुभयांशस्पर्शात् परापरत्वमिति। वेद्यभावनिष्ठा दशा तत्त्वस्वरूपा तदवभासयितृमन्त्रेश्वरादिशुद्धप्रमातृसंवेद्यवस्तुसारा। या तु तन्निष्ठसंवेदनदशा सा शुद्धा विद्या, तत्प्रमातृवर्गाधिष्ठातृत्वं श्रीसदाशिवेश्वरभट्टारकरूपता,—इति संक्षेपः ॥ ५ ॥

अधिष्ठातृरूप से दोनों देवताओं के दोनों तत्त्व विभाजित कर दिये गये, [समान नामवाले होते हुए भी दो तत्त्वों में विभक्त रहना ही है] अब आगम व्यवहार से प्रतिपादन करते हैं—

अपरत्व पदार्थों को अनात्मकरूप से प्रकाशित करता है। परत्व अर्थात् प्रकृष्ट स्वतन्त्रदशा अहन्तारूप से आच्छादित करने के कारण परदशा और अपरदशा में भासित करता है ॥ ५ ॥

परत्व परिपूर्णभाव का नाम है, अपने आपको प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखनेवाला अहम् परामर्श है; 'अपरत्वम्' परापेक्षी इदंभाव को अपरत्व कहते हैं, जिसको सदैव दूसरे की अपेक्षा रखनी पड़ती है, इसी कारण यह इदंभाव अपूर्ण रहता हुआ परापेक्षी सर्वदा बना रहता है। ये दोनों तत्त्व ध्यामल एवं अध्यामल रूपों में पदार्थों का उभय अंश स्पर्श करते हुए परत्व एवं अपरत्वरूप से रहते हैं; वेद्यभाव में रहनेवाली अवस्था यथार्थरूप से उन-उन पदार्थभावों को अवभासित करनेवाले मन्त्रेश्वर इत्यादि शुद्धप्रमाताओं के रूप में संवेद्य वस्तुसार अर्थात् अपरत्व है। किन्तु उन संवेदनरूप ज्ञानों में रहनेवाली अवस्था है वही शुद्धविद्या कहलाती है, उन-उन प्रमातृवर्ग के अधिष्ठातृत्वदेव श्री सदाशिवभट्टारक और ईश्वरभट्टारकरूप ही है। इसका इतना ही मात्र सार है ॥ ५ ॥

भिन्नता एक प्रकार से विशेषता को लेती हुई प्रतीत होती है। उस अवस्था में विमर्श भेदाभेदरूप से होता है। जैसा कि इदम् अंश का अहम् अंश से भेद प्रतीत होता है, तथापि अहम् अंश इदम् को अपना एक भाग मानता है। इससे अहम् और इदम् का सामानाधिकरण्य दिखायी देता है। शिवतत्व 'अहम्' इस अंश का प्रत्यवर्श है; सदाशिव तत्त्व में 'अहमिदम्' प्रत्यवमर्श है; ईश्वरतत्त्व में 'इदमहम्' प्रत्यवमर्श रहता है। इन सभी में 'अहम्' शिवतत्त्व की प्रधानता मानी जाती है। शुद्धविद्या में दोनों तत्त्वों के प्रत्यवमर्श समानरूप से [अहं च इदं च] यह प्रत्यवमर्श भेददशा और अभेददशा के मध्य का है। इसी कारण इसे परदशा एव अपरदशा से भी कहते हैं। इसे शुद्धविद्या अथवा सद्विद्या के नाम से भी कहते हैं; क्योंकि 'इदंभावोपन्नानां वेद्यभूमिपेयुषाम्। भावानां बोधसारत्वात्'''''॥ इस अवस्था में समस्त वस्तुओं के वास्तविक सम्बन्ध का विमर्श हो जाता है और सब विमर्श भी मानसिक होता है, इसी कारण शुद्धध्वा कहा जाता है; क्योंकि इस अवस्था में परमेश्वर का स्वरूप स्वच्छ ही रहता है अर्थात् माया से धूसरित नहीं होता।

एवमेकेषां मते 'अहम्' इत्याच्छादको यो भागः, तत्प्रथाप्रधाना शुद्धविद्या। अन्ये तु मन्यन्ते,—योऽसाविदंभाग आच्छादनीयस्तस्य यदवभासनं तत्प्रधाना शुद्धविद्या। अन्यथा हि स इदमशंः केन भास्यतां मायायास्तत्राभावात् भावे वा प्ररोहप्रसङ्गात्; अत एवेयं प्ररोहासहिष्णुं यत इदन्तां भासयति ततः शुद्धाभासनाच्च विद्येति। तत एवाप्ररूढमायाकल्पत्वात् महामायेयं श्रीरौरवादिगुरुभिरुपदिष्टा, तदेतदाह—

भेदधीरेव भावेषु कर्तुर्बोधात्मनोऽपि या।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा॥ ६॥

मायाप्रमातरि शून्यादिरूपेऽप्यनुल्लसिते, चिन्मात्र एव प्रमातरि कर्तरि च सति चिदेकरूपेष्वपि भावेषु यदचिद्रूपतया तदप्रकाशनलक्षणं स्वातन्त्र्यं सा शुद्धविद्या माया शक्त्या तुल्या, वेद्यभागे भेदप्रकाशनात्। न च मायैव, ग्राहकस्य चिन्मात्रभागे तावदविपर्यासनात्, येन प्रकारेण विद्येश्वरा भगवन्तोऽनन्ताद्या वर्तन्ते। ते हि शुद्धचिन्मात्रगृहीताहंभावाः स्वतस्तु भिन्नं वेद्यं पश्यन्ति, यथा द्वैतवादिनामीश्वरः। एवं ग्राहकेंऽशतश्चैतन्यरूपात् परमार्थरूपे ग्राह्यविपर्यासनशक्तिः

इस प्रकार कोई तो कहते हैं कि 'अहम्' यह जो आच्छादक भाग है, [समस्त वेद्यपदार्थों को अपने में आत्मसात् कर लेना और दूसरों की आकांक्षा न रखने के कारण अद्वैतरूप से पूर्ण रहना ही आच्छादक 'अहम्' परामर्श है।] उसको विस्तार करनेवाली शुद्धविद्या कहलाती है।

किन्तु इस विषय में दूसरे लोग भी कहते हैं—जो वह इदंभाग आच्छादनीय है उसका आभासन करना है जिसमें शुद्धविद्या का प्राधान्य माना जाता है। नहीं तो, शुद्धविद्या के बिना उस इदभाग किससे आभासित होगा; क्योंकि मायाप्रमाता का उसमें रहना संभव नहीं है जिससे इदंभाग भासित हो सके। यदि वह रहता तो उसीका विस्तार होता इसलिए विस्तार को न सहनेवाली इदन्ता को जिससे आभासित करती है अर्थात् इदन्ता को प्रकाशित करनेवाली होने से और शुद्ध आभास से आभासित होनेवाली होने के कारण शुद्धविद्या है। इसलिए अप्ररूढ माया के सदृश होने के कारण इसको श्री रौरवादि गुरुजनों ने भी महामाया कहा है, इसको दिखाते हैं—

बोधात्मा कर्ता की भेदबुद्धि ही पदार्थों में माया-शक्ति के जैसी भासती है। वही शुद्धविद्या है जैसे कुछ विद्येश्वर लोग [विद्येश्वर-शक्ति] शुद्धविद्या मानते हैं॥ ६॥

माया प्रमाता में शून्यादिरूप प्रमाता अनुल्लसित होते हैं, चिमान्त्र ही प्रमाता के कर्ता रहने पर चिद्रूप के साथ पदार्थों की एकता भी हो जाती है जिसका अचिद्रूप से प्रकाशन नहीं होता है वही स्वातन्त्र्यरूप [भेद प्रकाशरूप माया-शक्ति के जैसा] शुद्धविद्या है जो कि माया-शक्ति के जैसी रहती है, इससे वेद्य अंश में भेद का प्रकाश होता है। वह माया नहीं है; क्योंकि ग्राहक [प्रमाता] के चिन्मात्र भाग में कुछ भी तो उलटा-पलटा नहीं कर सकती, जिस प्रकार से भगवान् विद्येश्वर अनन्तादि हैं, वे लोग शुद्ध संविद्रूप चिन्मात्र में अहंभाव को गृहीत किये हुए अपने से भिन्न वेद्य वस्तु को देखते हैं। जैसे द्वैतवादियों का ईश्वर अर्थात् द्वैत सिद्धान्त को माननेवाले अपने से सर्वथा भिन्न ही ईश्वर को मानते हैं। इस प्रकार ग्राहक [ज्ञाता] में चैतन्य अंश से परमार्थरूप ग्राह्य में जो विपरीत भाव का भर देनेवाली शक्ति है वही विद्येश्वरों को

शुद्धविद्या विद्येश्वराणाम् ॥ ६ ॥

परे प्राहुः—भगवतः परमशिवस्याप्ररूढभेदावभासनं सदाशिवेश्वरता। तत्रास्फुटत्वे इच्छाशक्तिरीश्वरस्य व्याप्रियते, स्फुटत्वे ज्ञानशक्तिः, प्ररूढे तु भेदे ग्राह्यविपर्यासेऽपि ग्राहकचिन्मात्रतायां विद्येश्वरेषु क्रियाशक्तिः, ग्राहकग्राह्यविपर्यासद्वयप्ररूढौ तु मायाशक्तिः, सा च पशुप्रमातृषु, ग्राहकग्राह्योभयविपर्याससंस्कारे तु अविनिवृत्तेऽपि यदेतत् वस्तुपरमार्थप्रथनं तत्र विद्याशक्तिव्यापारो योगिज्ञानिप्रभृतिष्वपशुप्रमातृषु; तदेतद्दर्शयति—

तस्यैश्वर्यस्वभावस्य पशुभावे प्रकाशिका।
विद्याशक्तिः..........................

'पशुभावे' विपर्यासैकरसत्वलक्षणे पाशनीयत्वेऽस्वतन्त्रे दृश्यद्रष्टृदर्शनभेदे सत्यपि जाते

शुद्धविद्या है ॥ ६ ॥

दूसरे लोगों का कहना है कि भगवान् परम शिव का अप्ररूढरूप से भेदपूर्वक भासित होना ही सदाशिवता और ईश्वरता मानी जाती है। उसमें अस्फुट दशा रहने पर ईश्वर की इच्छा-शक्ति व्यापार करती है तथा स्फुट होने पर ज्ञान-शक्ति व्यापार करती है, भेद की प्ररूढदशा में तो ग्राह्य [प्रमेय] का विपर्यास हो जाने पर भी ग्राहक [प्रमाता] की शुद्धचिन्मात्रता में विद्येश्वर लोगों की क्रिया-शक्ति का व्यापार रहता है, ग्राह्य और ग्राहक इन दोनों का विपर्यास प्ररूढ हो जाने पर तो माया-शक्ति व्यापार करती है और वह विशेषरूप से पशुप्रमाताओं में, ग्राह्य एवं ग्राहक इन दोनों के विपर्यास संस्कार में तो अविनिवृत होने पर भी, जिस वस्तु परमार्थ का फैलाव अर्थात् प्रकाश, उन पशुप्रमाताओं से व्यतिरिक्त योगिजनों में विद्या-शक्ति व्यापार करती है, इसको दिखाते हैं—

उस ऐश्वर्य स्वभाववाले परम शिव का पशुरूप में प्रकाश करनेवाली विद्या-शक्ति मानी जाती हैं.......... ।

'पशुभावे' जो श्लोक में निर्देश है इससे यह व्यक्त होता है कि जिसका विपर्यास कर देना मात्र स्वरूप है जो कि पाश बद्ध एवं अस्वतन्त्र है उसमें दृश्य, द्रष्टा के भेद दिखाने पर भी पहले

---

१. परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से उपजीवित होनेवाली विद्येश्वर-शक्ति शुद्धविद्या कहलाती है। इसलिए विद्येश्वर लोगों ने दीक्षा-दान अर्चनादि से ही इसकी प्राप्ति की है। जिसमें 'अहम्' और 'इदम्' अंश इन दोनों का ज्ञान भिन्न-भिन्न रहता है। यद्यपि भेद का आरम्भ यहाँ से हो होता है तथापि भेद के भीतर अभेद अवस्थित रहता है। इस तत्त्व में क्रिया की प्रधानता होती है। 'मन्त्र' इस तत्त्व का प्रमाता है। इसमें प्रत्यवमर्श 'इदं च अहं च' इस रूप से होता है। विश्व भिन्न है, किन्तु सर्वथा भिन्न नहीं है। इसी कारण इस दशा को 'शुद्धविद्या' कहते हैं।

जब कि विद्येश्वर लोग साक्षात् प्रमाता हो होते हैं। इस पर कहा भी है—अधिकारं न चेत्कुर्याद्विद्येशः स्यात्तनुक्षये। यदि अधिकार न करे, तो विद्येश्वर लोग शरीर के क्षीण हो जाने पर शिवस्वरूप हो जाते हैं विद्यातत्त्व में रहने के कारण ईश्वर, सर्वज्ञ इत्यादि विद्येश्वरों को समझे जाते हैं। जैसे पार्थिव ब्रह्माण्ड के अधिपति ब्रह्मा, प्राकृत में विष्णु, मायीय में रुद्र ये कोई दूसरे-दूसरे तत्त्व नहीं हैं तथा परस्पर भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं—ऐसा समझना भी नहीं चाहिए।

पूर्वोक्तयुक्तिबलेन यदेतदैश्वर्यमुक्तं तस्य या प्रकाशिका परमेश्वरशक्तिः—यद्वशात् केचिदेव ता युक्तीरादृत्य तदाश्वस्तहृदयाः कृतिनो भवन्ति—सा विद्याशक्तिः। अयमेव षडर्धसारादिदृष्टोऽप्यस्याचार्यस्य हृदयमावर्जयति पक्षः, 'अन्ये' इत्यनुक्तेः। एतदानन्तर्यौचित्येन च मायातत्त्वनिरूपणात्।

तदाह—

············तिरोधानकरी मायाभिधा पुनः ॥ ७ ॥

मायाशक्तिः पुनरचिद्रूपे शून्यादौ प्रमातृताभिमानं प्ररूढं दधती भावानपि चिन्मयान् भेदेनाभिमानयन्ती सर्वथैव स्वरूपं तिरोधत्ते आवृणुते विमोहिनी सा। तिरोधानमत्र न विलयरूपं मन्तव्यं, यत् कृत्यपञ्चकमध्य आगमेषु गण्यते, दीक्षितस्यापि गुरुमन्त्रादिनिन्दनप्रायमपि त्वावरणमेव ॥ ७ ॥

तिरोधानमावरणरूपं स्फुटयति—

भेदे त्वेकरसे भातेऽहंतयानात्मनीक्षिते।
शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मायाशक्तिर्विजृम्भते ॥ ८ ॥

कही हुई युक्ति के बल से ऐश्वर्य कहा गया है।

उसका प्रकाश करनेवाली पारमेश्वरी-शक्ति है, जिसके सामर्थ्य से कोई-कोई जन ही उन युक्तियों का आदर कर, आश्वस्त हृदय होकर कृतकृत्य [निष्कल-प्रमाता] हो जाते हैं—वही विद्या-शक्ति है। यही पक्ष त्रिक शास्त्र के द्वारा देखा गया है जो कि आचार्य के हृदय को अत्यधिक आकर्षित करनेवाला है जिस कारण से 'अन्ये' ऐसा कहा नहीं है। इसके अनन्तर ही मायातत्त्व का निरूपण करना उचित माना जाता है।

इसके लिए कहते हैं—

······इसी को तिरोधान करनेवाली माया-शक्ति के नाम से कहा जाता है ॥ ७ ॥

अचिद्रूप शून्यादि में प्ररूढरूप से प्रमातृता का अभिमान बढाती हुई, भाव-पदार्थों को भी भेदपूर्वक चिन्मयरूप में करती हुई सब प्रकार से संवित् स्वरूप को आवृत्त कर देनेवाली माया-शक्ति समस्त-प्रपञ्चजाल को विमुग्ध कर डालती है। इसमें तिरोधान कर देने का अर्थ विलयरूप नहीं लेना होगा कि जिसमें समस्त वस्तु-पदार्थ क्षत-विक्षत हो जायें, किन्तु विशेषरूप में जिस परम चिद्रूप में लय अर्थात् अपने स्वरूप में आत्मसात् कर लेना है, जिसकी गणना आगमों में कृत्यपञ्चक के मध्य संहार शब्द से की गयी है। दीक्षा से दीक्षित हुए लोगों का भी गुरु मन्त्रादि के विषय में निन्दादि करना केवल आवरण ही माना जाता है ॥ ७ ॥

उसी आवरणरूप तिरोधान को स्पष्ट करते हैं—

किन्तु एकरस चिद्रूप में भेदपूर्वक बोध होने पर अनात्मतत्त्व में अहंरूप से प्रतीति होने लगती है। शून्य, प्राण, बुद्धि अथवा शरीरादि प्रमाताओं में माया-शक्ति का उल्लास उद्गम होता है ॥ ८ ॥

सुषुप्ते प्रलये 'न' इत्यभावसमाधौ च तावच्छून्यमाकाशकल्पमनात्मरूपं वेद्यभावोचितम् 'अहम्' इत्यात्मत्वेन वीक्ष्यते; उच्छ्वसननिःश्वसनादौ वा अहमुच्छ्वसिमि,—इति प्राणो वायुकल्पः, स्थावरजङ्गमजिघत्सामन्युप्रज्वलनादौ वा प्राण एव तेजः समुपबृंहितः, स्वच्छोदकाशयकल्पा

सुषुप्ति दशा, प्रलयदशा और 'न' नकारात्मक जिसमें कुछ भी नहीं है—ऐसी अभावरूप समाधिदशा में शून्य आकाश के सदृश स्मर्यमाण होने कारण परमार्थतः अनात्मरूप वेद्यभाव ही 'अहम्' आत्मरूप होने से भासता है।

---

१. नाभावो भाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढता। यतोऽभियोगसंस्पर्शात्तदासीदितिनिश्चयः॥

भावना का विषय अभाव तीनों कालों में भी नहीं हो सकता है, अभाव भावना की स्थिति तो जडता की ही स्थिति है जिससे कि योगी को समाधि से उठने के बाद अभिलाप भाषण के साथ संपर्क हो जाने पर मन में ज्ञान होने लगता है कि मेरी अवस्था थी वह तो शून्य सी निश्चय होने लगती है। चिति-शक्ति का उसी प्रकार का स्वभाव नहीं है; क्योंकि चिति-शक्ति तो सदोदिता स्वभाववाली होती है उसमें मूढता की स्थिति की भाँति स्मरण नहीं होता। वह तो सदैव एकरस, अखण्ड, देदीप्यमान रूप में रहनेवाली होने के कारण प्रति समय अनुभव करनेवाला अनुभव-स्मरण स्वातन्त्र्य-शक्ति के रूप में करता रहता है। अभाव भावना का विषय है। इस प्रकार कि अभाव ब्रह्मवादियों का मानना है। तथा माध्यमिक शाखा के बौद्धों का सर्वाभाव अर्थात् सर्वशून्यरूप है। जब कि इस अवस्था में रहनेवाला आत्मतत्त्व अभाव में मिल जाता है—ऐसा मानना युक्ति युक्त नहीं है। यदि अभाव ब्रह्मवाद के अनुसार आत्मा का वास्तविक स्वरूप अभाव मान कर उससे किसी भी प्रकार की सत्ता के अनस्तित्व का सिद्धान्त स्वीकारलिया जाये तो एक बाधा उपस्थित होती है। वह यह है कि अभाव अवस्था में किसी की वेदन सत्ता का अस्तित्त्व शेष न रहने के कारण उस अभाव अवस्था का अनुभव कौन करेगा ? ऐसे अभाव से कारणरूप सत् जगत् का उदय कैसे हो सकेगा; क्योंकि असत् तो जड आकाश पुष्प के समान है उससे फिर उत्पत्ति कैसे बन पायेगी अर्थात् असत् से सत् की उत्पत्ति होना कदापि संभव नहीं है और न ऐसा तर्क करना ही ठीक है।

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ २।१६ गीता

सद्रूप का अभाव कभी भी नहीं हो सकता एवं असद्रूप का भाव ही होता है; क्योंकि तत्त्वदर्शी लोगों ने दोनों को बड़ी सूक्ष्मता से देख कर प्रतिपादन किया है कि 'इदमित्थम्' यह ऐसा ही है।

अतस्तत्कृत्रिम सेयं सौषुप्तपदवत्सदा। न त्वेवं स्मर्यमाणत्वं तत्तत्त्वं प्रतिपद्यते॥

जो पशु प्रमाताओं को अभाव की भावना समाधि होती है वह तो मात्र [सुषुप्ति] तामसिक निद्रा के सदृश कृत्रिम ही है। वह तत्त्व [चिद्रूप] इस जडभावना के समान कदापि स्मर्यमाण का विषय नहीं हो सकता है—अर्थात् अभाव भावना का साक्षात्कार करनेवाले किसी को इस भूमिका का लाभ हो जायें, तो भी अनुभूति तो तन्द्रा जैसी ही होती है। इसलिए अनित्य, कृत्रिम उसे मानना चाहिए। एवं आत्मा का स्वरूप अनवच्छिन्न 'त्रिकाल बाध्यत्वम्' अर्थात् जिसका तीनों कालों में भी बाध नहीं हो सकता है, इस युक्ति से सिद्ध है। इस स्वरूप की सतत गुरु परम्पराक्रमपूर्वक उपासना करते रहना चाहिए।

वेद्यप्रतिबिम्बनवती वा बुद्धिरभिनिविश्यते। अन्तरहं वेद्मि दुःख्यहमिति चिन्ताद्यवस्थासु, शरीरमेव पृथिवीप्रायं कृशोऽहमित्यादिदशासु अहमित्यात्मतया भाति। सर्वं चैवेदं शून्यादि वस्तुतश्चिन्मात्रसारमेव माययैव तावदचिद्रूपतया भासितम्। तथाविधमेव तु सत् अहमिति संविद्रूपताभिनिवेशस्थानं संपादितमप्रशान्तजडभावमेव,—इति दुष्करतमवस्तुसंपादनाप्रतीघातरूपा परमेश्वरस्य मायाशक्तिः,—इत्येतत् 'विजृम्भते' इत्यनेन दर्शितम्। वाग्रहणेन वेद्यरूपाणां सुतधनदारादीनामप्यहंताभिनिवेशविषयत्वमसंख्यातं सूचयति ॥ ८ ॥

नन्वचिद्रूपत्वादनात्मा यदि शून्यादिस्तदात्मतयासौ अभिनिविश्यमानश्चिद्रूप एव,—इति सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिविशुद्धैश्वर्यधर्मैव स्यात्,—इत्याशङ्क्याह—

श्वास अर्थात् प्राण वायु लेने में और श्वास निकालने में अथवा तो मैं स्वयं श्वास को लेता हूँ और स्वयं ही श्वास को बाहर की ओर निकालता हूँ,—मानो कि वायु के समान प्राणतत्त्व ही रहता है, जड-जीवजङ्गम को खा डालने के लिए क्रोध की अभिव्यक्ति होने पर तेजपुञ्ज से बढा हुआ प्राण ही रहता है, स्वच्छ निर्मल जलाशय के समान वेद्यभावों में प्रतिबिम्बित होनेवाली बुद्धि का अभिनिवेश देखा जाता है। मैं भीतर जानता हूँ, मैं दुःखी हूँ इस तरह चिन्तादि अवस्थाओं में, जब कि शरीर प्रायः पृथिवी तत्त्व से बना हुआ है; उसी में भी मैं गौरवर्ण हूँ, मैं स्थूल-सुन्दर हूँ इत्यादि अवस्थाओं में 'अहम्' आत्मरूप से भासता है यह सब शून्यादि तत्त्ववस्तु का चिन्मात्र सार ही है जो माया के द्वारा अचिद्रूप अर्थात् वेद्यभाव से भासता है,—"तद्वहिर्न किञ्चित्" इस न्याय से शुद्ध चिन्मात्र का ही यह सारा का सारा विलास-उल्लास दृष्टिगोचर होता है, समस्त वेद्यगत भाव तो माया का स्वरूप है। अचिद्रूप का तिरस्कार न करना, मैं सद्रूप हूँ—ऐसे संविद्रूपता का अभिमान करना मायीय अप्रशान्त जडभाव ही तो है, इस प्रकार दुष्करतम अवस्तुरूप के सम्पादन करने में कभी कहीं भी न रुकनेवाली परमेश्वर की माया-शक्ति कहलाती है। [मायातत्त्व स्वरूप का गोपन कर देती है और अपरिमेय भेदों की जननी है। जिसमें परमेश्वर का स्वरूप तिरोहित हो जाता है। यह तिरोभाव माया और उसके पञ्च कञ्चुकों द्वारा होता है। 'मा' धातु से माया शब्द सिद्ध हुआ है जिसका आशय यह है कि मापना अर्थात् मापकर अलग कर देना एक निर्धारित सीमा में सीमित कर देना। पदार्थों को एक दूसरे से पृथक् कर देती है 'अहम्' अंश को इदमंश से एवं इदमंश को अहमंश से भिन्न कर देती है, नाना भेदों के सर्जन करनेवाली होने के कारण माया-शक्ति कहलाती है।] यह कारिका में दिया गया 'विजृम्भते' क्रियापद से अवगत होता है। 'वा' शब्द के ग्रहण से द्योतित होता है कि पुत्र, कलत्र, कनक इत्यादि वेद्य-पदार्थों में असंख्य प्रकार से अहन्ता का अभिमान करना भी तो माया-शक्ति का सब व्यापार है ॥ ८ ॥

अब शङ्का की जाती है कि शून्यादि प्रमातृवर्ग अचिद्रूप होने के कारण अनात्मा होते हुए भी आत्मरूप से जाने जाते हैं। इसी कारण वे सब के सब अभिनिविश कर लेने से चिद्रूप ही हो गये, जिससे उनमें सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्वादि विशुद्ध ऐश्वर्यधर्म भी मिल जायेंगे,—इस आशङ्का का उत्तर देते हैं—

यश्च प्रमाता शून्यादिः प्रमेये व्यतिरेकिणि ।
माता स मेयः सन्कालादिकपञ्चकवेष्टितः ।। ९ ।।

स्यादैश्वर्यधर्मयोगः शून्यादेः, यदि अहमित्याभिनिविश्यमानोऽपि नेयतां जह्यात्; तथा हि सति प्रमेयमप्यस्य नीलादिव्यतिरिक्ततया नैव भासेत । यावता यः शून्यादिः प्रमाता कथितः, स यावदेव स्वरूपाद्व्यतिरेकाभिमते नीलादौ प्रमेये माता तावदेव स्वयमपि मेयभूत एव सन् माता । मेयं हि मीयमानत्वाव परिमितम्,—इति तादृशादेव मेयान्तरादुपपन्नव्यतिरेकं, न त्वेवं चिद्रूपमपरिमितत्वात् । परिमितत्वं च शून्यादेरहंभावस्य यत् तदेव कालादिपञ्चकम् । तथा हि कालः क्रममासूत्रयन् प्रमातरि विजृम्भमाणस्तदनुसारेण प्रमेयेऽपि प्रसरति, योऽहं कृशोऽभवं स स्थूलो वर्ते भविष्यामि स्थूलतरः,—इत्येवमात्मानं देहरूपं क्रमवन्तमिव पराामृशंस्तत्सहचारिणि प्रमेयेऽपि भूतादिरूपं क्रमं प्रकाशयति । अस्य शून्यादेर्जडस्य विद्या किंचिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा बुद्धिदर्पणसंक्रान्तं भावराशिं नीलसुखादिं विविनक्ति । कला किंचित्कर्तृत्वोपोद्बलनमयी कार्यमुद्भावयति, किंचिज्जानामि किंचित्करोमि,—इति । अत्र चांशे तुल्ये किंचित्त्वे कस्मादिदमेव किंचित्,—इत्यत्रार्थेऽभिष्वङ्गरूपः प्रमातरि देहादौ प्रमेये च गुणारोपणमय इव रागो व्याप्रियते ।

जो शून्यादि प्रमाता हैं उनसे भिन्न प्रमेय के रहने पर, वह प्रमाता प्रमेयरूप होकर ये कालादि पञ्च कञ्चुकों के द्वारा आवेष्टित हो जाता है ।। ९ ।।

विशुद्ध ऐश्वर्य सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्वादि धर्म का योग, शून्यादि प्रमाताओं में भले ही होवें 'अहम्' इस अभिनिवेश से युक्त होकर यदि वह प्रमेयता को छोड़ दे, ऐसा रहने पर ही प्रमेय भी इसका नीलादि-पदार्थों से भिन्न होकर नहीं भासित हो सकेगा । इसलिए यह सब शून्यादि प्रमाता कहा जाता है, जब तक वही स्वरूप से भिन्नरूप नीलादि प्रमेय में प्रमाता बनता है तब तक ही प्रमेय बना हुआ कहलाता है, प्रमेय भी सीमित होने के कारण परिमित अर्थात् संकुचित हो जाता है, इसलिए उसी प्रकार के दूसरे घटादि प्रमेयों से भिन्नरूप में प्राप्त होने के कारण, वह चिद्रूप नहीं हो सकता, चिद्रूप का स्वरूप तो अपरिमित-अपरिच्छन्न होता है । परिमितरूपता शून्यादि प्रमाताओं में अहंभाव का प्राप्त होना है वही कालादि पञ्चक है । देखिये—कालक्रम को दिखाता हुआ प्रमाता में प्रकाशित होकर उसके अनुसार प्रमेय में भी फैल जाता है, तब वह कहने लगता है कि मैं कृश था, वही अभी मैं स्थूल हो गया हूँ तथा आगे इससे भी अधिक स्थूलता को प्राप्त हो जाऊँगा । इस प्रकार देहरूप आत्मा को क्रमवाले के समान मानता हुआ एवं उसका सहचारी प्रमेय में भी भूतादिरूप से क्रम को प्रकाशित करता है । इसी कारण इस शून्यादि जड की विद्या जो [प्रमाता में आरोप करती है] किञ्चित् ज्ञत्व उन्मीलनरूप बुद्धि दर्पण में संक्रान्त नील-सुखादि भावराशि के पृथग्रूप से विवेक करती है । कला-महेश्वर का स्वरूप तिरोहित कर देने पर, अणुरूप में ढल जाने पर जिससे उसका सर्वकर्तृत्व संकुचित होकर एक सीमा में सीमित हो जाता है, किञ्चित् कर्तृत्व में विनिमय हो जाता है वही कला है अर्थात् किञ्चित् कर्तृत्व को प्रकाशित करती हुई कार्य को उद्बुद्ध करती है, जिससे कि मैं जानता हूँ—ऐसा अनुभव होता है और किञ्चित् में सम्पादन भी करता हूँ । इसी अंश में किञ्चिद्रूप से समानता होने पर ही क्यों इतना ही किञ्चित् है, इस अर्थ में अभिष्वङ्गरूप प्रमाता, देहादि और प्रमेय में गुण का आरोप

न च तद्बुद्धिगतमवैराग्यमेव, तद्धि स्थूलं वृद्धस्य प्रमदायां न भवेदपि रागस्तु भवत्येव। बुद्धिधर्माष्टकेऽपि च दृष्टोऽभिष्वङ्गः। अत्रैव कस्मादभिष्वङ्ग,—इत्ययमर्थो नियत्या नियम्यते इति। एवं कलाविद्याकालरागनियतिभिरोतप्रोतो माययापहृतैश्वर्यसर्वस्वः सन् पुनरपि प्रतिवितीर्णतत्सर्वस्वराशिमध्यगतभागमात्र एवंभूतोऽयं मितः प्रमाता भाति—इदानीमिदं किंचिज्जानानः, इदं कुर्वाणोऽत्र रक्तोऽत्रैव च यः सोऽहम्—इति। एषां च भिन्नविषयत्वमपि भवति कदाचित्—यथान्यत्र रक्तोऽपि नियत्यान्यत् कार्यते—इति। एते च प्रमातृलग्नतयैव भान्ति,—इति तस्यैव शक्तिरूपाः प्रतिप्रमातृभिन्ना एव, कदाचित् तु नटमल्लप्रेक्षादावीश्वरेच्छया एकीभवेयुरपि। न ह्येषामीश्वरेच्छातिरिक्तं निजं किमपि जीवितमस्ति,—इत्यसकृदुक्तं वक्ष्यते च॥ ९॥

यदुक्तमिदमित्यत्र प्रमेये व्यतिरेकिणि माता,—इति तत्र तत्प्रमेयं दर्शयति—

त्रयोविंशतिधा मेयं यत्कार्यकरणात्मकम्।
तस्याविभागरूप्येकं प्रधानं मूलकारणम्॥ १०॥

यत् कार्यकरणरूपं त्रयोविंशतिप्रकारं, यच्च तस्य मूलभूतं कारणं सर्वकार्यकरणाविभागरूपं प्रधानं नाम तत्सर्वं मेयम्,—इति सम्बन्धः। योगिमन्त्रतदीश्वरप्रभृतीनां हि भूततन्मात्रकरण-

कर देने के समान राग होता है और वह बुद्धि में होनेवाली आसक्ति नहीं है; क्योंकि वह स्थूल है, वृद्धजन की कामिनी में आसक्ति बढती ही जाती है चाहे काम करने को शक्ति भले ही न हो इस प्रकार वृद्धावस्था न भी हो किन्तु अनुराग तो देखा जाता है। अभिष्वङ्ग बुद्धि ऐश्वर्यादि धर्म अष्टक में भी देखा गया है। इसीमें क्यों आसक्ति होती है? इसलिए यह अर्थ नियति से नियमित होता है एवं कला, विद्या, काल, राग और नियति से ओतप्रोत होकर, जिसका ऐश्वर्य माया के द्वारा अपहृत हो जाता है अर्थात् समस्त ऐश्वर्य लूट जाने पर भी उसमें कुछ अंश को लेकर ऐसा ही परिमित प्रमाता के रूप में भासित होता हुआ, मैं इस समय कुछ जानता हुआ, कुछ करता हुआ संसक्त होकर इसीमें जो कि वह मैं स्वयं हूँ। इनकी भिन्न विषयता भी कभी-कभी हुआ करती है—जैसे जिससे अन्यत्र आसक्त होता हुआ भी नियति के कारण दूसरा कार्य कराया जाता है। ये सभी प्रमाताओं में ही संलग्न होकर भासित होते हैं, उसीकी शक्तिरूपवाले प्रत्येक प्रमाताओं में भिन्न-भिन्न रूपों में भासित होते हैं, कदाचित् नट-मल्ल इत्यादि की कला देखने के समान ईश्वर की इच्छा से दर्शकों की दृष्टि एकत्र हो जाती है। इनकी ईश्वर की इच्छा से भिन्न अपनी निजी इच्छा विशेष नहीं रहती है, इस विषय में हम अनेक बार कह चुके हैं, आगे भी कहेंगे॥ ९॥

प्रमेय में भिन्नरूप से प्रमाता रहता है—इस विषय में कह दिया गया है। अब उस प्रमेय को दिखाते हैं—

जो कार्य-कारणात्मक तैइस प्रकार के प्रमेय तत्त्व हैं। उनका संमिलितरूप एक प्रधान तत्त्व ही मूल कारण माना गया है॥ १०॥

जो कार्य-कारणरूप तैइस प्रकार के प्रमेय तत्त्व हैं जो कि समस्त कार्य-कारणभाव के अविभागरूप प्रधान ही उन प्रमेयों का मूलभूत कारण हैं यही इन सबका सम्बन्ध है। योगी, मन्त्र अर्थात् विद्येश्वर, ईश्वर-मन्त्रेश्वर और मन्त्र महेश्वर इत्यादिकों में प्रमेय तत्त्व ही रहते हैं; क्योंकि भूत तन्माएँ, इन्द्रियवर्ग, प्रधान-प्रकृति के वशीभूत हो जाने के कारण ये सब के सब प्रमेय कह-

प्रधानवशीकारयोगित्वात् सर्वमेव प्रमेयम्। संसारिणामप्यनुमानागमादिदिशा प्रमेयमेव,—इतीयत् प्रमेयम्। कालादयस्तु प्रमेया अपि प्रमातर्येव लग्नाः,—इति प्रमातृशक्तिस्वभावत्वात् न प्रमेयत्वेनेहावसरे मायाप्रमातृव्यतिरिक्तप्रमेयप्रस्तावात्मनि गणिताः। वस्तुतो हि अत्र योऽयं प्रमातापि स प्रमेय एव, स तु प्रमात्रीक्रियमाण आच्छादितप्रमेयताक इहोच्यते ॥ १० ॥

नन्वत्र त्रयोविंशतौ किं कार्यं किं करणम् ? इत्याशङ्क्याह—

त्रयोदशविधा चात्र बाह्यान्तःकरणावली ।
कार्यवर्गश्च दशधा स्थूलसूक्ष्मत्वभेदतः ॥ ११ ॥

प्रमातुः पूर्वं करणोपयोगः,—इत्यत्रादौ त्रयोदश करणानि; तत्र बुद्धिरध्यवसायसामान्यमात्ररूपा, ग्राह्यग्राहकाभिमानरूपोऽहंकारः, सङ्कल्पादिकारणं मनः,—इत्यन्तःकरणं त्रिधा। बुद्धौ शब्दाद्यध्यवसायरूपायामुपयोगीनि बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च—श्रोत्रं, त्वक्, चक्षुः, जिह्वा; घ्राणम्,—इति। कर्मणि तूपयोगीनि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि। तथा हि—त्यागो ग्रहणं द्वयम्,—इति बहिर्विषयं यत् तत्र पाणिः पायुः पादः,—इति करणानि। एतदेवान्तः प्राणे येन क्रियते तद्वा-

लाते हैं। सांसारिक जीवों की भी अनुमान एवं आगम शास्त्र के द्वारा प्रमेयता सिद्ध होती है, इतने तक प्रमेय तत्त्व की सीमा है। कालादि भी तो प्रमेय तत्त्व के अन्तर्गत हैं किन्तु प्रमाता में मिले हुए रहते हैं, इसलिए वे सभी प्रमातृ-शक्ति के स्वभाववाले होने के कारण प्रमेयरूप से इस माया प्रमाता से व्यतिरिक्त प्रमेय के प्रस्ताव में नहीं गिने गये हैं। वस्तुतः इसमें जो प्रमाता है वह भी प्रमेय ही है, प्रमेयता से आच्छादित कर देने के कारण उसे प्रमाता बना दिया जाता है ॥ १० ॥

अब शङ्का करते हैं कि इन तैइस प्रकार के प्रमेय तत्त्वों में कौन कार्य है और कौन करण कहलाते हैं ? इस आशङ्का के समाधान के लिए कहते हैं—

पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रि, मन, बुद्धि और अङ्कार इन तेरह को करण कहते हैं। पञ्चमहाभूत, पञ्चतन्मात्राएँ स्थूल-सूक्ष्म के भेद से ये दस प्रकार के कार्य हैं ॥ ११ ॥

सर्वप्रथम प्रमाता करण अर्थात् इन्द्रियों का उपयोग करता है; इसी कारण इसमें पहले तेरह प्रकार के करण का ही निरूपण किया गया है। निश्चय करना बुद्धि का धर्म माना जाता है, ग्राह्य [प्रमेय और ग्राहक प्रमाता] में अभिमान करना अहङ्कार का लक्षण है, संकल्प-विकल्प करना मन का धर्म है, इस प्रकार इन तीनों को लेकर अन्तःकरण कहा जाता है। बुद्धि में शब्दादि ज्ञान का निश्चय करनेवाली पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ हैं इनका नाम जैसे श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, रसना और घ्राण हैं। कर्म में उपयोगी होने के कारण कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच प्रकार की होती हैं। देखिये—त्याग करना एवं ग्रहण करना ये दोनों बाहरी विषय कहलाते हैं जो हस्त, पायु और पाद

---

१. इस प्रकार पुरुष की दो करणेन्द्रियाँ रहती हैं ज्ञान में विद्या और क्रियायें कला। अत एव अन्धे व्यक्ति में ज्ञान नहीं रहता और पङ्गु में क्रिया का अभाव रहता है।

विद्यातत्व के बिना इन्द्रियवर्ग की अपनी स्वयं की कार्य इत्यादि संपादन में कुछ भी गति नहीं हो सकती है और कला के बिना उसमें कर्तृत्व-शक्ति एवं ज्ञातृत्व-शक्ति का भी उद्भव नहीं हो सकता। इसलिए पुरुषों में मुख्यरूप से तो विद्या और कला को ही इन्द्रियकरण माना गया है।

गिन्द्रियम्। तत्प्रक्षोभप्रशान्त्या विश्रान्तिक्रियोपयोगी उपस्थः। सर्वदेहव्यापकानि च कर्मेन्द्रियाण्यहङ्कारविशेषात्मकानि। तेन च्छिन्नहस्तो बाहुभ्यामादधानः पाणिनैवादत्ते, एवमन्यत्। केवलं तत्तत्स्फुटपूर्णवृत्तिलाभस्थानत्वात् पञ्चाङ्गुलिरूपमधिष्टानमस्योच्यते,—इत्येवं करणानि त्रयोदश। एषां च कार्यत्वेऽप्यसाधारणेन कारणत्वेन व्यपदेशः। स्थूलं कार्यं पृथिवी, आपः, तेजो, वायुः, नभः,—इति पञ्च भूतानि। सूक्ष्ममेषामेव रूपं, गन्धो, रसो, रूपं, स्पर्शः, शब्द,—इति। तत्रैकैकगुणमाकाशादि, एकैकवृद्धगुणं वा,—इति दर्शनभेदः,—इति न विवेचितोऽनुपयोगात्। तत्र स्थूलं विभक्तमविभागस्यानुमापकम्,—इति स्थूलरूपोपक्रममुक्तम्। तत्र पृथिव्याद्याभासा एव मिश्रीभूय घटादिस्वलक्षणीभूताः कर्मेन्द्रियैरुपसर्पिता, बुद्धीन्द्रियैरालोचिता, अन्तःकरणेन सङ्कल्पिताभिमतनिश्चितरूपा, विद्यया विवेचिताः, कलादिभिरनुरञ्जिताः, प्रमातरि विश्राम्यन्ति,—इति तात्पर्यम्। एतच्च विस्तरस्तत्प्रधानेषु तन्त्रालोकसारादिषु मया निर्णीतम्,—इतीहानुपयोगान्न वितानितम्,–इति शिवम्॥ ११॥

इति श्रीमदाचार्योत्पलदेवविरचितायामीश्वरप्रत्यभिज्ञायां श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तविरचितविमर्शिन्याख्यटीकोपेतायामागमाधिकारे तत्त्वनिरूपणाख्यं प्रथममाह्निकम्॥ १॥

●

हैं वे तीनों इन्द्रियाँ करण कही जाती हैं। इसीको दिखाते हैं—भीतर प्राण को रोक कर जिससे बोला जाता है वही वागिन्द्रिय है। जिसके द्वारा प्रक्षोभ और प्रशान्त क्रिया होती हो उसे उपस्थ इन्द्रिय कहा जाता है और सारे शरीर में व्यापकरूप से रहनेवाली अहङ्कार से युक्त कर्मेन्द्रियाँ कहलाती हैं। इसलिए हस्त के कट जाने पर भी बाहु से लेनेवाला हाथ से ही लिया है—ऐसा कहा जाता है। स्पष्टरूप से ग्रहण तो पाँच अङ्गुलियों के रहने पर ही होता है अतः इसका अधिष्ठान पञ्च अङ्गुलीरूप माना जाता है, इस प्रकार ये तेरह करण कहे जाते हैं। इनमें कार्यता रहने पर भी असाधारणतया करणरूप से व्यपदेश किया जाता है। इसका स्थूल कार्य पृथिवी, जल, तेज, वायु और गगन है इस प्रकार पञ्च महाभूत हुए, इनके सूक्ष्मरूप को कहते हैं—यथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द हैं। इनमें आकाशादि एक गुणवाले हैं किसी-किसी दर्शन में क्रमशः एक-एक बढते भी जाते हैं। यथा आकाश में एक शब्द ही मात्र गुण रहता है, वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण हैं, तथा तेज में शब्द, स्पर्श और रूप ये तीन गुण रहते हैं, जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस चार गुण रहते हैं। पृथिवी में शब्द, स्पर्श; रूप, रस और गन्ध ये पाँच गुण रहते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ पर अधिक विवेचन अनुपयोगी होने के कारण नहीं किया गया है। इसमें स्थूलरूप का विवेचन इसलिए किया गया है कि इसका विभाग करना अविभाग का अनुमापक होता है, इसी कारण स्थूलरूप का उपक्रम बता दिया है। पृथिवीरूप स्थूल भाग आपस में मिल करके घटादिरूप वस्तु का निर्माण करता है जो कि कर्मेन्द्रिय से होकर ज्ञानेन्द्रियों से समझ कर, अन्तःकरण से संकल्प किया हुआ अभीष्ट निश्चितरूपवाला, विद्या से विवेचन किया हुआ, कलाओं से अनुरञ्जित, प्रमाता में परम विश्रान्ति लेते हैं, यही इसका आशय है। इसका अधिक विस्तारपूर्वक विवेचन मैंने तन्त्रालोकसार आदि ग्रन्थों में किया है, अतः इस स्थल में विस्तार के साथ वर्णन करना अनुपयोगी होने से नहीं किया है। शिवम्॥ ११॥

प्रथम आह्निक समाप्त

अथ तृतीये आगमाधिकारे प्रमातृतत्त्वनिरूपणाख्यं
द्वितीयमाह्निकम्

अखण्डितस्वभावोऽपि विचित्रां मातृकल्पनाम्।
स्वहृन्मण्डलचक्रे यः प्रथयेत्तं स्तुमः शिवम्॥

एवं तत्त्वराशौ निर्णीते एतदन्तर्भाविनोक्तमपि मुख्यतया निर्णेतव्यं प्रमातृतत्त्वं वितत्य निर्णेतुं 'तत्रैतन्मातृतामात्र' इत्यादि 'व्यानो विश्वात्मकः परः' इत्यन्तैर्विंशतिश्लोकैराह्निकान्तरं प्रस्तूयते। तथाहि—प्रमातुरत्र स्वरूपप्रत्यभिज्ञानमुपदिश्यते शास्त्रे। स हि हेयमुपादेयं च स्वं स्वभावं विद्वान् परमोपादेयरूपं शिवस्वभावं स्वात्मनमभेदेनाविशन् जीवन्नेव मुक्तो भवति,—इति। तत्र श्लोकेन ब्रह्मादित्रयस्वरूपम्, ततोऽपि द्वयेन हेयोपादेयप्रमातृतत्त्वम्, ततस्तदुपयोगिमलस्वरूपं, तत्कृतं च प्रमातृभेदं श्लोकसप्तकेन, द्वयेन समावेश स्वरूपं श्लोक पञ्चकेन प्रमातुरेव सुषुप्ताद्यवस्थाः, त्रयेण तासां हेयोपादेयविभागं निरूपयति,—इत्याह्निकतात्पर्यम्। ग्रन्थार्थस्तु निरूप्यते—

तत्रैतन्मातृतामात्रस्थितौ रुद्रोऽधिदैवतम्।
भिन्नप्रमेयप्रसरे ब्रह्मविष्णू व्यवस्थितौ॥ १॥

तत्रेति, एवंभूतेऽस्मिन्नागमसिद्धे युक्त्यनुगते च तत्त्वस्वरूपे सति यदेतत् कालादिपञ्चक-वेष्टितं प्रमातृतारूपं, तदेव यस्यां शुद्धमुपसंवृतप्रमेयजातं भवति दशायां संहाराख्यायां तस्यामधि-

जो हृदय कमल चक्र [परावाग्रूप] में अखण्डित स्वभाववाले परम शिव विचित्र-चित्ररूप से प्रमाताओं की भाँति प्रकट हो जाते हैं, हम उस शिव की स्तुति करते हैं।

इस प्रकार तत्त्वराशि प्रमेयरूप से निर्णय कर लेने पर इसके अन्तर्भाव में कहा गया भी मुख्यरूप से निर्णय करना चाहिए, प्रमातृतत्त्व का भी विस्तारपूर्वक निर्णय करने के लिये 'तत्रैतन्मातृतामात्र' इत्यादि से लेकर 'व्यानो विश्वात्मकः परः' यहाँ तक बीस श्लोकों से दूसरे आह्निक का प्रस्ताव करते हैं। जैसा कि इस प्रत्यभिज्ञा शास्त्र में प्रमाता के अपने स्वरूप की पहचान करने के लिए उपदेश दिया जाता है; क्योंकि वह हेय एवं उपादेयरूप अपने-अपने स्वभाव को जानता हुआ, परम उपादेयरूप शिवभाव को अपने में अभेदपूर्वक समझता हुआ जीवन्मुक्त हो जाता है। प्रथम श्लोक से ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनों देवों के स्वरूप का वर्णन किया जायेगा, इसके पश्चात् दो श्लोकों से हेय-उपादेयरूप से प्रमातृतत्त्व के विषय में कहेंगे। इसके बाद सात श्लोकों से उस प्रमातृतत्त्व में जो उपयोगी मल का स्वरूप और उसके द्वारा होनेवाले प्रमाताओं में भेदों का विवेचन किया जायगा। अनन्तर दो श्लोकों से समावेश अर्थात् समाधि अवस्था का स्वरूप बतायेंगे। इसके बाद पाँच श्लोकों से प्रमाता की सुषुप्ति अवस्थाओं अर्थात् उन अवस्थाओं के विषय में विवेचन करेंगे। इसके पश्चात् तीन श्लोकों से हेय-उपादेयता का विभाग प्रस्तुत किया जायेगा, यही इस आह्निक का आशय है। अब ग्रन्थ के अर्थ का निरूपण करते हैं—

इस प्रकार केवल प्रमातृता की स्थिति में भगवान् रुद्ररूप से अधिष्ठातृदेव रहते हैं। भिन्न-भिन्न रूपों में प्रमेयतत्त्व के विस्तार होने पर तो ब्रह्मा और विष्णु की व्यवस्था की जाती है॥ १॥

'तत्रेति' इससे यह अर्थ प्रकट होता है कि आगमसिद्ध तत्त्व स्वरूप की युक्तिपूर्वक सिद्धि हो जाने पर जो यह कालादि पञ्चक से प्रमाता का स्वरूप आवेष्टित है, वही जिसमें प्रमेयस्वरूप

ष्ठातृदेवतात्वं तद्दशासंपादनेन स्वोपासकलोकस्य तद्दशाध्यानावेशसमापन्नस्य स्वाभिमुख्यसंपादनेन च भजमानो भट्टारक ईश्वर एव रुद्रो भगवान्, यो मायापदेऽपि प्राणापानात्मकधर्माधर्मसूर्येन्दु-दिननिशादिमुक्तमध्यमज्योतीरूपप्रमातृस्वरूपस्पर्शाद् उन्मीलिततृतीयनेत्रो, भिन्नस्य तु प्रमेयस्य 'प्रसरे' संपादनेऽधिष्ठातृदेवतात्वं भजन् ब्रह्मा, प्रसृते भिन्ने प्रमेये तत्संतानप्रवहणलक्षणे प्रसरेऽधि-ष्ठातृदेवता विष्णुः, अत एव तयोः प्रमेयप्रसररूपस्य 'इदं नीलम्' इत्येवं प्रकाशात्मनः प्राधान्यात् 'अहम्' इति प्रमातृदशावेशशून्यत्वात् न तृतीयनेत्रोन्मीलनम् । देवतैव दैवतम् । 'प्रसर' उत्पत्तिः संतानश्च ॥ १ ॥

शुद्धरूप से उपसंहृत रहता है और संहार अवस्था में अधिष्ठातृदेवता तत्त्व अपनी अवस्थिति के सम्पादन से अपने उपासक लोगों को उस समावेश-समाधि अवस्था की प्राप्ति करने के लिए और अपनी ओर उन्मुख करने से तो सेव्य भट्टारक ईश्वर ही रुद्ररूप से अधिष्ठाता हैं। जो कि मायापद में भी प्राण एवं अपानरूप, सूर्य-चन्द्ररूप, धर्म-अधर्मरूप, रात्रि-दिनरूप इत्यादि से विभाग रहित रहते हैं। उस महाव्योम स्वरूप में प्रमाताओं का अनुप्रवेश कर लेने मात्र से तृतीय तेत्र का उन्मीलन हो जाता है, प्रमेयतत्त्व का भिन्न रूप में विस्तार हो जाने पर तो इसके सम्पादन करने के लिए ब्रह्मा अधिष्ठातृदेव के रूप में रहते हैं, प्रमेयतत्त्व के प्रसृत हो जाने पर भिन्न भिन्नरूप से, उसके समूह बढने लगते हैं तब अधिष्ठातृदेव विष्णु होते हैं। अत एव उन दोनों का प्रमेय विस्तार 'इदं नीलम्' इसमें प्रकाशरूप के प्राधान्य होने के कारण, 'अहम्' इस प्रमातृ दशा की समावेशता में शून्यरूपता होने के कारण तृतीय नेत्र का विकास नहीं होता है। देवता का भाव ही दैवत है। 'प्रसर' शब्द को उत्पत्ति एवं सन्तान अर्थ में लिया गया है॥ १॥

---

१. अत एव प्रपञ्च के गल जाने पर बुद्धि गुण का परम ऐश्वर्य विनष्ट हो जाता है; विनष्ट हो जाने का अर्थ यह है कि उसका दब जाना है न कि अत्यन्त अभाव हो जाना है—

तदा तस्मिन्महाव्योम्नि प्रलीनशशिभास्करे ।
सौषुप्तपदवन्मूढः प्रबुद्धः स्यानावृतः ॥

उस महा आकाश में पहुँचने पर चन्द्रमा और सूर्य ये दोनों ही उसमें प्रलीन हो जाते हैं, प्रबुद्ध साधक को उस दशा में कुछ भी विक्षेप-आवरणादि नहीं होते हैं, किन्तु अज्ञानी लोगों के लिए तो उस अवस्था में भी सुषुप्त-पद के समान अत्यन्त गाढ अन्धकार अवस्था में पड़े हुए जैसी स्थिति रहती है।

२. जैसे जागर अवस्था में ब्रह्मा हृदयकमल नाल से उत्पन्न होने के कारण कमलासन कहे जाते हैं इसलिए प्रथम क्षण में उस भाव का आभास रहता है। विष्णु तो स्मृति अवस्था में एवं स्वप्न अवस्था में भी रहते हैं इसलिए पालक कहे जाते हैं। मध्यमा-वैखरीरूप का उल्लासपद, परमेश्वर से लेकर पशु प्रमाता तक प्रामातृवर्ग कण्ठभूमि में वर्तमान रहता है; क्योंकि हृदय में प्रथम पश्यन्ती प्रसरात्मक के प्रतिभास-रूप होने के कारण प्रथम सृष्टि होती है। इसका स्पन्द शास्त्र में उल्लेख किया है—

यथेच्छाभ्यर्थितो धाता जाग्रतोऽर्थान् ।

जिसकी अभी अपने स्वरूप की पूर्ण भाव से अभिव्यक्ति नहीं हुई है, जाग्रत दशा में अपनी इच्छा के अनुकूल, कोई विशेष अभीष्ट वस्तु नहीं दियाखी देती है, फिर क्यों न उसके सामने पदार्थों का ढेर ही हो ? इसीलिए अन्तर्हृदय में विद्यमान धाता चिद्रूप उस साधक के हृदय में सोम एवं सूर्य का

यदेतन्मातृतामात्रमुक्तं तस्य विभागमागमिकं च संज्ञाभेदं निरूपयति—

एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः ।
विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते ॥ २ ॥
स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः ।
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः पशुः ॥ ३ ॥

माययान्धो विमोहितः, अत एव कर्माणि स्वात्मनो बन्धकान्यभिमन्यमान 'एष' इति कालादिवेष्टितः शून्यादिप्रमाता संसरति,—इत्यतः संसारी । देहोऽपि हि स्वरूपसादृश्यं बाल्ययौवनादिष्वनुवर्तयन् संसरतीव । बुद्ध्यादेस्तु जन्मान्तरेऽपि संसरणम् । विद्यया तु स्वरूपप्रकाशनशक्त्या प्रत्यभिज्ञापदं प्रापितमैश्वर्यं यस्य, अत एव शरीराद्यपि विश्वमपि संवेदनमेवाभिमन्यमानोऽत एव चिदेव घना अन्याचिद्रूपव्यामिश्रणशून्या यस्य रूपं, स पुनर्जन्मबन्धविरहात् देहेऽपि स्थिते 'मुक्त' इति व्यपदेशयोग्यः पतिते तु शिव एकघनः,—इति कः कुतो मुक्तः । भूतपूर्वगत्या तु

यह जिसमें प्रमातृरूपता मात्र कह दिया गया है उसका आगमिक विभाग और संज्ञाभेद से निरूपण करते हैं—

यह माया से अन्धा होकर प्रमाता कर्म-बन्धन में बद्ध जाता है अतः संसारी जीव हो जाता है। जब विद्या के द्वारा अपने आत्मरूप ऐश्वर्य के समझ लेने पर तो चिद्रूप जीवन् मुक्त कहलाता है ॥ २ ॥

वही प्रमाता अपने अङ्गरूप पदार्थों का स्वामी कहलाता है । माया के द्वारा इन पदार्थों के भेद हो जाने पर क्लेश-कर्मादि से कलुषित होकर पशु [जीव] बन जाता है ॥ ३ ॥

माया से अन्धा होकर यह प्रमाता विमोहित हो जाता है, इसीलिए कर्मों को बन्धनरूप मानता हुआ । 'एष' यह प्रमाता कालादि पञ्च कञ्चुकों से आवेष्टित होकर शून्यादि संकुचितरूप में संसरण करता है, इसी कारण यह संसारी जीव हो जाता है; क्योंकि शरीर भी स्वरूपसादृश्यता को ग्रहण करता हुआ, बाल्य, यौवनादि अवस्थाओं में रहता हुआ संसरण-विचरण करता सा दिखायी देता है । स्वरूप को प्रकाशित करनेवाली विद्या-शक्ति के द्वारा जिसने प्रत्यभिज्ञारूप ऐश्वर्य प्राप्त कर लिया है, इसी कारण शरीरादि विश्वमात्र को संवेदनमय मानता हुआ, अतः चिद्रूप में ही स्थिर रहता हुआ जिसका स्वरूप अचिद्रूप के मिश्रण से शून्य हो गया है, वह तो जन्म-मृत्यु से रहित होकर देहादि में रहता हुआ भी 'जीवन्मुक्त' कहलाता है । शरीर पात

उदय करा देता है अर्थात् उसकी ज्ञानेन्द्रियों में जो वधनात्मक नहीं है ऐसी तीव्र गतिशील शक्ति का प्राकट्य करा देते हैं तथा अपने अभीष्ट वस्तुओं के दर्शन जाग्रत काल में भी करा देते हैं जिसको देखने की साधक को तीव्र इच्छा बनी है ।

रुद्र अवस्था तो समस्तवाद के उपसंहारात्मक अनाहत परावाग्रूप के अनुप्रवेश करने पर प्रारम्भ भूमि तालु में सब का उपसंहार करनेवाली होने से सुषुप्त अवस्था कही जाती है, इसी कारण ब्रह्मा का हृदय स्थान है, विष्णु का कण्ठ स्थान है, रुद्र का तालु में निवास स्थान है, ईश्वर का भ्रूमध्य भाग में निवास स्थान है तथा सदाशिव का ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर निवास है, अनाश्रितात्मक-शक्ति सोपान के ऊपरी भाग में इन छः कारण धारी परमेश्वर के पद हैं ।

प्रमात्रन्तरापेक्षया मुक्तः शिवः,—इति व्यवहारः। यश्चासौ मुक्तः स भगवान् स्वाङ्गवदभिमन्यमानः प्रमिमीते,—इति स तेषां स्वामी स्वरूपपरमार्थसमर्पणाच्च पालकः,—इति पतिरुपदिष्टः शास्त्रे। मायाशक्तिकृतभेदान् व्यतिरिक्तानेव सतो यदा मिमीते तदा तैरेव मेयैः पाशरूपैः पाशितः,—इति पशुरुक्तः। तथाहि वेद्यराशिवशादेवास्याविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशादयः क्लेशाः, धर्माधर्मादिरूपाणि कर्माणि, आदिपदादाशयरूपा वासना, फलभोगरूपो विपाकः,—इति कालुष्यमनन्तप्रकारं, यतः पाशितत्वात् 'पशुः, इत्युक्तः॥ ३॥

यदेवैतत्पशुरूपं तदेवागमेषु त्रिविधं मलम्,—इत्याह—

स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता।
द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः॥ ४॥
भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्।
कर्तर्यबोधे कार्मं तु मायाशक्त्यैव तत्त्रयम्॥ ५॥

इह ज्ञातृकर्तृरूपं तावच्चित्तत्त्वस्य स्वरूपं, तस्यापहारो नामाणवं मलं येनासावणुः संकुचितो जातः। तत्र स्वरूपस्य निमीलनं संकोचः, तत्स्थिते बोधरूपे कर्तृत्वलक्षणस्य स्वातन्त्र्यात्मनः

जाने पर तो परम शिव में मिल ही जाता है, इस प्रकार कौन किस से मुक्त होता है? भूतपूर्वगति के अनुसार तो अन्य प्रमाता की अपेक्षा से मुक्त दशावाले परम शिव की स्थिति में ही रहता है—इस प्रकार व्यवहार होता है।

अब द्वितीय श्लोक की व्याख्या करते हैं। जो मुक्त दशा में रहनेवाले साधक पदार्थों को अपने अङ्ग स्वरूप मानते हुए, उन्हीं सब का स्वामी हो जाता है और अपने स्वरूप को परमार्थरूप से सर्मपित कर देने पर तो पालन-पोषण करनेवाला हो जाता है इसी से शास्त्र में पति कहा गया है। माया-शक्ति के द्वारा किये हुए पदार्थों में भेद जब अपने स्वरूप से व्यतिरिक्त मानते हैं तब तो उन्हीं पाशरूप प्रमेयों से प्राशित होकर पशु [जीव] हो जाता है। इसीलिए इसे पशु कहा गया है। देखिये—वेद्यराशिव शात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि क्लेश इनमें होते हैं, धर्म और अधर्मरूप कर्म होते हैं, आदि पद से आशयरूप वासना भी होती है, एवं फल भोगरूप विपाक भी होता है, इस प्रकार जीव में असंख्य प्रकार के कालुष्य हैं; क्योंकि पाश में पाशित होने के कारण पशु बन जाता है इसी कारण शास्त्र में इसे पशु कहा गया है॥ ३॥

यह जो पशुरूप जीव है उसे आगम शास्त्रों में त्रिविध मल से युक्त कहा जाता है,—इस विषय में कहते हैं—

स्वातन्त्र्य की हानि और बोधरूप स्वातन्त्र्य का भी ज्ञान न होने देना। यह दो प्रकार का मल है जिसमें कि अपने स्वरूप छिप जाता है॥ ४॥

भिन्न-भिन्न वेद्य प्रथा के फैलाव होने पर माया नामक मल जन्म और भोग को देनेवाला होता है। माया-शक्ति के द्वारा कर्त्ता की अबोधता में तो कार्ममल रहता है ये ही आणव, कार्म और मायीक मल हैं॥ ५॥

इसमें चित्तत्त्व का स्वरूप ज्ञातृत्व और कर्तृत्वरूप से ही माना जाता है, उसके ज्ञानस्वरूप को छिपा देनेवाला आणव मल है जिस बजह से जीव अणु संकुचितरूप को प्राप्त हो जाता

स्वरूपान्तरस्य निमीलनं विपर्ययो वा,—इत्युभयथाप्याणवं मलं स्वरूपापहानिरूपमेकमेव। अत्रैवेति, सत्याणवे मले द्विप्रकारे स्वरूपसंकोचे वृत्ते भिन्नस्य यत्प्रथनं तस्य 'मायीयम्' इति संज्ञामात्रम्। मायाकृतत्वेन मायीयता मलत्रयस्यापि। तत्र कर्तुरबोधरूपस्य देहादेर्भिन्नवेद्यप्रथने सति धर्माधर्मरूपं कार्मं मलं, यतो जन्म भोगश्च स च नियतावधिकः,—इति 'जात्यायुर्भोगफलं कर्म' इत्युक्तं भवति ॥ ४–५ ॥

अथैषां मलानां विविक्तविषयनिरूपणात् स्वरूपं स्फुटीकर्तुं 'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधध्य' इत्यस्य तावद्विषयमाह—

शुद्धबोधात्मकत्वेऽपि येषां नोत्तमकर्तृता।
निर्मिताः स्वात्मनो भिन्ना भर्त्रा ते कर्तृतात्ययात् ॥ ६ ॥

येषां चिन्मात्रमेव परमार्थो न तु 'अहम्' इति स्वात्मविश्रान्त्यानन्दरूपं परमं स्वातन्त्र्यं, ते परमेश्वरेण तथा निर्मिताः स्वात्मनः सकाशाद्व्यतिरिक्ताः। अत्र हेतु[1] :—'कर्तृतायाः' उत्तम-

है, जीव को अपने स्वातन्त्र्य का ज्ञान जिसमें नहीं होता, इसी कारण संकुचितता की सीमा में रह जाता है। उसी बोधरूप अवस्थिति में कर्तृत्वरूप अपने स्वातन्त्र्यरूपता का स्वरूपान्तर हो जाना अथवा विपरीत रूप में भान होने लगना, इस प्रकार उभयथा आणव मल स्वरूप को छिपानेवाला ही होता है। 'अत्रैव' जो कारिका में दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि दो प्रकार के आणवमल के रहते हुए, स्वरूप की संकुचितता होने पर जो भिन्नता भासती है उसी का नाम 'मायीय' मल है अर्थात् जिसमें जीव-अणु संकुचितता को प्राप्त हो जाता है। जब कि माया के द्वारा किया हुआ होने के कारण इन तीनों मलों को भी मायीय ही कहा जाता है। देहादि की भिन्नता का फैलाव होने पर तो धर्माधर्मरूप कार्मंमल रहता है। जिसमें कि कर्त्ता को अज्ञानता रहती है; क्योंकि यह जन्म और भोग देनेवाला है और वह नियत-निर्धारित अवधि तक ही रहता है, जिसका निरूपण पातञ्जल योग दर्शन में 'जात्यायुर्भोगफलं कर्म' इस रूप से किया गया है ॥ ४–५ ॥

अब इन मलों के भिन्न-भिन्न विषयों के निरूपण से स्वरूप की स्पष्टता करने के लिए 'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य' इस पद का पहले विषय दिखाते हैं—

जिनमें शुद्ध बोधता रहने पर भी उत्तम कर्तृता नहीं रहती। परमेश्वर ने अपने से भिन्न कर्तृत्व से शून्य उन प्रमाताओं का निर्माण किया है ॥ ६ ॥

जिन प्रमाताओं का केवल चिन्मयरूप ही परमार्थ है उनमें 'अहम्' स्वात्मविश्रान्ति आनन्दरूप प्रत्यवमर्श का अभाव रहता है अर्थात् अहं विमर्श की स्वतन्त्रता नहीं रहती, वे तो परमेश्वर के द्वारा उसी प्रकार अपने स्वरूप से व्यतिरिक्त निर्मित हुए हैं। इसमें हेतु देते हैं—'कर्तृतायाः' उन प्रमाताओं में उत्तम स्वातन्त्र्यरूपता का 'अत्ययात्' अभाव होने के कारण;

१. जब कि विज्ञानाकल इत्यादि प्रमातृ वर्ग परमेश्वर शिव से अभिन्नरूप ही हैं, इससे किसका स्वातन्त्र्य माना जाय, क्या भगवान् शिव का है अथवा उन विज्ञानाकल प्रमातृ वर्ग का? इसके समाधान में उत्तर देते हैं कि जिसमें वैसी-वैसी इच्छा से होने की अप्रतिहत स्वभावता है वही स्वतन्त्र कहलाता है। और वैसी तो भगवान् शिव की ही हो सकती है; क्योंकि अपने आप में परिपूर्ण हैं।

स्वातन्त्र्यलक्षणाया 'अत्ययात्' अभावात्; परमेश्वरस्य तूत्तमस्वातन्त्र्याविपुक्तबोधरूपत्वम्,—] इत्यभिप्रायशेषः ॥ ६ ॥

नन्वस्माद्धेतोर्भवतु परमेश्वरात् तेषां भिन्नत्वमन्योन्यतस्तु कथं भेदो बोधरूपस्य व्यापित्व-नित्यत्वकृतस्य च देशकालाभेदस्य समानत्वात्; अन्योन्यभेदाभावे च 'निर्मितास्ते' इति कथं बहुवचनम् ? इत्याशङ्कां व्यपोहति—

बोधादिलक्षणैक्येऽपि तेषामन्योन्यभिन्नता ।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवलाः ॥ ७ ॥

इह हि सर्वत्राप्रतिहतशक्तिः परमेश्वर एव तथाबुभूषुस्तथा तथा भवति, नत्वन्यः कश्चित् परमार्थतोऽस्ति,—इत्यसकृदुक्तम्; ततश्च व्यापकनित्यबोधस्वभावोऽपि 'अहं भेदेन निर्भासे' इत्येवं-भूतेनेश्वरेच्छाविशेषेण तेषां शरीरादिशून्यान्तप्रमातृपदोत्तीर्णानां बोधत्वनित्यत्वविभुत्वादिधर्मजा-तस्यैक्येऽप्यन्योन्यं भेदः, ते च शास्त्रे विज्ञानकेवला उक्ताः। तत्र विज्ञानकेवलो मलैकयुक्तः,—

किन्तु परमेश्वर में उत्तम कर्तृत्वरूप स्वातन्त्र्य अवियुक्त सदैव बना रहता है, यही इसका आशय है ॥ ६ ॥

इस प्रकार शङ्का होती है कि इस हेतु को लेकर भले ही परस्पर उनको परमेश्वर से भिन्नता रहे, किन्तु ज्ञानरूप के व्यापकत्व-नित्यत्व तथा देश-काल के अभेद की समानता होने के कारण कैसे भेद रहेगा अर्थात् देश-काल के भेद का बोधस्वभाव के प्रति अभेदरूपता होने से और उनका आपस में परस्पर भेद न रहने पर 'निर्मितास्ते' इस पद में क्यों बहुवचन का प्रयोग किया हुआ है ? इस आशङ्का का निराकरण करते हैं—

बोधादिरूप की एकता रहने पर भी परमेश्वर की इच्छा भेद से वैसा ठीक होने की रहती है, इससे परस्पर उन प्रमाताओं की भिन्नता भासती हैं और वे विज्ञानाकल कहलाते हैं ॥ ७ ॥

इसमें तो सर्वत्र अप्रतिहत-शक्ति संपन्न परमेश्वर ही वैसे-वैसे अनेकरूपों में अपनी स्वयं की इच्छा से हो जाते हैं। उससे भिन्न कोई अन्य परमार्थ नहीं दिखता, ऐसा हमने अनेक बार कहा है, इसलिए यह व्यापक नित्य बोध स्वभाववाला होने पर भी 'अहं भेदेन निर्भासे' अहं भेदपूर्वक निर्भासित होता है, इस प्रकार ईश्वर की इच्छाविशेष रहने के कारण उन शरीरादि से लेकर शून्यान्त प्रमातृपद से उत्तीर्ण होनेवालों का बोधरूपत्व, व्यापकत्वादि धर्मसमूह के ऐक्यरूप रहने पर भी परस्पर भेद रहता है, उन्हें शास्त्र में विज्ञानाकल शब्द से पुकारते हैं। इन विज्ञाना-

१. जब 'अहम्' प्रत्यवमर्श नित्य, व्यापक, बोधसार स्वभाववाले होते हुए भी भेद से भासते हैं तब तो विज्ञानाकल इत्यादि प्रमाताओं का तो भेद पूर्वक भासना स्वभाविक ही है ; क्योंकि वे परस्पर ग्राह्यों से और ग्राहकान्तरों से भिन्न होकर रहते हैं इसलिए शास्त्र में इन्हीं को विज्ञानाकल कहा है। इस शब्द की व्युत्पत्ति है कि विज्ञान + अकल इसमें विज्ञान मात्र रहता है, कर्तृत्व-शक्ति से शून्य है, पूर्व अवस्थावाला जो सकल प्रमाता और प्रलयाकल प्रमाता का प्रमेय क्षेत्र था वही प्रमेय क्षेत्र इस विज्ञाना-कल में कुछ विकसित हो जाता है, शेष तो पूर्ववत् ही रहता है। इसमें अपना अभेद देखता है; क्योंकि इसमें से मायीय और कार्ममल का अभाव रहता है, मात्र आणवमल रह जाता है। इससे सिद्ध हुआ कि कर्तृत्व से शून्य इन विज्ञानाकल आदि का स्वभाव है।

इत्यादौ 'विज्ञानं' बोधात्मकं रूपं 'केवलं' स्वातन्त्र्यविरहितमेषामिति ॥ ७ ॥

एवं 'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य' इत्यस्य भागस्य विज्ञानाकलविषयतामुक्त्वा 'स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता' इत्यमुमंशं विषयप्रदर्शनेन स्पष्टयति—

शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तारः प्रलयाकलाः ।
तेषां कार्मो मलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पितः ॥ ८ ॥

शून्ये जडत्वादबोधरूपे एव, यदि वा प्राणे बुद्धौ वा येषाम् अहमिति चमत्कारयोगात् कर्तृत्वं ते प्रलयेन कृताः 'अकलः' कलातत्त्वोपलक्षितकरणकार्यरहिता अबोधरूपाः कर्तारश्च। प्रलयावधि हि ते तथाभूता उत्तरकालं तु कार्यकरणसंबद्धा एव भवन्ति; यतस्तेषां न केवलमुक्तरूप आणव एव मलो यावत् कार्मोऽपि वासनासंस्काररूपो धर्माधर्मात्मास्त्येव। यद्येवं, भिन्नवेद्यप्रथाप्येषां स्यात्। सत्यम्, सवेद्यरूपे सुषुप्तपदे, ऽपवेद्ये तु न भवति; तेन मायीयो मल एषां विकल्पितो व्यवस्थितविषयत्वेन। तथा हि—केऽपि शून्यादिभागविश्रान्ता गाढनिद्राजडीकृता अपवेद्यसुषुप्तपदभाजः। अन्ये तु बुद्धयादिनिष्ठाः सुखदुःखावशेषसामान्यात्मकभिन्नवेद्यसंवेदन-

कलों में मात्र एक ही मल रहता है, 'विज्ञानं' ज्ञानात्मक रूपता ही 'केवलं' मात्र इनमें है, परम स्वातन्त्र्य का अभाव विज्ञानकलों में रहता है ॥ ७ ॥

इस प्रकार 'स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य' इस भाग से विज्ञानाकल की विषयता को लेकर कह दिया 'स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता' इस अंश का विषय दिखाने के लिए स्पष्ट करते हैं—

शून्यादि प्रमातृवर्ग तो अबोधरूप होने से प्रलयाकल कर्ता कहे जाते हैं। उन प्रलयाकलों में कार्ममल भी रहता है, किन्तु मायीयमल तो विकल्परूप से रहता है ॥ ८ ॥

जडरूप होने के कारण अबोधरूप प्राण और बुद्धि में जिनकी 'अहन्ता' अर्थात् चमत्कार सारपूर्वक कर्तृत्व-शक्ति रहती है वे प्रलयाकल कहे जाते हैं; कलातत्त्व से उपलक्षित कार्य-कारण से रहित बोधरूप कर्ता होते हैं; क्योंकि वे लोग प्रलय पर्यन्त वैसे के वैसे रहते हैं और उत्तरकाल में तो कार्य-कारणभाव से सम्बन्धित होकर अवस्थित रहते हैं; जब कि उनमें केवल पहले कहा हुआ आणवमल ही नहीं रहता, अपितु वासना संस्काररूप धर्मा-धर्मात्मक कार्ममल भी रहता है। यदि ऐसी बात है, तब तो इनमें भिन्न प्रथा भी रहेगी। [आपका कहना] ठीक ही है, सवेद्यरूप सुषुप्तपद में तो है, किन्तु अपवेद्य में तो नहीं होता है; इसलिए इन प्रलयाकलों में मायीयमल विकल्पित विषयरूप से व्यवस्थित होकर रहता है। देखो—कोई तो शून्यादि भाग में विश्रान्त होकर गाढनिद्रा में जडीभूत हुए कुछ भी नहीं समझते और सुषुप्तपद में पड़े रहते हैं। दूसरे प्रमातृवर्ग तो बुद्धि इत्यादि में रहनेवाले सुख एवं दुःख को सामान्य विशेषरूप से भिन्न-

---

यह ठीक नहीं है, जब ईश्वर की इच्छा बोधसार स्वभाववाले को भेद से युक्त करती है तो बोधात्मक स्वभाववाले का ही भेद क्यों करते हैं ? प्रमातृ-तत्त्व से भिन्न घटादि वर्ग में भेद उपन्न करे ? क्योंकि हमने इस विषय में अनेक बार कह दिया है कि इसको छिपाना बड़ा ही कठिन होगा इसमें ऐसा होना तो स्वाभाविक है और मैं कृश हूँ, मैं सुखी हूँ, इत्यादि भेद तो इसमें कदम-कदम पर भरे पड़े हुए दिखायी देते हैं।

योगिनः सवेद्यसौषुप्तपदलीनाः। स्थूलदेहेन्द्रियात्मककार्यकरणवियोगरूपत्वं तु प्रलयाकललक्षणं सर्वेषां तुल्यम् ॥ ८॥

एवं 'स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता' इत्येवमंशः स्फुटीकृतः, प्रसङ्गाच्च कार्ममलस्य विषयो दर्शितः, मायामलस्य च पाक्षिकत्वमुक्तम्। अधुना पुनराणवकार्ममलद्वयाभावेऽपि शुद्धोऽस्ति मायाख्यस्य मलस्य विषयः,—इति दर्शयति—

बोधानामपि कर्तृत्वजुषां कार्ममलक्षतौ।
भिन्नवेद्यजुषां मायामलो विद्येश्वराश्च ते ॥ ९ ॥

ये चिन्मात्रमेवात्मतया पश्यन्ति 'अहम्' इति च चमत्कारोल्लासात् कर्तारस्तत एव सर्वज्ञाः सर्वकर्तारश्च ते विद्येश्वराः। किन्तु तनुकरणभुवनादि यदेषां वेद्यतया कार्यतया च भाति तत् कुविन्दपटदृष्ट्या भिन्नमेव सत्,—इत्यस्ति विद्येश्वराणां मायाख्यमलयोगः ॥ ९ ॥

अथ मलत्रयस्यापि यौगपद्येन यो विषयस्तं दर्शयितुमाह—

देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम्।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ॥ १० ॥

भिन्न वेद्य संवेदन ज्ञानवाले सवेद्य सौषुप्तपद में लीन रहते हैं। स्थूलेन्द्रियात्मक कार्य-कारण के अभाव में तो इन सभी प्रलयाकल लक्षणवालों में समानरूपता बनी रहती है ॥ ८॥

इस प्रकार 'स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता' इस अंश की स्पष्टतापूर्वक व्याख्या कर दी और प्रसङ्ग को लेकर कार्ममल का भी विषय दिखा दिया तथा मायामल का पाक्षिकत्व [कभी रहना एवं कभी न रहना] कह दिया। अधुना पुनः आणवमल एवं कार्ममल इन दोनों के अभाव में भी माया नामक मल का विषय शुद्ध होता है, इसी को दिखाते हैं—

मायामल के विनष्ट हो जाने पर कर्तृत्व प्राप्त करनेवाले ज्ञानियों में भी जो कि भिन्नरूप से वेद्य को जानते हैं उन्हीं में मायामल रहता है और वे विद्येश्वर कहे जाते हैं ॥ ९ ॥

जो चिन्मात्र को ही आत्मरूप से देखते हैं, उन्हीं में 'अहम्' इस चमत्कार उल्लास से अप्रतिहत ज्ञान-क्रिया रहती है इसी से वे सर्वज्ञ, सर्वकर्ता विद्येश्वर कहलाते हैं। किन्तु जिनको सूक्ष्मरूप में करण भुवनादि अनेक वेद्यरूप से और कार्यरूप से दिखायी देता है, तन्तुवाय वस्त्र की दृष्टि से अत्यन्त भिन्न ही वह सद्रूप में रहता है, अतः विद्येश्वरों में मायामल का योग रहता है ॥९॥

अब आणव, कार्म और मायीय इन मलों का एक साथ जो विषय है उसे दिखाने के लिए कहते हैं—

सभी देवताओं और सांसारिक जीवों में ये तीनों मल रहते हैं। उनमें भी एकमात्र कारण संसार के लिए कार्ममल ही है ॥ १० ॥

१. अहम् प्रत्यवमर्श में अभिन्नरूप से भाव विद्येश्वर लोगों का होने के कारण कर्तृत्व-शक्ति से युक्त रहते हैं इसीलिए सर्वज्ञ सर्वकर्तार भी कहे जाते हैं जब अप्रतिहतरूप से ज्ञान एवं क्रिया-शक्ति के रह जाने पर तो आणवमल का न रहना स्वाभाविक ही सिद्ध हो जाता है; क्योंकि अप्रतिहत ज्ञान एवं क्रिया-शक्ति तो सर्वकर्तृत्ववालों में ही रहती है और उनमें आणवमल का सर्वथा अभाव ही रहता है। वे लोग संसार से उत्तीर्ण हो जाने के कारण कर्म संसार से शून्य हो जाते हैं।

इह विद्येश्वरविज्ञानाकलास्तावन्न भविनो मायान्ताध्वातिक्रमणात्; प्रलयाकला अपि कञ्चित्कालमविद्यमानभवाः। ये त्वेते मायातत्त्वान्तरालपरिवर्तिनो देवादयः स्थावरान्ताश्चतुर्दशधा शास्त्रेषु परिगणितास्ते सर्वे 'भविनः' संसारिणः, तेषां च त्रयोऽपि युगपन्मलाः। ननु मलत्रयमध्ये कतमो मलः संसरणमेषां संपादयेत् ? आह, 'तत्रापि' तेषु त्रिष्वपि सत्सु कार्मं मलं

विद्येश्वर और विज्ञानाकल इत्यादि लोग संसारी नहीं होते; क्योंकि ये लोग तो मायाध्व से ऊपर उठे हुए होते हैं; प्रलयाकल प्रलय पर्यन्त ही रहते हैं इसके बाद मुक्त हो जाते हैं। ये जो भी मायातत्त्व के भीतर हैं वे सब के सब परिवर्तन गतिवाले देवताओं से लेकर स्थावर तक सभी जीव तथा शास्त्रों में जो चतुर्दश भुवनों में रहनेवाले को गिने गये हैं वे सभी 'भविनः' संसारी हैं और उनमें आणवमल, कार्ममल और मायीयमल एक साथ ही रहते हैं। अब शङ्का होती है कि इन तीनों मलों में से कौन सा मल संसार के लिए हेतु माना जाय ? इस पर कहते हैं कि 'तत्रापि'

---

१. प्रलयाकल को प्रलय केवली एवं शून्य-प्रमाता के नामों से भी कहे जाते हैं। प्रलयाकल प्रमाता में माया का प्राधान्य है जिससे अहं प्रत्यवमर्श का स्फुट रूप में ज्ञान नहीं हो पाता है और न तो 'इदम्' का ही स्फुट बोध हो पाता है इसमें प्रायः चेतना-शक्ति की शून्य अवस्था बनी रहती है जिस तरह सुषुप्ति अवस्था में शून्य जैसा बोध होता है वैसा ही इसको भी शून्य बोध होता है। प्रलयाकल में सृष्टि और संहार के मध्य में प्रकृति से तादात्म्य रहता है और शून्य दशा में गये हुए साधक की भी स्थिति वैसी होती है।

प्रलय अर्थात् संहार अवस्था में कला इत्यादि के विलीन हो जाने पर नूतन सृष्टि के प्रारम्भ काल में होने तक प्रलयाकल मायातत्त्व में विद्यमान रहते हैं इनमें आणवमल और मायीयमल मुख्यरूप से रहते हैं एवं कार्ममल का अभाव रहता है।

२. अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति। मानुष्यश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः। संक्षेप में भौतिक सृष्टि चौदह प्रकार की होती है। जिसमें ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष तथा पैशाच यह आठ प्रकारकी सृष्टि देवताओंकी मानी जाती है। इनमें ब्रह्म सम्बन्धी ब्रह्मलोक तीन है सत्यलोक, तपलोक, जनलोक। सत्य लोक में स्वयं ब्रह्म का निवास रहता है, अथवा 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति' इस न्याय से स्वयं ब्रह्मभूत जीव जो कि अप्रत्यक्ष दर्शी ओंकार के उपासक परमहंसरूप उसमें निवास करते हैं। तपलोक सत्यलोक के नीचे हैं—अभास्कर, महाभास्कर, सत्यमहाभास्करसंज्ञक देवता लोग जो कि ब्रह्म के साक्षात् निकट रहते हैं। इसके नीचे तपलोक है जितेन्द्रिय, ब्रह्मपुरोहित, ब्रह्म कायिक, ब्रह्म महाकायिक लोग निवास करते हैं। महातापक प्रजापति के लोक में कुमुद, ऋभव, पतर्दन, अजनाभ, अभिताभ संज्ञक एक सहस्त्र कल्प की आयुवाले देवता लोग निवास करते हैं। इसके नीचे स्वर्ग नामक ऐन्द्रलोक में अणिमा, लघिमा, वशित्व इत्यादि सिद्धिवाले सिद्ध लोग जो कि स्वेच्छा से शरीर धारण करनेवाले होते हैं उनकी एक कल्प की मात्र आयु होती है। पैत्रलोक में पितृ लोग रहते हैं। सुमेरु पर्वत के पृष्ठ भाग में गान्धर्व लोक है जिसमें गन्धर्व, किन्नर आदि रहते हैं गन्धमादन पर्वत पर यक्ष लोग हैं जिसमें यक्ष कुबेर सयूथ निवास करते हैं। वितल लोक को छोड़कर अतल सुतल, तलातल, रसातल आदि छः लोकों में राक्षसों का निवास है। वितल में भूत पिशाच, ब्रह्मराक्षस, कूष्माण्ड विनायक आदि लोग निवास करते हैं और पशु, पक्षी, मृग, सर्प, वृक्ष इत्यादि, तिर्यक् जातीय सृष्टि पाँच प्रकार की है और एक प्रकार की मानुषी सृष्टि है।

मुख्यतया संनिपत्य संसरणे कारणम्। यथोक्तम् 'कर्मतस्तु शरीराणि विषयाः करणानि च।' इति। तनुकरणविषयसंबन्ध एव च वर्तमानो भविष्यंश्च,—इत्यनवरतं प्रबन्धतो वर्तमानः संसरणमुच्यते। आणवमायामलौ तु यद्यपि न कारणं संसारे, तथापि कार्मेण विना तौ देहादिविचित्रभावाभिनिर्वर्तनशक्तिशून्यौ विज्ञानाकलादिषु,—इति मुख्यं कार्ममेव मलं संसारकारणं तत्र तत्र शास्त्रे गण्यते। अत एव तदुपक्षये वृत्ते दत्तस्तावदसंसरणसोपानपदबन्धः,—इत्याशयेन कर्मबन्धाभिमानपरिहानिरेव यत्नतः सांख्यपुराणभारतादिशास्त्रेषूपदिश्यते। एवं मलत्रयस्यैकैकभेदैस्त्रिभिर्द्विभेदैस्त्रिभिस्त्रिभेदेनैकेन,—इति सप्त प्रमातार उत्तिष्ठन्ति। तथा च शास्त्रे 'शिवादिसकलान्ताश्च शक्तिमन्तः सप्त।' इत्युक्तम्। तत्राप्यवान्तरभेदेन गुणमुख्यताभेदेन विकल्पसमुच्चयतादिभेदेन चानन्तप्रकारत्वमिति॥ १०॥

अस्य च मलत्रयस्योद्भवतिरोभावभेदात् संसारिणां प्रकारद्वयम्,—इति दर्शयति—

कलोद्वलितमेतच्च चित्तत्त्वं कर्तृतामयम्।
अचिद्रूपस्य शून्यादेर्मितं गुणतया स्थितम्॥ ११॥
मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मनः।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम्॥ १२॥

उन मलों में मुख्यरूप से तो संसरण-आवागमन चक्र में डालनेवाला कार्ममल है। इस विषय में कहा गया है कि कर्म से शरीरादि विषय और इन्द्रिय वर्ग हुआ करते हैं।

तनुकरण इन्द्रियों का जो विषम सम्बन्ध है वही वर्तमान और भविष्य है, इस प्रकार निरन्तर अबाध्य गतिपूर्वक अनादिकाल से चलनेवाला संसार कहा जाता है, आणवमल और मायामल यद्यपि संसार के लिए निमित्त नहीं होते, तथापि कार्ममल के बिना आणवमल और मायीमल दोनों देहादि विचित्रभाव के निर्माण के लिए असमर्थ होते हैं। जैसे विज्ञानकलों में देखा जाता है, इस प्रकार शास्त्र में कार्ममल को ही संसार के लिए मुख्य कारण माना गया है। अत एव उसके क्षय हो जाने पर तो जीव संसरण अर्थात् जन्म-मरणरूपी सोपान से मुक्त हो जाता है, इस आशय से कर्म बन्धन के अभिमान को यत्न के साथ बन्द करने के लिए ही सांख्य, पुराण, महाभारतादि शास्त्रों में उपदेश दिया गया है। इस प्रकार तीनों मलों का एक भेद से, दो भेदों से और तीनों भेदों से तथा एक भेद से सात प्रमाता हो जाते हैं। तथा शास्त्र में कहा गया है—

शिव से लेकर [शिव, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, विद्येश्वर, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल] प्रमाता तक सात प्रमाता शक्तिशाली होते हैं।' उनमें भी अवान्तर भेद, मुख्य गौण के भेद और विकल्प समुच्चय के भेद से असंख्य प्रमाता हो जाते हैं॥ १०॥

इस प्रकार इन तीनों मलों के उत्पन्न एवं तिरोहितभाव के भेद से संसारी जीवों के दो प्रकार की गति हो जाती है, इसे दिखाते हैं—

कला से प्रकाशित होकर चित्तत्त्व कर्तृता से मिला हुआ, अचिद्रूप शून्यादि के गौणभाव से रहनेवाला परिमित-परिच्छिन्न हो जाता है॥ ११॥

वह चिदात्मक ज्ञान का एवं कर्तृत्व का मुख्य कारण होता है। गौणशून्यादि में वही समावेशरूप ज्ञान कहा जाता है॥ १२॥

एतच्चेति, यत् त्रिदशादीनां भविनां चैतन्यं कर्तृतांशस्य प्राधान्यान्मलेन संविद्भागस्य निमज्जितत्वात् कर्तृतामयं चिद्रूपस्य तत्त्वं स्वातन्त्र्यं कलाख्येन परमेश्वरशक्त्यात्मना तत्त्वेन 'उपोद्वलितम्' अनुप्राणितं मलेन न्यक्कृतं सदुद्बोधितं शून्यादेर्देहपर्यन्तस्य मायाप्रमातुः संबन्धि, 'गुणत्वेन अप्रधानत्वेन स्थितं, यतो 'मितम्' इदन्तापन्नदेहादिशून्यान्तप्रमेयभागनिमग्नत्वात् प्रमेयं, यो गौरो, यः सुखी, यस्तृषितो, यः सर्वरूपरहितः सोऽहम्,—इति हि इदन्तैवान्तर्लीनाहंभावा संसारिणां परिस्फुरति। सेयं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तरूपा संसारावस्था। यदा तूक्तगुरूपदेशादिदिशा तेनैवाहंभावेन स्वतन्त्रात्मना व्यापकत्वनित्यत्वादिधर्मपरामर्शमात्मनि विदधता ततः शून्यादेः प्रमेयादुन्मज्ज्येवास्यते तदा तुर्यातीतावस्था। यदापि परामृष्टतथाभूतवैभवनित्यैश्वर्यादिधर्मसंभेदेनैवाहंभावेन शून्यादिदेहधात्वन्तं सिद्धरसयोगेन विध्यते, तदास्यां तुर्यदशायां तदपि प्रमेयतामुज्झतीव। सेयं द्वय्यपि जीवन्मुक्तावस्था 'समावेश' इत्युक्ता शास्त्रे। सम्यगावेशनमेव हि तत्र तत्र प्रधानं, तत्सिद्धये तूपदेशान्तराणि। यथा गीतम्—'मय्यावेश्य मनो ये मां।' (गी० १२।२) इति 'अथावेशयितुं चित्तं।' (गी० १२।९) इत्यादि च। समावेशपल्लवा एव च प्रसिद्धदेहादिप्रमातृभागप्रह्वीभावभावनानुप्राणिताः परमेश्वरस्तुतिप्रणामपूजाध्यानसमाधिप्रभृतयः

जो देव लोग हैं उनमें कर्तृत्व का अंश प्रधान होने के कारण और मल से संवित् ज्ञानांश तिरोहित हो जाने से कर्तृत्वमय जो चेतन है उसके स्वातन्त्र्य कलारूप परमेश्वर की शक्तिरूप तत्त्व से तिरस्कृत हो जाने के कारण शून्यादि से लेकर देह पर्यन्त माया प्रमाता का सम्बन्धी बनता है, वह 'गुणत्वेन' अप्रधान होकर रहता है जिससे 'मितं' परिमित कहलाता है और देहादिरूप में आया हुआ देह से लेकर शून्य तक प्रमेय भाग में डूबा हुआ होने के कारण वह प्रमेय भी कहलाता है, जिस कारण यह भान होता है कि यह गौर है, यह सुखी-समृद्ध है, यह प्यासा है, सब रूप से रहित वही मैं हूँ, इसी इदन्ता के भीतर लीन होकर अहंभावना जीवों में स्फुरित होती है। वही यह जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्तिरूप से संसार अवस्था कही जाती है। जब गुरु के उपदेशामृत को सुन कर उस स्वतन्त्ररूप अहंभाव से व्यापकत्व, नित्यत्व, शुद्धत्वादि अपने धर्मों का परामर्श करता हुआ उन शून्यादि प्रमेय से ऊपर उठ जाता है तब उस की तुर्यातीत अवस्था हो जाती है। उस परामर्श में अपना नित्य ऐश्वर्यादि धर्मों का परामर्श करके अहंभाव के द्वारा शून्यादि देहधातु तक छेदा हुआ रहता है। जैसा कि सिद्धरस से स्वर्ण, तब प्रमेयत्व को छोड़ता हुआ सा उस तुर्यातीत अवस्था में भी आत्मा के स्वरूप का बोध करने लगता है। इसलिए इन दोनों को जीवन्मुक्त अवस्था 'समावेश' शास्त्र में कहा है; क्योंकि उसमें अच्छी प्रकार समाहित ही जाना ही प्रधान माना जाता है, उसकी सिद्धि के लिए दूसरे उपदेश भी कहते हैं। 'मय्यावेश मनो ये मां नित्य युक्ता उपासते। श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्तमा मताः [१२-२] श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्णचन्द्र ने कहा है कि मुझ वासुदेव परमात्मा में जो भक्त अपने मन को श्रद्धा एवं भक्ति से स्थिर करता है वह परम उत्तम योगी माना जाता है। 'अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्। अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छप्तुं धनञ्जय॥' [१२-९] हे अर्जुन ! जो मुझ में चित्त को समाहित करने में असमर्थ हो, ता तुम अभ्यास के बल से भी मुझे पाने की इच्छा कर तुच्छ समावेश ही प्रसिद्ध प्रमातृभाव के अपने में लीन होने से

कर्मप्रपञ्चाः। यद्गीतमपि—'अभ्यासेऽप्यसमर्थः सन्मत्कर्मपरमो भव।' (गी० १२।१०) इति। देहपाते तु परमेश्वर एवैकरसः,—इति कः कुत्र कथं समाविशेत्। तदेतदाह यत् पुनः कर्तृताया मुख्यत्वं तन्नान्तरीयकश्च शून्यादेर्गुणभावः, तस्मिंश्चाप्यचिद्रूपे गुणीभूते 'स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता' इति मलव्यापारस्यापहस्तनात् चितो योऽपरोऽप्यात्मभागो बोधलक्षणो मलेन न्यक्कृतोऽभूत् तस्यापि अधुनोन्मग्नत्वेन मुख्यत्वम्। यच्च कर्तृताया 'मुख्यत्वम्' उन्मग्नता, इदमेव ज्ञानमज्ञानात्मकमलप्रतिपक्षत्वात्; तदेतन्मुख्यत्वं समावेशस्य लक्षणं येन देहस्थितोऽपि 'पतिः' इति 'मुक्त' इति शास्त्रेषूक्तः ॥ ११-१२ ॥

नन्वेवं पत्युः समावेशात्मिका तुर्यतदतीतरूपा भवतु दशा, पशोस्तु कथं सुषुप्तस्वप्नजाग्रद्दशाभेद आगमेषूक्तः,—इत्याशङ्क्य सुषुप्तस्वरूपमेव तावदाचष्टे श्लोकत्रयेण—

शून्ये बुद्ध्याद्यभावात्मन्यहन्ताकर्तृतापदे।
अस्फुटारूपसंस्कारमात्रिणि ज्ञेयशून्यता ॥ १३ ॥
साक्षाणामान्तरी वृत्तिः प्राणादिप्रेरिका मता।
जीवनाख्याथवा प्राणेऽहन्ता पुर्यष्टकात्मिका ॥ १४ ॥

परमेश्वर की स्तुति-प्रार्थना, प्रणाम, पूजा, ध्यान, समाधि प्रभृति प्रपञ्च बहुत से करने पड़ जाते हैं। जो कि गीता भी यही कहती है 'अभ्यासेऽप्यसमर्थः सन्मत्कर्मपरमो भवः। मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि [१२-१०] अभ्यास करने में भी समर्थ न हो, तो मुझे प्रसन्न करनेवाले व्रत, नियम, दान, पूजन, अर्चन, जप, तप, स्तवन, कीर्त्तन, श्रवण इत्यादि कर्म करने में तत्पर हो; इससे भी चित्त की शुद्धि होगी और चित्तशुद्धि के द्वारा मोक्षरूपी सिद्धि को प्राप्त कर लेगा। शरीर के छूट जाने पर तो परमेश्वर में एकता हो ही जाती है, इस प्रकार कौन कहाँ और कैसे संमिलित हो सकता है? इसका उत्तर देते हैं कि उसमें जो कर्तृत्व की प्रधानता है वह आवश्यक शून्यादि का गौणभाव नहीं है, उसका जडरूप गौण हो जाने पर स्वतन्त्रता का भी बोध नहीं होता है—'स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता' इसी कारण मल के व्यापार दब जाने से चेनन का जो दूसरा ज्ञान लक्षण आत्मांश था, वह भी मल से तिरस्कृत हो जाता है इसलिए उस भाग के भी स्फुटित होने से उसमें मुख्यत्व आ जाता है। जिसको कर्तृता का मुख्य स्फुरण कहते हैं, यही अज्ञानात्मक मल प्रतिपक्षी हो जाने से वह ज्ञान स्वरूप होता है; इसी का नाम मुख्य समावेश है वही देह में रहनेवाला 'पतिः' पशुपतिरूप और मुक्त इत्यादि शब्दों से शास्त्रों में कहा जाता है ॥ ११-१२ ॥

इस पर आशङ्का करते हैं कि पशुपति की तुर्यातीत समावेशरूप अवस्था भले ही हो, किन्तु पशुजीव की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अवस्थाओं का भेद जो शास्त्रों में बताया है वह कैसे होगा? इस पर आशङ्का कर कहते हैं कि बुद्ध्यादि की अभावरूप शून्यता अहन्ता और कर्तृता के स्थान में अस्फुटरूपता संस्कारमात्र से रहती है और उसी में ज्ञेय की शून्यता भी रहती है ॥ १३ ॥

इन्द्रिय सहित प्रमाताओं को आन्तरी वृत्ति ही प्राणादि की प्रेरिका होती है अथवा प्राण में अहन्ता या पुर्यष्टकरूप से जीवनप्रद होती है ॥ १४ ॥

तावन्मात्रस्थितौ प्रोक्तं सौषुप्तं प्रलयोपमम् ।
सवेद्यमपवेद्यं च मायामलयुतायुतम् ॥ १५ ॥

इह चित्तत्त्वं स्वस्वरूपमाच्छादयत् ज्ञेयरूपेण बुद्ध्यादिना देहान्तेन घटादिना वा भासते। एकमेव चेदं स्वातन्त्र्यविजृम्भितं, न त्वत्र वास्तवः क्रमो वा भेदो वा। तत्रापि तु स्वातन्त्र्यात् क्रमश्च भेदश्चाभासते। तदेवंस्थिते यश्चित्तत्त्वस्य स्वरूपाच्छादनभागः स एवोत्तरभागान्तरासंकीर्णो यदा विश्राम्यति तदनुदयाद्वा तत्प्रध्वंसाद्वा प्रलय इव तदनादरणाद्वानिद्रासमाधिमूर्च्छादाविव, तत्रैव चाहन्तारूपं कर्तृतायाः पदं परामर्शोऽस्फुटत्वादरूपात्मना संस्कारेण शुद्धेन वेद्यपदवीमप्राप्तेन युक्तो भवति, तदा सैवावस्था नेत्येवपरामर्शशेषा अनपेक्षितनिषेध्यबुद्ध्यादिविषयसुस्पष्टपरामर्शसंभेदापि अवश्यंभाविनिषेध्ययोगात् 'अकिञ्चनोऽहम्' इत्येवंभूतपरामर्शवत् स्वीकृतसामान्याकारनिषेध्या, अत एव संस्कारशेषीकृतज्ञेयरूपा 'शून्य' इत्युच्यते। तथाविधे बुद्ध्यादीनां देहादिनीलान्तानामभावरूपे शून्यत्वमुच्यते, यतस्तत्र ज्ञेयानां 'शून्यता' अभावरूपता संस्कारशेषता। इयमेव हि सर्वत्राभावो न तु सतां सर्वात्मना विनाशः। तत्रैव शून्ये प्रमातरि

केवल इतनी स्थिति में ही प्रलय तुल्य सुषुप्त अवस्था कही जाती है। जिसमें वेद्यसहित और वेद्यभावों को छोड़कर मायामल से मिली या नहीं मिली हुई अवस्था रहती है ॥ १५ ॥

चित्तत्त्व अपने स्वरूप प्रकाश को आवृत करता हुआ बुद्ध्यादि ज्ञेयरूप से अथवा घटादि देहान्तरूप से भासित होता है और यह एक ही स्वातन्त्र्य का प्रभाव है, वस्तुतः यहाँ कोई क्रम या भेद नही होता है, फिर भी तो स्वातन्त्र्य के कारण क्रम और भेद भासित होता है। ऐसी स्थिति में भी जो चेतनतत्त्व का अपने स्वरूप का आच्छादन भाग है अर्थात् देह बुद्धि से संमिलित होना रूप वही जब अन्य उत्तर भाग से असंकीर्ण होकर विश्राम लेता है तब तो उसके उदय न होने से अथवा ध्वंस हो जाने से प्रलय के समान उसका अनादर कर देने से निद्रा, मूर्च्छा, समाधि के समान रहता है, इस प्रकार उसमें ही अहन्तारूप कर्तृता से परामर्श के दब जाने पर शुद्ध संस्कार से वेद्यपद को प्राप्त होकर रह जाता है, तब वही अवस्था परामर्श के अभावरूप होकर निषेध बुद्ध्यादि से विषयों के स्पष्ट परामर्श न होने के कारण निश्चित होनेवाले निषेध के संपर्क से 'अकिंचनोऽहम्' अर्थात् मैं कुछ भी नहीं हूँ इस प्रकार परामर्श के समान सामान्य निषेध का बोध होता है, इसीलिए संस्कार शेष ज्ञेयरूप 'शून्य' कहा जाता है।

उसी प्रकार बुद्ध्यादि से लेकर देहादि नील-पदार्थ पर्यन्त अभावरूप में शून्यत्व कहलाता है; क्योंकि उसमें ज्ञेयों की 'शून्यता' अभावरूपता संस्कार शेषता रहती है। इसी को सर्वत्र दर्शनों में अभाव नाम से प्रतिपादन किया है सद्रूपभाव-पदार्थों का सर्वतो भावेन विनाश नहीं

१. बोध मात्र ही संकुचित शून्य है, शून्यता में स्फुटता नहीं रहती है—

ज्ञानज्ञेयस्वरूपिण्या शक्त्या परमया युतः।
पदद्वये विभुर्भाति तदन्यत्र तु चिन्मयः॥

जाग्रत एवं स्वप्न अवस्थाओं की अवस्थागत द्विरूपता का आधार ज्ञान और ज्ञेय है। सुषुप्ति और चतुर्थ [शिवावस्था] में मात्र अनुभव रहता है, अपने स्वरूप की प्राप्ति चिद्रूप की स्थिति सुषुप्ति एवं चतुर्थावस्था के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं पर भी नहीं रहती है।

समवेता प्राणापानसमानोदानव्यानात्मके वायुचक्रे प्रेरणात्मिका शक्तिः, सा च विद्याकलयोः प्रपञ्चभूतौ यौ क्रमेण बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियवर्गौ तयोरान्तरी वृत्तिः। बाह्या हि तयोः शब्दाद्यालोचन-शब्दाभिव्यक्तिस्थानाभिहननादिका वृत्तिः। तदुक्तम् 'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।' (सां० २९ का०) इति। एवं शून्य एवाहन्ता अक्षचक्रोपोद्वलिता जीवनम्,—इति स शून्य एव जीवः संसरति। यदि वेन्द्रियशक्तीनामेव यान्तरी साधारणप्राणनात्मिका प्राणशब्द-वाच्या प्राणादिमारुतविशेषप्रेरणामयी सैव 'अहम्' इत्यधिशयाना जीवनं, तदा प्राण एव जीवः संसारी स एव शून्यः, प्राणश्च पुर्यष्टकशब्दवाच्यः, प्राणादिपञ्चकं बुद्धीन्द्रियवर्गः कर्मेन्द्रियगणो निश्चयात्मिका च यतो धीर्व्यज्यते। तन्मात्रपञ्चकं मनोऽहंबुद्धय, इत्यन्ये 'तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहंबुद्धि०।' (स्प० ४।१९) इति। 'भूमिरापोऽनल०।' (गी० ७।४) इति च वदन्तः। एवं

होता है। शून्य प्रमाता में समवेत प्राण, अपान, समान, उदान, व्यानरूप पाँचों वायु को प्रेरणा करनेवाली शक्ति रहती है और वह विद्या एवं कला के प्रपञ्चरूप जो क्रम से ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय वर्ग है उन दोनों के भीतर रहनेवाली वृत्ति होती हैं; क्योंकि उन दोनों की बाह्यवृत्ति शब्दात्मिकारूप, आलोचनरूप, शब्दरूप से अभिव्यक्त होनेवाली वृत्ति है, इस विषय में सांख्य कारिका में कहा भी गया है—'सामान्यकरणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च।' [सां० २९ का०] इन्द्रियों को सामान्यकरण वृत्ति प्राणादि पाँच वायु है। इस प्रकार शून्य प्रेरणात्मिका शक्तिरूप आन्तरिक वृत्ति ही इन्द्रिय तक प्रकाशित होकर जीवन कहलाता है। वही शून्यरूप होकर जीव संसार में संसरण करता रहता है अथवा इन्द्रिय-शक्तियों में जो भीतरी प्राणात्मिका-शक्ति है उसी का नाम प्राण है; क्योंकि वह प्राणादि श्वास-प्रश्वास को प्रेरणा देती है, वही 'अहम्' में रह कर जीवन कही जाती है, तब प्राण ही जीव संसारी हो जाता है और वही शून्य कहा जाता है, प्राण पुर्यष्टक शब्द का वाच्य है, जिससे प्राणादि पाँच, बुद्धीन्द्रिय समूह, कर्मेन्द्रिय वर्ग एवं निश्चयात्मक अन्तःकरण को वृत्तियाँ और बुद्धिरूप में व्यक्त होतो है। कुछ लोग उसको तन्मात्र पञ्चक, मन, बुद्धि और अहंकार कहते हैं—'तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहं बुद्धि०।' (स्प० ४।१९) तथा गीता में कहा है 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकारं इतीयं मे भिन्ना प्रकृति-रष्टधा' (७।४) सूक्ष्म पञ्चभूत सहित पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पञ्च महाभूत;

---

१. वही प्रेरणात्मिका शक्ति वृत्ति है।

यतः करणवर्गोऽयं विमूढोऽमूढवत्स्वयम्।
……… …… प्रवृत्तिस्थितिसंहृतोः॥
लभते……………………………।

इत्यत्र

सहान्तरेण चक्रेणेति……………।

जिसके सामर्थ्य बल से ही, अनन्त-शक्ति चक्र के साथ-साथ उस बाह्य इन्द्रियों को भी चेतन के जैसा सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है जिससे स्वतन्त्र होकर सृष्टि, स्थिति, और संहारादि करने में प्रवृत्त होते हैं। इसलिए उस तत्त्व को जानने के लिए योगी को यत्न करना चाहिए। क्योंकि उसकी यह अकृत्रिम स्वभाववाली स्वतन्त्रता रोम-रोम में भरी हुई है। इस रीति से अपने आवेशवशात् उठाती हुई जीव ऐसा कहा जाता है। जो शून्य को उठानेवाली है वही जीवन क्रिया कही जाती है।

यदुभयात्मकं पुर्यष्टकं तावत्येव शुद्धे या विश्रान्तिः, तस्यां सत्यां यदहन्तायाः सुषुप्तायाः बोधलक्षणं भावरूपं कर्म च क्रियास्वभावं तत् सौषुप्तम्। मलेन हि प्रमाता सुप्तः कलया त्वसुप्त इव, अत्र तन्निमज्जनेन सुष्ठु सुप्तस्तस्य भावः कर्म वा,—इति। तत्र शून्यसौषुप्ते न किञ्चिद्व्यतिरिक्तं वेद्यम्,—इति मायीयमलाभावादपवेद्यं तत्; प्राणसुषुप्ते तु स्पर्शकृतस्य सुखदुःखादेर्भावात् मायाख्यमस्ति मलम्,—इति सवेद्यं तत्। एवं गाढागाढसुषुप्तद्वितयवत् प्रलयोऽपि मन्तव्यः। स परं देहादिप्रध्वंसानुदयकृतश्चिरतरकालश्च। सुषुप्तं तु देहाद्यनादरकृतमचिरकालं च,—इति विशेषः। तत्रापि श्रमकृतं निद्रा, धातुदोषकृतं मूर्च्छा, द्रव्यकृतं मदोन्मादादि, स्वातन्त्र्यकृतं समाधिः,—इत्याद्यवान्तरभेदाः। केचित्तु समाधिरूपं सवेद्यमन्यदपवेद्यम्,—इति प्रपन्नाः ॥ १३-१४-१५ ॥

नन्वेवं स्फुटवेद्यपदविनिर्मुक्ता सुषुप्तावस्थास्तु, स्वप्नजाग्रद्दशयोस्तु स्फुटवेद्यावभासयोगिन्योः को भेदः ? इत्याशङ्क्य श्लोकद्वयेन भेदमाह—

मनोमात्रपथेऽप्यक्षविषयत्वेन विभ्रमात्।
स्पष्टावभासा भावानां सृष्टिः स्वप्नपदं मतम् ॥ १६ ॥
सर्वाक्षगोचरत्वेन या तु बाह्यतया स्थिरा।
सृष्टिः साधारणी सर्वप्रमातॄणां स जागरः ॥ १७ ॥

इन सबके कार्यरूप इन्द्रियाँ तथा अहङ्कार, बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व, मन इस प्रकार यह मेरी प्रकृतिशक्ति अष्ट भेद से युक्त है।

इस प्रकार ज्ञान और कर्मरूप पुर्यष्टक में विश्रान्ति लेते हुए जो अहन्ता सोई हुई रहती है उस सुषुप्त का बोधरूप भाव कर्म और क्रिया स्वभाव सुषुप्ति है; क्योंकि मल से प्रमाता सुप्त कहा जाता है और कला से असुप्त के जैसा रहता है, उसमें डूब जाने से भली-भाँति सुप्त हो जाता है एवं शून्य सुषुप्त हो जाने पर कोई भिन्न वेद्यभाव नहीं रहता है, मायीय मल के अभाव में अपवेद्य हो जाता है, प्राण सुषुप्त में तो सुख-दुखादि का स्पर्श होने से मायीय मल रहता है' अर्थात् मायीक नाम का मल उसमें रहता है इसीलिए वह सवेद्य रहता है। इस प्रकार गाढ, अगाढ, सुषुप्ति के समान प्रलय भी समझना चाहिए। वह देहादि प्रध्वंस के उदय न होने से चिरकाल तक रहता है। सुषुप्त तो देहादि के अनादर से होता है इसी कारण वह शीघ्र नष्ट हो जाता है यही दोनों में विशेषता है। उसमें अत्यधिक परिश्रम के करने से निद्रा, धातु के दोष से मूर्च्छा, मद्यपानादि से उन्माद, स्वतन्त्रता से समाधि होती है, इत्यादि सब आवान्तर भेद कहे जाते हैं। किन्तु कुछ लोग तो समाधि को सवेद्य और दूसरे को अपवेद्य मानते हैं ॥ १५ ॥

अब शङ्का करते हैं कि सुषुप्त अवस्था भले ही स्फुटवेद्य पद से शून्य रहित हो, किन्तु जाग्रत् और स्वप्न तो स्फुटरूप से वेद्य को अवभास करनेवाली अवस्था है उसमें कौन सा भेद है ? इस पर आशङ्का करके दो श्लोकों से उत्तर देते हैं—

मनोमात्र मार्ग में इन्द्रियों के विषय का प्रत्यक्ष प्रमाण भ्रम से भाव-पदार्थों में स्पष्ट अवभासपूर्वक सृष्टि का होना स्वप्न कहा जाता है ॥ १६ ॥

सभी प्रमाणों के भासित होने से जो बाहर की स्थिर सृष्टि है वह सभी प्रमाताओं के लिए साधारण सृष्टि है वही जाग्रत अवस्था है ॥ १७ ॥

बाह्येन्द्रियाधिष्ठानानि चक्षुर्गोलकादीनि निमीलितानि निद्रायमाणस्य लक्ष्यन्ते, न च तेषु निमीलितेषु बाह्येन्द्रियग्रहणव्यापारो दृष्टः तेन शुद्ध एव मनोमार्गे रूपस्पर्शादयो भावा अक्षग्रहण-समुचितेन स्पष्टेन वपुषा भासनयोग्याः परमेश्वरेण सृज्यन्ते, न त्वणुना अनिष्टस्यैव दर्शनात् इष्टस्यापि देशकालान्तरादियोगेन। अत एव मनोमात्रस्थितत्वादेव न प्रमात्रन्तरसाधारणीयं सृष्टिः। यत्तु तत्र बाह्येन्द्रियविषयत्वं प्रमात्रन्तरसाधारण्यं चकास्ति, तद्यद्यपि यावद्भाति तावत् तथैव, तथाप्युत्तरकालं प्रबुद्धस्य न तथा,—इति परामर्शेन तद्रूपं निर्मूलत्वेनावभाति,—इति भ्रान्तम्। यानि हि प्रमात्रन्तराणि स्वप्ने स्वेन्द्रियाणि च भ्रान्ति, एतानि प्रबोधकालभाविभिरेव तैरभिन्नानि,—इति निश्चयः, प्रबोधकाले च न तथा,—इति निश्चयानुवृत्तिरपहृतैव। तेनोभयमपि भ्रान्तमुच्यते; भ्रान्तत्वमेव चास्थैर्यम्। एवमिन्द्रियाविषयत्वेनैवासाधारणत्वमाक्षिप्तम्, 'विभ्रमेणैव चास्थैर्यं……।' इति स्वकण्ठेन, तत् जाग्रत्प्रतियोगिधर्मनिरूपणावसरेऽपि न दर्शितम्। एवं भूता या सृष्टिः सा पशोः स्वप्नसमये भावात् 'स्वप्नपदं' स्वप्नकाले विषयः,—इति तथाभूतविषयं प्रमातृत्वं पशोः स्वप्नावस्था,—इति यावत्। अक्षग्रहणं बाह्येन्द्रियदशकस्योपलक्षणम्। यत्र तु बाह्याक्षविषयं सर्वप्रमातृसाधारणत्वं च निश्चयानुवृत्त्या बाधारहितया परमार्थत्वेन चकास्ति, तत एव स्थैर्यं विषयस्य सा सृष्टिः पशोः जागरः; तद्विषयं प्रमातृत्वं जागरावस्था,—इति यावत्।

बाह्येन्द्रियों के अधिष्ठान चक्षुगोलक इत्यादि जब निद्रा में पुरुष आ जाता है तो सम्बन्ध बन्द हो जाता है, और उन सबके बन्द हो जाने पर बाह्येन्द्रियों का व्यापार नहीं दिखायी देता है, इससे सिद्ध होता है कि रूप-स्पर्शादि जो भाव हैं वे सभी इन्द्रियों के बाह्य शरीर से परमेश्वर के द्वारा ही सृष्ट हुए हैं, जीव के द्वारा नहीं हुए हैं; क्योंकि जीव को अभीष्ट नहीं है, अभीष्ट तो भिन्न देश-कालादि से सम्बन्धित होता है। इसीलिए मनोमात्र में ही रहने के कारण सर्व साधारण प्रमाताओं के लिए यह सृष्टि नहीं होती है और न तो बाह्येन्द्रियों का विषय भी साधारण दूसरे प्रमाताओं के द्वारा प्रकाशित होता है, यद्यपि वह जब तक भासता है तब तक ही उसकी सत्ता रहती है उत्तरकाल में प्रबुद्ध के लिए वैसा नहीं रहता है उसका बाध हो जाता है, ऐसा इस परामर्श से वह उस रूप में निर्मूल भासता है, यही भ्रान्ति है। जो कि स्वप्न में अन्य प्रमाताओं की अपनी इन्द्रियाँ भासती हैं, प्रबोधकाल में होनेवाले आभासों से अभिन्न होते हैं, यही निश्चय होता है, उसी प्रकार प्रबोधकाल में नहीं होता है, इस प्रकार निश्चय ही अनुवृत्ति अपहृत रहती है। इसीसे ये दोनों भ्रान्त कहे जाते हैं और भ्रान्ति ही एक प्रकार से अस्थिरता है। इस प्रकार इन्द्रियों की अविषयता बता करके उनकी असाधरणता पर आक्षेप किया गया है, 'विभ्रमेणैव चास्थैर्यं……।' ऐसा अपने मुख से ही कहा है, उसे जाग्रत अवस्था के प्रतियोगी धर्म के निरूपण अवसर में भी नहीं दिखाया है। इस प्रकार जो सृष्टि है वह पशु जीव के स्वप्न काल में होती है 'स्वप्नपदं' अर्थात् स्वप्नकाल का विषय होती है, उसी प्रकार का विषय पशु प्रमातृत्व कहलाता है। जो कि पशु जीव की स्वप्न अवस्था है, अक्ष ग्रहण से पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्च कर्मेन्द्रिय का ग्रहण करना चाहिए। किन्तु जिसमें बाह्येन्द्रियों का विषय रहता है वह सब प्रमाताओं के लिए साधारणत्व रहता है और वह निश्चयवृत्ति के कारण बाधा रहित होने से ठीक-ठीक प्रकाशित होता है, इसीलिए वह विषय की स्थिरता है और उसे ही पशुजीव को जाग्रत अवस्था कहते हैं, जो कि स्थिर विषयवाला सृष्टि है तो भी पशु का वह जागरण माना जाता है,

यावच्चानुवृत्तिस्थैर्यं निश्चयस्य चकास्ति, तावज्जागरः। तन्मध्य एव च निश्चयानुवृत्तिनिर्मूलनात् स्वप्नः,—इत्यवभाससारत्वात् वस्तूनां; स्वप्नेऽपि दीर्घे यत्र स्वप्नान्तरं, स तदपेक्षया जाग्रदेव; जाग्रदभिमतमपि वा दीर्घदीर्घं कालान्तरे निश्चयानुवृत्तिनिरोधाज्जाग्रदन्तरापेक्षया स्वप्न एवेति मन्तव्यम् ॥ १६-१७ ॥

आसां तिसृणां हेयत्वप्रदर्शनेन तुर्यावस्थातः प्रभृत्युपादेयत्वं सूचयति—

हेया त्रयीयं प्राणादेः प्राधान्यात्कर्तृताగुणे ।
तद्धानोपचयप्रायसुखदुःखादियोगतः ॥ १८ ॥

यत्रायं प्रमाता त्यागोपादानतदिच्छाप्रयत्नादिकं परिक्लेशं पश्यति, तदेवास्य हेयतया भाति। स चास्य सुखदुःखयोगवैचित्र्येणैव कृतः, तच्चैतदवस्थात्रये संभवति; यतः कर्तृतारूपं स्वात्मविश्रान्त्यानन्यौन्मुख्यलक्षणमानन्दैकघनं यच्चिन्मयं वपुः, तद्यदा प्राणादिवृत्तिशून्यपुर्यष्टक-देहादिभूमिषु गुणतामभ्येति, तदा तस्मिन् गुणीभूते प्राणादेः प्राधान्यं स्फुरति। तथा च तस्य चिद्रूपस्य यथायथा हानिस्तथातथा दुःखोपचयो, यथायथा किञ्चिदुन्मज्जनं तथा तथा सुखोपचयः। तथाहि—बुभुक्षाकाले प्राणस्यैवोद्रेकात् दुःखं, तृप्तौ तस्य न्यग्भावादहन्तोद्रेके सुखम्। एवं

जब तक विषय की स्थिरता का निश्चय प्रकाशित रहता है तब तक जागरण काल रहेगा। उसी बीच में निश्चय की अनुवृत्ति के निर्मूल होने पर स्वप्न प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए वस्तु-पदार्थों में अवभास ही सार तत्त्व माना गया है; चिरकाल पर्यन्त होनेवाले स्वप्न में जो भी अन्य-अन्य स्वप्न होते हैं वे सब के सब उसकी अपेक्षा से ही है, जाग्रत का अभिमान होने पर भी दीर्घ-दीर्घ दूसरे काल तक निश्चय की अनुवृत्ति के रुक जाने से दूसरे जागरण की अपेक्षा से उसे स्वप्न ही मानना चाहिए ॥ १७ ॥

जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं की हेयता को दिखा करके तुर्यावस्था ही उपादेय है, इसे सूचित करते हैं—

कर्तृता के गुण में प्राणादि की प्रधानता होने से जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति को हेय समझना चाहिए। सुख-दुःखादि के योग से उसके भी प्रायः उपचय का त्याग करना चाहिए ॥ १८ ॥

यह प्रमाता छोड़ना एवं ग्रहण करना और उसकी इच्छा पर्यन्त करना आदि में क्लेशादि दुःख देखता है, वही उसकी हेयता प्रतीत होती है और सुख-दुःख की विचित्रता से क्लेश होता है। इस प्रकार सुख-दुःखादि तीनों अवस्थाओं में ही हो सकता है; क्योंकि अपने स्वरूप में विश्रान्ति लेना किसी दूसरे की अपेक्षा न रखना यह जो आनन्दघन चिन्मयरूप है वही परमेश्वर का स्वरूप है, जब वह प्राणादि वृत्तियों से शून्य पुर्यष्टक को भूमि में गौण हो जाता है उसी गुणीभूत अवस्था में प्राणादि की प्रधानता रहती है। उस काल में चिद्रूप परमात्मा की जैसी जैसी हानी होती जायेगी वैसी वैसी दुःख की अभिवृद्धि भी होती रहेगी, जब जब परमेश्वर सम्बन्धी कुछ भाव ऊपर उठता है तब तब सुख की अभिवृद्धि होती है। जैसा कि क्षुधाकाल में प्राण की उद्रेकरूपता से दुःख होता है और क्षुधा की परितृप्ति हो जाने पर उसके दब जाने से तो अहन्ता के उद्रेक से आनन्द का अनुभव होता है। इसी प्रकार थके हुए व्यक्ति का मर्दन करने पर और न करने

श्रान्तस्य मर्दनामर्दने देहप्राधान्याप्राधान्ये मन्तव्ये। यस्तु समावेशतत्त्वज्ञस्तस्य तत्तत्काले दुःखानुदय एव। यदाह—

'दुर्बलोऽपि तदाक्रम्य यतः कार्ये प्रवर्तते।
आच्छादयेद्बुभुक्षां च तथा योऽतिबुभुक्षितः ॥' (स्प० ४।८)

इति। एवं प्राणादेः प्राधान्ये कर्तृताया गुणभावे सुखदुःखवैचित्र्यशतयोगः प्रयासभूमिः,—इति जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ते प्राणादिप्राधान्यं कर्तृतान्यग्भावश्चास्ति,—इति तत् त्रयमेव हेयम्। कर्तृताप्राधान्योन्मेषात्तु तुर्यरूपात्प्रभृति तत्स्थैर्यात्मकतुर्यातीतदशान्तमुपादेयम्, एकरसानन्दघनस्वभावलाभे उपादित्साजिहासावैवश्यपरिश्रमप्रशमात्,—इति तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

ननु प्राणादिप्राधान्यं हेयताया कारणमुक्तं तच्चेज्जाग्रदादित्रय एव, तर्हि तुर्यादौ तदभावात् तत्समावेशे व्युत्थानानुपपत्तिः,—इति श्लोकद्वयेन शङ्कां परिहरति—

प्राणापानमयः प्राणः प्रत्येकं सुप्तजाग्रतोः।
तच्छेदात्मा समानाख्यः सौषुप्ते विषुवत्स्विव ॥ १९ ॥
मध्योर्ध्वगाम्युदानाख्यस्तुर्यगो हुतभुङ्मयः।
विज्ञानाकलमन्त्रेशो व्यानो विश्वात्मकः परः ॥ २० ॥

पर देह की प्रधानता और अप्रधानता माननी चाहिए। जो कि समावेश स्थिति में रहनेवाले ज्ञानिजन को तो उस-उस काल में दुःख का अभाव ही रहता है। इस विषय में कहा है कि—

दुर्बल भी जिसको आक्रमण करके कार्य में प्रवर्तित होता है और अत्यन्त क्षुधा से आक्रान्त रहता है वह अपनी क्षुधा की निवृत्ति करे।

प्राणादि की प्रधानता में और कर्तृता की गौणता में असंख्य सुख-दुःख के विचित्र योग से ही प्रयास भूमि होती है, उस जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति काल में प्राणादि की प्रधानता रहती है और कर्तृत्वभाव दबा रहता है, इसीलिए इन तीनों अवस्थाओं को विवेकपूर्वक छोड़ देना चाहिए। कर्तृत्वभाव की प्रधानता का उन्मेष होने से तुर्यरूप से लेकर उसकी तुर्यातीत अवस्था तक ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि इससे आनन्दघन स्वभाव की प्राप्ति होती है, ग्रहण करने की और त्याग करने की विवशता को शान्ति हो जाती है, यही इसका तात्पर्य है ॥ १८ ॥

अब शङ्का करते हैं कि प्राणादि के प्राधान्य को हेयता में कारण कहा गया है, वह यदि तीनों अवस्थाओं में है तो तुर्यादि में प्राणादि का अभाव रहने के कारण देहपात ही हो जायेगा, उसकी समाधि में व्युत्थान की अनुपपत्ति रहती है, इस प्रकार दो श्लोकों से इस आशङ्का का परिहार करते हैं—

प्राण, अपान से युक्त होकर प्राण स्वप्न और जाग्रत प्रत्येक में रहता है। उन दोनों के अभाव में प्राण समान वायु होकर सुषुप्ति अवस्था में विषुवत् संक्रान्ति के समान रहता है ॥ १९ ॥

मध्य में उर्ध्वगामी होकर उदान नाम का वायु और अग्निरूप होकर तुर्य अवस्था में रहता है। विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर के रूप में व्यान वायु विश्वात्मक उत्तम होता है ॥ २० ॥

'प्राण' इति प्राणनरूपा जीवनस्वभावा येयं चिद्रूपस्य स्थितिः, सा तावत्सामान्यपरिस्पन्दरूपा, देहप्राणादेरचेतनस्य चेतनायमानतासंपादनात्मिका 'अहम्' इति स्वातन्त्र्यारोपसारा सती विकल्परूपपरामर्शमयी सैव प्राणादिविशेषात्मना पञ्चरूपतां भजते। तत्र किञ्चिज्जहती क्वचित्पतन्ती च प्रश्वास-निःश्वासरूपा क्रमेण प्राणत्वमपानत्वं च विशेषं दर्शयति। तदिदं विशेषद्वयं जाग्रति तावत् स्फुटमेव देहात् प्रसृत्य विषये विश्रान्तेः, ततोऽपि देहे; स्मृत्यादौ वाभ्यन्तरे वेद्ये विश्रान्तेः प्राणापानयोः सुस्पष्टत्वात्। स्वप्नेऽपि तद्वयमस्त्येव; स्वपतोऽपि हि प्राणापानौ निर्गमप्रवेशात्मानौ स्फुटमेवापरेण लक्ष्येते। स्वयमेव च वेद्यसंवेदनात् त्यागोपादानरूपा स्थितिः संवेद्यत एव, तेन प्राणना प्राणापानविशेषद्वयमयी जाग्रति, तथा स्वप्ने; सुप्तं स्वप्नः, तदेव तु यदा सुतरां पुष्टं भवति, तदा सुषुप्तः प्रमाता, तस्येदं सौषुप्तं पदम्। तत् द्विविधमपि समानरूपं विशेषं प्राणीयं स्वीकरोति। सवेद्ये तावत्सुषुप्ते यद्यपि प्राणापानस्पन्दो लक्ष्यते, तथापि तयोर्मध्ये या विश्रान्तिर्हृदयसदने निरिन्द्रिये प्रदेशे तदेव मुख्यतः सुसुप्तमिति। तत्र प्राणापानयोर्यश्छेदो विश्रान्तिः कंचित्कालं तदात्मा सकलरसादिवर्गस्योर्ध्वाधरतिर्यक्षु समानीकरणव्यापारात्मा, तत एव हृत्पद्मविकासदानाद्भुक्तपीतजरणकारी समानो दिनरात्रिरूपयोः प्राणापानयोः कंचित्कालं साम्याद्विच्छेदाच्च विषुवत्कालतुल्यः। विषुं व्याप्तिं समानीकरणमर्हति,—इति, 'तदर्हम्' (पा०सू० ५।१।११७) इति वतिः। उपमाने वतेरेव चाव्ययत्वम् 'उद्वतो निवतः'

'प्राण' प्राणनरूप जीवन को चलानेवाली जो चेतन की स्थिति है, वह सामान्यरूप से स्फुरण कराती है, अचेतन जो देह-प्राणादि है उसे चेतनता देनेवाली यह 'अहम्' स्वातन्त्र्य-शक्ति है स्वतन्त्रता का आरोप करना जिसकी यही विशेषता है कि विकल्परूप परामर्श करनेवाली प्राणादिरूप से पाँचोंरूपों में विभक्त हो जाती है। उसमें कुछ छोड़ती हुई और कहीं गिरती हुई श्वासप्रश्वासरूप होने से प्राणत्व और अपानत्व को विशेषरूप से बताती है। ये दोनों जाग्रत काल में स्पष्ट रहती हैं देह से फैलती हुई विषय में जाकर विश्राम लेती है, फिर उसके देह में; स्मृति आदि में अथवा वेध में विश्रान्त होकर प्राण, अपान के रूप में सुस्पष्ट प्रतीत है। स्वप्नकाल में भी दोनों रहते हैं; क्योंकि सोने पर प्राण, अपान दोनों का निर्गम और प्रवेश स्पष्ट ही दूसरे लोग देखते हैं और वेद्य अर्थात् ज्ञानरूप होने से स्वयं त्याग और ग्रहणरूप स्थिति की अवगति होती है, इस प्रकार जाग्रत काल में प्राणना, प्राण और अपान दोनों में विशेषरूप से रहती है, उसी प्रकार स्वप्न में भी 'सुप्तं' स्वप्न ऐसा प्रयोग आया है, वही जब भली भाँति पुष्ट हो जाता है, तब प्रमाता सुषुप्ति में पहुँच जाता है, उसका यह सौषुप्तपद है। वह सवेद्य और अपवेद्यरूप में भी समानरूप से विशेष भावपूर्वक जीवित रहना स्वीकार करता है। पहले यद्यपि सवेद्य सुषुप्ति में प्राण और अपान का स्पन्दन लक्षित होता है, तो भी दोनों के बीच में जो इन्द्रिय से रहित हृदय स्थान में विश्रान्ति है वही मुख्यतः सुषुप्ति अवस्था मानी जाती है। प्राण और अपान का जो भेदक है जिसको विश्रान्ति कहते हैं वही कुछ काल पर्यन्त उस रूप में रह कर सकल रसादि वर्ग का ऊपर-नीचे तथा चारों तरफ बराबर कर देना जिसका व्यापार है, उससे ही हृदयकमल विकसित होने के कारण खाये-पीये पदार्थ को पचा देना यह सब समान वायु का कार्य है एवं दिन और रात्रिरूप जो प्राण और अपान वायु है वह कुछ अंश तक भेद करने के कारण विषुवत् काल के समान वह भी रहता है। चारों तरफ ठीक-ठीक व्यापकरूप में कर देने का

इति प्रयोगात्; तद्धि न्यायसिद्धं न वाचनिकं, विशेषं वा दिनरात्रितदूनाधिकत्वलक्षणं सुवति प्रेरयत्यविरतम्,—इति शतरि विषुवत्। तत्र च विषुवति विच्छिद्यमानस्य प्राणापानस्य संस्काररूपतया सद्भावः, सैव हि विच्छेदो न तु सर्वात्मना नाशोऽस्ति,—इत्युक्तमसकृत्। ततश्च हानादानयोर्बीजरूपता सुषुप्ते; इयति च सर्वः प्रलयाकलान्तः पशुवर्गः। यदा तु सा प्राणना वृत्तिर्वामदक्षिणमार्गौ खिलीभावयन्ती मध्यरूपेणोर्ध्वेन प्रवहति, तदा तत्प्रवहणं सकलस्य भेदस्याभेदसारतादानलक्षणं विलापनमाश्यानस्येव सर्पिषो विदधती उदानवृत्तिर्विज्ञानाकलादारभ्य सदाशिवान्तं, सा च तुर्यात्मिका दशा। मायोर्ध्वे हि विज्ञानाकलाः,—इति ततःप्रभृति भेदगलनं प्रवर्तते। विलीने तु भेदे सर्ववेद्यराशिरूपतत्त्वभूतभुवनवर्गात्मकदेहव्यापाररूपेण प्राणवृत्तिर्व्यान-रूपा विश्वात्मकपरमशिवोचिता तुर्यातीतरूपा। प्राण एव प्रमाता प्राणापानरूपः समानरूप

नाम विषुवत् है। 'तदर्हम्' (पा० सूत्र ५।१।११७) इस सूत्र से वतिप्रत्यय होकर विषुवत् बना है और वतिप्रत्यय उपमान में अव्यय होता है 'उद्वतो निवतः' इत्यादि प्रयोगों में देखा जाता है; क्योंकि यह युक्तिपूर्वक भी सिद्ध है कोई मौखिक नहीं है अथवा तो दिन और रात्रि को न्यूनाधिक जो निरन्तर प्रेरित करता है,—शतृ प्रत्यय करके भी विषुवत् शब्द बनता है। इस प्रकार विषुवत् में विच्छिद्यमान जो प्राण-अपान है उसमें संस्काररूप से रहने के कारण उसे विच्छेद कहते हैं अर्थात् संस्काररूप से सद्भाव होना ही विच्छेद है सारा का सारा विनष्ट नहीं हो जाता है, यह हमने अनेक बार कहा है। आदान-प्रदान करना भी सुषुप्ति में बीजरूप से रहना सिद्ध है; इतने अंश में ही प्रलयाकल तक सभी पशुवर्ग रहते हैं। जब जीवन वृत्ति वाम और दक्षिण भाग को छोड़कर मध्यरूप से बहती है, तब उसका बहना सब भेदों में अभेद देनारूप जैसा कि पिघले हुए घी का स्वरूप, उसी में उदानवृत्ति विज्ञानाकल से लेकर सदाशिव दशा पर्यन्त जो दशा है उसे तुर्यावस्था कही जाती है माया तत्त्व के ऊपर विज्ञानाकल रहते हैं और वहाँ से ही भेद गलने लगता है। भेद के विलीन हो जाने पर सारी संवेद्यराशि भुवनवर्ग, देह व्यापार-रूप प्राणों की वृत्तियाँ विश्वात्मक परम शिव में रहने के कारण तुर्यातीतरूप हो जाती है, इसलिए

१. ब्रह्मादिकीटान्तमनन्तकं यल्लोकत्रये वेदकचक्रवालम्।
तद्द्वैतदृष्ट्यैव सुपूर्णमित्थं तदीयचक्षुर्युगलं व्यनक्ति॥
इत्थं विश्रम्याहमनन्तशक्तिविश्रान्तधीर्द्वैतदृशं जिहासुः।
त्वद्भक्तिसंदर्शितशुद्धमार्गनिरर्गलीभावितभूरिभावः॥
समं समप्रोद्गतवेदनाख्यबिन्दुस्थनेत्रान्तरशोभमानम्।
भवन्तमन्तःकृतविश्वरूपमद्वैतदृष्टिं शिवसंश्रितोऽस्मि॥

शैव दर्शन में परम शिव को त्रिनेत्र शब्द से कहा गया है। हे भगवन्! तीनों लोकों में ब्रह्मा से लेकर कीट-पतङ्ग पर्यन्त जितने भी वेदक पदार्थ हैं अर्थात् ज्ञाता वर्ग हैं, वे सभी द्वैतभाववाले हैं इसी कारण उन लोगों की द्वैतरूपी दो आँखें मानी जाती हैं, इसका विचार करके मैं आपकी अनन्त-शक्तियों में विश्राम लेकर अर्थात् द्वैतभाव को छोड़कर आपकी विशुद्ध-विमल भक्ति द्वारा अपने आपके द्वारा माने हुए बन्धन से मुक्त होकर सर्वत्र समभाववाले तृतीय बिन्दु स्थानीय नेत्र के खुल जाने से अपने में सारे विश्व को किये हुए अद्वैत दृष्टिवाले परम शिव को ही देख रहा हूँ अर्थात् मैं तो सारे त्रिलोकी विश्व को अन्तःसात् करनेवाले अद्वैत शिव को ही तृतीय-नेत्र से शोभायमान् देख रहा हूँ।

उदानरूपो व्यानरूपश्च,—इति सामानाधिकरण्यात् विज्ञानाकलश्चासौ मन्त्रश्चासौ वर्गापेक्षया, ईशश्च सदाशिवेश्वररूपो योऽसौ,—इति स उदानः। एतदुक्तं भवति यद्यपि तुर्यतदतीतयोरप्यस्ति प्राणना—अन्यथा जीवत्वस्य व्युत्थानस्य चानुपपत्तेः—तथापि भेदोपसंहारेणाभेदविश्रान्ति-प्राधान्यादनयोर्दशयोः सुखदुःखादिवैचित्र्यायोगात् एकघनस्वात्मविश्रान्त्यात्मकपरमानन्दमयत्वेनोपादेयतैव। सुषुप्तादौ तु संस्काररूपत्वास्फुटवेद्योल्लासस्फुटवेद्यावभासरूपस्य भेदस्य विद्यमानत्वात् अस्ति सुखदुःखादिवैचित्र्यम्,—इति हेयतैव,—इति युक्तमुक्तं 'हेया त्रयीयम्' इत्यादि। भगवतश्च विश्वशरीरस्य प्राणापानसमानोदानव्यानरूपतयैव सकलगतोल्लासप्रवेशप्रलयाकल-विज्ञानाकलादिवर्गसदाशिवरूपता,—इत्यप्यनेन दर्शितम्। यथोक्तम्—'षट्त्रिंशदात्मकं विश्वं शम्भोः प्राणादिशक्तयः।' इति ॥ १९-२० ॥ आदितः ॥ १७१ ॥

इति श्रीमदाचार्योत्पलदेवविरचितायामीश्वरप्रत्यभिज्ञायां श्रीमदाचार्याभिनवगुप्त-विरचितविमर्शिन्याख्यटीकोपेतायामागमाधिकारे प्रमातृतत्त्व-निरूपणाख्यं द्वितीयमाह्निकम् ॥ २ ॥



प्राण ही प्रमाता है वही प्राणरूप, अपानरूप, समानरूप, उदानरूप और व्यानरूप होकर रहता है, इस प्रकार यह सामानाधिकरण्यरूप होने से विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर भी है और वर्ग की अपेक्षा से ईश्वर और सदाशिवरूप उदान है।

अब यह कहा जाता है कि परमेश्वर के विषय में जो कहना था सब कह दिया, अनन्तर जीव के विषय में प्रतिपादन किया जायेगा, तुर्यावस्था और तुर्यातीत अवस्था में भी जीव रहता है; नहीं तो, जीवत्व का उत्थान नहीं हो सकेगा, फिर भी भेदों का उपसंहार करके अभेद में विश्रान्ति लेने से उसकी प्रधानता से दोनों दशाओं में सुख-दुःखादि की विचित्रता से एकघन आत्मा में विश्राम पा लेने से परमानन्द स्थिति स्थिर हो जाती है, इस दर्शन में यही उपादेय है। सुषुप्ति अवस्था में तो संस्काररूप से अस्फुट वेद्य का उल्लास होना और स्फुटरूप से वेद्य का भास होना एवं दोनों रूपों में भेद के विद्यमान रहने से सुख-दुःखादि की विचित्रता बनी रहती है। इसलिए यह छोड़ने योग्य ही है, ठीक ही कहा है कि 'हेया त्रयीयम्' इत्यादि। भगवान् विश्व शरीर के प्राण, अपान, समान, उदान, व्यानरूप से ही सभी जीवों में उल्लासपूर्वक प्रवेश करने के कारण प्रलयाकल, विज्ञानाकल आदि वर्ग से लेकर सदाशिव तक दिखा दिया। जैसा कि कहा है—'छत्तीस तत्त्वोंवाला यह विश्व भगवान् सदाशिव की प्राणादि शक्तियाँ है' ॥ १९-२० ॥

द्वितीय आह्निक समाप्त

इति सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरविरचिता

तृतीयागमाधिकारहिन्दीव्याख्या

शिवरञ्जनी

इति तृतीयः आगमाधिकारः समाप्तः



अथ चतुर्थः तत्त्वसंग्रहाधिकारः

अथ चतुर्थे तत्त्वसंग्रहाधिकारे गुरुपर्वक्रमाख्यं

प्रथममाह्निकम्

अनन्तमानमेयादिवैचित्र्याभेदशालिनम् ।
आत्मानं यः प्रथयते भक्तानां तं स्तुमः शिवम् ॥

एवं स्वसंवेदनोपपत्त्यागमसिद्धं महेश्वररूपमात्मस्वरूपं यदधिकारत्रयेण वितत्य निर्णीतं तदेव संक्षेपेण शिष्यबुद्धिषु निवेशयितुमागमार्थसंग्रहं श्लोकाष्टादशकेन दर्शयति 'स्वात्मैव सर्वजन्तूनाम्' इत्यादिना 'उत्पलेनोपपादिता' इत्यन्तेनैकेनाह्निकेन। तत्र श्लोकेन पारमार्थिकं रूपमुक्त्वा श्लोकनवकेन बन्धस्वरूपं प्रमातृप्रमेयतत्त्वदर्शनदिशा, सप्तकेन प्रत्यभिज्ञात्मकं मोक्षतत्त्वं, श्लोकेनोपसंहारं दर्शयति,—इति तात्पर्यम्। ग्रन्थार्थस्तु निरूप्यते—

स्वात्मैव सर्वजन्तूनामेक एव महेश्वरः ।
विश्वरूपोऽहमिदमित्यखण्डामर्शबृंहितः ॥ १ ॥

इह जडास्तावच्चेतननिमग्ना एव भान्ति; इदमिति हि जडपरामर्शोऽहमिति संवित्परामर्श एव विश्राम्यति; ततश्च जडा निरात्मान इति, जन्तव एव जीवाः सात्मानस्तेषां च महेश्वर एव

अनन्त प्रमाता, प्रमेय, प्रमाणादि के वैचित्र्य भावों को अभेद से युक्त एवं भक्तजनों के स्वरूप को जो प्रकाशित करते हैं, उसकी हम स्तुति करते हैं।

इस प्रकार अपने संवेदन ज्ञान की उपपत्ति से आगम सिद्ध महेश्वर के स्वरूप को ज्ञानाधिकार, क्रियाधिकार और आगमाधिकार में विस्तारपूर्वक निरूपण किया है उसका संक्षेप से शिष्यों की बुद्धि में प्रवेश करने के लिए आगमार्थ संग्रह के रूप में अठाहर श्लोकों से दिखाया जाता है 'स्वात्मैव सर्वजन्तूनाम्' इत्यादि लेकर 'उत्पलेनोपपादिता' अन्तिम इस एक आह्निक तक। प्रथम श्लोक से पारमार्थिकरूप को कह कर नव श्लोकों द्वारा प्रमाता, प्रमेय तत्त्व दर्शन दिशा से बन्ध का स्वरूप कहेंगे, इसके बाद सात श्लोकों से प्रत्यभिज्ञारूप मोक्ष तत्त्व का प्रतिपादन करेंगे, एक श्लोक से उपसंहार दिखायेंगे, इसका यही तात्पर्य है। अब ग्रन्थ के अर्थ की व्याख्या करते हैं—

सभी जन्तु जीवों का आत्मा ही एक महेश्वर है। मैं विश्वरूप अखण्ड इस विमर्श से व्याप्त हूँ ॥ १ ॥

सभी जड समूह चेतन तत्त्व में ही ओतप्रोत होकर भासते हैं; क्योंकि 'इदम्' जो जड परामर्श है वह अहं इस संवित् ज्ञान परामर्श में ही विश्राम लेता है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जड वर्ग चेतन शून्य ही रहता है, जन्तु ही जीव होते हैं और चेतन आत्मा से विशिष्ट रहते हैं,

स्वात्मा स एव महेश्वरो न त्वन्यः कश्चित्। यतः संवित्स्वभावोऽसौ, संविदश्च न देशेन न कालेन न स्वरूपेण कोऽपि भेदः, कामं देहप्राणादयो भिद्यन्तां, ते तु जडपक्ष्याश्चेतननिमग्ना एव,—इत्येक एव चिदात्मा स्वातन्त्र्येण स्वात्मनि यतो वैश्वरूप्यं भासयति, ततो महेश्वरोऽन्तर्नीतामिदन्तां कृत्वा परानुन्मुखस्वात्मविश्रान्तिरूपाहंविमर्शपरिपूर्णः, अत एव सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वे नास्य यत्नोपपाद्ये। विचित्रबुद्धिकर्मेन्द्रियविषये हि यथा ज्ञातृत्वकर्तृत्वे एकस्यैवात्मनस्तथेन्द्रियस्थानीयरुद्रक्षेत्रज्ञसहस्रविषयस्य भावराशेर्यज्ज्ञानं करणं च तदेकत्र चिदात्मनि,—इति ॥ १ ॥

ननु यद्येक एवायं महेश्वररूप आत्मा कस्तर्हि बन्धो यदवमोचनायायमुद्यमः? इत्याशङ्क्याह—

तत्र स्वसृष्टेदंभागे बुद्ध्यादिग्राहकात्मना।
अहङ्कारपरामर्शपदं नीतमनेन तत् ॥ २ ॥

'तत्रैवं स्वात्मनि महेश्वरे स्थिते तस्मिन्नेव प्रकाशरूपे स्वात्मदर्पणे तेनैव परमेश्वरेण स्वातन्त्र्यात् तावत्सृष्टः सङ्कोचपुरःसर इदंभागः, तन्मध्ये यदेतद्बुद्धिप्राणदेहरूपमिदन्तया वेद्यं तद्भिन्नस्य वेद्यस्य ग्राहकतया समुचितम् इदंभावाभिभवाप्रभविष्णुत्वात् कृतकेनापूर्णेनाहंभावेन परामर्शेन भासमानं चकास्ति 'अहं देवदत्तोऽहं चैत्र' इति ॥ २ ॥

नन्वेवमप्यस्तु, तथापि कस्य बन्धः ईश्वरव्यतिरिक्तो हि कोऽन्योऽस्ति? तदेतत्

उन सब का आत्मस्वरूप महेश्वर ही है, इस प्रकार वही महेश्वर है अन्य कोई नहीं है। जिससे ज्ञात होता है कि यह संवित् ज्ञान स्वभाववाला है और संवित् का देश, काल और स्वरूप से कोई भेद नहीं है, भले ही देह प्राणादि का भेद होता हो, वे जड के पक्षपाती होते हुए भी चेतन में निमग्न रहते हैं। इस प्रकार एक ही चिदात्मा स्वतन्त्ररूप से अपने स्वरूप में विश्वरूप होकर भासित होता है, इससे महेश्वर इदन्ता को अन्तर्लीन करके किसी अन्य की ओर न उन्मुख होनेवाले अहं विमर्श में परिपूर्ण रहता है, इसीलिए सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्व के लिए कोई विशेष यत्न नहीं करना पड़ता है। [इसीको दृष्टान्त से दृढ करते हैं] जैसे विचित्र ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के विषय में एक चिदात्मा का ज्ञातृत्व-कर्तृत्व रहता है उसी प्रकार इन्द्रिय स्थानीय रुद्ररूप अनेक क्षेत्रज्ञ भावराशि के जो ज्ञान और करण एक ही चिदात्मा में संसक्त रहता है ॥ १ ॥

अब शङ्का करते हैं कि यदि यह एक ही महेश्वररूप आत्मा है तो कौन बन्धन ग्रस्त होगा और प्रपञ्च से छूटने के लिए उद्यम करता है? इस पर आशङ्का कर उत्तर में कहते हैं—

अपने से सृष्ट इदंभाग में बुद्ध्यादि के ग्रहणरूप से अहङ्कार के परामर्श पद तक पहुँचा देना है वही वह पद है ॥ २ ॥

इस प्रकार स्वात्मस्वरूप महेश्वर के रहते-रहते वही प्रकाश स्वात्मदर्पण में परमेश्वर की स्वतन्त्रता के कारण संकुचित होकर इदंभाग का सर्जन करता है, उसके बीच में जो यह बुद्धि, प्राण, देहरूपी इदन्ता का वेद्य होती है उससे भिन्न वेद्य ग्राहक बनता है इदंभाग के प्रभाव को दबा देने से कृत्रिम अहंभाव के परामर्श से भासित हुआ 'अहं देवदत्तोऽहं चैत्रः' मैं देवदत्त हूँ, मैं चैत्र हूँ, ऐसा प्रकाशित होता है ॥ २ ॥

अच्छा तो, ऐसा भले ही हो; क्योंकि ईश्वर से भिन्न दूसरा कोई नहीं है तो फिर किस का

परिहर्तुमाह—

स्वस्वरूपापरिज्ञानमयोऽनेकः पुमान् मतः ।
तत्र सृष्टौ क्रियानन्दौ भोगो दुःखसुखात्मकः ॥ ३ ॥

सत्यं, परमार्थतो न कश्चिद्बन्धः केवलं स्वस्मादनुत्तरात् स्वातन्त्र्यात् यदा स्वात्मानं संकुचितमवभासयति स एव, तदा स्वस्य पूर्णस्य रूपस्य यदपरिज्ञानं भासमानत्वेऽप्यपरामर्शरूपं, तदेव कारणत्वेन प्रकृतं यस्य स पूर्णत्वाख्यातिमात्रतत्त्वः 'पुरुष' इत्युच्यते। अत एवानेकस्तत्तद्देहप्राणबुद्धिविशेषेण सङ्कोचग्रहणात् स च पुमान् भोक्ता सम्बन्धं भोगलक्षणमनुभवति, भोगश्च नाम तस्य यौ कल्पितौ क्रियानन्दौ, कल्पिता क्रिया दुःखं, रजो हि प्रकाशाप्रकाशचाञ्चल्यरूपं दुःखमुच्यते; प्रकाशरूपं च सत्त्वं सुखं; तमस्त्वप्रकाशरूपो मध्ये विश्रमः प्रलयस्थानीयः ॥ ३ ॥

ननु सृष्टावित्यनेन किं व्यवच्छेद्यं किं च संग्राह्यम् ? इत्याह—

स्वाङ्गरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
मायातृतीये ते एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ॥ ४ ॥

विश्वरूपस्य भगवतः स्वरूपभूत एव विश्वत्रयः प्रकाशो यश्च विमर्शः, ते तावज्ज्ञानक्रिये स्वरूपपरामर्शापरित्यागेनैव तु यद्भिन्नतयापि विमर्शनं स्वरूपपरामर्श एव विश्रान्तम् 'अहमिदम्'

बन्धन होगा ? इस आशङ्का को दूर करने के लिए कहते हैं—

अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से अनेक पुरुष मानने लगता है। उसकी सृष्टि में क्रिया और आनन्द है एवं सुख-दुःखात्मक भोग होता है ॥ ३ ॥

ठीक है, ईश्वर से भिन्न दूसरा तो कोई नहीं है और जो बन्धन से युक्त होता हो। परमार्थतः कोई भी बन्धन ग्रस्त नहीं है, चिद्रूप स्वतन्त्र ही एक शिव है केवल अपने से अनुत्तर परमस्वातन्त्र्यरूप जब अपने आपको संकोचरूप मानता है वही बन्धन है, उससे भिन्न दूसरा कोई बन्धन नहीं है। तब अपने पूर्ण स्वरूप का अज्ञान भासमान रहने पर भी अपरामर्शरूप रहता है, वही एक प्रकार से कारण बन जाता है उससे पूर्णता का ज्ञान नहीं होता जिस बजह से वह कहा जाता है। इसलिए देह, प्राण, बुद्धि आदि में विशेषरूप से संकोच हो जाने के कारण वह पुरुष भोक्ता भोग के सम्बन्धरूप का अनुभव करता है, [अत एव बद्ध कहा जाता है] और भोग नाम उसका है जो कल्पित क्रिया आनन्द है, [विमर्श और प्रकाशमय है] कल्पित क्रिया ही दुःख है; क्योंकि रजोगुण प्रकाश-अप्रकाश चाञ्चल्यरूप है इसलिए उसे दुःख कहा जाता है, सतोगुण प्रकाशरूप होने से सुखात्मक होता है, किन्तु तमोगुण अप्रकाशरूप मायामय होने से मध्य में प्रलय अवस्था जैसा रहता है अर्थात् गहन सुषुप्ति में तम अप्रकाशरूप रहता है ॥ ३ ॥

सृष्टि में भोग पदार्थ सुख-दुःखात्मक है तो फिर क्या छोड़ना और क्या ग्रहण करना ? इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं—

अपने अङ्गरूप भाव-पदार्थों में पशुपति की जो ज्ञान और क्रिया रहती है। पशु के लिए तीसरी माया के रहने पर वे ही सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण हो जाते हैं ॥ ४ ॥

विश्वरूप भगवान् के स्वरूपभूत ही ये तीनों ज्ञान, क्रिया और माया के प्रकाश हैं और जो विमर्श है, वह ज्ञान और क्रिया के स्वरूप परामर्श को न छोड़ने के कारण भिन्नरूप से भी

इति सदाशिवेश्वरपरमार्थं सा भगवतो मायाशक्तिः, ता एतास्तिस्रः शक्तयो भगवति नैसर्गिक्यो दृष्टाः। स्वरूपापरिज्ञाने तु भिन्नेषु भावेषु ज्ञानं, क्रिया, शुद्धमेव भिन्नत्वं प्रकाशविमर्शशून्यम्,—इति पशोः प्रकाशः प्रकाशाप्रकाशावप्रकाशश्च,—इति क्रमेण सुखदुःखमोपलक्षणानि प्रकाशक्रियानियमनशीलानि सत्त्वरजस्तमांसि ॥ ४ ॥

ननु चैवं सति यथा परमेश्वरस्य ज्ञानक्रियामाया अव्यतिरेकिण्यः शक्तयः,—इत्युच्यन्ते, तद्वत् पशोः सत्त्वरजस्तमांसि प्रसज्यन्ते, व्यतिरिक्तानि च तानि पुंस्तत्त्वाद्गण्यन्ते; तदेतत् कथम् ? इति संशयं शमयति—

भेदस्थितेः शक्तिमतः शक्तित्वं नापदिश्यते ।
एषां गुणानां करणकार्यत्वपरिणामिनाम् ॥ ५ ॥

सत्यम्, एवं स्यात् यदि भेदग्रहो न भवेत्, भेदव्यवहारस्त्वयं विचार्यते। तत्र च संकुचितस्वभावः पुरुषो, नास्य नैसर्गिकं भावविषयं प्रकाशनादिरूपं सर्वदा तत्प्रसङ्गात्, अपि त्वन्यसंबन्धकृतम्; ततश्च तस्मात् पशोः शक्तिमत्त्वेन शङ्क्यमानाद् भेदेन यत एतानि सत्त्वादीनि, ततः शक्तयो व्यतिरेकमुक्ता;—इति नोच्यन्ते किं तूपकरणत्वात् 'गुणा' इत्युच्यन्ते। ननु पुरुषात् किमिति ते भेदेनोच्यन्ते ?' उच्यते, सुखदुःखमोहपरिणामरूपमेतत्करणत्रयोदशकं कार्यदशकं च सुखादि-

विमर्श स्वरूपपरामर्श में ही विश्रान्त लेता है। 'अहमिदम्' मैं ही यह हूँ ऐसी वह भगवान् की माया-शक्ति है परमार्थतः सदाशिव एवं ईश्वररूप से कही जाती है। ज्ञान, क्रिया और माया ये तीनों शक्तियाँ भगवान् में स्वाभाविक देखी जाती हैं। स्वरूप के परिज्ञान न रहने पर तो भिन्न-भिन्न रूपों से पदार्थों में ज्ञान एवं क्रिया दिखायी देती है और प्रकाशविमर्श तो शुद्ध ही रह कर सब से भिन्न ही रहता है, पशु का प्रकाश तो प्रकाश और अप्रकाश तथा इन दोनों से मिला हुआ भी जो अप्रकाशरूप में रहता है, क्रमशः ये सुख-दुःख एवं मोहात्मक होते हैं। सतोगुण-रजोगुण-तमोगुण ये तीनों गुण सुख-दुःख ओर मोह स्वरूप हैं, सतोगुण का कार्य प्रकाश करना है, रजोगुण का कार्य विभिन्न कार्यों के करने में प्रवृत्तिशील रखता है और तमोगुण का कार्य कर्मशील व्यक्ति के कार्य में रुकावट डालकर प्रमादो बना देना है ॥ ४ ॥

अब शङ्का करते हैं कि जैसे परमेश्वर की ज्ञान, क्रिया और माया अभिन्न शक्तियाँ कही जाती हैं, उसी प्रकार पशु से सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण होते हैं और ये तीनों भिन्नरूप से पुरुष में रहतो हैं, इस प्रकार यह कैसे होगा ? इस संशय का समाधान करते हैं—

परमेश्वर में अभिन्नरूप से रहनेवाली ज्ञानादि शक्तियाँ पशु जीव में भेदपूर्वक रहती है ऐसा नहीं कह सकते हैं। त्रयोदशकरण एवं दशविधकार्यरूप इन गुणों के परिणामरूप से रहती हैं ॥ ५ ॥

आपका कहना ठीक है, ऐसा होगा यदि भेद ग्रह नहीं होता हो, तो ऐसा हो सकता है, इसलिए भेद व्यवहार का विचार करते हैं। पुरुष संकुचित स्वभाववाला है इस पुरुष का नैसर्गिक भाव विषय नहीं होता; क्योंकि वह स्वाभाविक होता तो सदा सर्वदा प्रकाशित हुआ करता, यह तो दूसरों के सम्बन्ध से होता है; इस कारण पशु की शक्तिमत्ता की शङ्का करके भेद से सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण होते हैं, इसलिए ये शक्तियाँ भिन्न हैं यह कहा जाता है; यद्यपि इन्हें भिन्न नहीं कहते हैं किन्तु उपकरण होने के कारण वे सतोगुण आदि इनके 'गुणाः' गुण हैं ऐसा कहते

स्वभावत्वेनानुभूयते,—इति सुखदुःखमोहाः कारणकार्यवर्गतादात्म्यवृत्तयो यदि पुरुषव्यापि तादात्म्यं भजेरन् तर्हि पुरुषः कार्यकरणपर्यन्तसृष्टिमयः संपन्नः, परिणामश्च दूषितः,—इति स्वातन्त्र्यशक्त्या पुरुषो विश्वरूपः, इत्यायातम्। तथा च—न कश्चित् पुरुष ईश्वर एव, तस्मात् अप्रत्यभिज्ञानमयपुरुषस्वरूपविचारे सत्त्वादयो भिन्ना एव,—इति स्थितम् ॥ ५ ॥

ननु ज्ञानादीनि कथं सत्त्वादिरूपाणि पशुं प्रति ? इत्याह—

सत्तानन्दः क्रिया पत्युस्तदभावोऽपि सा पशोः ।
द्वयात्मा तद्रजो दुःखं श्लेषि सत्त्वतमोमयम् ॥ ६ ॥

इह तावत् पतिर्विश्वस्यावभासमानवैचित्र्यलक्षणेन सृष्ट्यादिना पालयिता स्वप्रकाशस्वभावः, तस्य विश्वपतेर्या सत्ता भवनकर्तृता स्फुरत्तारूपा पूर्वं व्याख्याता 'सा स्फुरत्ता महासत्ता' (ई० प्र० १।५।१४) इत्यत्र, सैव प्रकाशस्य विमर्शाव्यतिरेकात् विमर्शात्मकचमत्काररूपा सती क्रिया-शक्तिरुच्यते, परोन्मुख्यत्यागेन स्वात्मविश्रान्तिरूपत्वाच्च सैन आनन्दः; तदेवं भगवतश्चिदात्मतयै-वेयद्रूपता। पशोस्तु सत्ता तदभावश्च आनन्दश्च तदभावश्च संकुचिततद्रूपत्वात्; तेन योऽसौ सत्ता-नन्दभागस्तत्प्रकाशसुखवृत्ति सत्त्वं, यस्तदभावस्तदावरणमोहरूपं तमः, एते च ते सत्त्वतमसी

हैं। अच्छा तो, पुरुष से इन सबका भेद क्यों किया जाता है ? उत्तर में कहते हैं कि सुख, दुःख और मोह के परिणाम होकर त्रयोदश करण हो जाते हैं और दश कार्य हो जाते हैं और सुख दुःखादि का स्वभाविक अनुभव होता है, सुख, दुःख और मोह ये करण कार्य वर्ग से तादात्म्यरूप होकर पुरुष में व्याप्त अर्थात् पुरुष से अभिन्नता सम्पादन करके उससे भी तादात्म्य प्राप्त कर लेते हैं, इसी से पुरुष कार्य-करण पर्यन्त सृष्टिमय होकर सम्पन्न हो जाता है और इसके परिणाम को दूषित करते हैं, इस प्रकार स्वातन्त्र्य-शक्ति से पुरुष विश्वरूप बन जाता है, यही निष्कर्ष निकलता है। इसलिए कोई पुरुष नहीं है सब ईश्वर ही है, जब तक प्रत्यभिज्ञा नहीं होती है इसलिए प्रत्यभिज्ञा से शून्य पुरुष के स्वरूप का विचार-विमर्श करने पर ये सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण भिन्न-भिन्न ही प्रतीत होते हैं, यही स्थिर अर्थ है ॥ ५ ॥

अच्छा तो, पशु जीव के लिए ये सत्त्वादि ज्ञान कैसे होते हैं ? इस पर कहते हैं—

पशुपति की सत्ता आनन्द एवं क्रिया है उससे रहित होकर पशु के लिए वह रजोगुण होकर दुःखरूप हो जाता है ओर सतोगुण एवं तमोगुण मिल कर सुख-दुःख-मोहरूप हो जाता है ॥ ६ ॥

ईश्वर विश्व को विचित्र प्रकार से अवभासित करके सृष्टि-स्थिति और अपने विलयादि कार्य प्रपञ्च करते हैं, उसमें ईश्वर का स्वप्रकाशरूप रहता है, उस विश्वपति की सत्ता है 'सा स्फुरत्ता महासत्ता' जो भवनकर्तृता स्फुरत्तारूपा पूर्व में बता दी है वही विमर्श से अभिन्न होकर विमर्शात्मक चमत्कारवाली क्रिया-शक्ति कही जाती है, जब अन्य की उन्मुखता का त्याग कर और अपने में विश्राम कर लेती है तब वही आनन्द कहा जाता है; भगवान् चिद्रूप से इतने परिणाम की प्राप्ति कर लेते हैं। पशुजीव में तो सत्ता और उसका अभाव रहता है, आनन्द और उसका अभाव रहता है उस जीव पशु के संकुचितरूप होने के कारण; इसलिए यह सत्ता एवं आनन्द भाग है उसका प्रकांश सुखवृत्ति सतोगुण है, उन दोनों का अभाव और उसका जो आवरण करनेवाला मोहरूप तमोगुण है, ये दोनों सतोगुण और तमोगुण नील और अनील के जैसा यद्यपि

नीलानीलवत् परस्परपरिहारेण यद्यपि वर्तेते कार्यत्वकारणत्ववत् तथापि एकपरामर्शगोचरी-कार्यधर्मापेक्षया चित्रपतङ्गसंगतनीलानीलात्मकरूपन्यायेनान्योन्यमिश्रतयापि भातः, अतो योऽयं 'द्वयात्मा' मिश्रस्वभावः तद्रजोगुणः, अत एव प्रकाशाप्रकाशस्वरूपयोः सत्त्वतमसोरत्र श्लेषेणाव-स्थानम्,—इति दुःखत्वम्; प्रियपुत्रादेरेकघन एव हि प्रकाशः सुखम्; एकघन एवाप्रकाशो मोहः। यस्तु कथञ्चित्प्रकाशो यथा सव्याधिकदेहरूपतयानभिमतया, कथञ्चिच्चाप्रकाशो यथा गतगद-कल्यणधर्मयोगितयाभिमतया तदेव दुःखत्वम्; अयमेव च पूर्वापरीभावसारः क्रिया परमार्थः अत्रानुभयरूपत्वं तु नास्ति, प्रतीतौ कस्यांचित् कल्पिताकल्पितरूपायामननुप्रवेशात् तस्य। तथा हि—नीलं तावदकल्पितरूपायां धियि भाति; नीलाभावस्तु तुच्छोऽपि कल्पनाकल्पित आभास-मानत्वात् तावद्व्यवहारपरमार्थः, तदुभयव्यामिश्रणात्तु नीलानीलं भातु नाम; यत्त्वनुभयरूपं तन्नीलप्रतीत्या तावदकल्पितया न विषयीकृतं चेत् तत् कल्पितामनीलधियमनुधावेत्; अथ तां कल्पितां धियं नाविशत्यकल्पितया विषयीकृतं नीलमेव स्यात्,—इति न पशोश्चतुर्थोऽस्ति गुणः। अपिश्चार्थे, पशोः सा सत्ता सत्त्वं, तदभावस्तमो, द्वयात्मा रजश्च,—इति संबन्धः ॥ ६ ॥

एवं तावत् पतिपशुरूपं प्रमातृतत्त्वं संक्षेपेण निर्णीतम्; अथ प्रमेयतत्त्वं निर्णेतुं पत्यौ तावत् 'इत्थमिदं प्रमेयतत्त्वम्' इति निर्णेतुमाह—

येऽप्यसामयिकेदन्तापरामर्शभुवः प्रभोः।
ते विमिश्रा विभिन्नाश्च तथा चित्रावभासिनः ॥ ७ ॥

परस्पर परिहाररूप से कार्य-कारणभाव बन कर रहते हैं, तो भी एकविषयक परामर्श करनेवाले धर्म की अपेक्षा से 'चित्रपतङ्गसंगतनीलानीलात्मकन्यायेन' परस्पर संमिलित होकर एक परामर्श बलात् भासते हैं, जो यह 'द्वयातमा' द्वित्वभाव से संमिलित स्वभाव है वही रजोगुण है, इसलिए प्रकाश और अप्रकाशरूप दोनों सतोगुण और तमोगुण में मिश्रित होकर रहना दुःख कहलाता है, प्रिय पुत्रादि के साथ एकघन ही आनन्द सुख है और एकघन प्रकाश का अप्रकाश होना मोह है। जो कि किसी प्रकार प्रकाशित रहता है। जैसा कि व्याधि रोग से सहित देह में कभी-कभी अनभिमत प्रकाश रहता है वह अभिमत रोग के औषध से युक्त होकर दुःख कहा जाता है यही पूर्वोत्तर भावरूप परामर्श क्रिया कही जाती है। किन्तु इसमें दोनों का अभाव नहीं रहता है; क्योंकि किसी भी कल्पित एवं अकल्पित प्रतीति में इसका प्रवेश नहीं होता है। देखो—पहले नील अकल्पितरूप बुद्धि में भासना है; नील का अभाव यद्यपि तुच्छ है तो भी कल्पना से कल्पित होकर इसका व्यवहार परमार्थतः होता है, उन दोनों के व्यामिश्रण से नील और अनील भले भासित हो; किन्तु जो दोनों से भिन्न रूप में अकल्पित नील प्रतीति से विषयी न होकर वह कल्पित नील बुद्धि का पीछा करने से उस कल्पित बुद्धि में यदि प्रवेश न करेंगे तो वह विषयीकृत नील ही हो जाता है, इसलिए पशुजीव का कोई चतुर्थ गुण नहीं होता है। 'अपि' शब्द 'चकार' के अर्थ में है, पशुजीव की वह सत्ता सतोगुण से युक्त रहतो है, उसका अभाव तमोगुण है और दोनों का मिलना रजोगुण कहलाता है, यही इसका सम्बन्ध है ॥ ६ ॥

इस प्रकार ईश्वर पशुपतिरूप और पशुजीवरूप प्रमातृत्व का संक्षेप में निर्णय कर दिया गया। अब प्रमेयतत्त्व निर्णय करने के लिए पशुपति में 'इत्थमिदं प्रमेयतत्त्वम्' ऐसा ही यह प्रमेयतत्त्व है, इस का निर्णय करते हैं—

इहाभासा एव तावदर्थाः,—इत्युक्तं, ते च परामर्शैक्येन कदाचिन्मिश्रीक्रियन्ते यदा विशेषरूपता, कदाचिदमिश्रा एव परामृश्यन्ते यदा सामान्यरूपता, ते एते उभयात्मानोऽप्यसामयिकेनाकल्पितेनेदंभावेन सहजभेदपरामर्शरूपेणाङ्गुलिनिर्देशादिप्रख्येन गोचरीकार्याः प्रभोरपि न केवलं सद्योजातबालादेर्यावदीश्वरस्यापि, 'तथा' येन सामान्यविशेषप्रकारेण चित्रतयावभासन्ते। चित्रत्वं हि तयोः —यन्मिश्रत्वममिश्रत्वं च युगपदेकाहन्ताविश्रान्तं भाति,—इति ईश्वरदशायां भावोल्लासनान्तरीयकत्वेन संवित्संकोचरूपं निषेध्यानुपरक्तनञर्थमात्ररूपं शून्यं संवित्प्रकाशेनैव प्रकाशमानमहन्तानिषेधरूपामसामयिकीमिदन्तामुल्लासयति ॥ ७ ॥

एवं तावदीश्वररूपस्य पत्युरित्थं प्रमेयतत्त्वं, परमशिवे तु भगवति प्रमेयकथैव कथमुत्तिष्ठति, प्रमेयकथोत्थापकत्वमेव भगवतः सदाशिवेश्वरत्वम्; अतोऽधुना पशुं प्रति कीदृक् प्रमेयस्य वृत्तान्तः,—इति सन्देहमपोहति श्लोकत्रयेण—

ते तु भिन्नावभासार्थाः प्रकल्प्याः प्रत्यगात्मनः।
तत्तद्विभिन्नसंज्ञाभिः स्मृत्युत्प्रेक्षादिगोचरे ॥ ८ ॥
तस्यासाधारणी सृष्टिरीशसृष्ट्युपजीविनी।
सैषाप्यज्ञतया सत्यैवेशशक्त्या तदात्मनः ॥ ९ ॥

ये जो प्रभु की असामयिक इदन्तांश का परामर्श स्थानीय आभास हैं। वे मिश्रित और भिन्न-भिन्न हैं तथा चित्र विचित्र आभासवाले होते हैं ॥ ७ ॥

इस शास्त्र में आभासों को ही अर्थ कहा जाता है, उनको परामर्श की एकता से कभी मिला दिये जाते हैं जब उसमें विशेषता आ जाती है और कभी पृथक् होकर भिन्नरूप में परामृष्ट होते हैं जब सामान्यरूपता रहती है, तब ये दोनों असामयिक कल्पित इदंभाव स्वाभाविक भेद परामर्शरूप से अङ्गुलि द्वारा निर्देश किये हुए के जैसा इन्द्रियों के विषय किये जाते हैं यह केवल ईश्वर को नहीं होता है अपि तु सद्योजत बालक को भी सामान्य विशेषरूप से चित्र-विचित्र होकर भासते हैं; क्योंकि उनकी विचित्रता मिश्रत्व और अमिश्रत्व रूप से एक साथ अहन्ता में विश्रान्त होती है, इसलिए ईश्वर दशा में उसका अवश्य उल्लास होने के कारण ज्ञान का संकुचितरूप निषेध से मिला हुआ नञर्थ शून्य ज्ञान प्रकाशित होता है वह ज्ञानप्रकाश अहन्ता के निषेधरूप असामयिक इदन्ता को उल्लासित करता है ॥ ७ ॥

ऐसा ही ईश्वररूप पशुपति का प्रमेयतत्त्व है, भगवान् परम शिव में प्रमेयता का होना नहीं घटता है, प्रमेयता तो सदाशिव और ईश्वर पर्यन्त ही रहती है; इसके आगे पशुजीव में कैसी प्रमेयता होती है यह बतायेंगे, तीन श्लोकों से इस सन्देह को दूर करते हैं—

जीवात्मा के लिए भिन्न-भिन्न अवभासवाले पदार्थं कल्पित होते हैं। स्मृति, उत्प्रेक्षा आदि के विषय में उन उन विभिन्न संज्ञाओं से उनका कथन होता है ॥ ८ ॥

उस पशुजीव की असाधारण सृष्टि ईश्वर की सृष्टि का आधार लेकर होती है। वह भी अज्ञरूप से सत्य ही ईश्वर की शक्ति द्वारा तद्रूप होकर भासती है ॥ ९ ॥

स्वविश्रान्त्युपरोधायाचलया प्राणरूपया ।
विकल्पक्रियया तत्तद्वर्णवैचित्र्यरूपया ॥ १० ॥

तुर्विशेषं द्योतयति प्रत्यगात्मनस्तु इत्थं प्रमेयरूपा अर्था, न त्वीश्वरवदुक्तनयेनेति । 'भिन्न' इति मिश्रामिश्रतया भिद्यमान आभासो येषामर्थानां ते विशेषसामान्यात्मानोऽर्थाः प्रत्यगात्मनः प्रतिपुरुषमविमिश्रस्वसंवेदनावगमरूपस्यासंकोर्णाहंप्रकाशात्मनः प्रकल्प्या विकल्पनीयाः, प्रतिप्राणि स्ववासनानुसारेण विभिन्नाभिः संज्ञाभिः 'प्रियोऽयं शत्रुरयम्' इत्यादिकाभिर्भावनाविशेषानुसारेण तत्तद्विचित्रसुखदुःखाद्युपयुक्ताभिः स्मरणे उत्प्रेक्षणे संकल्पनेऽन्यत्रान्यत्र च विकल्पयोगे । एतदुक्तं भवति—ईश्वरस्य विकल्पात्मकतामन्तरेण शुद्धविमर्शविषयीभाव्या अर्थाः, पशोस्त्वन्योन्यापोहन हेवाकिनि विकल्पे समारूढातेऽर्था भवन्ति, सांसारिकहानादानादिव्यवहारोपयोगात् इति । नन्व-विकल्प्यत्वे यावानेवार्थस्तावानेव यदि विकल्प्यत्वे तत्को विशेषः प्रमेयस्य पतिपशुरूपतायाम्, ? उच्यते, तस्येति पशुकर्तृका सृष्टिस्तेषामर्थानामीश्वरसृष्टानामुपरिवर्तिनो, अत एव तामीश्वर-सृष्टिमुपजीवन्ती असाधारणी प्रतिप्रमातृनियता । तद्यथा 'इदं हृद्यम्' इति येन सृष्टं तत् तस्यैव तदा नान्यस्य । ननु यदि पशोरपि सृष्टिशक्तिरस्ति तर्हीश्वर एव; सत्यम्, ईश्वर एवासौ । नन्वेवं साधारणत्वं कस्मात् सृष्टेर्न भवति ?; भवेत् यदि स्वशक्तिं परिजानीयात्, यावता सा तस्यापरि-

अपने में विश्रान्त होनेवाली विश्राम के उपरोध के लिए अचल प्राणरूप से, विकल्प क्रिया से, उन उन वर्णों में विचित्ररूप से रहती है ॥ १० ॥

'तु' शब्द विशेषता को द्योतित करता है । जीवात्मा का ऐसा ही प्रमेयरूप अर्थ होता है, उक्त नीति से ईश्वर के समान नहीं होता । 'भिन्नः' मिला हुआ अर्थात् भेद एवं अभेदरूप से भिन्न भिन्न जो आभास हैं वे ही विशेष और सामान्यरूप होकर जीवात्मा के पदार्थ होते हैं जो कि प्रतिपुरुष भिन्न भिन्न अपने संवेदन के अनुरूप असंकीर्ण अहं प्रकाशरूप से कल्पित होते हैं और प्रतिप्राणी अपनी वासना के अनुसार विभिन्न विभिन्न संज्ञाओं से 'प्रियोऽयं शत्रुरयम्' अर्थात् 'यह प्रिय है, यह शत्रु है' इत्यादि भावना विशेष के अनुसार विचित्र सुख-दुःखादि के स्मरण करने पर अथवा उत्प्रेक्षा करने पर अथवा संकल्प करने पर दूसरी दूसरी जगह विकल्पना से योग्य होने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर की विकल्परूपता को अन्तःकरण में शुद्ध विमर्श के विषय बनाने पर ईश्वर के ही पदार्थ हो जाते हैं, पशुजीव का तो परस्पर अपोहन को नहीं छोड़नेवाले विकल्प में आरूढ होकर जो पदार्थ भासते हैं, सांसारिक ग्रहण और त्याग इत्यादि व्यवहार के योग से पदार्थ कहलाते हैं ।

इस पर शङ्का होती है कि यदि अविकल्प में जितने भी अर्थ रहते हैं उतने ही अर्थ यदि विकल्प में भी हो तो फिर क्या विशेषता हुई, पशुपति के प्रमेय में और पशुजीव के प्रमेय में भेद क्या हुआ ? इसका उत्तर देते हैं, 'तस्यासाधारणेति' पशुजीव कर्तृक सृष्टि ईश्वर से सृष्ट पदार्थों में जो इसके ऊपर रहते हैं, इसीलिए इसी ईश्वर सृष्टि का आधार मान करके जीव प्रमाता को असाधारणी सृष्टि होती है । इसीलिए कहा गया है कि 'इदं हृद्यं' इस मनोहर संसार को जिसने बनाया है उसी की यह शक्ति है, किसी अन्य की नहीं है । अच्छा तो, अब कहो कि पशुजीव में में भी यदि सृष्टि करने की शक्ति है, तो वह भी ईश्वर हो गया; आपका कहना ठीक ही है, ईश्वररूप ही जीव है । अच्छा तो, इस प्रकार ईश्वर सृष्टि के समान साधारण क्यों न हो जाय ?

ज्ञाता परवशस्यैव सतो विकल्पक्रिया विकल्पनशक्तिरुदेति । ननु केन सा तस्योत्थाप्यते ?; आह— ईश्वरस्य परामर्शरूपतया शब्दराशिलक्षणस्य या शक्तिः स्वरूपविश्रान्तिलक्षणपारमैश्वर्योपरोध-प्रयोजना ब्राह्म्यादिदेवताचक्रमयी तैस्तैः ककारादिवर्णवैचित्र्यैर्विचित्रा, तया यासौ विकल्पक्रिया तस्य पशोरेकत्र निरूढ्यभावात् चञ्चला तेन 'मित्रमयं शत्रुरयम्' इत्यादिवर्णवैचित्र्यानुविद्धतया विकल्पनक्रियया तदात्मन ईश्वरस्वभास्यैव पशोरसाधारणी सृष्टिः, 'पञ्चवक्त्रश्चतुर्दन्तो हस्ती नभसि धावति ।' इत्यपि विमिश्रतया विकल्प सृष्टिः, तानाभासान् ईश्वरसृष्टानेवोपजीवति,—इति सर्वा पाशवी प्रत्ययसृष्टिरीश्वरसृष्ट्युपजीविनीत्युक्तम् ॥ ८-९-१० ॥

नन्वेवं यदि पाशवी सृष्टिः संसाररूपा तर्हि पारमेश्वरी सृष्टिः पशोः किं कुर्यात् ? इति निर्णीयते—

साधारणोऽन्यथा चैशः सर्गः स्पष्टावभासनात् ।
विकल्पहानेनैकाग्र्यात्　क्रमेणेश्वरतापदम् ॥ ११ ॥

ऐश्वरः सर्गो द्विधा, साधारणश्च घटादिरसाधारणश्च 'अन्यथा' इति निर्दिष्टो द्विचन्द्रादिः; तस्य च सामान्यलक्षणं स्पष्टावभासनं नाम । सोऽयं सर्गो यदा विकल्पहानक्रमेण तस्मिन्निर्विकल्पक-

उत्तर में कहते हैं कि यदि अपनी शक्ति को जानेंगे तो निश्चित हो सकता है जब तक वह शक्ति पशुजीव को ज्ञान नहीं है तब तक वह परवश रहता है और तब तक ही विकल्प क्रिया, विकल्प-शक्ति उदय होती रहती है। शङ्का होती है कि वह किससे उठती है ? उत्तर में कहते हैं कि ईश्वर की शब्दराशिरूप परामर्श करनेवाली जो शक्ति है अपने में विश्रान्त रहती है जब कि परम ऐश्वर्य का उपरोध करती है ब्राह्मी-शक्ति आदि देवता चक्र में अधिष्ठित ककारादि वर्णों की विचित्रता से विचित्र बनी हुई जो विकल्प है वही पशुजीव में एक जगह एकत्र होकर बढे हुए प्राण एवं अपान आदि संमिश्रण से चंचल हुई यह मित्र है यह शत्रु है इत्यादि वर्णों की विचित्रता से मिले रहने के कारण विकल्पन क्रिया के द्वारा तादात्म्यरूप ईश्वर भाव को प्राप्त हुए पशुजीव की ही असाधारणी सृष्टि कही जाती है।

'पाँच मुखवाला और चार दातोंवाला हाथी आकाश में दौड़ता है।' यह विमिश्ररूप होने से विकल्प सृष्टि है, ईश्वर से बनाये गये उन्हीं आभासों का यह भी आधार रखती है, पशुजीव की अपनी भावना के अनुसार सृष्टि ईश्वर परमात्मा की सृष्टि का ही आधार लेकर होती है ऐसा कहा गया है ॥ ८-९-१० ॥

अच्छा तो, पाशवी सृष्टि संसाररूपा है तो फिर ईश्वर सम्बन्धी सृष्टि पशुजीव के लिए क्या उपकार करेंगी ? इसका निर्णय करते हैं।

स्पष्ट अभाव होने के कारण ईश्वर की सृष्टि साधारण होती है। विकल्प की हानि करके एकाग्रता के कारण क्रम से ईश्वर पद तक पहुँचा देती है यही ईश्वर सृष्टि का उसके लिए उपकार है ॥ ११ ॥

ईश्वर सम्बन्धी सृष्टि दो प्रकार की होती हैं, साधारणरूप से और घटादि असाधारण रूप से होती है नहीं तो, द्विचन्द्रादि का निर्देश तो ही है और ईश्वर सृष्टि का सामान्यरूप तो स्पष्ट ही सब के सामने भासता है। जब वह यह ईश्वर सृष्टि विकल्प की हानि के क्रम से उस पशु में निर्विकल्परूप से गृहीत होती है तब तो एक ही पदार्थ में एकाग्ररूप का अवलम्बन

परिगृहीत एव स्पष्टाभेऽर्थं एकाग्रत्वमवलम्ब्य 'अहमिदम्' इत्यैश्वर्यपरामर्शपदं भवति तदा अन्त-र्लक्ष्यबहिर्दृष्टिनिमेषोन्मेषपरिहारोपदेशदिशा 'क्रमेण' अभ्यासतारतम्येन पशोः पशुत्वं प्रतिहन्तीश्वरत्वं च दर्शयति। किं च योऽयं विकल्पसर्गः पाशव उक्तः सोऽपि यदि 'अन्यथा' इति पूर्वोक्त-रूपवैपरीत्येन परिज्ञातयेशशक्त्या परिज्ञाततादात्म्यस्य भवति तदा सोऽपि साधारण एवाप्यायना-भिरणशान्त्यादिविकल्प इव न्यस्तमन्त्रस्य भावितान्तःकरणस्य ॥ ११ ॥

एवं विकल्पनिर्ह्रासिन निर्विकल्परूपसात्मीभावे विश्वात्मसाक्षात्कारलक्षणः स्वप्रत्यय एव मोक्षो दर्शितः, अधुना विकल्पनिर्ह्रासाभावेऽपि तं दर्शयति—

सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता ॥ १२ ॥

नहि प्रत्यगात्मा नाम पशुः कश्चिदन्यो योऽहम्, अपि तु परिगृहीतग्राहकप्रकाशैकघनः परो यः स एवाहं स चाहमेव, न त्वन्य कश्चित्; अतो विकल्पसृष्टिरपि मम स्वातन्त्र्यलक्षणो विभवः,— इत्येवं विमर्शे दृढीभूते सत्यपरिक्षीणविकल्पोऽपि जीवन्नेव मुक्तः। यथोक्तम्—'शङ्कापि न विशङ्कचेत निःशङ्कत्वमिदं स्फुटम्।' इति ॥ १२ ॥

करके 'अहमिदम्' ऐसा परामर्श पद स्थान होता है, ऐसी अवस्था में अन्तर का लक्ष्य रहता है और बाहरी मात्र दृष्टि ही रहती है निमेष-उन्मेष से शून्य होकर विशेष अभ्यास के क्रम से पशु की पशुता दूर करती जाती है और ईश्वरता को उभारती जाती है और जो यह पशुओं की विकल्प सृष्टि बतायी है वह भी पूर्वोक्तरूप से विपरीत होकर ईश्वर-शक्ति का ज्ञान होने पर उनसे तादात्म्य प्राप्त कर तब वह भी साधारणरूप से आप्यायन, अभिचरन, शान्ति आदि विकल्पों के समान मन्त्र को छोड़कर भावित ईश्वरमय अपने को माननेवालों का ही होता है ॥ ११ ॥

इस प्रकार विकल्प ह्रास करके निर्विकल्प के आत्मसात् कर लेने पर विश्वमय आत्मा का साक्षात्कार कर लेना; क्योंकि अपना ज्ञान ही मोक्ष दिखाया है, अब तो विकल्प के निर्ह्रास न होने पर भी मोक्ष हो जाता है उसे दिखाते हैं—

यह सारा का सारा विश्व मेरा ही वैभव है ऐसा ज्ञान रखनेवाले विश्वात्मा में विकल्पों के उदय होने पर भी महेश्वर-भाव बना रहता है ॥ १२॥

जो मैं हूँ वह कोई दूसरा जीवरूप पशु नहीं है, ग्राह्य-ग्राहक भाव को ग्रहण करके एक प्रकाशमय होकर वह जो परमेश्वर है वही मैं हूँ और वही मैं हूँ, दूसरा कोई भी नहीं है; इसीलिए विकल्प सृष्टि भी मेरा ही वैभव है ऐसा विमर्श दृढ हो जाने पर विकल्प का निश्चयरूप से क्षीण हो जाने से जिते हुए ही मुक्त हो जाता है। जिसके विषय में कहा है 'इसमें शङ्का भी नहीं करनी चाहिए यह तो शङ्का से रहित स्पष्ट है' ॥ १२॥

१. अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषासौ भैरवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

लक्ष्य तो अन्तर में रहे, एवं दृष्टि बिना निमेष और उन्मेष की हो अर्थात् नेत्र का निरन्तर एक पलक गिराये-उठाये बिना देखते रहना चित्त के भीतर अनुप्रवेश के साथ सभी इन्द्रियों का बाहर की ओर प्रसारना यही भैरवी मुद्रा सब तन्त्रों में गुप्तरूप से कही हुई है।

नन्वेवं बद्धमुक्तयोः प्रमेयं प्रति को भेदः ?, उच्यते—

मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते ।
महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत् ॥ १३ ॥

श्रीमत्सदाशिवेश्वरपदादारभ्य क्रिमिपर्यन्तप्रमातृवर्गाधिष्ठातृ यदहमितिरूपं तदेवात्मतयाभिनिविशते मुक्तः; ततश्च विश्वस्यापि प्रमेयं ममापि, मम प्रमेयं विश्वस्यापि, प्रमेयं चेदं ममैवाङ्गभूतं प्रमेयान्तरमपि तथा,—इत्यनेन क्रमेण प्रमेयं परस्परतश्च प्रमातृवर्गाच्चाव्यावृत्तम्,-इत्येकरसाभेदविश्रान्तितत्त्वमस्य सर्वं परामर्शपदमुपैति । बद्धस्य तु सर्वमेतद्विपरीतम्,—इत्येकरसभेदविश्रान्त एवासौ ॥ १३ ॥

ननु सदाशिवेश्वरभुवि जीवन्मुक्तिपदे बद्धरूपपशुप्रमातृविषये च प्रमेयवृत्तान्तः परीक्षितः, परमशिवे तु कथमसौ ? इत्याशङ्क्याह—

सर्वथा त्वन्तरालीनानन्ततत्त्वौघनिर्भरः ।
शिवः चिदानन्दघनः परमाक्षरविग्रहः ॥ १४ ॥

न खलु भगवति श्री परमशिवे प्रमेयकथा काचिदस्ति, तत्त्वौघस्य सर्वथा तत्र चिद्रूपतामात्रविश्रान्तत्वेन लीनत्वात्; ततश्च सावस्था संवित्स्वभावेन स्वात्मविश्रान्त्यानन्देन अकृत्रिमनै-

अच्छा तो, बद्ध और मुक्त में प्रमेय के लिए क्या भेद रहेगा ? उत्तर में कहते हैं—

मुक्त पुरुष साधारण प्रमेय को अपने से अभिन्न मानता है। जैसा कि महेश्वर अत्यन्त भेद के समान उसे बद्ध मानता है ॥ १३ ॥

श्री सदाशिव ईश्वर से लेकर कीट-पतङ्ग पर्यन्त प्रमातृवर्ग के अधिष्ठाता जो अहं यह परामर्श है उसे मुक्त अपना स्वरूप समझता है; इसी कारण सारे विश्व का प्रमेय भी मेरा ही है और मेरा प्रमेय विश्व का प्रमेय है, यह सारा का सारा प्रमेय मेरा ही अंगरूप ही है उसीप्रकार दूसरे प्रमेय भी, इसी क्रम से प्रमेय और परस्पर प्रमातृवर्ग से भिन्न न होकर एकरस में अभेदरूप से विश्रान्ति लेता हुआ परामर्शपद को प्राप्त करता है। किन्तु बद्धपुरुष के लिए सब कुछ विपरीत होता है, इस प्रकार एकरस भेद में ही विश्राम हो जाता है ॥ १३ ॥

अब शङ्का करते हैं कि सदाशिव भूमि जो जीवन्मुक्तावस्था है उसमें बद्ध पशु प्रमाता के विषय में प्रमेय विषय की परीक्षा हो गयी, परन्तु यह भेद परम शिव के विषय में कैसे होंगे ? ऐसी आशङ्का कर कहते हैं—

विकल्प और अविकल्प भूमिका में जिसकी इन्द्रियाँ उद्‌बुद्ध हो चुकी है उस योगी का प्रमेय क्रम कह दिया गया और निमिलीत इन्द्रियवाले योगी का क्रम कैसा होता है उसको कहते हैं। सब प्रकार से अनन्त तत्त्व का समूह जिसमें छिपा रहता है। वही चिदानन्दघन परम अक्षर शरीरवाला शिवतत्त्व है ॥ १४ ॥

जो कि भगवान् परम शिव में कोई प्रमेय कथा नही रहती है, सारे के सारे तत्त्व समूह चिद्रूप में विश्रान्त हो जाने के कारण; इसी कारण संवित् ज्ञान स्वरूप से अपने आप में विश्रान्त होकर आनन्दरूप से अकृत्रिम स्वाभाविक और परामर्शस्वरूप आत्मचमत्काररूप से अनेक प्रकार

सर्गिकपरामर्शात्मकस्वात्मचमत्कारलक्षणेनैकघना अविच्छिन्नतद्रूपा परमाक्षरेण विग्रहवती भगवतो विश्वमयस्यानवच्छिन्नानुत्तरधाम्नो गलितप्रमेयकथा सर्वोत्तीर्णा व्यपदिश्यते ॥ १४ ॥

एवमधिकारचतुष्टयोक्तं यद्वस्तु तत्फलमाह—

एवमात्मानमेतस्य सम्यग्ज्ञानक्रिये तथा ।
जानन्यथेप्सितान्पश्यञ्जानाति च करोति च । १५ ॥

एवमिति, ईश्वररूपमात्मानं तस्य च स्वाव्यतिरिक्ते स्वातन्त्र्यमात्ररूपे ज्ञानक्रिये जानन् एवं-भूतोऽयमात्मा न तु काणादादिदर्शितः, इत्थं च ज्ञानक्रिये न तु तस्य व्यतिरिक्ते केचन,—इति परामृशन् यद्यदिच्छति तत्तज्जानाति करोति च समावेशाभ्यासपरोऽनेनैव शरीरेण; अतत्परस्तु सति देहे जीवन्मुक्तस्तत्पाते परमेश्वर एवेति ॥ १५ ॥

अस्यार्थस्य स्वप्रत्ययसिद्धस्यापि गुरुपरम्परोपदेश उपोद्बलको वाक्तव्यः, शास्त्रदृष्टिर्हि

के अविच्छिन्न तद्रूप होकर परम अक्षर विग्रह से विश्वरूप भगवान् शिव के अनवच्छिन्न अनुत्तर-धाम का रूप धारण कर लेता है—ऐसी अवस्था में प्रमेय कथा सब गलित हो जाती है ॥ १४ ॥

इस प्रकार चारों अधिकारों से जो बातें कही गयी हैं उसके फल को कहते हैं—

एवं अपने स्वरूप को और इसके ज्ञान और क्रिया को ठीक-ठीक जानता हुआ एवं अभीष्ट को देखता हुआ वैसा ही जानता है और करता है ॥ १५ ॥

अपने आप को ईश्वरस्वरूप मानता है और उस स्वरूप से अभिन्न स्वातन्त्र्यमात्र ज्ञान एवं क्रिया को जानते हुए ऐसा ही यह आत्मा है काणादादि दर्शन से दिखाया गया आत्मा नहीं है, इस प्रकार ज्ञान-क्रिया उससे भिन्न नहीं होता है ऐसा परामर्श करता हुआ जो जो चाहता है वह वह जानता है और करत. है इसी शरीर से समाधि का अभ्यास करता हुआ उसमें जबतक लीन नहीं होता तलतक देह रहते हुए जोवन्मुक्त कहलाता है देह के गिर जाने पर तो परमेश्वर रूप ही हो जाता है ॥ १५ ॥

इस ईश्वर प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का अर्थ अपने ज्ञान-अनुभव से सिद्ध होता हुआ भी गुरुपरम्परा क्रम से प्राप्त उपदेश, इसको पुष्ट करनेवाला अवश्य होगा, क्योंकि शास्त्र दृष्टि भी उन गुरुपरम्परा

---

१. ज्ञानाधिकार और क्रियाधिकार इन दोनों अधिकारों के द्वारा तथा उसी में तत्त्वार्थसंग्रहाधिकार के साथ अपने से प्रकाशित होनेवाले तत्त्व में भी युक्ति का बढावा देकर निरूपित किया हुआ अंश स्वतः पूरा हो जाता है, आगम अधिकार के माध्यम से यद्यपि उस अर्थ की पुष्टि हो ही जाती है तथापि शास्त्र से भो इस अंश को पूरा किया है—इस पर कहते हैं कि 'शास्त्रदृष्टिर्हीति' शिव दृष्टि शास्त्र में भी उस प्राचीन प्रसिद्ध गुरु परम्परा क्रम के अनुसार आगम के विषय को ही लेकर प्रायः तत्त्वों का प्रतिपादन किया हुआ है । अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण बीच-बीच में दिव्य अतिदिव्यादि सम्बन्ध को ठुकरा कर, केवल अपनी प्रतिभा के बल से पुस्तक की शरण में जाना तो विडम्बना ही कहलाती है इस अभिप्राय को लेकर कहते हैं—

पुस्तकाधीतविद्याश्च गुरुक्रमविवर्जिताः ।
आचरन्तो दिशन्तश्च पच्यन्ते नरके चिरम् ॥

दर्शितागमाधिकारेण; एवं गुरुतः शास्त्रतः स्वत एतद्दृढीकृतं भवति,—इत्यभिप्रायेण गुरुपारम्पर्यं दर्शयति—

इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो
महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।
तदत्र निदधत्पदं भुवनकर्तृतामात्मनो
विभाव्य शिवतामयोमनिशमाविशन् सिद्ध्यति ॥ १६ ॥

अस्मत्परमेष्ठिभट्टारकश्रीसोमानन्दपादैः शिवदृष्टिशास्त्रेऽयमभिनवः सर्वरहस्यशास्त्रान्तर्गतः सन्निगूढत्वादप्रसिद्धो बाह्यान्तरचर्याप्राणायामादिक्लेशप्रयासकलाविरहात् सुघटस्तावदुक्तः,

गत मार्ग से प्राप्त उपदेश के द्वारा आगम शास्त्र इत्यादि के सिद्धान्त ज्ञान को लेकर ही दिखायी गयी है, इस प्रकार गुरु से, शास्त्र से और अपने अनुभव ज्ञान से यह दृढ निश्चित किया हुआ इसमें अर्थ है, इस आशय से गुरु परम्परा क्रम का उपस्थापन करते हैं—

इस प्रकार मैंने [उत्पलदेव] ने यह सरल, नूतन मार्ग प्रकाशित किया है। जैसा श्री सोमानन्दपाद ने 'शिवदृष्टिशास्त्र' में प्रतिपादित किया था। इसलिए प्रमेय विषय में जो परामर्श पद का विश्राम कराता हुआ, अपने विश्वकर्तृत्वरूप ऐश्वर्य को देख कर, निरन्तर शिवमय स्वरूप में प्रवेश करता हुआ परम सिद्ध हो जाता है ॥ १६ ॥

हमारे परमेष्ठी गुरु श्री सोमानन्दपाद ने, जो अप्रसिद्ध शैवाद्वैत दर्शन था उसे लोक में 'शिवदृष्टिशास्त्र' नामक ग्रन्थ का निर्माण कर प्रचार-प्रसार किया, यह मार्ग अतीव सरल है समस्त बाह्य एवं आभ्यन्तर परिचर्या, प्राणायाम-अष्टांगयोग आदि, जो कि कायिक, मानसिक क्लेशों को देनेवाले हैं उन सब से रहित, एक सीधा सरल मार्ग 'शिवदृष्टिशास्त्र' में 'सर्वभूत-

---

यातनाराजराजानां ते भोक्तारो विनिन्दिताः।
तस्माद्गुरुक्रमायातं दिशन्नेति परं शिवम् ॥

गुरु परम्परा मार्ग से रहित, जिन्होंने मात्र पुस्तकों की शरण लेकर विद्या पढ़ी हैं वे बड़ी से बड़ी यातनाओं को नरक में बहुत काल तक भोगते हैं क्यों? उनके द्वारा किया गया आचरण एवं उपदेशादि शास्त्र से विरुद्ध है। इसलिए गुरु परम्परा से आया हुआ उपदेश अधिन्यस्त करते हुए परम शिव को प्राप्त कर लेते हैं।

इसी कारण गुरु से तृतीय अंश पूरा करना चाहिए। इसका किरण संहिता में भी विवेचन किया गया है 'स्वतोऽपि गुरुतः शास्त्राद्विमर्शस्त्रिविधः स्मृतः।' गुरु से, शास्त्र से और अपने आप से भी, इन तीन प्रकार से विमर्श का होना कहा गया है।

१. जब कि प्रत्यभिज्ञा कर लेने मात्र से ही आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है; इससे फिर यम-नियम-आसन प्राणायाम-प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधि इत्यादि के द्वारा होनेवाले योग में क्लेशों का जो सहना है; अर्थात् इन सबों को सहना और सह कर भी जिसका उपयोग आत्मविश्रान्ति के लिए सिद्ध नहीं होता है तो उसे करना व्यर्थ ही सिद्ध होता है। ठीक ही है, इन सबों का अनुपयोग ही दिखाई देता है; क्योंकि

स एवात्र प्रकटतां परवादकलङ्कशङ्कापसारेण नीतः, यत एवं शास्त्रगुरुस्वप्रत्ययसिद्धोऽयमर्थः, तदिति तस्मादत्र प्रमेये पदं परामर्शं विश्रमयन् विश्वकर्तृत्वलक्षणमैश्वर्यमात्मनो विभाव्य दार्ढ्येन यदा परामृशति तर्हि तत्परामर्शमात्रादेव तावज्जीवन्मुक्तो भगवाञ्शिव एव। यथोक्तं परमेष्ठिपादैः —

'ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा॥
सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावनाकरणादिना।
सर्वथा पितृमात्रादितुल्यदार्ढ्येन सत्यता॥' (शि. दृ.)

हिताय' बताया है, वही इस प्रत्यभिज्ञा में लाया गया है जो कि प्रतिवादी के द्वारा दिये गये आक्षेप-प्रत्याक्षेपरूप दोष-कलङ्क को युक्तिपूर्वक खण्डन कर अपने सिद्धान्त को इसमें प्रमाण के साथ स्थिर किया गया है। जब कि ऐसा ही अर्थ गुरु, शास्त्र एवं अपने अनुभव ज्ञान के बल से सिद्ध होता है, 'तदिति' इसलिए इस प्रमेय संवेद्य में परामर्शपद की विश्रान्ति कराता हुआ अपने भुवनकर्तृत्वरूप परम ऐश्वर्य देख कर, जब दृढ-निश्चय के साथ प्रत्यवमर्श करता है तब उस परामर्श मात्र से ही जीवन्मुक्त अवस्था में पहुँचता हुआ भगवान् शिवमय हो जाता है। शिवदृष्टि शास्त्र में श्री सोमानन्दपाद ने इसका उल्लेख किया है—

प्रमाण, शास्त्र अथवा गुरु वाक्य से एक बार दृढ प्रतिपत्तिपूर्वक ज्ञान हो जाने पर कि यह सारा का सारा प्रपञ्चजाल शिवमय है—ऐसा दृढ बोध हो जाने से इन्द्रियों के द्वारा कोई कृत्य ही नहीं रह जाता है। जैसे सुवर्ण की परीक्षा में स्वर्ण सिद्ध हो जाता है तो फिर आगे घीसना, अग्नि में डाल कर तपाना आदि तमाम क्रियाएँ करनी नहीं रह जाती; माता-पिता के विषय में भली-भाँति बोध हो जाने पर उसे सिद्ध करने के लिए क्या दूसरे प्रमाणों की आवश्यकता समझी जाती है ? यह तो जन्मना सिद्ध है कि ये हमारे माता-पिता आदि स्वजन लोग हैं।

प्रत्यभिज्ञाशास्त्रवाला बड़ा ही सरल मार्ग साधक के लिए पड़ेगा।

स्फुटोपायमनायाससमनारम्भं महाफलम्।
श्रोतुमिच्छामि देवेश योगं योगविदां वर॥

हे देवेश ! जो प्रत्यक्ष उपायवाला अनायास-सहज आरम्भ किया हुआ महाफल देता है। मैं योगवेत्ताओं के परम योग को सुनना चाहती हूँ।

प्राणायामादिकैरङ्गैर्योगाः स्युः कृत्रिमायतः।
तेन नाकृतकस्यास्य कलामर्हन्ति षोडशीम्॥

क्योंकि प्राणायाम-ध्यान-धारणा इत्यादि, अष्टाङ्ग योग के द्वारा होनेवाले सभी योग कृत्रिम होते हैं। इसलिए इस परम शिवरूप अकृत्रिम योग की सोलहवीं कला को भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं।

यद्यपि इसका उल्लेख रहस्य-आगमों में निरूपित किया गया है तथापि सुस्पष्टतया स्पष्टीकरण नहीं हुआ है किन्तु भीतर किये हुए के ही विषय में कहा गया है—'गर्भः अख्यातिर्महामाया तत्र तदात्मके मितसिद्धिप्रपञ्चे यश्चित्तस्य विकासः तावन्मात्रे प्रपञ्चे संतोषः असावेव.........किञ्चिज्ज्ञत्वरूपा अशुद्धविद्या................विकल्पात्मा क्रमः। शिव सूत्रवि०।

समस्त योग सिद्धियाँ मायीय उपराजों से उपरञ्जित होने के कारण निम्न श्रेणी की ओर हेय

इत्यादि। तां विभाव्य यद्यनिशमाविशति शरीरप्राणबुद्धिशून्येभ्योऽन्यतमं द्वयं सर्वं वा तत्रैव निमज्जयति, अनवरतं तत्तां तां विभूतिं परविभूतिपर्यन्तां लभते। ननु यद्यात्माख्यं वस्तु तदेव तर्हि तस्य प्रत्यभिज्ञानाप्रत्यभिज्ञानयोरविशेषः, नहि बीजमप्रत्यभिज्ञातं सति सहकारिसाकल्ये नाङ्कुरं जनयति, तत् क आत्मप्रत्यभिज्ञाने निर्बन्धः ?; उच्यते,—द्विविधार्थक्रियास्ति बाह्या चाङ्कुरादिका प्रमातृविश्रान्तिचमत्कारसारा च प्रीत्यादिरूपा, तत्राद्या सत्यं प्रत्यभिज्ञानं नापेक्षते, द्वितीया तु तदपेक्षते एव; इह च 'अहं महेश्वर' इत्येवंभूतचमत्कारसारा परापरसिद्धिलक्षणा जीवन्मुक्तिविभूतियोगमय्यर्थक्रिया,—इतीश्वरप्रत्यभिज्ञानमत्रावश्यापेक्षणीयम् ॥ १६ ॥

उस विश्वकर्तृत्वरूप ऐश्वर्य को देख कर, जो निरन्तर उसमें समाहित या आविष्ट अपने आपको किया करता है, शरीर, प्राण, बुद्धि और शून्यादि से या इन्हीं में से किसी एक से, व दो से, अथवा सब से उस चिद्रूप में डूब जाता है, ऐसे योगी चिद्रूप में निरन्तर आविष्ट रहने के कारण उन-उन विभूति को प्राप्त करते हुए आत्म-विश्रान्तिरूप विभूति तक पहुँच जाते हैं।

अब शङ्का होती है कि यदि आत्मा परम स्वातन्त्र्यरूप है तो उसका प्रत्यभिज्ञान करना और न करना, इसमें कोई अन्तर तो नहीं पड़नेवाला है जब कोई अन्तर ही नहीं पड़ना है तो व्यर्थ का प्रयास क्यों मोल लेगा ? बोज प्रत्यभिज्ञान न होने पर भी सहकारी साकल्य के साथ संयुक्त हो जाने से क्या अङ्कुर उत्पन्न नहीं करता है, तब फिर आत्मा के प्रत्यभिज्ञान करने में कौन सी रुकावट है ? इसके समाधान में उत्तर देते हैं,—अर्थक्रिया दो प्रकार की होती है एक तो बाह्य, जो अङ्कुरादिरूप से रहती है और दूसरी प्रमातृ-विश्रान्तिरूप चमत्कार सारयुक्त प्रीत्यादिरूप है। ठीक ही है, इसमें जो पहली अर्थक्रिया बाह्य है उसे तो प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा नहीं पड़ती है और प्रीत्यादिरूप आत्म-विश्रान्तिवाली जो द्वितीय अर्थक्रिया है उसे तो अपेक्षा रहती है; इस ईश्वरप्रत्यभिज्ञा शास्त्र में 'अहं महेश्वरः' मैं ही महेश्वर हूँ, यही आत्म-विश्रान्तिरूप, जीवन्मुक्ति देनेवाली अर्थक्रिया है—इसलिए इस में ईश्वर का प्रत्यभिज्ञान करना आवश्यक समझा जाता है ॥ १६ ॥

समझी जाती है। इसका स्वरूप प्रायः मूढलोगों में होनेवाली अल्पतारूप बुद्धि के समान ही रहता है बल्कि इससे बढ-चढकर ही है। इसलिए ये सारी की सारी सिद्धियाँ अल्पकाल में सिद्ध होकर हस्तगत भी हो जाती हैं और बाजीगर की बाजी-मायाजाल के समान विनष्ट भी शीघ्र हो जाती हैं। ये अल्प फल देनेवाली सिद्धियाँ योगिजन को अपने स्वरूप प्राप्ति से बहुत दूर खींचकर ले जाती हैं तथा आत्मविश्रान्ति के मार्ग से विमुख कर देती हैं।

न चैतदप्रसन्नेन शङ्करेणोपदिश्यते।
कथञ्चिदुपलब्धेऽपि वासना न प्रजायते ॥
वासनामात्रलाभेऽपि योऽप्रसत्तो न जायते।
तमनित्येषु भोगेषु योजयन्ति विनायकाः ॥

इस विषय में भगवान् शङ्कर कहते हैं कि अल्प भोगों में आसक्त-संसक्त अल्पज्ञ कभी तो प्रसन्नता के मारे फूल जाते हैं तो कभी-कभार शोकाग्नि में जल कर अपने मानस का संतुलन खो बैठते हैं ऐसे अल्पज्ञ कुछ मित-परिमित सिद्धियाँ अपने हस्तगत कर भी लेते हैं किन्तु वासना उत्तरोत्तर

ननु प्रमातृविश्रान्तिसारार्थक्रिया प्रत्यभिज्ञानेन विना न दृष्टा, सति तत्र दृष्टा,—इति क्वैतदुपलब्धम् ? इत्याशङ्क्याह—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः　स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ।। १७ ।।

अब प्रश्न उठता है कि प्रमातृ-विश्रान्तिरूप अर्थक्रिया प्रत्यभिज्ञान के बिना नहीं देखी गयी है, किन्तु अमुक स्थल में प्रत्यभिज्ञा रहने पर भी देखी गयी है,—यह कहाँ पर देखी गयी है ? इस आशङ्का के उत्तर में कहते हैं—

देवताओं की उन उन मनौतियों [प्रार्थना] करने से प्राप्त, तन्वी दमयन्ती के निकट में नल खड़ा भी है परन्तु यही नल है ऐसा दृढ-निश्चयात्मक ज्ञान न होने से अपने प्रियतम को जन साधारण के समान मान कर सन्तुष्टि नहीं प्राप्त कर सकी । उसी प्रकार यह अपना आत्मा स्वयं महेश्वर स्वरूप होता हुआ भी प्रत्यभिज्ञान न होने के कारण अपना निजी वैभव-ऐश्वर्य दिखाने के लिए समर्थ नहीं होता है, इसीलिए प्रत्यभिज्ञा दर्शन का निर्माण किया गया है ।। १७ ।।

संस्कार बाहुल्य से बढती ही जाती है, इसके क्षय होने के लिए साधना का अभाव होने के कारण वासना जँस की तँस रह जाती है । इसलिए विनायक अर्थात् दिव्य योगभूमिकाओं की अध्यक्षा दिव्य-शक्तियाँ होती हैं ये सभी सिद्धियाँ योगी के लिए बड़ा ही दुःखदायी परिणाम लाकर खड़ा कर देती हैं अर्थात् योगिजनों को पथभ्रष्ट करने के लिए प्रतिक्षण उद्यत रहती हैं ।

पातञ्जल योग का भी ठीक यही कहना है । ये दिव्यशक्तियाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा से संयुक्त कर, योगी की अन्तःकरण विशुद्धि को देख कर सांसारिक भोगों में फसाने का प्रलोभन देती रहती हैं—

हे आयुष्मान् ! ये सारे के सारे भोग्य-पदार्थ आपकी दिव्य साधना से उपलब्ध हो रहे हैं । ये सुर सी सुन्दरियाँ तथा संसार-सौरभ को बिखेरनेवाली सुन्दरतायें तुम्हें चाह रही हैं । ये आपके अङ्ग-प्रत्यङ्ग दिव्य आभा से झलक रहे हैं । ये जीर्णता एवं जरावस्था को दूर करनेवाले सुधारस स्वर्णपात्र में भरे पड़े हैं । अतः इसको स्वीकार किया जाय । योगी ने कहीं थोड़ी भी असावधानता रखी तो अपने पथ से च्युत हो गया एवं आत्मविश्रान्ति से विमुख हो गया समझो । क्योंकि 'प्रसह्यो चञ्चलीत्येव योगिनामपि यन्मनः । [स्व० तं०,] इसलिए महान् पुरुषों ने जिज्ञासु साधकों को सावधान करने के आशय से अनेक बार इस बात को दोहराया है—

यस्य ज्ञेयमयो भावः स्थिरः पूर्णः समन्ततः ।
मनो न चलते तस्य सर्वावस्थागतश्च तु ।।

जिस साधक का भाव चारों ओर से पूर्ण एवं स्थिर ज्ञेयमय हो चुका है वह कनक-कामिनि जैसे भोग विषय भी छोड़ देता है । वह फिर किसी भी अवस्था-विशेष में पड़े रहे किन्तु उसका मन डोलता नहीं है ।

यदा नायकगुणसंश्रवणप्रवृद्धानुरागा कामिनी तद्दर्शनमेव परमुपादेयमाकाङ्क्षन्ती दिवानिशमवशहृदया देवतोपयाचितानि दूतीसंप्रेषणानि मदनलेखकद्वारकात्मावस्थानिवेदनानि कुर्वाणा विरहक्षामीभवद्गात्रलतिका तिष्ठति, तदा तदुपयाचितवशादशङ्कितमेव सविधवर्तिनि प्रियतमेऽवलोकिते तैस्तैरुत्कर्षविशेषैः परामर्शपदवीमगच्छद्भिर्जनसाधारणतामापादिते संपन्नमपि तत्प्रियतमावलोकनं न हृदयं पूर्णीकरोति; तथा स्वात्मनि विश्वेश्वरे सततं निर्भासमानेऽपि तन्निर्भासनं न हृदयस्य पूर्णतामाधत्ते; यतः सोऽस्यात्मा विश्वज्ञत्वकर्तृत्वाद्यप्रतिहतस्वशक्तिलक्षणपारमेश्वर्योत्कर्षयोगेन न परामृष्टः,—इति भासमानघटादितुल्यवृत्तान्तो जातः। यदा तु दूतीवचनाद्वा तल्लक्षणाभिज्ञानाद्वोपायान्तराद्वा तानुत्कर्षान् हृदयङ्गमीकरणेनामृशति, तदा तत्क्षणमद्भुतफुल्लन्यायेनैव तावात् कामपि पूर्णतामभ्येति, परिभोगाभ्यासरसे तु विश्रान्त्यन्तराण्यपि लभते; तद्वदात्मनि गुरुवचनाज्ज्ञानक्रियालक्षशक्त्याभिज्ञानादेर्वा यदा पारमेश्वर्योत्कर्षहृदयङ्गमीभावो जायते, तदा तत्क्षणमेव पूर्णतात्मिका जीवन्मुक्तिः; समावेशाभ्यासरसे तु विभूतिलाभः,—इति तस्य प्रत्यभिज्ञैव परापरसिद्धिप्रदायिनी भवति ॥ १७ ॥

जिसका नायक के पराक्रम-शौर्यादि, गुण-गरिमा को सुनने मात्र से ही गाढ अनुराग-प्रेम बढ गया है कामिनी दमयन्ती उस नल के दर्शन करने की हृदय में अत्यधिक अभिलाषा रखती हुई, अहोरात्र उसकी प्राप्ति के विचार में डूब जाने के कारण अपने आपको भूल चुकी है। देवताओं से याचनायें करना, दूती के द्वारा अपने अनुराग राग में उपरञ्जित होने का प्रेम-पत्र भेजना और स्वप्न व एकान्त में नल का ही दृश्य देखना इत्यादि करती हुई विरह में शुष्क लता सी शरीरवाली होकर खड़ी है तो खड़ी ही रह जाती है एवं बैठी है तो बैठी हुई ही रह जाती है, तब कहीं उसकी याचना के कारण निःशंक ही प्राप्त नल समीप में खड़ा होता हुआ, अपने प्रियतम को देख लेने पर भी उन उन उत्कर्ष विशेषों के द्वारा परामर्शपदवी तक पहुँच जाती है, तो भी नल को साधारण मनुष्य के रूप में देखती है जिससे अपने प्रियतम का अनुराग हृदय में नहीं प्राप्त कर सकती है; उसी प्रकार विश्वेश्वर परम शिव अपने आत्मा में निरन्तर पूर्णरूप से निर्भासित होने पर भी उसका आभासित होना हृदय की पूर्णता को आप्लावित नहीं करता है; क्योंकि विश्वज्ञातृत्व, कर्तृत्व आदि, अप्रतिहत अपनी स्वातन्त्र्य-शक्तिरूप पारमेश्वर्य के उत्कर्ष सम्बन्ध से युक्त अपने आपको परामृष्ट नहीं करता है; इसीलिए प्रकाशित होनेवाले घटादि जड-पदार्थ के समान ही हो जाता है, जब तो दूती वचन से, अथवा उसके लक्षणज्ञान से और दूसरे उपाय से उन उत्कर्षों को हृदयङ्गमीकरण करती हुई परामृष्ट करती है, तब तो उसी क्षण 'अद्भुतफुल्ल' न्याय से सहसा हृदय में आंशिक पूर्णता प्राप्त कर लेती है, परन्तु परिभोग अवस्था की एक रसता में तो भिन्न हो विश्रान्ति उपलब्ब होती है; उसी प्रकार अपने आत्मा में गुरुजनों के उपदेशों से अथवा ज्ञान-क्रियारूप शक्ति के अभिज्ञानों से परमेश्वर सम्बन्धी समस्त उत्कर्ष का भाव हृदयङ्गम हो जाता है, तब तो उसी क्षण पूर्णरूप से जीवन्मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है, समावेश अर्थात् समाधि अवस्था के एक रसभाव में डूब जाने पर तो परम विभूति की प्राप्ति हो जाती है, जिससे उस योगी के लिए प्रत्यभिज्ञा अमित-आध्यात्मिक और सांसारिक परिमित सिद्धियाँ देनेवाली हो जाती है ॥ १७॥

सर्वोपकारकं महाफलमिदं शास्त्रं प्रसिद्धान्वययोगेन नामधेयप्रसिद्ध्या च तदुत्कर्षस्मरण-द्वारजनितसंभावनाप्रत्ययलक्षणप्रवर्तकसंवेदनया जनं प्रवर्तयितुं पितुर्नाम्ना चोपसंहारं दर्शयति—

जनस्यायत्नसिद्ध्यर्थमुदयाकरसूनुना ।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञेयमुत्पलेनोपपादिता ॥ १८ ॥

यस्य कस्यचिज्जन्तोरिति नात्र जात्याद्यपेक्षा काचित्,—इति सर्वोपकारित्वमुक्तम् । अयत्नेन सिद्धिः परापररूपा यथा स्यात्,—इति महाफलत्वम् । उदयाकरपुत्रः श्रीमानुत्पलदेवोऽस्मत्परमगुरुरिदं शास्त्रमकार्षीत्,—इति तत्प्रसिद्ध्या जनः प्रवर्तते,—इति प्रवर्तनाद्वारेण सोऽनुगृहीतो भवति,—इत्युभयनामनिर्देशः । इयमिति हृदयङ्गमतामुपपत्तिशतैरानीता,—इति शिवम् ॥ १८ ॥ आदितः १९० ॥

एषाभिनवगुप्तेन सूत्रार्थप्रविमर्शिनी ।
रचिता प्रत्यभिज्ञायां लघ्वी वृत्तिरभङ्गुरा ॥ १ ॥
वाक्यप्रमाणपदतत्त्वसदागमार्थाः
स्वात्मोपयोगमुपयान्त्यमुतः स्वशास्त्रात् ।

यह ईश्वरप्रत्यभिज्ञा शास्त्र जीवन में सब प्रकार से उपकार करनेवाला है तथा महाफल अर्थात् अमरफल देनेवाला है, कुल [वंश] के सम्बन्ध से प्रसिद्ध एवं नाम की प्रसिद्धि से, उसका उत्कर्ष स्मरण के द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान लक्षण के प्रवर्तक संवेदन-ज्ञान से लोगों को प्रवृत्त करने के लिए पिता के नाम से उपसंहार दिखाते हैं—

श्री उदयाकर के पुत्र उत्पलदेव ने इस ईश्वरप्रत्यभिज्ञा की रचना की। लोगों को बिना अथक यत्न किये ही अर्थात् बिना प्राणायाम इत्यादि दुःसह क्लेशों के सहे 'मैं महेश्वर हूँ' जो इस बोध से ही स्वरूप को समझ लेता है ॥ १८ ॥

इस ईश्वरप्रत्यभिज्ञा शास्त्र का अध्ययन कोई भी व्यक्ति कर सकता है चाहे वह किसी भी जाति और समाज अथवा देश-विशेष का हो। जिज्ञासु व्यक्ति ही इसका सचमुच अधिकारी माना जाता है। जाति विशेष में उत्पन्न व्यक्ति विशेष का कोई इसमें आग्रह नहीं है कि यही इसका अध्ययन कर सकता है, इसलिए जीवन में सब तरह से उपयोगी यह शास्त्र है—ऐसा कहा गया है। बिना प्रयत्न विशेष किये ही भौतिक एवं आध्यात्मिक ऐश्वर्य [जिसका शास्त्रों में उल्लेख दिया है] जिज्ञासु व्यक्ति प्राप्त कर लेता है, यही महाफल है। श्री उदयाकर के पुत्र श्रीमान् उत्पलदेव हमारे [अभिनवगुप्त आदि सभी के] परमगुरु ने इस ईश्वरप्रत्यभिज्ञा शास्त्र [अपूर्व ज्ञापकत्वं शास्त्रत्वं नाम] का निर्माण किया है, इसलिए उनकी प्रसिद्धि से ही लोगों का झुकाव इसके प्रति स्वाभाविक होगा, इसके अध्ययन की प्रवृत्ति के द्वारा उस जिज्ञासु व्यक्ति में शिव का अनुग्रह अर्थात् शक्तिपात हो जाता है, इसी कारण दोनों के नामों का उल्लेख किया है। 'इयमिति' यह जो कारिका में दिया है, इससे यह द्योतित होता है कि इस प्रत्यभिज्ञा को सैकड़ों उपपत्तियों से हृदय पट तक लाने का प्रयत्न किया गया है ॥ १८ ॥

अभिनवगुप्त ने [श्री उत्पलदेव प्रणीत] ईश्वरप्रत्यभिज्ञा के ऊपर अबृहत् एवं अखण्डित सूत्रार्थं विमर्शिनी टीका का निर्माण किया है ॥ १ ॥

मीमांसा-वाक्य, न्यायादि-प्रमाण, व्याकरण सम्बन्धी पद-पदार्थ तथा सत् = परमार्थरूप

भौमान्रसाञ्जलमयांश्च न सस्यपुष्टौ
मुक्त्वार्कमेकमिह　योजयितुं　क्षमोऽन्यः ॥ २ ॥
आत्मानमनभिज्ञाय　विवेक्तुं　योऽन्यदिच्छति ।
तेन भौतेन किं वाच्यं प्रश्नेऽस्मिन्को भवानिति ॥ ३ ॥

इति श्रीमदाचार्योत्पलदेवविरचितायामीश्वरप्रत्यभिज्ञायां
श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तविरचितविमर्शिन्याख्यटीको-
पेतायां तत्त्वसंग्रहाधिकारे गुरुपर्वक्रमाख्यं
प्रथममाह्निकम् ॥ १ ॥

आगमशास्त्रों से सम्बन्ध रखनेवाले जितने भी अर्थ हैं वे सब के सब हमारे शैवाद्वैत शास्त्र में उपयोगी सिद्ध होते हैं। भूमिगत एवं जलमय धान्यादिकों के लिए रसवर्धक एक सूर्य को छोड़कर अन्य कौन समर्थ है अर्थात् दूसरा कोई भी नहीं हो सकता है ॥ २ ॥

जो अपने आपके लिए अनभिज्ञ है वह यदि दूसरों को समझाने की इच्छा करता है तो उस मूढ को पूछना चाहिए कि आप स्वयं कौन हो ? जो कि दूसरों के लिए विवेचन करने चल पड़े हो ॥ ३ ॥

प्रथम आह्निक समाप्त

इति सर्वदर्शनाचार्यश्रीकृष्णानन्दसागरविरचिता
चतुर्थतत्त्वसंग्रहाधिकारहिन्दीव्याख्या

शिवरञ्जनी

इति चतुर्थः तत्त्वसंग्रहाधिकारः समाप्तः

ग्रन्थोऽयं समाप्तिमगात्



